वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति

महामहोपाध्याय पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी

बिहार-राष्ट्रभाषा-प[illegible]
पटना

वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति

म० म० पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

पटना

प्रकाशक :
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना—४
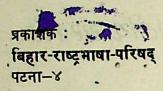
द्वितीय संस्करण : २०००
शकाब्द : १८९४; विक्रमाब्द : २०२९; खृष्टाब्द : १९७२

मूल्य : ११·५०

मुद्रक :
एकेडेमिक प्रेस
पटना—६

वक्तव्य

परिषद् के पुरस्कृत प्रकाशनों के बीच 'वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति' एक उल्लेखनीय ग्रन्थ है, जिसका प्रथम संस्करण सन् १९६० ई० में हुआ था। स्वर्गीय महा-महोपाध्याय पण्डित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी द्वारा सन् १९५८ ई० में प्रस्तुत किये गये लिखित भाषण का यह ग्रन्थाकार प्रकाशन पाठक-समुदाय के समादर का अधिकारी सिद्ध हुआ, यह हमारे लिए गौरव की बात है।

इस ग्रन्थ में विद्वान् लेखक ने प्राच्य दृष्टि से यह सिद्ध किया है कि संयन्त्र और प्रयोगशाला की सहायता पर चलनेवाला आधुनिक पाश्चात्य विज्ञान अपने अकूत विकास के बाद भी अन्तर्जगत् के सिद्ध योगियों द्वारा दृष्ट वैदिक ऋचाओं में अन्तर्न्यस्त वैज्ञानिक मान्यताओं को झुठला नहीं सका है। प्रयत्न की दृष्टि से इस ग्रन्थ के द्वारा विज्ञान और गहन दर्शन की आन्तरिक एकता सिद्ध होती है। साथ ही, यह प्रमाणित होता है कि विज्ञान को भी अपनी आधारभूत पूर्वमान्यताएँ दार्शनिक संकल्पनाओं में ही मिलती हैं, जिन्हें विज्ञान बाद में अपने बारीक अन्वेषण, प्रयोग और संयन्त्र-निर्भर पर्यवेक्षण द्वारा समर्थित करता है। इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि इस पुस्तक में कुछ ऐसे विचारणीय प्रसंग हैं, जो उग्र आधुनिकों को नये सिरे से सोचने के लिए प्रेरित कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, लेखक ने वर्ण-व्यवस्था को शुक्र-प्रकार—ब्रह्मवीर्य, क्षत्रवीर्य और विड्वीर्य के आधार पर विज्ञानानुमोदित तथा शास्त्र-दृष्टि से निर्दुष्ट सिद्ध करने की चेष्टा की है, जिससे अधुनातन विचारकों की सहज सहमति सम्भव नहीं है।

स्वर्गीय श्रीचतुर्वेदीजी भारतीय विद्या, वेद, पौराणिक साहित्य एवं प्राच्य दर्शन के विख्यात लेखक तथा वेदोक्त ऋतम्भरा प्रज्ञा के प्रामाणिक व्याख्याता थे। अतः, परिषद् के लिए उनके मूल्यवान् साहित्य को प्रकाशित करने में विशेष रुचि लेना स्वाभाविक था। गत वर्ष ही हमने उनके एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'पुराण-परिशीलन' का, जिसमें वेदार्थ-विस्तारक पुराणों में न्यस्त महनीय भारतीय विद्या का अवितथ विश्लेषण है, सोत्साह प्रकाशन किया था। यह अच्छा संयोग है कि इस वर्ष हम उनके एक अन्य समादृत ग्रन्थ 'वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति' का द्वितीय संस्करण सुधी पाठकों के समक्ष उपस्थित कर रहे हैं। यदि ग्रन्थकार और विद्वान् भूमिका-लेखक डॉ० अग्रवाल के जीवन-काल में ही इस ग्रन्थ का दूसरा संस्करण हो पाता, तो हमें और अधिक प्रसन्नता होती।

आशा है, 'वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति' का यह नया संस्करण प्राचीन भारतीय विद्या के जिज्ञासुओं को पहले की अपेक्षा अधिक प्रीत करेगा।

(डॉ०) कुमार विमल

पटना :

७ मई, १९७२ ई०

निदेशक

वक्तव्य

(प्रथम संस्करण)

वेद भारतीय वाङ्मय और संस्कृति की अनुपम मणि-मंजूषा है। किन्तु, जो उसके अधिकारी होते हैं, वे ही उस मंजूषा से उन मणि-रत्नों का आहरण कर सकते हैं, जिनकी दीप्ति से भारतीय लोक-मानस अतीत काल में समुन्नत रहा है और भविष्य में समुन्नततर हो सकता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ—वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति—उन्हीं मणि-रत्नों की परख प्रस्तुत करता है। इस ग्रन्थ के प्रणेता वैदिक साहित्य के इने-गिने भारतीय विद्वानों में से एक हैं। आपने वेद पर और वेद-वर्णित विभिन्न रहस्यात्मक विषयों पर निर्मल दृष्टिकोण से विचार किया है। इन विचारों में आपके गहरे मानस-चिन्तन की जो पैठ दीख पड़ती है, कहना न होगा कि, वह आपके अन्तश्चक्षु के दर्शन का एक प्रोज्ज्वल प्रमाण है। आशा है, प्रस्तुत ग्रन्थ हमारे कथन की पुष्टि करेगा।

विद्वान् लेखक का परिचय देने की यहाँ आवश्यकता नहीं। सुधी समाज आपके नाम से परिचित है।

महामहोपाध्याय पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी ने परिषद् के आमन्त्रण पर, पटना पधारकर अपना यह लिखित भाषण, पाँच दिनों तक, (१९५८ ई० में १५ जनवरी से १९ जनवरी तक) किया था, जिन्हें सुधी श्रोताओं ने मुग्ध भाव से सुनकर अतीव हर्ष प्रकट किया था। हमें प्रसन्नता है कि वह भाषणमाला अब प्रस्तुत ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित हो रही है। इस ग्रन्थ में हिन्दी के यशस्वी लेखक और पुरातत्त्ववेत्ता डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने ग्रन्थ-प्रणेता और ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषयों पर, थोड़े में, जो सुचिन्तित भूमिका लिखी है, उसके लिए हम उनके अनुगृहीत हैं।

विश्वास है, परिषद् के अन्य बहुमूल्य प्रकाशनों की तरह यह ग्रन्थ भी समुचित समादर प्राप्त करेगा।

महाशिवरात्रि
१८८१ शकाब्द

वैद्यनाथ पाण्डेय
संचालक

दो शब्द

प्रकृत ग्रन्थ व्याख्यान-शैली से लिखा गया है, और जो बातें भूमिका में लिखने योग्य थीं, बहुधा ग्रन्थ के प्राक्कथन में हीं आ चुकी हैं। अतः, अब यहाँ कोई भूमिका लिखने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। केवल इतना ही वक्तव्य है कि भारतीय संस्कृति का मूल वेद है, यही इस पुस्तक में दिखाया गया है। हम लोगों का तो विश्वास है और क्रमशः प्रमाणों से भी सिद्ध होता जा रहा है कि विश्व-संस्कृति का भी मूल वेदों में निहित है। तब भारतीय संस्कृति के वेदमूलक होने में तो कोई सन्देह नहीं हो सकता। मध्यकाल में तिमिराच्छन्न विलुप्त-सी हो जाने के कारण वेदार्थ की यह शैली आज नवीन-सी प्रतीत होती है। अनेक मान्य विद्वान् भी परम्परा-प्राप्त न होने के कारण इस शैली को नवीन कहकर उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। उनसे इतना ही निवेदन है कि केवल मीमांसा-दर्शन की दृष्टि से ही आपका यह विचार है। निदान, रहस्य आदि अनेक अंगों के कालवश विलुप्त हो जाने पर भी निरुक्त, बृहद्देवता आदि उपलब्ध ग्रन्थों पर यदि मनन किया जायगा, तो इस शैली के परम्परा-प्राप्त न होने का सन्देह दूर हो जायगा। ये ग्रन्थ मीमांसा-दर्शन से भी बहुत प्राचीन हैं, जिनमें वेदों के अर्थ की प्राचीन परम्परा सुरक्षित है। मुख्य रूप से तो ब्राह्मणों का एक बहुत बड़ा भाग, जिसे अर्थवाद कहकर मीमांसा ने उपेक्षित कर दिया है, इस समस्त परम्परा का मूल है।

यह सब विषय ग्रन्थ के प्राक्कथन में लिखा जा चुका है। मनु आदि महर्षि जो वेद को सर्वविद्यानिधान मानते आये हैं, और 'सर्वं वेदात् प्रसिध्यति' यह जो भारतीय संस्कृति की उन्मुक्त घोषणा है, वे सब बातें इस शैली की उपेक्षा करने से कथमपि संगत नहीं हो सकती। इसपर विद्वानों को विचार करना चाहिए। गुरुवर विद्यावाचस्पति श्रीमधुसूदनजी ओझा ने लन्दन में जब वेदधर्मविषयक एक व्याख्यान संस्कृत में दिया था, तब वहाँ के विद्वान् भी कहने लगे थे कि हम ये सब नई बातें सुन रहे हैं। इन शब्दों को सुनकर श्रीविद्यावाचस्पतिजी ने उस व्याख्यान का शीर्षक रखा था--'अति नूतनम्, नहि नहि अतिप्रत्नं रहस्यम्', अर्थात् बहुत ही नया, नहीं-नहीं, बहुत ही पुराना रहस्य मैं कह रहा हूँ। वही बात विद्वानों को अपनी दृष्टि में लाने का प्रयत्न करना चाहिए कि यह शैली बहुत ही प्राचीन है और मीमांसा में विचारित कर्मकाण्ड की यही मूल भित्ति है। अस्तु;

मेरा वक्तव्य यही है कि इस ग्रन्थ में मेरा अपना कुछ नहीं है, जो कुछ है, वह श्रीविद्यावाचस्पतिजी के ग्रन्थों का प्रसादमात्र है! हाँ, जो कहीं कोई त्रुटि विद्वानों को प्रतीत हो, वह मेरा ही बुद्धि-दोष समझना चाहिए।

इस ग्रन्थ के संकलन और सम्पादन में मेरा कनिष्ठ पुत्र शिवदत्तशर्मा चतुर्वेदी व्याकरण-साहित्याचार्य, बी० ए० और मेरे शिष्य पटनानिवासी वैद्य श्रीसूर्यदत्त शास्त्री

शुक्ल तथा मेरे दौहित्र कविराज दिनेशचन्द्र चतुर्वेदी ने बहुत परिश्रम से सहायता की है और डॉ० श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल ने महत्वपूर्ण भूमिका लिख देने की कृपा की है। मैंने सर्वसाधारण के लिए सुबोध रखने के अभिप्राय से अतिगम्भीर तत्त्वों का समावेश व्याख्यानों में नहीं किया था, उन तत्त्वों को भी डॉ० अग्रवाल ने संक्षेप में झलका दिया है और वर्त्तमान विज्ञान से भी बहुत अंशों में उनकी तुलना प्रस्तुत कर दी है। इस भूमिका से प्रकृत ग्रन्थ का महत्त्व बढ़ गया है। इसलिए, मैं डॉ० अग्रवाल का पूर्ण आभारी हूँ। वृद्धावस्था के कारण दृष्टिदुर्बल हो जाने से प्रूफ देखने का कार्य मैं स्वयं नहीं कर सका और सम्पादन में जो सहायक थे, वे भी कार्यान्तर में व्यग्र रहे, इसलिए संस्कृत के प्रमाणों, विशेषकर वेद-मन्त्रों में बहुत अशुद्धियाँ रह गई। इसलिए, अशुद्ध वेद-मन्त्रों का शुद्ध पाठ परिशिष्ट में पुनः उद्धृत कर दिया है। फिर भी, दृष्टिदोष से जो अशुद्धियाँ रह गई हैं, उनके शोधन का भार विद्वानों पर ही है।

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् की प्रेरणा से ही यह ग्रन्थ प्रस्तुत हुआ और पटना में कई दिन रहकर मुझे इस ग्रन्थ के विषय पर व्याख्यान देने का भी अवसर मिला, जिसे परिषद् के सदस्यों ने बड़े प्रेम से सुना। सम्पादन और प्रकाशन में भी परिषद् के अधिकारियों और कर्मचारियों का बहुत बड़ा श्रम है। इसके लिए मैं उन सबका हृदय से कृतज्ञ हूँ।

वाराणसी
फाल्गुन शुक्ला पंचमी, २०१६ विक्रमाब्द

गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी

भूमिका

महामहोपाध्याय पण्डित श्रीगिरिधरशर्मा चतुर्वेदी ने वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति विषय पर जो व्याख्यान बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के समक्ष दिये थे और जो अब ग्रन्थ-रूप में प्रकाशित हो रहे हैं, उनका कुछ विलक्षण ही महत्त्व है, जिसका सम्बन्ध अन्य ग्रन्थों के साथ प्रायः नहीं देखा जाता। यहाँ वैदिक तत्त्वज्ञान के विषय में पाठकों को एक ऐसे दृष्टिकोण का परिचय मिलेगा, जो अत्यन्त प्राचीन होते हुए भी सर्वथा नवीन कहा जा सकता है। वेदों पर जो साहित्य अभी तक हमें उपलब्ध होता है, उसमें या तो वेदान्तविषयक ब्रह्मज्ञान का या यज्ञीय कर्मकाण्ड का ही निरूपण पाया जाता है। किन्तु, इन भाषणों में वैदिक परिभाषाओं के अर्थापन या व्याख्या की एक नई शैली का आश्रय लिया गया है, जिसे पण्डितजी ने 'वैदिक विज्ञान' यथार्थ संज्ञा दी है। जिस समय वैदिक मन्त्रों की रचना हुई या उनपर ब्राह्मणग्रन्थों में आधिदैविक, आध्यात्मिक, आधिभौतिक अर्थों का ऊहापोह यज्ञपरक मीमांसा के आधार पर किया गया, उस समय ऋषि वस्तुतः किस तथ्य का कथन करना चाहते थे, इस प्रश्न का उत्तर अत्यन्त गूढ है और शृंगग्राहिकया इसका उत्तर हम नहीं ढूँढ़ पाते। इस विषय में पश्चिमी और भारतीय नूतन विद्वानों की एक-सी असहाय स्थिति है। किन्तु, यह निश्चय है कि वैदिक ऋषि अपने निगूढ शब्दों द्वारा किसी बोधगम्य तथ्य को ही प्रकट करना चाहते थे। वैदिक विज्ञान या सृष्टि-विद्या की व्याख्या ही उन्हें इष्ट थी। वेद के सम्बन्ध में इस प्रकार का साहसपूर्ण विस्तृत समाधान जयपुर के विद्यावाचस्पति वेदसमुद्र पण्डित मधुसूदनजी ओझा ने अपने संस्कृत-ग्रन्थों में उपनिबद्ध किया, जिनकी संख्या २०० के लगभग है और जिनमें से लगभग ५० ही अबतक मुद्रित हो सके हैं।[1] पण्डित श्रीगिरिधरजी ने वैदिक विज्ञान का यह अध्ययन अपने गुरु श्रीओझाजी से प्राप्त किया और अपनी सहज प्रज्ञाशील प्रतिभा से उसे उपबृंहित किया है। वेद, पुराण, दर्शन, काव्य, व्याकरण विषयों में एक जैसी मार्मिक दृष्टि इस समय श्रीगिरिधरजी को प्राप्त है, वह अन्यत्र दुर्लभ ही है। अपनी उसी प्रतिभा के बल पर श्रीगिरिधरजी ने अनेक क्लिष्ट वैदिक विज्ञान के विषयों का इन व्याख्यानों में निरूपण किया है। जैसे त्रयी विद्या क्या है, मर्त्य-चित्याग्नि और अमृतचितेनिधेय अग्नि का क्या अभिप्राय है और दोनों में क्या भेद है; अर्द्धेन्दु मनु-तत्त्व से क्या इष्ट है (पृ० १३२); ऋषि, देव और पितृदेव में परस्पर क्या भेद है (पृ० १३३–१४७); श्राद्ध-तत्त्व का

---

१. ओझाजी के इस बहुमूल्य साहित्य का प्राप्य स्थान है—पण्डित प्रद्युम्न ओझा, विद्याधर का रास्ता, जयपुर। प्रद्युम्नजी स्वर्गीय ओझाजी के यशस्वी पुत्र हैं, जिनके पास ओझाजी के विशाल साहित्य की पाण्डुलिपियाँ सुरक्षित हैं। ओझाजी का एक ग्रन्थ 'महर्षिकुलवैभव' राजस्थान पुरातत्त्व-मन्दिर (जोधपुर) से और दूसरा 'सिद्धान्तवाद' काशी-विश्वविद्यालय से नेपाल संस्कृत-ग्रन्थमाला में प्रकाशित हुआ है।

क्या मर्म है (१५३); अग्नि-विज्ञान (पृ० १६३) और सूर्य-विज्ञान (पृ० १७०) का क्या अभिप्राय है, इत्यादि, महत्त्वपूर्ण वैदिक विषयों में जिन्हें रुचि उत्पन्न हुई हो, उनके लिए जैसी स्पष्ट बोधात्मक सामग्री इन भाषणों में प्राप्त होगी, वैसी अन्यत्र नहीं। विज्ञ पाठकों को ऐसा आभास मिलेगा, मानों हम प्राचीन काल के किसी वसिष्ठ या विश्वामित्र, दीर्घतमा या याज्ञवल्क्य के आश्रम में उनकी अमृत वाणी सुनने के लिए पुनः जा पहुँचे हैं।

आइए, इन विद्याओं में से कुछ पर विचार करें।

वेद-विद्या सृष्टि-विद्या है

वेद-विद्या सृष्टि-विद्या का दूसरा नाम है। सृष्टि की रहस्यमयी प्रक्रिया की व्याख्या वेद की नाना विद्याओं के रूप में उपलब्ध होती हैं। इन विद्याओं का अपरिमिति विस्तार है। जैसे सृष्टि अनन्त है, वैसे ही वेद-विद्या भी अन्तहीन है। विराट् और अणु इन दोनों क्षेत्रों में अर्वाचीन विज्ञान की यही तथ्यात्मक स्वीकृति है कि इन दोनों की रहस्यमयी रचना का वारापार नहीं है। अणोरणीयान्, महतो महीयान् दोनों की एकता का दर्शन करनेवाले ऋषियों ने भी यही कहा है कि इन दोनों का मूल कोई अनन्त अव्यक्त अक्षर-तत्त्व है। अणु और महत् दोनों में उसी की महिमा अभिव्यक्त हो रही है, किन्तु स्वयं वह अव्ययपुरुष सहस्रात्मा या अनन्त है। विश्व विराट्, अनादि और अनन्त है। इसका स्रोत अविनाशी है। देश और काल अथवा नाम और रूप के परिवर्त्तमान स्वस्तिक में इसका नित्य नया रूप प्रकट हो रहा है। इस प्रकार, ऋषि और वैज्ञानिक दोनों ही विश्व के रहस्य की व्याख्या करते हैं। पर, ऋषियों का दर्शन इस ध्रुव विश्वास से भरा हुआ है कि यह व्यक्त विश्व किसी अव्यक्त मूल स्रोत से उद्गत हुआ है। वह अव्यक्त मूल इस व्यक्त की सृष्टि करके इसमें अनुप्रविष्ट हो रहा है।

वेदों के विषय में दो दृष्टिकोण

वेदों के विषय में पूर्व और पश्चिम में दो पृथक् दृष्टिकोण स्पष्ट सामने आते हैं। पश्चिमी दृष्टिकोण के अनुसार वेद मानवीय मस्तिष्क की आरम्भिक चेतना की अटपटी उक्तियाँ हैं। उनमें न परस्पर संगति है और न सुलझे हुए अर्थों की स्थापना। वेद धार्मिक विश्वासों के विजड़ित पोथे हैं, जिनका बहुत-सा अंश बुद्धिगम्य नहीं है। मानव-जाति के सीखतर बच्चे जिस आश्चर्य से विश्व को देखते हैं, उसी की छाया मन्त्रों में है। उनमें किसी समन्वित या सुप्रतिष्ठित दार्शनिक विचार की कल्पना नहीं की जा सकती। इसी सूत्र को पकड़कर पिछले सौ वर्षों में वेदों के अनेक भाष्य और व्याख्या-ग्रन्थ पश्चिमी विद्वानों द्वारा लिखे गये हैं। अपने देश में भी नये मार्ग से चलनेवाले वैदिक विद्वान् इन्हीं अर्थों में रुचि लेते हैं और उनका दृष्टिकोण भी यही है। उनके लिए ब्राह्मण-ग्रन्थों में कही जानेवाली वेद-व्याख्या अधिकांश में अनास्था की वस्तु है। किन्तु, भारतीय परम्परागत दृष्टि वेद को ऋषियों का परिपूर्ण ज्ञान मानती है।

जो कोई दिव्य समष्टिज्ञान हैं, वे उसी की शब्दमयी अभिव्यक्ति हैं। इस अवस्था से वैदिक अर्थों के प्रति नई श्रद्धा का जन्म होता है। इन दो दृष्टिकोणों के तार्किक विवाद में जाना हमें इष्ट नहीं।

हमारा लक्ष्य वहीं है, जहाँ वैदिक शब्दों की अधिक-से-अधिक स्पष्ट व्याख्या प्राप्त हो सके, जहाँ मन्त्रों के अर्थों की पारस्परिक संगति लग सके, एवं जहाँ मन्त्रों की परिभाषात्मक शब्दावली, यज्ञ के कर्मकाण्ड तथा सृष्टि के वास्तविक वैज्ञानिक रहस्य की एकसूत्रता या संगति प्राप्त की जा सके। पश्चिम में जो वेदार्थ का प्रयत्न हुआ, उसपर दृष्टि डालते हुए श्री ई० जे० टामस ने स्पष्ट स्वीकार किया है कि समस्या सुलझी नहीं है तथा आगे बढ़ने का मार्ग अवरुद्ध-सा दिखाई पड़ता है। हमारी सम्मति में भारतीय दृष्टि से ही वेदार्थ की समस्या का समाधान सम्भव है। सर्वप्रथम यह अवस्था होनी चाहिए कि जिन उपनिषद् और ब्राह्मण-ग्रन्थों की अत्यधिक महिमा कही जाती है, उन सबका स्रोत वेद है। कालान्तर के इस साहित्य में जो अमृत-दुग्ध है, उसका निर्झर वेद-रूपी गौ में ही निहित है, जिस गौ को अमृतवाक्-तत्त्व भी कहते हैं। यह अमृत-वाक् विश्व का विराट् मन या समष्टिज्ञान है। वह एक समुद्र है, जिसके एक-एक बिन्दु से मानवी मस्तिष्क सोचते और विचारते हैं। व्यक्ति के मन में जितना आजतक आ चुका है और जो कुछ भविष्य में प्रतिभासित होगा, उस सबका स्रोत उसी विश्वात्मक ज्ञान में है, जिसे वेद कहा जाता है। उसे ही अव्यक्त सरोवर, ब्राह्म सर, वाक्-समुद्र या अपौरुषेय ज्ञान कहते हैं।

उस वाक् के दो रूप हैं—एक परा, दूसरी अपरा। अपरा स्थूल शब्दमयी वाक् है, जो बुद्धि का स्पर्श करती है। किन्तु, परा वाक् मूल अक्षर-तत्त्व है, जो हृदय का स्पर्श करती है, या हृदय में प्रविष्ट होकर अपनी शक्ति से जीवन का निर्माण करती है। इसे सहस्राक्षरा वाक् भी कहते हैं। इसी अक्षर-वाक् से गायत्री आदि सप्त छन्दों का वितान या विकास होता है :

अक्षरेण मिमते सप्त वाणीः। (ऋ०, १।१६४।२४)

देव-तत्त्व

वैदिक सृष्टि-विद्या की दृष्टि से विश्व में दो ही मूल तत्त्व हैं—एक देव, दूसरा भूत। देव-तत्त्व का ही दूसरा नाम शक्ति-तत्त्व है। देव या शक्ति सूक्ष्म और अदृश्य हैं। भूत दृश्य और स्थूल हैं। प्रत्येक भूत एक-एक कूट या ढेर है, जिसकी विधृति शक्ति या देव कहलाती है। विना देव के किसी भी भूत की पृथक् सत्ता सम्भव नहीं। मूलभूत देव तत्त्व एक और अखण्ड है। वही सृष्टि के लिए बहुभाव या नानाभाव में परिवर्त्तित होता है। 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः', यही सृष्टि का मूल सूत्र है। 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति', इस नियम के अनुसार एक तत्त्व ही बहुभाव या बहुधा भाव को प्राप्त होता है। जो मूलभूत एक है, उसे वेदों में 'एकमेवाद्वितीयम्' कहा गया है। वह ऐसा एक है, जिसमें दो तीन, चार संख्याओं की कल्पना नहीं है। किन्तु, वह अपनी निगूढ शक्ति से स्वयं ही बहुभाव को प्राप्त होता है।

यद्यपि देवों के अनेक नाम कहे गये हैं, किन्तु उन सब नामों के मूल में एक ही देव प्रतिष्ठित है :

यो देवानां नामधा एक एव तं सम्प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या ।
(ऋ०, १०।८२।३)

प्रजापति के दो रूप

वह मूल देव-तत्त्व संप्रश्न भी कहा जाता है। आदि से अन्त तक वह एक प्रश्न या पहेली है। उनकी शक्ति का क्या स्वरूप है ? इसकी मीमांसा अनेक प्रकार से की जाती है, किन्तु शब्दों में उसकी इयत्ता सम्भव नहीं। जब हम विश्व की दृष्टि से विचार करते हैं, तब उस मूल शक्ति को प्रजापति कहा जाता है। प्रजापति के दो रूप हैं—एक अनिरुक्त, दूसरा निरुक्त; एक अमूर्त्त, दूसरा मूर्त्तः; एक परोक्ष, दूसरा प्रत्यक्ष; एक ऊर्ध्व, दूसरा अधः; एक तत्, दूसरा एतत् । जो एतत् है, उसे ही 'इदं सर्वम्' भी कहते हैं। जो विश्वातीत रूप है, वह 'तत्' है और जो विश्वात्मक रूप है, वह 'इदं सर्वम्' है। प्रजापति का एक रूप 'अजायमान' और दूसरा 'बहुधा विजायते' कहा जाता है :

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते ।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ।।
(यजु०, ३१।१९)

जो अजायमान या विश्वातीत रूप है, उसे गर्भ, योनि, नभ्य प्रजापति, गुहा या पर्वत के समान अविचाली अद्रि-तत्त्व भी कहा जाता है।

वही परमव्योम या परमाकाश है। परावाक् उसी का रूप है। अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरुण, यम, मातरिश्वा, इन देवों की पृथक् कल्पना सहेतुक है; क्योंकि मूलभूत एक शक्ति विभिन्न रूपों में कार्य करती हुई देखी जाती है, किन्तु इससे उसके मूलभूत एक तत्त्व का अपलाप नहीं होता। जिस प्रकार महाकाल की दृष्टि से उषा एक है, किन्तु सापेक्ष काल या परिवर्तनशील संवत्सर की दृष्टि से प्रतिदिन नई उषा का उदय होता है, जिस प्रकार समस्त ब्रह्माण्ड में मूलभूत अग्नि-तत्त्व एक है, किन्तु शक्ति के नाना रूपों में वही बहुधा विकसित होता है, उसी प्रकार वैदिक ऋषियों ने इस तथ्य का प्रत्यक्ष दर्शन किया था कि अनेक ब्रह्माण्डों का रचयिता प्रजापति एक है और वही तत्त्व इन सबमें समाया हुआ है। दूर और निकट, अणु और महत्, भूत और भविष्य सर्वत्र उसी की सत्ता है। वही अखण्ड सूत्र पूर्व और उत्तर की समस्त सृष्टि में पिरोया हुआ है, जिसके कारण उसे अन्तर्यामी या सूत्रात्मा कहते हैं। अपने अजायमान रूप से सबके भीतर प्रतिष्ठित रहकर वह एक अक्षर-तत्त्व सबका नियमन करता है। उसी के नियम या धर्मों के अक्ष में सब भुवनों के चक्र पिरोये हुए हैं, इसलिए वह सर्वान्तर्यामी कहा जाता है। उसी ओत-प्रोत सूत्र से सब तन्तुओं का वितान होता है, अतएव वह सूत्रात्मा है।

वैदिक त्रिक

यह सृष्टि किसी महान् कवि की विलक्षण कविता है। वेदों में इसे सप्ततन्तुमय यज्ञ कहा है। एक मन, एक प्राण और पंचभूत इन सात तन्तुओं से कोई बुननेवाला इस

पट को बुन रहा है। पंचभूत को वैदिक परिभाषा में वाक् भी कहते हैं। पाँच भूतों में आकाश सबसे सूक्ष्म है। आकाश का गुण शब्द या वाक् है। अतएव, पाँच भूतों के लिए वाक् यह सरल प्रतीक मान लिया गया था। यह समस्त सृष्टि पाँच भूतों की रचना है। जो प्रधान या प्रकृति है, वह तीन गुणों के तारतम्य से पंचभूतों के रूप में परिणत होती है। इस पंचभूतात्मक रचना को वाक् कहते हैं। 'वाङ्मयः प्राणमयो मनोमय एष आत्मा'—उपनिषदों की यह परिभाषा सर्वथा सुनिश्चित है। इसका अर्थ है कि जितनी भी अभिव्यक्त सृष्टि है, उसके मूल में प्रज्ञा या मनस्तत्त्व, प्राण-तत्त्व और पंचभूत इनकी सत्ता है। मन, प्राण, वाक् का त्रिक क्रमशः सत्त्व, रज और तम कहा जाता है। यह त्रिक विश्व-रचना का आधार है। सृष्टि की वैदिक कल्पना त्रिक पर समाश्रित है। तीन लोक, तीन देव, तीन छन्द, तीन मात्राएँ आदि अनेक रूपों में त्रिक की व्याख्या की जा सकती है। मैत्रायणी उपनिषद् में त्रिक की अति सुन्दर व्याख्या पाई जाती है। वहाँ कहा है, ये जो अ उ म् अक्षर हैं, वे ही उस त्रिपाद् ब्रह्म की भास्वती तनू हैं, जिसे ओम् भी कहते हैं। स्त्री-पुं-नपुंसक, यह लिंगवती तनू है। अग्नि, वायु, आदित्य इन तीनों का नाम भास्वती तनू है। ब्रह्मा, रुद्र, विष्णु यह अधिपतिवती तनू है। ऋक्, यजु, साम यह विज्ञानवती तनू है। भूर्भुवःस्वः यह लोकवती; भूत, भव्य, भविष्यत् यह कालवती; प्राण, अग्नि, सूर्य यह प्राणवती; अन्न, आप्, चन्द्रमा यह आप्यायनवती; गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, आहवनीय यह मुखवती; बुद्धि, मन, अहंकार यह चेतनवती और प्राण, अपान, व्यान यह प्राणवती तनू है। ये सब प्रजापति के ही रूप हैं। जब ओम् या प्राणसंज्ञक अक्षर-ब्रह्म का उच्चारण किया जाता है, तब उसी के पर और अपर ये दो रूप कहे जाते हैं। जो त्रिक के अन्तर्गत है, वह अपर रूप है और जो त्रिक से अतीत है, वही पर रूप है। जो पर है, उसे अव्यय भी कहते हैं। 'परे अव्यये सर्व एकीभवन्ति', अथवा 'यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्' यह अव्यय या परब्रह्म के लिए ही कहा जाता है। उसे ही त्रिपाद् और ऊर्ध्व भी कहते हैं।

अग्निविद्या

वैदिक सृष्टि-विद्या की दृष्टि से प्रजापति-विद्या का बहुत अधिक महत्त्व है। अग्नि-विद्या और संवत्सर-विद्या उसी के दो रूप हैं। अग्नि-विद्या या शक्ति-तत्त्व और संवत्सर-विद्या या काल-तत्त्व इन दोनों के सम्मिलित रूप का नाम यज्ञ-विद्या है। वैदिक तत्त्व-ज्ञान की दृष्टि से अग्नि-विद्या सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। प्रजापति, ब्रह्म, महाकाल, शक्ति-तत्त्व ये सब अग्नि के ही रूप हैं। मनु ने जिसे तमोभूत अप्रज्ञात, अलक्षण और प्रसुप्त अवस्था कहा है, उसी के धरातल पर अग्नि का जन्म होता है। ज्ञान और कर्म की जितनी शक्ति हैं, उन सबका प्रतीक अग्नि है। 'अग्निः सर्वा देवताः', जितने देव हैं, सब अग्नि के रूप हैं, यह ऐतरेय की परिभाषा है। प्रश्न होता है कि अग्नि-तत्त्व क्या है? क्या चूल्हे में जलनेवाली और काष्ठ से उत्पन्न होनेवाली अग्नि कोई देवता है? वेद में किस अग्नि का वर्णन है? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि मूल और तूल दोनों रूपों में जितनी शक्ति और उसके भेद हैं, वे सब अग्नि के ही विभिन्न

रूप हैं—'एक एवाग्निर्बहुधा समिद्धः।' जिसका समिन्धनक होता है, अर्थात् जो दहकती है, उसे अग्नि कहते हैं। स्थूल काष्ठ या समिधा अग्नि के समिन्धन का एक प्रतीक या उदाहरणमात्र है। इनका अर्थ यह है कि हम अग्नि को तबतक प्रत्यक्ष नहीं देख सकते, जबतक वह भूत के माध्यम से प्रकट न हो। भूत को क्षर कहते हैं और उस क्षर के भीतर निवास करनेवाले अक्षर को देव कहा जाता है :

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।

प्राण या जीवन

अस्यवामीय सूक्त में कहा है कि अक्षर से ही क्षर का जन्म होता है—'ततः क्षरत्य-क्षरम्', अर्थात् देव या शक्ति से ही भूत का निर्माण होता है। इस अक्षर या देव-तत्त्व की अभिव्यक्ति तीन रूपों में हो रही है, एक वृक्ष-वनस्पति, दूसरे पशु-पक्षी और तीसरे मानव। इन तीनों में जो शक्ति-तत्त्व है, उसे प्राणाग्नि कहते हैं। प्राण या जीवन चैतन्य का ही रूप है, जो विश्व का सबसे महान् रहस्य है। प्रजापति-विद्या का सबसे उत्कृष्ट और रहस्यात्मक रूप प्राण या जीवन है। प्राण के स्रोत, उद्गम, वृद्धि, विकास और ह्रास के नियम मानव के लिए सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। प्राण ही आयु है, प्राण ही अग्नि है। प्राण-विद्या सब विद्याओं में मूर्धन्य है। वस्तुतः, ऋषियों की दृष्टि से प्राण-विद्या ही विश्व-विद्या है। इसीकी व्याख्या यज्ञों के द्वारा की जाती है। यह प्राण-तत्त्व क्या है? ऋषियों ने इस गूढ प्रश्न पर बहुत विचार किया था। इस विश्व में सबसे आश्चर्य यह देखकर होता है कि प्रकृति ने पंचभूत, प्राण और मन इन तीनों को एक साथ गूँथकर रहस्यात्मक जीवन-तत्त्व का निर्माण किया है। उस जीवन-तत्त्व के क्या नियम हैं और उसका क्या रहस्य है, इसीकी छान-बीन वेदविद्या का मुख्य लक्ष्य है। जहाँ भी जीवन है, उस स्थान को यज्ञ कहा जाता है। उस यज्ञ का आरम्भ प्राणापान के स्पन्दन से होता है। प्राण शक्ति का रूप है और शक्ति सदा दो सहकारी रूपों में प्रकट होती है, जिन्हें उसके ऋण और धन रूप कहते हैं। इन्हें मूलभूत एक प्राण के ही प्राण और अपान ये दो भेद कहा जाता है। प्राण का स्वरूप स्पन्दन है। जैसे, कोई सोता हुआ बालक जागकर अपना जीवन आरम्भ करता है, वैसे ही बीज के केन्द्र में प्रसुप्त प्राण-बिन्दु का जागरण या क्षोभ होता है। प्राण के जागरण को ही वैज्ञानिक भाषा में समंचन-प्रसारण कहा जाता है :

प्राणो वै समञ्चनप्रसारणं। (शतपथ, ८।१।४।१०)

सिकुड़ना और फैलना यही स्पन्दन का रूप है। धन से ऋण और ऋण से धन बिन्दु की ओर जाना और आना यही विद्युत् या शक्ति का क्रम है। इसे ही वैदिक भाषा में 'एति च, प्रेति च' कहते हैं। प्राण-रूपी कोई ज्योति या रोचना मानव-केन्द्र में प्रकट होती है और प्राण एवं अपान के रूप में स्पन्दित होती हुई आयुपर्यन्त सक्रिय रहती है :

अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणदपानती। व्यख्यन्महिषो दिवम्।

(ऋ०, १०।१८९।२)

यही जीवन का रूप है। इस मन्त्र का देवता आत्मा या सूर्य है। वैदिक परिभाषा में विराट् आत्मतत्त्व का सर्वोत्तम प्रतीक सूर्य ही माना गया है—'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'। मैत्रायणी उपनिषद् के अनुसार ब्रह्म के दो रूप हैं—मूर्त्त और अमूर्त्त। जो मूर्त्त है, वह असत्य है; जो अमूर्त्त है, वह सत्य है; वही ब्रह्म है, वही ज्योति है। जो ज्योति है, वही आदित्य है; जो आदित्य है, वही आत्मा है (मै० उ०, ६।३)।

वैश्वानर अग्नि

विश्व में जितनी गति है, सब स्पन्दन का रूप है। वही प्राण है। पंचतत्त्व या भूतों से बना हुआ शरीर काष्ठ-पंजर को जोड़कर बनाये हुए निर्जीव शकट के समान है ('शकटमेवाचेतनमिदं शरीरं', मै० उ० २।३)। यह प्राण ही है, जो प्रत्येक पुरुष में चेतनात्मक क्षेत्रज्ञ प्रजापति के रूप में उसे जीवित रखता है। प्राण के साथ ही प्रज्ञा सहयुक्त है :

यो वै प्राण: सा प्रज्ञा, या वा प्रज्ञा स प्राण:।
सह ह्येतावस्मिन् शरीरे वसत: सहोत्क्रामत: ॥ (कौषीतकी, ३।३)

इन्द्र ने अपने विषय में यही कहा—'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा', अर्थात् मैं ऐसा प्राण हूँ, जो प्रज्ञा या मनस्तत्त्व के साथ प्राणियों के केन्द्र में आविर्भूत होता हूँ। मन-प्राण-वाक् इन तीनों के सम्मिलन या तानूनप्त्र-सम्बन्ध से जो एक नई शक्ति या अग्नि उत्पन्न होती है, उसे ही वैश्वानर कहते हैं—'अथ य: पुरुष: सोऽग्निर्वैश्वानर:' (मै० उ०, २।६)। मन-प्राण-वाक् (माइण्ड-लाफ-मैटर) इन तीनों के मिलन से ही प्राण या जीवन की अभिव्यक्ति होती है। इस अभिव्यक्ति के तीन क्षेत्र हैं—एक वृक्ष-वनस्पति, जिनमें पंचभूत प्रधान हैं; दूसरे पशु-पक्षी, जिनमें प्राण या क्रिया-शक्ति मुख्य है; तीसरे मनुष्य, जिनमें इन्द्र-शक्ति या मनस्तत्त्व या प्राणात्मक प्रज्ञा-तत्त्व प्रधान है। किन्तु, तीनों में एक-एक की प्रधानता होते हुए भी तीनों में तीनों ही रहते हैं, अर्थात् वृक्षों में भी पंचभूतों के अतिरिक्त प्राण और मन का अस्तित्व है। वेदों में इन्द्र को मनस्वान् कहा गया है—'यो जात एव प्रथमो मनस्वान् देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत्' (ऋ०, २।१२।१)। जहाँ एक या अनेक इन्द्रियों का विकास उपलब्ध है, वहाँ इन्द्र या मनस्तत्त्व की सत्ता अवश्य है।

इन्द्र-तत्त्व

शतपथ में इन्द्र को मध्य-प्राण कहा गया है—'स योऽयं मध्ये प्राण एष एवेन्द्र:', (शत०, ६।१।१।१)। अन्य सब इन्द्रियाँ उस मध्य-प्राण से संचालित होती हैं। वे इन्द्र के सहचारी सामन्त प्राण कहे जा सकते हैं। यह इन्द्र-तत्त्व क्या है? शक्ति के समिन्धन या जागरण को ही 'इन्ध दीप्तौ' धातु के आधार से 'इन्ध' कहा जाता है और इन्ध-तत्त्व ही परोक्ष या संकेत-भाषा में इन्द्र कहलाता है। इस प्रकार की अनेक परोक्ष व्युत्पत्तियाँ ब्राह्मण-साहित्य में पाई जाती हैं। उन सबके सांकेतिक अर्थ वेदार्थ की व्याख्या में सहायक होते हैं। इन्ध और इन्द्र इन दोनों का घनिष्ठ सम्बन्ध बताते हुए ऋषि का उद्देश्य यह है कि इन्द्र या मनस्तत्त्व प्राणाग्नि की संज्ञा है। भूत, प्राण और मन इन तीनों तत्त्वों का आदि स्रोत

कहाँ से आरम्भ होता है, यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। अर्वाचीन विज्ञान और वैदिक दर्शन दोनों में इसका उत्तर एक ही है, अर्थात् माता-पिता के शुक्रशोणित-संयोग से सर्वप्रथम जहाँ एक गर्भित कोष या भ्रूण उत्पन्न होता है, वहीं से जीवन का स्पन्दन आरम्भ हो जाता है। वह कोश अपनी शक्ति से एक से दो, दो से चार, चार से आठ, इस प्रकार उत्तरोत्तर आत्म-विभाग द्वारा अपना संवर्धन करते हुए एक राशि या कूट बन जाता है, जिसे शरीर कहते हैं। वह प्राणात्मक स्पन्दन अन्नाद अग्नि का रूप है, जो केन्द्र के बाहर से सोम-रूप अन्न को खींचकर पचाता है और शरीर की वृद्धि करता है, जिससे शरीर-रूपी यज्ञ सम्पन्न होता है। यही अग्नि का जागरण है।

हिरण्यगर्भ

गर्भ-विज्ञान की दृष्टि से यह समस्त प्रक्रिया अत्यन्त स्पष्ट है। वैज्ञानिक की भाषा में कोष के भीतर प्रसुप्त उसका केन्द्र (न्यूक्लियस) अपना स्पन्दनात्मक कार्य आरम्भ कर देता है। ऋषि के शब्दों में वह कोष हिरण्यगर्भ कहलाता है। सर्वप्रथम इसी हिरण्यात्मक गर्भ या शिशु का जन्म होता है—'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।' हिरण्य का अर्थ है अग्नि या ज्योति और गर्भ का अर्थ है शिशु या कुमार। हिरण्यगर्भ ही अग्नि का पुत्र है, जिसे ऋग्वेद में चित्रशिशु (२०।१।२) और कुमार (ऋ०,१०।१३५।३) कहा गया है। जीवन के रूप में उद्बुद्ध होनेवाली यह अग्नि अत्यन्त रहस्यमयी शक्ति है। इसलिए, इसे अद्भुत भी कहा जाता है (ऋग्वेद, ६।१५।२)। वृक्ष-वनस्पति, कीट-पतंग-पशु-पक्षी एवं मनुष्य आदि की जितनी योनियाँ हैं, उनमें कुमार का यही रूप है—'नवो नवो भवति जायमानः'। प्रत्येक पीढ़ी में जीवन की शृंखला को आगे बढ़ाते हुए यह नये-नये रूपों में उत्पन्न होता रहता है। यही सृष्टि का क्रम है। एक ओर जीवन की सत्ता नये शिशु या कुमार के रूप में दिखाई देती है, दूसरी ओर सृष्टि के आदि से इसकी दुर्धर्ष और अखण्ड सत्ता सदा रही है। इसके नवीन रूप को जात या वाम और वृद्ध रूप को पति या पलित कहा गया है।

वाम-पलित होता

जो वाम या नवीन या सुन्दर है, वह प्रतिक्षण पलित की ओर बढ़ रहा है और आत्मविकास के लिए पलित से ही जीवन-तत्त्व को ले रहा है। वाम और पलित ये दोनों एक ही मूल होतृ-तत्त्व के दो रूप हैं। जो वाम या नया है, वह पलित को आत्मकेन्द्र में लेकर नवीन सर्जन करता है और जो पलित है, वह वाम को आकृष्ट करके उसे भी पलित या वृद्ध बनाता रहता है। वाम से पलित और पलित से वाम इस गति और आगति का नाम ही जीवन का स्पन्दन है। प्रत्येक घटक कोष में यह क्रम प्रतिक्षण हो रहा है। जितनी भी भूत-सृष्टि है, सबका आदिकारण हिरण्यगर्भ या अग्नि का पुत्र वह जाग्रत् केन्द्र है, जिसे प्राण या जीवन कहा जाता है। 'अस्य वामस्य पलितस्य होतुः', इस मन्त्र में दीर्घतमा ऋषि ने जिस तथ्य का प्रतिपादन किया है, विज्ञान का साक्षी भी सर्वथा वही है, दोनों की शब्दावली भिन्न भले ही हो।

अग्नि के हौत्र कर्म का स्वरूप

यहाँ होता शब्द ध्यान देने योग्य है। होता का अर्थ है देव या शक्ति का आवाहन करनेवाला। उस आवाहन के द्वारा बाहर के भूत-तत्त्व को लेकर अग्नि में उसका हवन करनेवाला और हवन करके उसे आत्मरूप में परिवर्त्तित करनेवाला जो शक्ति का रूप है, वही 'होता' है। प्रत्येक गर्भित कोष (फर्टिलाइज्ड सेल) में जो स्पन्दन होता है, वह इसी हौत्र कर्म की पूर्त्ति के लिए है। वह बाहर से भूतों या पंचतत्त्वों को केन्द्र में खींचकर उसका संवर्धन करता है। इसमें दो प्रक्रिया दिखाई पड़ती है, एक अन्न-अन्नाद की प्रक्रिया है और दूसरी संवर्धन की प्रक्रिया। अन्न-अन्नाद का तात्पर्य यह है कि केन्द्र में बैठा हुआ अग्नि जो अन्नाद है, बाहर से अपने लिए अन्न या सोम चाहता है। इसे अन्नाद अग्नि की भूख या अशनाया कहते हैं। यदि अग्नि को सोम न मिले, तो यज्ञ की समाप्ति हो जाय और कोष के संवर्धन का कार्य रुक जाय। वैज्ञानिक सिद्धान्त के अनुसार जीवन के तीन विशेष लक्षण हैं। जहाँ भी जीवन रहता है, वहाँ इन तीनों की सत्ता पाई जाती है। उनमें पहला अन्न-अन्नाद का नियम है, जिसे वैज्ञानिक 'एसिमिलेशन' और 'एलिमिनेशन' की प्रक्रिया कहते हैं (अग्निना रयिमश्नवत्पोषमेव दिवे दिवे)। पोषण प्राप्त करने के बाद दूसरी प्रक्रिया संवर्धन की है, जिसे वैज्ञानिक भाषा में सेल-फिशन, सेल-डिवीजन या ग्रोथ कहते हैं। इन दोनों के बाद जीवन का तीसरा लक्षण प्रजनन है। जिस बीज से प्राण की उत्पत्ति होती है, प्रजनन के द्वारा पुनः उसी बीज की सृष्टि प्रकृति का लक्ष्य है। बीज से बीज तक पहुँचना यही प्रकृति का चक्र है, जिसे ब्रह्म-चक्र एवं संवत्सर-चक्र भी कहते हैं। प्रत्येक बीज काल की जितनी अवधि में पुनः बीज तक पहुँच पाता है, वही उसका संवत्सर-काल है।

किन्तु, यह संवत्सर की चक्रात्मक गति है। जो बार-बार घूमती हुई काल की अवधि में नये-नये बीजों का निर्माण करती है। प्रजापति की सृष्टि में समस्त प्राण-तत्त्व या जीवन संवत्सर-चक्र से नियन्त्रित है। इसीलिए, ब्राह्मण-ग्रन्थों में कहा है कि संवत्सर ही प्रजापति है— 'संवत्सर एव प्रजापतिः' (शतपथ, १।६।३।५), अर्थात् सृष्टि की जो प्रजननात्मक प्रक्रिया है, वह संवत्सरात्मक काल की शक्ति से नये-नये रूपों में प्रकट होती हुई सामने आ रही है। इस संवत्सर के दो रूप हैं—एक चक्रात्मक, दूसरा यज्ञात्मक। पृथ्वी जितनी अवधि में एक बिन्दु से चलकर पुनः उसी बिन्दु पर लौट आती है, वह चक्रात्मक संवत्सर है, अर्थात् उतनी देर में काल का एक पहिया घूम जाता है, किन्तु उसका कोई चिह्न अवशिष्ट नहीं रहता। उस संवत्सर की अवधि में देव या अग्नि या शक्ति जो भी भूत पदार्थ बाहर से खींचकर अपने स्वरूप में ढाल लेती है, वही यज्ञात्मक संवत्सर है। अग्नि में सोम की आहुति इसका स्वरूप है। चक्रात्मक संवत्सर केवल प्रतीकमात्र है, वह भातिसिद्ध है, वह केवल छन्द या आवपन या पात्र है। उस पात्र में अग्नि द्वारा सोम की जो मात्रा भर जाती है, वह यज्ञात्मक संवत्सर सत्तासिद्ध है। उसी को हम भूतभौतिक या स्थूल दृश्य रूप में प्रत्यक्ष प्राप्त करते हैं। इस प्रकार, विश्व की रचना के लिए प्रजापति ने अपने-आपको संवत्सर और यज्ञ इन दो

रूपों में प्रकट किया है—'संवत्सरो यज्ञः प्रजापतिः' (शतपथ, १।२।५।१२)। संवत्सर और यज्ञ, काल और जीवन, ये दो सृष्टि के महान् रहस्य हैं। अनेक प्रकार से इनका वर्णन वेदों में और ब्राह्मणग्रन्थों में पाया जाता है। इन विद्याओं का परिचय वेदार्थ की कुंजी है।

प्रमा-प्रतिमा

ऋग्वेद में प्रश्न किया है :

कासीत्प्रमा प्रतिमा किं निदानम्। (१०।१३०।३)

अर्थात्, इस विश्व की रचना में प्रजापति के पास प्रमा या नाप-जोख क्या थी और प्रतिमा या नमूना क्या था? इसका उत्तर यही है कि प्रमा या मात्रा निश्चित करने के लिए प्रजापति ने संवत्सर का निर्माण किया और इसकी प्रतिमा या नमूने के लिए स्वयं अपनी ही आहुति डालकर सर्वहुत यज्ञ का विधान किया। इस विश्व-रूपी यज्ञ के यूप में सर्वप्रथम कौन-सा पशु बाँधा गया? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि प्रजापति ने स्वयं अपनी ही आहुति इस यज्ञ में दी, प्रजापति स्वयं ही इस यज्ञ के पशु बने। जो प्रजापति का रूप है, वही पुरुष का रूप है। इसीलिए, पुरुष को प्रजापति का नेदिष्ठ या निकटतम प्राणी कहा गया है।

पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्। (शतपथ, ४।३।४।३)

यज्ञ-विद्या

वेद-विद्या की दृष्टि से यज्ञ-विद्या सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। यज्ञ का जो स्वरूप ऋग्वेद में उपलब्ध होता है, वह विश्व-रचना और पुरुष की अध्यात्म-रचना इन दोनों को समझने के लिए आवश्यक है। ऋग्वेद के पहले ही मन्त्र में अग्नि को यज्ञ का देवता, पुरोहित, ऋत्विज्, होता और रत्नों का आधान करनेवाला कहा गया है। पाँचों विशेषण सार्थक हैं और अग्नि या प्राण की मूलभूत विशेषताओं का परिचय देते हैं। अग्नि पुरोहित है। इसका तात्पर्य यह है कि समस्त देवों में अग्नि प्रत्यक्ष प्राप्त है। अग्नि के द्वारा ही अन्य देव या शक्तियाँ पकड़ में आती हैं। मानव-शरीर में जठराग्नि के रूप में अग्नि हमारे सबसे अधिक निकट और प्रत्यक्ष अनुभव की वस्तु है। तीन या पाँच दिन निराहार उपवास करने से अग्नि की महती शक्ति का परिचय प्राप्त किया जा सकता है। यह अग्नि अन्न का परिपाक करती है और शरीर के जितने अंग-प्रत्यंग हैं, सबका निर्माण करती है। यह अग्नि कोई ज्वाला या लपट नहीं, जो हमारे भीतर दहक रही हो। यह नितान्त पार्थिव है। आमाशय के भीतर जो अनेक रसात्मक क्षार या अम्ल हैं, वे ही इस अग्नि के रूप हैं, जो खाये हुए अनेक प्रकार के पदार्थों को पचाकर उनसे रस-रक्त-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा-शुक्र इन सप्त धातुओं की चिति करते हैं। यही अग्नि का पार्थिव रूप है। ऐतरेय के अनुसार पृथिवी पुरोधाता है और अग्नि पुरोहित है। विश्व की मूलभूत शक्ति या अग्नि को प्रकट होने के लिए पार्थिव या भौतिक शरीर चाहिए। वह अग्नि स्वयं पार्थिव धरातल पर प्रकट होकर भौतिक देह का निर्माण करती है। यह देह नियमों से बँधा हुआ एक संस्थान है, जिसका

प्रत्येक कार्य विश्व-विज्ञान के अनुसार व्यवस्थित है। इसमें अनेक देवों का निवास है, किन्तु उन सबमें प्रधान देव अग्नि है, जिस प्रकार इन्धन के पहाड़ को शक्ति-रूप में परिवर्तित करने के लिए एक चिनगारी की आवश्यकता है। यह अग्नि की ही शक्ति है कि नित्यप्रति बाहर से अन्न का कूट या ढेर लेकर उसे शक्ति और भूतों के रूप में परिवर्तित करके शरीर का संवर्धन करती रहती है। जो प्रक्रिया मानवी देह में है, वही छोटे-छोटे-से तृण और सूक्ष्म कीट-पतंग आदि के शरीर में भी है। यह विचित्र रचना है, जिसका आरम्भ एक हिरण्यगर्भ या एक गर्भित भ्रूण से होता है। अर्वाचीन गर्भविज्ञान (एम्ब्रयोलॉजी)-शास्त्र में शरीर-निर्माण की इस रहस्यमयी प्रक्रिया का विस्तृत वर्णन पाया जाता है। वैदिक लोकविज्ञान और देवता-विज्ञान के साथ उसका अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है, जैसा डॉ० वसन्त रेले ने अपने ग्रन्थ 'वैदिक गाड्स ऐज फीगर्स ऑव बायोलॉजी' में प्रतिपादित किया है।

चयन-विद्या

शुक्र-शोणित के एक गर्भ-कोष से आरम्भ करके इतने जटिल शरीर का निर्माण, यही अग्नि की चयन-विद्या है, जिसका शतपथब्राह्मण में विस्तार से प्रतिपादन हुआ है और जिसका मूल यजुर्वेद के अध्याय ११ से अध्याय १८ तक के मन्त्रों में आया है। इस यज्ञ को पंचचितिक कहते हैं। पंचभूतात्मक पाँच तत्त्वों से जो चिति होती है, उसी से शरीर की रचना सम्पन्न होती है। इसे चित्याग्नि कहा जाता है। ऋग्वेद में जिसे चित्रशिशु कहा गया है, वह अग्नि-चयन द्वारा होने के कारण ही चित्र कहा जाता है। किन्तु, यह चित्याग्नि भूतात्मक होने के कारण मर्त्य है।

प्रतिक्षण इसका सम्बन्ध चितेनिधेय नामक अग्नि से होता रहता है। विश्व में जो समष्टिप्राण जीवन और चेतना है, उसके साथ गर्भस्थ कोष, बुद्बुद या कलल का सम्बन्ध माता के श्वास-प्रश्वास द्वारा बना रहता है और वहीं से वह अपने लिए अमृत का पोषण प्राप्त करता है। यदि अमृत-भोजन उसे प्राप्त न हो, तो भौतिक धरातल पर संचित होते हुए उस अग्नि का स्पन्दन रुक जाय। वेद ने अपने ढंग से इस गर्भित कोश को एक औंटता हुआ पात्र कहा है। उसके लिए अग्नि-चयन के अन्त में अजस्र घर्म शब्द आया है (यजु०, १८।६६)। उसे ही अस्यवामीयसूक्त में अभीद्ध घर्म कहा गया है (ऋ०, १।१६४।३६)। इसे ही महावीर पात्र कहते हैं। विश्व की जो प्राणाग्नि है, उसकी उष्णता से यह पात्र औंटता रहता है। इस पात्र में सोम भरा रहता है और अग्नि का केन्द्र अपने स्पन्दनात्मक घर्षण से उस सोम को औंटाता है। यह पात्र एक आरम्भिक घटक कोष के रूप में हो या लाखों कोषों का समुदाय हो, उसमें उष्णता या घर्म का नियम एक ही है। मैत्रायणी उपनिषद् में स्पष्ट कहा है कि प्राण और अपान या उपांशु और अन्तर्याम के पारस्परिक घर्षण से एक उष्णता उत्पन्न होती है। वही पुरुष और वही वैश्वानर अग्नि है :

अथोपांशुरन्तर्याममभिभवत्यन्तर्याम उपांशुं च। एतयोरन्तरा देवौष्ण्यं प्रासुवत्। यदौष्ण्यं स पुरुषः। अथ यः पुरुषः सो अग्निर्वैश्वानरः। (मै०, २।६)

अर्वाचीन विज्ञान के अनुसार इस उष्णता की माप ९८·८° फारेनहाइट तापक्रम है। यह उष्णता १०७ अंश से अधिक हो जाय या ९७ अंश से नीचे आ जाय, तो जीवन या प्राणात्मक स्पन्दन समाप्त हो जाता है। जो समष्टि या विराट् विश्व में आदित्य का तेज है, उसकी उष्णता असीम है। वैज्ञानिक मत में सूर्य के धरातल पर ६०८० अंश और उसके केन्द्र में दो करोड़ अंश की गरमी है, किन्तु प्रकृति का ऐसा विलक्षण विधान है कि उस उष्णता का अत्यन्त नियमित अंश मानव के इस शरीर-रूपी घर्म या गात्र को प्राप्त होता है और उसी की संज्ञा प्राण या जीवन है।

वैदिक परिभाषा में विश्व की विराट् अग्नि को अश्वमेध और शरीर की अग्नि को अर्क कहा जाता है। अर्कसंज्ञक शरीर की प्राणाग्नि तीन प्रकार की होती है, अतएव उसे त्रिधातु अर्क कहा जाता है (यजु०, ८।६६)। अग्नि एक ज्योति है, उसमें तीन ज्योतियों का सम्मिलित रूप है :

प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचेत स षोडशी। (यजु०, ८।३६)

अग्नि-वायु-आदित्य अथवा वाक्-प्राण-मन अथवा क्षर-अक्षर-अव्यय अथवा अर्वाचीन विज्ञान के शब्दों में मैटर-लाफ-माइण्ड ये ही तीन ज्योतियाँ हैं, जिनके विना कोई भी प्राणात्मक स्पन्दन या यज्ञ सम्भव नहीं है।

इन्हें ही प्राण-अपान-व्यान नामक तीन अग्नियाँ कहा जाता है, जो यज्ञ की तीन वेदियों में गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय के रूप में प्रज्वलित रहती हैं।

यजुर्वेद में जहाँ अग्नि-चयन या घर्मयाग का वर्णन है, वहाँ आरम्भ में ही यह प्रश्न उठाया गया है कि प्राणाग्नि के इस स्पन्दन का स्रोत क्या है। इसके मूल कारण को वहाँ सविता कहा गया है और उस सविता की संज्ञा मन है। सविता के सव या मन की प्रेरणा से ही यज्ञात्मक प्राण का यह स्पन्दन आरम्भ होता है और मन की शक्ति से ही जन्म-भर इसका समिन्धन या जागरण चलता रहता है। 'सविता वै देवानां प्रसविता', अर्थात् सविता देवता ही प्रत्येक प्राण-केन्द्र में उद्बुद्ध होकर अन्य सब देवों को खींच लाता है। सविता अन्य देवों का योक्ता है। वही सबके अन्य कर्मों का विधान करता है। 'मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः', सविता देव की यही महती स्तुति या सर्वाधिक प्रशंसा है। इस समस्त विश्व की जो संचालक शक्ति है, वही विराट् सविता देव है। उसकी जो शक्ति प्रत्येक केन्द्र में आ रही है, वह सावित्री है। सावित्री-शक्ति प्रत्येक केन्द्र को ओतप्रोत करके वहाँ से प्रतिफलित होकर अपने मूलस्थान को लौट रही है। शक्ति का यही रूप है। वह आती है और जाती है। इसी नियम से उसके धन और ऋण ये दो रूप बनते हैं। विश्वात्मक सविता से प्राप्त होनेवाली सावित्री की धारा जब हमारे शरीर से प्रतिफलित होती है, तब उसे ही गायत्री कहते हैं। सावित्री और गायत्री का एक छन्द है। द्युलोक सावित्री और पृथिवी गायत्री है। ये दोनों एक ही मूलभूत शक्ति के दो रूप हैं। मनुष्य के शरीर में जो प्राण है, वह प्रति बार बाहर जाकर द्युलोक के विश्वात्मक प्राण के साथ मिलकर फिर भीतर

आता है, जैसा शार्ङ्गधरसंहिता में कहा है—'पीत्वा चाम्बरपीयूषं पुनरायाति वेगतः', अर्थात् शरीर-संचारी प्राण आकाश के अमृत का पान करके शीघ्रता से बारम्बार वापस आता है। यही समष्टि और व्यष्टि प्राण की सम्मिलित धारा है, जिसका सन्तान-क्रम या आना-जाना जीवन का लक्षण है। जो विश्वात्मक है, उसे ही अनन्त और अमृत कहते हैं। जो अमृत है, वही देव कहा जाता है। जो मर्त्य है, उसे भूत कहते हैं। भूतों को देव का आश्रय चाहिए। तभी भूतों का जीवन सम्भव होता है। एक क्षण के लिए भी भूत और देव का सम्बन्ध टूट जाय, तो भूत व्याकुल हो जाता है। अनन्त विश्व में महाप्राण भरा हुआ है, किन्तु भूतात्मक देह में उसका एक अंश ही आ पाता है। वस्तुतः, अमृत-तत्त्व का नाम ही जीवन है। अमृत-तत्त्व ही प्राण है। अग्नि को वेदों में बारम्बार अमृत कहा गया है। अग्नि ही वह अमृत देव है, जो मर्त्य भूतों में समाविष्ट है—'इदं ज्योतिरमृतं मर्त्येषु', अर्थात् अग्नि मर्त्य भूतों में अमृत ज्योति है (ऋग्वेद, ६।९।४)। आयुर्बल से युक्त अग्नि मर्त्य भूतों में रहनेवाला अमृत अतिथि है (ऋ०, ६।४।२)। अमृत अग्नि मर्त्य भूतों में प्रविष्ट हुआ है, यही जीवन है—'मर्त्येषु अग्निरमृतो निधायि।' (ऋ०, १०।७९।१; ७।४।४)

वैदिक साहित्य में अग्नि-विद्या का अपरिमित विस्तार है। एक वाक्य में कहना चाहें, तो अग्नि-विद्या ही वेद-विद्या है। अग्नि ही प्रजापति और अग्नि ही ब्रह्म का रूप है। बृंहण या स्पन्दन अग्नि के विना नहीं होता। जल से पूर्ण एक कलश चूल्हे पर रख दिया जाय, तो उसमें कोई हरकत नहीं होती। पर, उसमें यदि अग्नि का संयोग कर दें, तो वह जल औंटने लगता है। उसमें एक गति उत्पन्न हो जाती है। ठीक यही अवस्था प्रत्येक सृष्टि-रचना की है। आरम्भ में प्रकृति या पंचभूत साम्य अवस्था में थे, उनमें कोई गति या क्षोभ नहीं था। उस समान व्यापक अवस्था को वैदिक भाषा में 'ऋत' या 'आपः' कहते हैं। 'यद् आप्नोत् तस्माद् आपः'; क्योंकि वह सर्वत्र व्याप्त था, इसलिए उसकी संज्ञा 'आपः' हुई (शतपथ, ६।१।१।९)। प्राक्-सृष्टिकाल में प्रकृति की यही साम्यावस्था परमेष्ठी भी कही जाती है। जो परमेष्ठी है, उसी का नाम समष्टि (युनिवर्सल) है। मनोविज्ञान शास्त्री युंग के शब्दों में वही 'कलेक्टिव अनकांशस', अर्थात् विश्वात्मक प्रज्ञान है, जिसका अनुभव सुषुप्त अवस्था में होता है। उस प्रकार की साम्य अवस्था के धरातल पर जो प्रथम क्षोभ उत्पन्न होता है, वही अग्नि का स्पन्दन है। उसी के कारण एक अखण्ड तत्त्व नानाभाव या बहुभाव में आता है। इस बहुभाव को ही बृंहण या ब्रह्म कहते हैं। ब्रह्म का ही रूप अग्नि है। अतएव, ऋग्वेद में अग्नि को ऋत का प्रथमज कहा गया है: 'अग्निर्हि नः प्रथमजा ऋतस्य' (ऋग्वेद, १०।५।७)। इसी दृष्टि से अन्यत्र कहा है कि ऋत के प्रथमज प्रजापति रूप अग्नि ने अपने तप से ब्रह्म के लिए यह सृष्टि-रूप ओदन तैयार किया: 'यमोदनं प्रथमजा ऋतस्य प्रजापतिस्तपसा ब्रह्मणेऽपचत्' (अथर्व, ४।३५।१)।

'ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रथमजम्' (शतपथ, ६।१।१।१०), अर्थात् प्रजापति ने ब्रह्म का सर्वप्रथम सर्जन किया। यह ब्रह्म या त्रयी विद्या ही थी, जिसके द्वारा सृष्टि का विकास हुआ। अग्नि ही त्रयी विद्या का प्रतीक है। अग्नि-वायु-आदित्य ये तीन त्रयी विद्या के

रूप हैं। इनमें ऋग्वेद पिण्ड या मूर्त्ति का निर्माण करनेवाला है। सामवेद उस मण्डल को घेरनेवाली उसकी परिधि है। यजुर्वेद उसका केन्द्र है, जिसमें स्थिति, गति का निवास रहता है। प्रत्येक रचना एक-एक मण्डल या वृत्तात्मक चक्र है। जहाँ मण्डल है, वहीं केन्द्र, व्यास और परिधि का सम्मिलित संस्थान रहता है। इस इकाई की संज्ञा ही त्रयी विद्या है।

ऋत के धरातल पर सर्वप्रथम अग्नि का जन्म होता है, इसलिए वेदों में अग्नि को 'अपां गर्भः', अर्थात् जल का पुत्र कहा गया है। इसका तात्पर्य यही है कि स्थिति के धरातल पर गति का जन्म ही सृष्टि का कारण है। इसे ही साम्यावस्था में प्रसुप्त प्रकृति का स्वयम्भू पुरुष के संयोग से गर्भ-धारण कहा जाता है। परमेष्ठी या ऋत की संज्ञा महत् भी है। वह विश्व की योनि है। अग्नि-रूप प्रजापति उसमें बीजाधान करता है। अग्नि का स्पन्दन ही वह बीज है, जिससे रचना-कार्य का आरम्भ होता है। एक गेहूँ के दाने की कल्पना कीजिए। उसमें अग्नि और सोम दोनों का सम्मिलित रूप है, किन्तु वह तबतक अंकुरित नहीं होता, जबतक उसके केन्द्र में सोया हुआ अग्नि क्षुब्ध नहीं हो जाता, अर्थात् उसमें गति-आगति का स्पन्दन जन्म नहीं लेता। इस जागरण से ही वह बीज अंकुरित होता है, अर्थात् एक से अनेक बनता है। जो एक है, वह निष्कल या अखण्ड है। जो अनेक है, उसे ही नाना, बहु, ब्रह्म या गण कहते हैं।

ऋत और सत्य इन दोनों में भेद है। ऋत परमेष्ठी या समष्टि की संज्ञा है ('ऋतमेव परमेष्ठी')। उस परमेष्ठी में अग्नि के संयोग से जब एक केन्द्र का उदय होता है, तब उस केन्द्र को सत्य कहते हैं। सूर्य सत्य का रूप है। इसका निर्माण जिन नीहारिकाओं से हुआ, वे ऋत थीं। सत्यात्मक पिण्ड के एक कोने को पकड़ें, तो सारा पदार्थ खिंचने लगता है। पर, सरोवर में भरे हुए ऋत का रूप जल का एक अंश उससे अलग होकर हमारे पात्र में आ जाता है। ऋत का कोई एक केन्द्र नहीं रहता, किन्तु सत्य का सुनिश्चित केन्द्र होता है। ऋत के भीतर केन्द्र का जन्म ही यज्ञ है। यज्ञ के लिए अग्नि का प्रज्वलित करना आवश्यक है। यह अग्नि द्यावा-पृथिवी-रूप दो अरणियों के मन्थन से उत्पन्न होता है। इसे वेदों में 'सहसः सूनुः' (यजुर्वेद, १२।२२), अर्थात् बलों का पुत्र कहा है। प्रत्येक यज्ञ एक-एक बल है। बल विना केन्द्र के प्रयुक्त नहीं होता। अतएव, प्रत्येक यज्ञ के मध्य में उसका केन्द्र आवश्यक है। इस केन्द्र को ही नाभि, हृदय या यूप कहते हैं।

द्युलोक और पृथिवी ये विश्व के माता-पिता कहे गये हैं। प्रत्येक प्राणी या केन्द्र के लिए द्यावा-पृथिवी रूप माता-पिता की आवश्यकता है। द्यावा-पृथिवी की संज्ञा रोदसी है। रोदसी वह लोक है, जिसमें कोई भी नई सृष्टि माता-पिता के विना नहीं होती। वृक्ष-वनस्पति से मनुष्यों तक जितनी योनियाँ हैं, सबमें माता-पिता का द्वन्द्व अनिवार्य है। एक-एक पुष्प में माता-पिता, योषा-वृषा या पुरुष-स्त्री के इस द्वन्द्व की सत्ता है। इसे ही मित्रावरुण का जोड़ा कहते हैं। परस्पर आकर्षण या मैत्री-भाव इस जोड़े की विशेषता है। मित्र और वरुण इन दोनों के दो मण्डलों के मिलने से ही प्राण का जन्म सम्भव होता है। जो मित्र का

मण्डल है, वह उष्ण या आग्नेय है। जो वरुण का मण्डल है, शीत या जलीय है। अग्नि और सोम, उष्ण और शीत, मित्र और वरुण, द्युलोक और पृथिवी, इस द्वन्द्व के विना प्राण या जीवन का जन्म सम्भव नहीं।

जिस प्रकार रोदसी विश्व में माता और पिता अनिवार्य हैं, उसी प्रकार रोदसी में जितनी प्राणी-सृष्टि है, वह अन्न-अन्नाद के नियम के अधीन है। जिस केन्द्र में प्राण का जन्म होता है उसमें अशनाया-तत्त्व या बुभुक्षा का नियम अवश्य काम करता है। बालक भूख से व्याकुल होकर रोता है। इसलिए, अग्नि की सोम के लिए व्याकुलता या भूख को ब्राह्मण-ग्रन्थों में रुदन कहा है। जो अन्नाद या अन्न का खानेवाला है, वह अन्न के लिए रुदन करता है। जो रुदन करता है, वह रुद्र है ('यदरोदीत्तस्माद् रुद्रः', शतपथ, ६।१।३।१०)। अग्नि ही रुद्र है। अन्नाद अग्नि अन्न-रूप सोम के विना रह ही नहीं सकता। इसलिए, अग्नि के दो रूप कहे गये हैं—एक घोर और दूसरा अघोर। अग्नि को जब सोम नहीं मिलता, तब वह उसका घोर या मृत्यु-रूप हो जाता है। विना सोम के अग्नि जिस केन्द्र में रहती है, उसी को नष्ट कर डालती है, जैसे विना घी के दीपक की ज्वाला अपनी बत्ती को खा डालती है। किन्तु, जैसे ही अग्नि को सोम मिलता है, अग्नि शान्त और शिव बन जाती है। अपनी जठराग्नि में इस प्रक्रिया को हम नित्य देखते हैं। अन्न-रूप सोम की आहुति से वैश्वानर अग्नि कुछ घण्टों के लिए शान्त हो जाता है और फिर व्याकुल हो उठता है। अन्न-अन्नाद का यह नियम एक यज्ञ है और द्यावा-पृथिवी के मध्य में जितनी सृष्टि, है, सब इस नियम से व्याप्त है। इसी कारण इसे रुद्राग्नि का लोक या रोदसी कहते हैं।

एक अग्नि पृथिवी पर और दूसरी द्युलोक में सूर्य-रूप में है। दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों के बीच में तीसरी अन्तरिक्ष की अग्नि है, जिसके माध्यम से दोनों का सम्बन्ध होता है। इसीलिए, अग्नि त्रेता या तीन अग्नियाँ कही जाती हैं और अग्नि को वही तीन लोकों में प्रज्वलित माना जाता है—'विद्या ते अग्ने त्रेता त्रयाणि' (यजुः, १२।१९)।

मन-प्राण-वाक् तीन अग्नियाँ हैं। प्राण-अपान-व्यान भी तीन अग्नियाँ हैं। अग्नि, वायु और सूर्य ये भी तीन अग्नियाँ हैं। इस विषय में शौनक ने बृहद्देवता में अत्यन्त स्पष्ट उल्लेख किया है—भवत्, भूत और भव्य, जंगम और स्थावर उनका प्रभव और प्रलय, अर्थात् उत्पत्ति और विनाश का कारण सूर्य ही है। सूर्य ही प्रजापति है, जो असत् और सत् दोनों का उद्गम-स्थान है। वही अक्षर और अविनाशी तत्त्व है। वही वाक् से प्रकट होनेवाला तत्त्व है। वह सूर्य ही अपने-आपको तीन रूपों में विभक्त करके इन लोकों में स्थित है। सब देव उसकी रश्मियों में समाये हुए हैं, अर्थात् क्रम से व्यवस्थित हैं। यह अग्नि के रूप में तीन लोकों में स्थित है। ऋषि तीन नामों से उसी की उपासना करते हैं। वही प्रत्येक प्राणी के उदर में जठराग्नि-रूप में प्रज्वलित है। यज्ञों में कुशा बिछाकर उसी का तीन स्थानों में आवाहन किया जाता है। उसे ही इस लोक में अग्नि, मध्य लोक में वायु-इन्द्र और द्युलोक में सूर्य कहते हैं। ये ही तीन देवता हैं :

कृत्वैष हि त्रिधात्मानमेषु लोकेषु तिष्ठति।
देवान्यथायथं सर्वान् निवेश्य स्वेषु रश्मिषु।
एतद्भूतेषु लोकेषु अग्निभूतं स्थितं त्रिधा।
ऋषयो गीर्भिरर्चन्ति व्यञ्जितं नामभिस्त्रिभिः।।
तिष्ठत्येष हि भूतानां जठरे जठरे ज्वलन्।
त्रिस्थानं चैनमर्चन्ति होत्रायां वृक्तबर्हिषः।।
अग्निरस्मिन्नथेन्द्रस्तु मध्यतो वायुरेव च।
सूर्यो दिवीति विज्ञेयास्तिस्र एवेह देवताः।।

वैदिक प्रतीकवाद

तीन अग्नियों को ऋग्वेद में तीन भ्राता कहा गया है। पृथिवी की अग्नि पवमान, अन्तरिक्ष की पावक और द्युलोक की शुचि कही जाती है। पवमान को निर्मन्थ्य अग्नि भी कहते हैं; क्योंकि वह दो अरणियों को मथकर उत्पन्न की जाती है। यज्ञ में दो अरणियों की कल्पना महत्त्वपूर्ण है। माता और पिता शिशु-रूप अग्नि को उत्पन करनेवाले दो मन्थन-दण्ड हैं। उन्हें ही प्राण और अपान भी कहते हैं। शरीर में प्राण और अपान दो लोढ़ों के समान हैं, जो व्यान-रूपी शिला पर दो ओर से टकराते हैं और परस्पर के घर्षण से शारीरिक अग्नि उत्पन्न करते हैं। मध्यस्थ व्यान प्राण की संज्ञा वामन भी है। केन्द्र या हृदय में प्रतिष्ठित होने के कारण इसे वामन कहा जाता है। यही शक्ति जब केन्द्र से बाहर फैलती है, तब इसका रूप विराट् हो जाता है। शुचि-पावक-पवमान इन तीन अग्नियों को ही क्रमशः ब्रह्माग्नि, देवाग्नि और भूताग्नि भी कहते हैं। हमें केवल भूताग्नि प्रत्यक्ष होती है, शेष उसके दो रूप नहीं। जैसे, स्थूल शरीर ही भौतिक होने से प्रत्यक्ष का विषय है और आँख से देखा जाता है। उसके आधार पर रहनेवाले प्राण और मन नेत्र से दिखाई नहीं पड़ते हैं, ऐसे ही देवाग्नि और ब्रह्माग्नि प्रत्यक्ष का विषय नहीं। शरीर के भीतर जो क्षार और अम्ल से युक्त रसात्मक भौतिक अग्नि है, उसे शल्य द्वारा प्रत्यक्ष देख सकते हैं; किन्तु शरीर के भीतर की प्राण-क्रिया और मानस क्रिया की ध्रुव सत्ता होते हुए भी उन्हें प्रत्यक्ष देखना सम्भव नहीं। इसी दृष्टि से पार्थिव अग्नि को स्थूल या घन, अन्तरिक्ष अग्नि को तरल और द्युलोक की अग्नि को विरल कहा जाता है। इस दृष्टि से भौतिक देह घन है। उसमें व्याप्त प्राण की क्रिया तरल और मन की क्रिया विरल है। विरल अग्नि सबसे सूक्ष्म और सबसे अधिक व्यापक होती है। यही दशा मन की है, जो निकट और दूर सर्वत्र व्याप्त हो जाता है।

वैदिक भाषा में सबसे अधिक प्रतीकों का महत्त्व है। प्रत्यक्ष शब्दों की अपेक्षा परोक्ष संकेत ही अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। 'परोक्षप्रिया वै देवाः प्रत्यक्षद्विषः', यह वैदिक अर्थों का नियामक सूत्र है। मनुष्यों के कण्ठ से जिन शब्दों का उच्चारण होता है, वे शब्द उत्पन्न होकर नष्ट होते रहते हैं। जैसे, गो शब्द कण्ठ से जन्म लेता है, फिर विनष्ट हो जाता है। किन्तु जो गो पशु है, वह जैसा पूर्व में था, वैसा ही आज भी है और आगे भी रहेगा।

उसमें जो प्रक्रिया हो रही है, वह नित्य है। प्रकृति में गौ की रचना मानवी कृति नहीं, एक नित्य कृति है। अतएव, वह अपौरुषेय रचना है। गौ के प्रतीक से जो अर्थ ग्रहण किये जाते हैं, वे भी नित्य होने के कारण अपौरुषेय ही हैं। इस प्रकार, सृष्टि का कोई पदार्थ ऐसा नहीं, जो विश्व की रचना के परोक्ष अर्थों की व्याख्या न करता हो। सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, समुद्र, मेघ, आकाश, नदी, वृक्ष, वन, जल, अग्नि इत्यादि जितने शत-सहस्र पदार्थ हैं, सब अपने-अपने प्रतीक से सृष्टि के रहस्य को प्रकट कर रहे हैं। वे शब्दमयी भाषा की अपेक्षा कहीं गम्भीर अर्थों के परोक्ष संकेत प्रदान करते हैं। ऋषियों ने अर्थों को इसी शैली को अपनाया। उदाहरण के लिए जो गौ है, वह दूध का प्रतीक है। दूध देनेवाले और भी कई पशु हैं, पर उनमें गौ ही श्रेष्ठ है। गौ के शरीर में कोई ऐसी रसायनशाला है, जो जल को दूध में बदल देती है। किन्तु, गौ भी तबतक दूध नहीं देती, जबतक वह बच्चा नहीं देती। अतएव, स्पष्ट हुआ कि नीर का क्षीर में परिवर्त्तन ही प्रजनन या मातृत्व है। दूध और पानी में क्या अन्तर है, इस प्रश्न का प्रतीकात्मक उत्तर स्पष्ट है। पानी वह है, जिसको मथने से त्रिकाल में भी घी या स्नेह नहीं प्राप्त होता। किन्तु, दूध ऐसा श्वेत जल है, जिसके रोम-रोम में घृत के कण व्याप्त रहते हैं। यह घृत माता के हृदय का स्नेह है, जो वह वत्स के लिए प्रकट करती है। अतएव, गौ मातृत्व या प्रजनन का प्रतीक है। गौ जब गर्भित होती है, तभी वह बछड़े को जन्म देती है और तभी उसमें दूध देने की क्षमता उत्पन्न होती है। गौ का मातृतत्त्व सोम है। वह वृषभ के शुक्र या आग्नेय गुण से गर्भ धारण करती है। यह अग्नि ही गौ के दूध में व्याप्त घृत है। पानी और घी का यही अन्तर है कि पानी से आग बुझती है और घी से प्रज्वलित होती है। अतएव, ब्राह्मणग्रन्थों में कहा है कि घृत अग्नि का साक्षात् रूप है ('एतद्वा अग्नेः प्रियं धाम यद्घृतं', तै०, १।१।९।६; एतद्वै प्रत्यक्षं यज्ञरूपं यद् घृतम्', शतपथ, १२।८।२।१५)। जिस प्रकार वृषभ और गौ से वत्स का जन्म होता है, वैसे ही पुरुष और प्रकृति के पारस्परिक संयोग से विश्व का जन्म होता है। इस विश्व-रूपी वत्स की माता को, जो अनन्त प्रकृति है, अदिति कहते हैं। वह कामदुघा और विश्वधायिस् धेनु कही जाती है, अर्थात् काम ही उसका दूध है और विश्व ही उससे तृप्त होनेवाला वत्स है। इस प्रकार, केवल गौ का प्रतीक अनेक अर्थों की उद्भावना कराता है। जहाँ-जहाँ प्रजनन या मातृत्व है, वहीं-वहीं गौ का रूपक चलता रहता है। पृथिवी गौ है, जो अनन्त वृक्ष-वनस्पति को प्रतिवर्ष जन्म देती है। ऐसे ही विश्व के प्राणिमात्र की जितनी माताएँ हैं, सब गौ के रूप हैं। सूर्य की रश्मियाँ गौएँ हैं, जो अपनी गति से समस्त संसार में विचरण करती हैं और जिस पृथिवी से उनका सम्पर्क होता है, उसे वे गर्भ-धारण की योग्यता प्रदान करती हैं। सूर्य की उष्णता से ही पृथिवी गर्भित होती है। इसी प्रकार और सूक्ष्म स्तर में प्रविष्ट होने से ज्ञात होता है कि वाक् भी गौ है। वह मन-रूपी वृषभ से गर्भित होती है। मन के विचार ही वाणी में आते हैं और दोनों के सम्मिलन से प्राण या क्रिया का जन्म होता है। वेद में अनेक प्रकार से गौ के रूपक का विस्तार पाया जाता है। ऋषियों को अर्थों की यह परोक्ष शैली अत्यन्त मनःपूत थी। जाने-पहचाने पदार्थों को लेकर वे उनके साथ सृष्टि-विद्या के अर्थों का सम्बन्ध जोड़ देते थे। इस विश्व को जब वृक्ष या अश्वत्थ कहा

जाता है, तब उसका अभिप्राय यह है कि अश्वत्थ के जन्म की कथा से विश्व के जन्म और विकास की व्याख्या समझी जा सके। शक्ति का कोई महान् स्तम्भ पृथ्वी से द्युलोक तक वृक्ष की भाँति ऊर्ध्व और स्तब्ध खड़ा है। उसे ही बाण और उदुम्बर भी कहा जाता है। ऋग्वेद में उसे 'ओपश' भी कहा है। यह स्तम्भ क्या है, इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि यज्ञ ही वह दृढ धर्म या धारणात्मक टेक है, जिसपर सृष्टि का दूर-से-दूर और निकट-से-निकट का प्रत्येक भाग अविचल रूप से ठहरा हुआ है। यद्यपि यह ब्रह्मचक्र सदा भ्रमणशील देखा जाता है, किन्तु इसका धुरा कभी तप्त नहीं होता और जो भुवन इसमें पिरोये हुए हैं, वे तिलमात्र भी विचलित नहीं होते। इस पट का वितान अति सुन्दर है। अहोरात्र, दर्शपौर्णमास, ऋतुएँ, अयन और संवत्सर इनके अंशों से यह चक्र निरन्तर आगे बढ़ रहा है, मानों काल-रूपी कोई अश्व है, जिसकी दुधर्ष गति इस विराट् देवरथ को चला रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रतीकों की दृष्टि से ऋग्वेद विश्व के समस्त साहित्य में मूर्धन्य स्थान रखता है। इस समय संसार में धार्मिक प्रतीकों की व्याख्या के प्रति एक नई अभिरुचि देखी जाती है। पश्चिमी विद्वानों का विचार है कि धार्मिक प्रतीकों के अर्थों पर विचार करने से ही अबतक का रुँधा हुआ मार्ग आगे प्रशस्त हो सकेगा। इस क्षेत्र में सबसे बड़ी सहायता मनोविज्ञानशास्त्र से प्राप्त हो रही है और भविष्य में भी प्राप्त होने की सम्भावना है।

ऋग्वेद के अनुसार, यह विश्व प्रजापति के मन की रचना है। जहाँ मन है, वहीं कामना है। काम ही मन का प्रथम शक्ति-बीज था। उसी से यह सब रचना हुई:

कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।

वैदिक सृष्टि-विद्या और वर्त्तमान मनोविज्ञानशास्त्र की स्थापनाओं में अद्भुत सादृश्य दिखाई पड़ता है। इस प्रकार, वेद गम्भीर विद्याओं का कोष है और भारतीय संस्कृति का वही मूल है। इन विज्ञानों का भारतीय संस्कृति से सम्बन्ध सरल भाषा में प्रस्तुत ग्रन्थ में स्फुट किया गया है। आशा है, भारतीय संस्कृति के प्रेमी इससे यथोचित लाभ उठायेंगे।

काशी-विश्वविद्यालय
महाशिवरात्रि, २०१६ विक्रमाब्द
२५, फरवरी, १९६० खृष्टाब्द

वासुदेवशरण अग्रवाल

विषयानुक्रमणी

वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति

प्राक्कथन

प्रचोदिता येन पुरा सरस्वती
वितन्वताजस्य सतीं स्मृतिं हृदि।
स्वलक्षणा प्रादुरभूत् किलास्यत:
स मे ऋषीणामृषभः प्रसीदताम् ।।

—श्रीमद्भागवते

वैदिक विज्ञान-जैसे गम्भीर दुरूह विषय पर मुझ-जैसे अल्पज्ञ सामान्य पुरुष का कुछ कहने का साहस करना एक प्रकार का अपराध ही है। निरुक्तकार भगवान् यास्क ने स्पष्ट कहा है कि 'नैतेषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेस्तपस्ते वा'। ऋषि और तपस्वी के आन्तरिक मन्त्रार्थ का कोई प्रत्यक्ष नहीं कर सकता, अर्थात् मन्त्रार्थ का विशद ज्ञान ऋषि वा तपस्वी को ही हो सकता है, हम जैसे सामान्य मनुष्य उनपर टीका-टिप्पणी करने का अधिकार नहीं रखते; किन्तु इस प्रकार के अधिकारी मिलना इस युग में दुर्लभ हो रहा है। अब, यदि हम सब निराश होकर चुप ही रहें, तो ऋषियों की इस सम्पत्ति के लोप हो जाने का ही भय है। इसी विचार से 'पतन्ति खे ह्यात्मसमं पतत्त्रिण:', अर्थात् आकाश तो अनन्त है, उसका पार तो गरुड-जैसे भी नहीं पा सकते, किन्तु प्रत्येक पक्षी अपनी शक्ति के अनुसार उसमें उड़ान कर ही लेता है—इस न्याय से अपनी अल्पशक्ति के अनुसार जितना कुछ बन सके, उतना कहने को प्रस्तुत होने का मैंने साहस किया है। उद्देश्य केवल इतना ही है कि भारतीय महर्षियों की इस अमूल्य अतुल सम्पत्ति का मनन इस युग में भी विशेष रूप से विद्वानों में प्रसृत हो,—जिससे इस जगद्गुरु देश की संसार में प्रतिष्ठा बनी रह सके। इसके अतिरिक्त स्वयं अल्पज्ञ होने पर भी 'गुरु-कृपा' का एक आधार भी मुझे है। मेरे परम आराध्य गुरु जयपुर-राजसभा के प्रधान पण्डित, इसी बिहार-प्रान्त के अन्तर्गत मिथिला के रत्न विद्यावाचस्पति श्रीमधुसूदनजी ओझा वैदिक विषय के एक गम्भीर विद्वान् हुए हैं। उन्होंने संसार के सब व्यवहारों और सुखों का परित्याग कर अपनी सब आयु केवल वैदिक विषयों के अन्वेषण (रिसर्च) में लगाई थी। और, सन्देह है कि कई शताब्दियों से वेद पर इतना श्रम करनेवाला और उससे इतना विज्ञान प्राप्त कर लेनेवाला कोई अन्य विद्वान् हुआ है या नहीं। आपने वेदों के मन्त्र ब्राह्मणात्मक भाग पर कोई टीका वा भाष्य नहीं लिखा, किन्तु अपने शताधिक ग्रन्थों में वेद के अर्थ में सहायता देनेवाली उन परिभाषाओं को विशद करने का सफल प्रयत्न किया, जो बहुत काल से लुप्त हो चुकी थीं। और जिनके विना वेद का अर्थ जानना एक अत्यन्त कठिन कार्य था। वेद के विशेष शब्द कितना गम्भीर अर्थ अपने उदर में रखते हैं—यह जानना ही अत्यन्त कठिन हो रहा है, इसी के निरूपण में आपका आजीवन प्रयास रहा। अस्तु; उनसे पढ़कर वा

उनके विस्तृत ग्रन्थों को देखकर जो कुछ ज्ञान की कणिका मुझे प्राप्त हुई है, उसका ही थोड़ा-सा अंश आप लोगों के सम्मुख रखना चाहता हूँ। आशा है, विषय की गम्भीरता और उपयोगिता देखते हुए आप सज्जन मुझे क्षमा कर इधर ध्यान देने का कष्ट करेंगे।

भारतवासियों की वेद पर 'यत्परा नास्ति' श्रद्धा है, वे संसार में सबसे बढ़कर वेद का गौरव मानते हैं और वेद के नाम पर प्राणों तक को निछावर कर डालने के लिए हर घड़ी तैयार रहते हैं; किन्तु इस ओर दृष्टि देकर विचार करनेवाले बहुत अल्प हैं। भारत के निवासी पुराने समय के जो बड़े मुनि, महान् आचार्य वा धुरन्धर विद्वान्, जो १२, २४ वा ३६ वर्ष तक ब्रह्मचर्य रखकर वेद ही पढ़ते रहते थे, वे इससे क्या सीखते होंगे, किस ज्ञान के लिए वे अपनी आयु इसमें खपा देते थे? जितना कुछ आज हम वेद में समझते हैं, वह तो उन कुशाग्रबुद्धि महानुभावों के लिए दिनों में सीख लेने की बात थी।

आज जिसे विज्ञान कहा गया है, जिस ज्ञान के विना आज कोई भी मनुष्य शिक्षित कहलाकर प्रतिष्ठा नहीं पा सकता। वह विद्या भी वेद में है या नहीं? इसका पूरा अन्वेषण करने में बहुत अल्प प्रवृत्ति देखी जाती है।

ऐसा कोई प्रकार अभी तक नहीं निकला था, जिससे क्रमिक वेद का विज्ञान जाना जा सके। यों कहिए कि वेद का विज्ञान जिस ताले में बन्द है, उसकी चाभी अभी हमें नहीं मिली थी। हम अभी तक केवल बाहर से ही बिखरे हुए रत्नों की कान्ति देख रहे थे। मेरा विश्वास है कि ऐसी खोज से जगत् का बड़ा भारी लाभ होगा। वर्त्तमान साइंस की बहुत-सी थिउरियाँ जो अभी तक अटकल पर हैं, या अस्थिर हैं, वे इस खोज से किसी सुस्थिर रूप में दृढ हो जायेंगी। बहुत-से सिद्धान्त पलट जायेंगे और बहुत-से नये विदित हो जायेंगे। इस प्रकार, वैज्ञानिकों की बहुत-सी असुविधाएँ दूर हो सकती हैं।

वेद के अन्वेषण में कठिनाइयाँ

इस समय बड़ी अड़चन यह है कि वैदिक भाषा और प्रक्रिया दोनों से हम इतनी दूर जा गिरे हैं कि वेद का वास्तविक पूरा अर्थ समझना ही हमारे लिए कठिन हो गया है। आज जो वैदिक विद्वान् कहलाते हैं, वे मूलपाठ, उसके पद, क्रम, जटा, घन वा अधिक-से-अधिक उन मन्त्रों से होनेवाले कर्मकाण्ड के ज्ञान तक ही अपने कर्त्तव्य की सीमा मान लेते हैं। अर्थज्ञान के लिए भी उनमें से बहुत कम सज्जन परिश्रम करते हैं, अन्वेषण की ओर तो कभी स्वप्न में भी उनकी दृष्टि नहीं जाती। अंग, उपांग वा विभिन्न दर्शन-शास्त्रादि के प्रौढ ज्ञान के विना वे अन्वेषण कर भी नहीं सकते। अन्यान्य शास्त्रों के जो प्रौढ विद्वान् हैं, वे वेद की ओर कभी दृष्टिपात नहीं करना चाहते। वे मानों यह बात ही भूल गये हैं कि अन्य शास्त्रों की प्रवृत्ति केवल वेदार्थ समझाने के लिए ही आरम्भ हुई है। व्याकरण के महाभाष्यकार भगवान् पतंजलि ने व्याकरण का मुख्य पहिला प्रयोजन यही बताया है कि 'रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम्', वेदों की रक्षा के लिए व्याकरण पढ़ना चाहिए; किन्तु आज व्याकरण में अपना पूरा जन्म लगा देनेवाले भी वेदों का कभी स्वप्न में

भी नाम नहीं लेते। न्याय के प्रधानाचार्य गौतम, कणाद ने भी वेद-प्रामाण्य के समर्थन में पूरा बल लगाया है। वेद-प्रामाण्य का समर्थन ही अपना मुख्य लक्ष्य माना है; किन्तु वर्त्तमान में न्याय एक प्रधान शास्त्र समझकर ही पढ़ा जाता है। तब, वेद का अन्वेषण करे कौन ? इससे वेद-विज्ञान के अन्वेषण की चर्चा ही आज भारत में बहुत कम है। स्वतन्त्र भारत में संस्कृति की अन्वेषण-संस्थाएँ भी कई जगह खुल रही हैं, किन्तु कुछ पुराने ग्रन्थों का सम्पादन कर देना—उन ग्रन्थों के समय आदि का कुछ विचार कर देना—बस इसमें ही वे अपना कर्त्तव्य पूर्ण मान रहे हैं। वेद-पुराण के अन्वेषण करने की प्रवृत्तिवाले विद्वान् ही उन्हें नहीं मिलते।

इसमें सन्देह नहीं कि अर्थ समझने-समझाने की सात-आठ शताब्दी पूर्व से आजतक बहुत-सी चेष्टाएँ बड़े-बड़े महानुभावों ने की हैं, और आर्य-जाति उनकी उदारता और कृपा का ऋण कभी नहीं चुका सकती, किन्तु यह कहना ही पड़ता है कि पूर्ण सफलता नहीं मिली।

सफलता न मिलने के प्रधान कारण

प्राचीन समय के सब वेदों में सर्वमान्य भाष्य सुगृहीतनामधेय परम श्रद्धास्पद श्रीसायण और माधवाचार्य के हैं। ये (सायण और माधव) दोनों भ्राता थे, और विजयानगरम् के बुद्ध महाराज के अमात्य थे। इनके तीसरे भ्राता भोगनाथ नाम के और थे, उन्होंने भी भाष्य लिखने में सहायता दी है। इन महानुभावों के भाष्य इतने सरल हैं कि संस्कृत-भाषा का साधारण ज्ञान रखनेवाला भी इनसे मन्त्रों और ब्राह्मणों का अर्थ समझ सकता है। किन्तु, इन महानुभावों ने मन्त्र और ब्राह्मणों के अनुष्ठेय यज्ञों से सम्बन्ध रखनेवाले अर्थ ही अपने भाष्य में लिखे हैं, इससे विज्ञान का अन्वेषण करनेवालों का मार्ग प्रशस्त नहीं होता। इसका एक कारण तो उन्होंने ही स्पष्ट लिख दिया है कि उस काल के विज्ञान-विरहित मनुष्यों को वैज्ञानिक विषय समझाने में बहुत विस्तार करना पड़ता, और भाष्य कठिन भी हो जाता। ऋग्वेद-संहिता के प्रथम मन्त्र का विस्तृत व्याख्यान कर आगे उन्होंने लिखा है कि 'वेदविषयक उपोद्घात और प्रथम मन्त्र का व्याख्यान हमने विस्तार से लिख दिया। इससे पाठक वेद की गम्भीरता समझ लेंगे—अब आगे संक्षेप से ही मन्त्रार्थ करेंगे।' इसमें सन्देह नहीं कि यज्ञ विज्ञानमय है। वेद में सम्पूर्ण विज्ञान यज्ञ के रूप में ही प्रकट किया गया है। जैसे, विना विज्ञानशाला (लेबोरेटरीज) की सहायता के केवल पुस्तकों से वर्त्तमान साइंस की शिक्षा नहीं हो सकती, वैसे यज्ञशालाओं के विना वैदिक विज्ञान की शिक्षा भी अपूर्ण रहती है। वेद-मन्त्रों में जो विज्ञान के सिद्धान्त विदित होते हैं, उनका प्रयोग यज्ञों के द्वारा ही हो सकता है। किन्तु, यज्ञ दो प्रकार का है। एक प्राकृत यज्ञ, जो प्रकृति में सतत होता रहता है, और दूसरा अनुष्ठेय वा कृत्रिम यज्ञ, जो मनुष्यों द्वारा किया जाता है। प्राकृत यज्ञ ही इस कृत्रिम यज्ञ का आधार है। प्राकृत यज्ञ में विज्ञान के सिद्धान्त बताये जाते हैं और अनुष्ठेय यज्ञों में उनका प्रयोग बताया जाता है। इन दोनों का परस्पर सम्बन्ध जानना ही मुख्य वैदिक विज्ञान है। इस सम्बन्ध का संकेत वेदों में ही विशेषकर वेद के ब्राह्मण-भाग में स्थान-स्थान पर बताया गया है। इसका एक सुस्पष्ट निदर्शन द्रष्टव्य है :

यज्ञों की वैज्ञानिकता का प्रमाण

शतपथब्राह्मण के ग्यारहवें काण्ड के चतुर्थ अध्याय के आरम्भ में ही एक 'आख्यायिका है कि कुरु-पांचाल (देहली और कन्नौज के मध्य) देश से अरुण के पुत्र उद्दालक ऋषि किसी यज्ञ में निमन्त्रित कर उदीच्य देश में बुलाये गये। 'उदीच्यः पश्चिमोत्तरः'— इस वाक्य के अनुसार कश्मीर-प्रान्त ही उदीच्य हो, ऐसा अनुमानतः प्रतीत होता है। उद्दालक ऋषि के सामने निष्क नाम का सुवर्ण का सिक्का रखा गया, जो यज्ञ में मुख्य विद्वानों को भेंट दिया जाता था। इसपर उदीच्य देश के ब्राह्मणों ने विचार किया कि यह कुरु-पांचाल देश का विद्वान् स्वयं ब्रह्मा और ब्रह्मा का पुत्र है (यज्ञ का प्रधान निरीक्षक ब्रह्मा कहलाता है)। यह यदि अपनी दक्षिणा में से आधा द्रव्य हमें न दे, तो क्या हम वाद (शास्त्र-विचार) के लिए इसका आह्वान कर सकते हैं? परन्तु, इस प्रकार वाद के लिए चुनौती तभी दी जा सकती है, जब हमारी ओर भी कोई इस कोटि का विद्वान् हो। ऐसा प्रगल्भ विद्वान् हमारी ओर से कौन हो सकता है? अन्त में, विचार से यह स्थिर हुआ कि शौनक गोत्र के 'स्वैदायन' इस कार्य के उपयुक्त हैं। स्वैदायन से प्रार्थना की गई कि महाशय! आप को अग्रसर बनाकर हम उद्दालक से शास्त्र-विचार करना चाहते हैं। इसपर स्वैदायन ने उन्हें आश्वासन दिया, और कहा कि मैं पहिले इनकी विद्वत्ता का पता लगा लेता हूँ कि वेदशास्त्र में इनकी गति कहाँतक है? उसके उपरान्त वाद के लिए प्रस्तुत हो सकूँगा। इतना कहकर स्वैदायन यज्ञ-मण्डप की ओर गये। परस्पर परिचय के अनन्तर स्वैदायन ने प्रश्न करना आरम्भ किया :

१. गौतमपुत्र! यह पुरुष यज्ञ में वरण किया जाकर सवारी पर चढ़कर दूर देश में जा सकता है, जो दर्शपौर्णमास के आठ पूर्व के आज्य-भाग, पाँच मध्य के हविर्भाग, छह प्रजापति देवता के भाग और आठ अन्त के आज्य-भाग (यह सब कर्मकाण्ड का विषय है) जानता हो।

२. गौतमपुत्र! वही पुरुष यज्ञ में वृत होकर जाने का अधिकारी है, जो दर्शपौर्णमास यज्ञ की उस क्रिया को जानता हो, जिसके कारण सम्पूर्ण प्रजा विना दाँत की पैदा होती है? जिसके कारण फिर सबके दाँत पैदा होते हैं? जिस कारण वे टूटकर फिर जम जाते हैं, और जिस कारण अन्तिम अवस्था में फिर सब दाँत गिर जाते हैं? क्यों पहिले नीचे दाँत पैदा होते हैं, फिर ऊपर? क्यों नीचे के छोटे होते हैं और ऊपर के विस्तृत? क्यों दष्ट्राएँ (दाढ़) फैली हुई होती हैं और जबड़े समान? इन बातों का दर्शपौर्णमास यज्ञ से सम्बन्ध जानना यज्ञ करानेवाले के लिए आवश्यक है।

३. गौतमपुत्र! यज्ञ में वरण पाने का वही अधिकारी है, जो दर्शपौर्णमास यज्ञ की उस क्रिया को जानता है, जिससे सब प्रजा लोमश (रोमवाली) पैदा होती है। जिस कारण आगे सबके श्मश्रु (दाँढ़ी-मूँछ) भी निकलते हैं, जिस कारण पहले शिर के केश श्वेत होते हैं, और अन्तिम अवस्था में सभी बाल पक जाते हैं।

४. यज्ञ करानेवालों को यह ज्ञान भी आवश्यक है कि दर्शपौर्णमास यज्ञ की किस

क्रिया के अनुसार कुमार अवस्था तक वीर्य-सेचन की शक्ति नहीं होती ? क्यों युवावस्था में हो जाती है ? और, अन्तिम अवस्था में वह शक्ति क्यों नष्ट हो जाती है ?

५. तेजोमय पक्षवाली यजमान को स्वर्ग पहुँचाती हुई गायत्री को जो जान लेता है, वही यज्ञ में पूज्य होकर जा सकता है। अवश्य ही, आप इन सब बातों को जानते ही होंगे।

उद्दालक ने यह सब प्रश्न सुनते ही अपना निष्क स्वैदायन के सामने रख दिया। उन्होंने निवेदन किया कि 'स्वैदायन ! आप अधिक वेदवक्ता हैं। सुवर्ण जाननेवाले को ही सुवर्ण मिलना चाहिए।' इसपर स्वैदायन उद्दालक से गले मिलकर यज्ञभूमि से चले गये। ब्राह्मणों ने पूछा—'स्वैदायन ! गौतम-पुत्र को आपने देखा ? कैसा है ?'

स्वैदायन ने उत्तर दिया—'जैसा ब्रह्मा का पुत्र और ब्रह्मा होना चाहिए, वैसा ही उद्दालक है। इसके सामने जो खड़ा होगा, उसका सिर अवश्य झुकेगा।' ब्राह्मण लोग निराश होकर घर चले गये। (उनका विनय और विज्ञान-पिपासा देखकर ही स्वैदायन ने यह सिद्धान्त स्थिर किया—वार्तालाप में अन्य प्रकार से भी सम्भव है—उनका पाण्डित्य समझा हो। वह सब विषय यहाँ लिखा नहीं गया।) अस्तु;

कुछ समय के अनन्तर उद्दालक समिधा हाथ में लेकर स्वैदायन के समीप पहुँचे और कहा—'भगवन् ! मैं आपका शिष्य होकर आया हूँ।' स्वैदायन ने पूछा—'आप मुझसे किस विषय का अध्ययन करना चाहते हैं।' उद्दालक कहने लगे—'जो प्रश्न आपने यज्ञ-मण्डप में मुझसे किये थे, उन्हीं का उत्तर समझा दीजिए।' स्वैदायन कहने लगे—'उद्दालक ! मुझे आपके शिष्यत्व को स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं। मैं आपको उन प्रश्नों का उत्तर समझा देता हूँ।'

१. दो आधार, पाँच प्रयाज, एक अग्नि देवता का आज्य-भाग—ये दर्शपौर्णमास में पहिले के आठ आज्य-भाग हैं। सोम देवता का आज्य-भाग, आग्नेय, पुरोडाश, स्विष्टकृद और अग्नि की आहुति—ये पाँच मध्य के हविर्भाग हैं। प्राशित्र, इडा, आग्नीध्र, आधान-ब्रह्मभाग, यजमान-भाग और अन्वाहार्य ये छह प्रजापति देवता के लिए हैं। तीन अनुयाज, चार पत्नी-संयाज और समष्टि यजु: (ये सब यज्ञ के विशेष पदार्थ हैं) ये आठ अन्त के आज्य-भाग हैं।

२. प्रयाजों में पुरोनुवाक्या (आहुति से पहिले पढ़ने की ऋचा) नहीं होती, इसी से सारी प्रजा विना दाँत की पैदा होती है। आगे हवि में पुरोनुवाक्या होती है, इससे सबके दाँत निकल आते हैं। फिर, अनुयाजों में पुरोनुवाक्या नहीं होती, इससे प्रजाजनों के दाँत टूट जाते हैं। फिर, पत्नी-संयाज में अनुवाक्या होती है, इससे सभी के दाँत फिर दृढ होते हैं। अन्त के समिष्ट यजु: मे फिर पुरोनुवाक्या नहीं होती, इसलिए अन्तिम अवस्था में सभी-के-सभी दाँत टूट जाते हैं। पहिले अनुवाक्या पढ़कर फिर याज्या (होम-समय की ऋचा) से यजन किया जाता है, अत: सबके दाँत पहिले नीचे निकलते हैं, बाद में ऊपर। अनुवाक्या गायत्री है और याज्या त्रिष्टुप्, त्रिष्टुप् से गायत्री छोटी होती है, इसलिए नीचे के

दाँत ऊपरवालों से छोटे होते हैं। सबसे पहले आधार किया जाता है, इससे दंष्ट्रा फैली हुई होती है। संयाज में समानच्छन्द रहते हैं, इससे जबड़े समान रहते हैं।

३. क्योंकि यज्ञ में कुशाओं का आस्तरण (बिछौना) किया जाता है, इसी कारण सारी प्रजा लोमयुक्त पैदा होती है। कुशमुष्टि का फिर भी आस्तरण होता है, इससे प्रजाओं के श्मश्रुरूप केश पैदा होते हैं। पहिले केवल कुशमुष्टि पर प्रहरण किया जाता है, इसलिए शिर के केश ही पहिले श्वेत होते हैं। आगे सारी कुशाओं पर प्रहरण होता है, इसलिए चरम अवस्था में सभी केश श्वेत हो जाते हैं।

४. प्रयाजों में हवि-रूप से केवल आज्य (घृत) का उपयोग होता है, इसलिए कुमार के वीर्य में गर्भ उत्पन्न करने की शक्ति नहीं होती; क्योंकि घृत जल के ही समान है। दर्शपौर्णमास के मध्य में दधि और पुरोडाश से भी हवन होता है, इसलिए मध्यम अवस्था में (दृढवीर्य द्वारा) गर्भ-जनन-शक्ति हो जाती है; क्योंकि दधि घन-रूप द्रव्य है। आगे अनुयाज में भी घृत ही हवि रहता है। इससे अन्तिम अवस्था में फिर वीर्य में जनन-शक्ति नहीं रहती।

५. यज्ञ की वेदी ही गायत्री है, पूर्व के आठ आज्य-भाग उसके दक्षिण पक्ष हैं। अन्त के आठ आज्य उसके वाम पक्ष हैं। यही तेजोमय पक्षवाली गायत्री यजमान को स्वर्ग-लोक ले जाती है।

उद्दालक स्पैदायन से यह विद्या जानकर परितुष्ट होते हैं। यहीं यह आख्यायिका समाप्त होती है।

यह एक उदाहरण-मात्र है। इस प्रकार, शतशः आख्यायिकाएँ यज्ञ के सम्बन्ध में ब्राह्मणों में मिलती हैं।

इस प्रकार की आख्यायिकाओं पर मनन करनेवाले विचारकों को यह मानना पड़ेगा कि जिस दर्शपौर्णमास यज्ञ का बालक के दाँत निकलने, केश-लोम उत्पन्न होने आदि से सम्बन्ध बताया गया है, वह अवश्य ही प्रकृति का वैज्ञानिक दर्शपौर्णमास है, जिसके आधार पर कर्मकाण्ड की विधियों के अनुसार कृत्रिम दर्शपौर्णमास याग होता है। जो वेद के श्रद्धालु यथाश्रुत ग्राही सज्जन इस बात का हठ करें कि हमारे दर्शपौर्णमास की आहुतियों के कारण ही बालकों के दन्त, केश आदि की उत्पत्ति होती है, उन्हें सोचना होगा कि दर्शपौर्णमास के नाम से भी सर्वथा अनभिज्ञ ग्रामीण, यवन, अँगरेज आदि सभी के बालकों के दन्त, लोमादि की उत्पत्ति होती है। कुछ ब्राह्मणों की आहुतियों का समस्त विश्व पर प्रभाव पड़ जाता है। ऐसा मानना तो वेदों का उपहास कराने का कारण बनना है। स्वच्छन्द कल्पनाओं से इन प्रसंगों का कुछ भी अर्थ-निर्धारण कर लेना विचारकों की दृष्टि में स्वारसिक नहीं हो सकता। इससे यही मानना उचित होगा कि प्रकृति के द्वारा इस प्रकार के अनेक यज्ञ हो रहे हैं, उनमें से ही एक प्रकार के यज्ञ को उपर्युक्त आख्यायिका में दर्शपौर्णमास कहा गया है। उसी यज्ञ का यह सब फल बताया गया है। प्रकृति की इस वैज्ञानिक यज्ञ-प्रक्रिया को उस समय भी सब लोग नहीं जानते थे। कोई-कोई उसके रहस्यवेत्ता होते थे। उसी प्रकार के द्रष्टाओं ने कहीं-कहीं उन रहस्यों के संकेत किये हैं।

वैदिक यज्ञ-विषय की व्याख्या आगे यथावसर की जायगी। यहाँ थोड़े में उस विषय को कहना उपयुक्त न होगा। यहाँ तो इस प्रश्न का समाधान ही प्रासंगिक है कि इस प्रकार के वैज्ञानिक अर्थों की परम्परा अबतक अक्षुण्ण क्यों नहीं रही।

अस्तु; मेरा वक्तव्य यही है कि वेद के प्राचीन व्याख्याकार श्रीमाधवाचार्य ने यज्ञ-विषयक वेद-भागों के वे ही अर्थ अपने भाष्य में प्रकट किये हैं, जो मनुष्य-समाज द्वारा विधिपूर्वक अनुष्ठेय कृत्रिम यज्ञों से सम्बन्ध रखते हैं। उन्होंने प्रकृति के द्वारा सतत प्रवर्त्तित यज्ञ का तो यत्र-तत्र ही संकेत किया है।

श्रीमाधवाचार्य के काल की परिस्थिति

इसका दोष श्रीमाधवाचार्य को कुछ नहीं दिया जा सकता। उनके समय जो परिस्थितियाँ थीं, उनपर दृष्टि डालने पर स्पष्ट भासित होता है कि उन्हों जो कुछ किया, बहुत किया। उन परिस्थितियों में इससे अधिक कार्य वे कर ही कैसे सकते थे। 'निदान', 'रहस्य' आदि वेद के मुख्य-मुख्य अंग—जिनसे वैज्ञानिक अर्थज्ञान में सहायता मिलती, वे व्याख्याकार माधवाचार्य के समय तक लुप्त हो चुके थे। वेदांगों के इस प्रकार लुप्त होने का कारण तत्कालीन भारतीय समाज की वेदों के प्रति कटु उपेक्षा थी। यह उपेक्षा बौद्धों के संघर्ष से उत्पन्न हुई थी। उस आक्रमण के अनन्तर वैदिक कर्मकाण्ड अत्यन्त शिथिल हो गया था। यज्ञों का असली विज्ञान लोग भूल गये। साथ ही, भारतीय वायुमण्डल में विज्ञान की कहीं कुछ भी चर्चा नहीं रह गई थी। उन दिनों यहाँ विज्ञान की बातें जादू-टोना समझी जाने लगी थीं। इस प्रकार के विज्ञान-शून्य समय में व्याख्याकार की दृष्टि वैज्ञानिक अर्थों की ओर कैसे जाती? उसकी प्रेरणा कहाँ से मिलती?

आज जब सम्पूर्ण संसार में विज्ञान की पर्याप्त चर्चा है, प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति जब विज्ञान का कुछ-न-कुछ परिचय अवश्य रखता है और उसके कार्यों के हानि-लाभ का अनुभव करता है, तब उस दृष्टि से देखने पर विज्ञान की बातें भी सभी जगह कुछ-न-कुछ दिखाई देने लगी हैं। परन्तु, जिस समय संसार में कहीं विज्ञान की चर्चा ही न हो, तो विज्ञान प्रकट करनेवाले अर्थों पर ध्यान जाना अति कठिन है।

इस कथन से हमारा तात्पर्य यह नहीं है कि आधुनिक विज्ञान के जो सिद्धान्त और प्रक्रियाएँ हैं, वे ही वेद में ज्यों-की-त्यों मिलती हैं अथवा उसे ही वेदों से किसी तरह निकाल लेना चाहिए, चाहे वे वैदिक विज्ञान के अनुकूल हों, चाहे प्रतिकूल। नहीं! नहीं!! हमारा आशय यह है कि वर्त्तमान में विज्ञान की चर्चा ने जब समस्त विश्व को आलोडित कर दिया, तब सभी की दृष्टि विज्ञानमय हो गई है। इसलिए, सावधान अध्ययन से वर्त्तमान विज्ञान की अनुकूलता रखनेवाले या प्रतिकूलता रखनेवाले सिद्धान्त दृष्टि में आ सकते हैं। उस समय इधर दृष्टि ही कैसे जाती?

इस दिशा में प्रयास करनेवालों के लिए एक कठिनाई और है कि वेद अनेक प्रकार के गम्भीर ज्ञान का भाण्डार है। विज्ञान की उच्च पुस्तक है, आरम्भिक पुस्तक नहीं। वैज्ञानिक

सिद्धान्तों के भी वेदों में सूत्ररूप में संकेत-मात्र उपलब्ध होते हैं। उन वैज्ञानिक सिद्धान्तों का कोई क्रमबद्ध स्पष्टीकरण नहीं है। अनुष्ठेय यज्ञ से सम्बन्ध रखने के कारण प्रसंगानुसार किसी सिद्धान्त का एक स्थान में विचार हुआ है, तो उससे सम्बद्ध दूसरे सिद्धान्त का बहुत दूर किसी अन्य स्थल पर दर्शन होता है। इसलिए, इस प्रक्रिया पर सहसा दृष्टि स्थिर नहीं हो पाती। कल्पना कीजिए कि आज यदि साइंस की समस्त प्रारम्भिक पुस्तकें लुप्त हो जायँ और केवल उच्च सिद्धान्तों की पुस्तकें शेष रह जायँ, तो साइंस की भी यही दशा हो जाय। बाहरी सहायता के अभाव में उसे कोई न समझ सके। तात्पर्य यह है कि वैदिक विज्ञान के रहस्यों और सिद्धान्तों को अवगत करने के लिए बाहरी विज्ञान की आवश्यकता है। यह सुविधा भाष्यकारों को प्रायः नहीं थी।

दूसरा कारण

मीमांसा-सूत्रकार जैमिनि ने उक्त प्रकार की आख्यायिका, उपपत्ति आदि के सम्बन्ध में यह प्रश्न उठाया है कि—

ज्ञान का उपयोग क्रिया में है। किसी भी बात को जानकार यदि हम उस ज्ञान के अनुकूल अथवा उसके अनुसार कोई कार्य न करें, तो इस प्रकार का ज्ञान निरर्थक है। क्रिया का विधान केवल विधि-वाक्य ही करते हैं। फिर, उनसे सम्बन्ध रखनेवाली स्तुति, उपपत्ति इत्यादि बतलाने का प्रयत्न श्रुतियों में क्यों किया गया? उनसे तो किसी स्वतन्त्र क्रिया का सम्पादन होगा नहीं। तब, उनके जानने का फल ही क्या? ऐसी निरर्थक बातें कहने से तो वेदों के प्रामाण्य पर भी आघात आयगा। इस प्रश्न को उपस्थित करने के उपरान्त स्वयं ही महर्षि जैमिनि समाधान करते हैं कि वेदों में जो स्तुति, उपपत्ति आदि हैं, वे स्वतन्त्र रूप से नहीं हैं, विधि, वाक्यों के साथ ही उनका सम्बन्ध है। उन्हीं क्रियाओं की स्तुति करने या उनकी उपपत्ति बताने से उन क्रियाओं के सम्पादनार्थ मानव-प्रवृत्ति जागरित होती है। इसलिए, विधि-वाक्य प्रधान हैं और उनसे सम्बन्ध रखनेवाले, उपपत्ति, स्तुति आदि के वाक्य उनके पोषक-मात्र हैं। इस प्रकार के वाक्यों को महर्षि जैमिनि ने 'अर्थवाद' कहा है और उनका तात्पर्य विधि के गुण प्रकट करने में है, इस बात को 'गुणवादस्तु' आदि सूत्रों में व्यक्त किया है।

यह सूत्रकार का विचार बहुत उपयुक्त था। विशेष कर कर्ममीमांसा-शास्त्र का विचार करनेवाले, कर्म को ही प्रधान बतलानेवाले आचार्य का तो यह कथन सर्वथा अभिनन्दनीय था। जो कुछ जानते हो, तदनुकूल क्रिया भी करो। क्रिया से ही पुरुषार्थ का लाभ होगा, ये बातें उनके सिद्धान्त की पर्याप्त घोषणा करती हैं। परन्तु, उनके अनुयायी आगे के ग्रन्थकारों ने उन उपपत्ति आदि के वाक्यों को सर्वथा निरर्थक ही कह डाला, उनका अपने प्रतिपाद्य अर्थ में तात्पर्य ही नहीं, उनपर मनन या विचार करने की आवश्यकता ही नहीं, वे सर्वथा उपेक्षणीय हैं, यह बवण्डर उन्होंने उठाया। ये अर्थवाद-वाक्य वेदबोधित इतिकर्त्तव्यताओं (विधियों) के गुण किस प्रकार बतलाते हैं, इसका विवरण इन ग्रन्थकारों ने कहीं भी नहीं दिया। उपपत्ति समझने की शक्ति से शून्य होते हुए और बौद्धों के संघर्ष से

व्याकुल जनता के तत्कालीन भारत में उनकी बात मान ली गई। इस प्रकार, प्राकृत यज्ञ का विज्ञान विलुप्तप्राय ही हो गया। स्मरण रहे कि उत्तरमीमांसा के सूत्रकार भगवान् व्यास, उनके भाष्यकार श्रीशंकराचार्य आदि आचार्यों और उनके अनुयायी ग्रन्थकारों ने ज्ञान को स्वतन्त्र पुरुषार्थ-साधक मानकर पूर्वमीमांसा के उक्त सिद्धान्त का समूल खण्डन किया। किन्तु, ये सब यत्न उपनिषदों के वाक्यों का मर्म प्रकाशित करने तक ही रहे। ब्राह्मणों और आरण्यकों में प्रतिपादित यज्ञ की उपपत्ति बतानेवाले प्राकृत यज्ञों के बोधक प्रकरणों का रहस्योद्घाटन उस काल में भी न हो सका। इधर विस्तृत श्रुतियों से यज्ञ की इतिकर्त्तव्यता समझ लेने में बहुत कठिनता का अनुभव कर मुनियों और आचार्यों ने सुगमता के लिए श्रौतसूत्र, पद्धति आदि का निर्माण किया। उनमें मानव-साध्य यज्ञ की इतिकर्त्तव्यता ही क्रम से लिखी गई। उसी आधार पर वेद-भाष्यकार भी चले, इसलिए भी वैज्ञानिक तत्त्वविचार पर उनकी दृष्टि पूर्ण रूप से न जा सकी—यहाँ इस प्रकार के दो-एक उदाहरण देना अप्रासंगिक न होगा कि समयानुसार वैज्ञानिक अर्थों पर उनका दृष्टिपात नहीं हुआ था। यह सर्वदा स्मरण रहे कि हमारा यह प्रयत्न श्रद्धास्पद परममान्य भाष्यकार श्रीमाधवाचार्य आदि की त्रुटि दिखाने के लिए कथमपि नहीं है। वेदार्थ-विचारकों के लिए वही आश्रय हैं। उनकी त्रुटि दिखाने का अक्षम्य अपराध करने को हम कदापि प्रस्तुत नहीं। यह तो तत्कालीन परिस्थिति को उपस्थित करने का ही प्रयास है।

तैत्तिरीय आरण्यक (१।८।४।६) में वर्त्तमान साइंस-जगत् में सुप्रसिद्ध आकर्षण विज्ञान को प्रश्नोत्तरात्मक शैली में अत्यन्त स्पष्ट किया गया है :

अनवर्णे इमे भूमी इयं चासौ च रोदसी
किं स्विदत्रान्तराभूतं येनेमे विधृते उभे।
विष्णुना विधृते भूमी इति वत्सस्य वेदना
इरावती धेनुमती हि भूतं सूयवसिनी मनुषे दशस्या
व्यष्टम्नाद्रोदसी विष्णवेते दाधर्थ पृथिवीमभितो मयूखैः॥ इति।

इसका अर्थ है कि सुन्दर वर्णवाली ये दोनों भूमि—यह पृथ्वी और यह सूर्य का मण्डल जो अन्तरिक्ष-रूप समुद्र के दोनों तट हैं, इनके मध्य में ऐसी कौन-सी वस्तु है, जिसने इन दोनों को पकड़कर अपने-अपने स्थान में दृढ कर रखा है? यह प्रश्न प्रस्तुत हुआ। इसका उत्तर है कि इन दोनों को विष्णु ने धारण कर रखा है, ऐसा वत्स ऋषि का विज्ञान है। इसी विज्ञान को ऋग्वेद-संहिता का एक और मन्त्र (म० ७।९९।३) प्रमाणित करता है। मन्त्र का अर्थ है कि हे द्यावापृथिवी! तुम दोनों स्तुति करनेवाले और हवि देनेवाले यजमान के लिए अन्नयुक्त, गोयुक्त और सुन्दर तृणयुक्त बनो। मन्त्र के उत्तरार्ध में विष्णु को सम्बोधित कर कहा गया है कि हे विष्णु! आपने इन दोनों को अपने स्थान पर दृढ कर रखा है, और अपने किरण-जाल से पृथ्वी को धारण कर रखा है। यह मन्त्र कुछ पाठभेद से यजुःसंहिता (५।१९) में भी है। वेद के कोश निघण्टु में 'विष्णु' शब्द आदित्य के नामों में आता है। पुराणों में भी द्वादश आदित्यों में एक आदित्य का नाम विष्णु है। और,

'अग्निर्देवानामवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा देवताः', ऐतरेयब्राह्मण के इस आरम्भ-वचन में भी विष्णु शब्द सूर्य का ही बोधक है। प्रकृत मन्त्र में मयूखों से पृथ्वी का धारण कहा गया है, इसलिए यहाँ का विष्णु शब्द ईश्वर का बोधक होने की अपेक्षा सूर्य अर्थ के बोधन में ही अनुकूलता रखता है। फलतः, सूर्य अपनी किरणों से पृथ्वी को धारण किये हुए है, यह आकर्षण-विज्ञान यहाँ स्पष्ट हो जाता है। कुछ विद्वान् यहाँ 'इमे भूमी' का अर्थ पृथिवी और चन्द्रमा करते हैं। 'इरावती', 'धेनुमती', 'सूयवसिनी' ये विशेषण भी इनमें अच्छी तरह समन्वित होते हैं। ऐसी स्थिति में सूर्य पृथ्वी और चन्द्रमा का धारणकर्त्ता है, यह विज्ञान इस लेख से और भी स्पष्ट हो गया।

आरण्यक में इसके आगे पुनः प्रश्नोत्तर द्वारा इस विज्ञान को और भी दृढ किया गया है :

किं तद् विष्णोर्बलमाहुः का दीप्तिः किं परायणम् ।
एको यद्धारयद्देवः रेजती सेदती उभे ॥ इति ।

उत्तर :

वाताद्विष्णोर्बलमाहुः अक्षराद्दीप्तिरुच्यते ।
त्रिपदाद्धारयद्देवः यद्विष्णोरेकमुत्तमम् ॥

अर्थात्, इन दोनों प्रकाशमान लोकों को धारण करनेवाले विष्णु में ऐसा कौन-सा बल है ? यह बल कहाँ से आया ? प्रसंगात् दूसरा प्रश्न भी करते हैं कि विष्णु में वह तेज कहाँ से आता है। इस बल और दीप्ति का प्रभव क्या है ? और परायण (लयस्थान) क्या है ? कहाँ से ये आते हैं और अन्त में कहाँ जाते हैं ?

द्वितीय मन्त्र में उत्तर देते हैं कि विष्णु का बल वात से आता है और इनकी दीप्ति, अर्थात् तेज अक्षर पुरुष से आता है। अपने तीन पदों से इन लोकों का धारण करते हैं और एक पाद इनका ऊपर होता है। 'वात' शब्द वायु का वाचक माना जाता है। इससे सिद्ध है कि आदित्य का आकर्षण वायु के द्वारा होता है—वायु भी उसमें सहकारी है। वायु अन्तरिक्ष में व्याप्त रहनेवाला देवप्राण है। आकर्षण में उसकी भी सहकारिता बताई गई है। अथवा, वात शब्द से यहाँ वायु की सूक्ष्म अवस्था 'सोम' का भी ग्रहण हो सकता है। इसका तात्पर्य होगा कि विष्णु-आदित्य का बल सोम से है। अनेकत्र ब्राह्मणों में आता है कि 'सोमेनादित्या बलिनः' सोम से आदित्य बलवान् है, सोम ही आदित्य का बल है। अक्षर पुरुष का विस्तृत विवरण हम 'पुरुष-विज्ञान-प्रकरण' में करेंगे। उसकी पाँच कलाओं में से इन्द्र-रूप प्राण यहाँ सूर्य को प्रकाश देनेवाला बताया गया है। जैसा कि शतपथब्राह्मण के १४वें काण्ड (बृहदारण्यक-उपनिषद्) में स्पष्ट है :

यथाग्निगर्भा पृथिवी यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी ।

अर्थात्, पृथ्वी में अग्नि-प्राण व्याप्त है और द्युलोक सूर्यमण्डल में इन्द्र-प्राण व्याप्त है। वही इन्द्र-प्राण सूर्य की दीप्ति और प्रकाश का कारण है। सूर्य के लिए एक मन्त्र में कहा गया है कि—'निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च', सूर्य अमृत और मर्त्य दोनों की व्यवस्था—अर्थात्, उन्हें अपने-अपने स्थान में स्थित करता है। सूर्य-मण्डल से ऊपर के लोक अमृत कहलाते हैं;

क्योंकि उनका नैमित्तिक प्रलय में नाश नहीं होता। नीचे के लोक मर्त्य कहे जाते हैं। वही बात यहाँ आरण्यक में भी कही गई है कि तीन पादों से पृथ्वी आदि मर्त्यों का धारण किये हुए हैं और एक पाद से ऊपर के लोकों का। नीचे के लोकों पर सूर्य का प्रभाव त्रिगुण मात्रा में है और ऊपर के लोकों पर केवल एक मात्रा में। दूसरे शब्दों में इस प्रकार समझा जा सकता है कि सूर्य की किरणें जो चारों ओर फैलती हैं, उनमें नीचे के और दोनों पार्श्वों के भाग पृथ्वी और चन्द्रमा का आकर्षण करते हैं और किरणों के ऊपर का भाग ऊपर के लोकों में जाता है। यह प्रसंग देखने पर यहाँ विष्णु-पद से सूर्य का ग्रहण स्पष्ट हो जाता है; क्योंकि ईश्वर-रूप विष्णु का बल किसी अन्य के सम्बन्ध से नहीं आता, वह स्वयं सर्वशक्तिमान् है। उसकी दीप्ति भी अक्षर से नहीं होती, वह तो स्वयं अक्षर है। इसके अतिरिक्त इस आरण्यक में आदि से इस प्रकरण में सूर्य, अग्नि, संवत्सराग्नि आदि के ही कार्यों का स्तुति-रूप विवरण चल रहा है—इससे भी यहाँ विष्णु-पद से सूर्य का ही ग्रहण समुचित प्राप्त होता है। इस प्रकार, आकर्षण-विज्ञान का सपरिकर वर्णन इस प्रकरण में मिल जाता है। साथ ही, इतनी विशेषता भी प्रतीत हो जाती है कि वर्त्तमान साइंस जहाँ केवल सूर्य का आकर्षण मानकर सन्तुष्ट हो गया, वहाँ वैदिक विज्ञान ने यहाँतक बढ़कर पता लगाया कि सूर्य-मण्डल के प्राण-स्वरूप बारह आदित्यों में से अन्तिम विष्णु-प्राण-रूप आदित्य में आकर्षण-शक्ति है, वह सूर्य और पृथ्वी दोनों मण्डलों को अपने आकर्षण में रखता है। न केवल पृथ्वी, अपितु ऊपर के लोक भी उसके आकर्षण में हैं और इस आकर्षण में अन्तरिक्ष के देवता वायु का भी साहचर्य है, किन्तु यह दृष्टि आधुनिक विद्वानों की ही हो सकती है, जब कि सूर्य के आकर्षण में पृथ्वी का रहना आधुनिक विज्ञान ने घोषित कर दिया है। श्रीमाधवाचार्य के समय में ऐसी कोई चर्चा न होने से उनकी दृष्टि इस ओर नहीं गई। उन्होंने यहाँ के 'विष्णु' शब्द को जगदीश्वर भगवान् का ही वाचक माना। यद्यपि अन्यत्र विष्णु शब्द से सूर्य का भी ग्रहण उन्होंने किया है! किन्तु, सूर्य-किरणों से पृथ्वी का धारण कैसे सम्भव है, इस गुत्थी को विज्ञान-चर्चा के अभाव में वे न सुलझा सके। पुराणों की वराहावतार-कथा में यह प्रसंग आया है कि वराह ने जब पृथ्वी को जल से बाहर निकालकर जल पर स्थापित किया, तब उसे डाँवाडोल चल-प्रचल होती देख कुलाचल पर्वतों के सन्निवेश से उसे स्थिर कर दिया। स्मरण रहे कि पुराणों की वराहावतार-कथा भी वैज्ञानिक है, जिसका विवरण श्रुति, पुराण सबके आधार पर ठीक घट जाता है। यहाँ उस विषय को उठाना अप्रासंगिक होगा। यहाँ इतना ही दिखाना है कि श्रीमाधवाचार्य ने पुराणों के यथाश्रुत अर्थ के आधार पर ही श्रुति के इस प्रकरण को लगाया और ऋक्-संहिता के भाष्य में 'मयूखैः' का अर्थ 'पर्वतैः' किया। अर्थात्, पर्वतों से विष्णु भगवान् ने पृथ्वी को धारण कर रखा है। आरण्यक पर भी उनका भाष्य है। वहाँ भी विष्णु शब्द का अर्थ तो उन्होंने जगदीश्वर ही किया है, किन्तु मयूख का अर्थ रश्मि ही करते हैं—और उसकी संगति यों करते हैं कि जैसे शंकु वा कीलें गाड़कर कोई वस्तु एक स्थान पर स्थिर कर दी जाती है, उसी प्रकार शंकु, स्थानीय किरणों से विष्णु ने पृथ्वी आदि को स्थिर कर रखा है। यजुर्वेद की

काण्व-शाखा पर जो माधवाचार्य का भाष्य प्रकाशित हुआ है—उसमें भी 'इरावती धेनुमती' इत्यादि मन्त्र आया है, वहाँ भी श्रीमाधवाचार्य विष्णु पद से जगदीश्वर का ग्रहण कर 'मयूखैः' पद का अर्थ करते हैं—'मयूखैः स्वकीयतेजोभिर्जीवरूपैः, नानाजीवैर्वराहाद्यनेकावतारैर्वा।' अर्थात्, जगन्नियन्ता विष्णु पृथ्वी को अपने तेजोरूप भिन्न-भिन्न प्रकार के जीवों अथवा वराह आदि अनेक अवतारों द्वारा धारण करता है। इन्हीं अक्षरों को यजुर्वेद-वाजसनेयिसंहिता के भाष्य में श्रीमहीधराचार्य ने भी उद्धृत कर दिया है। इन विवरणों से विद्वान् विवेचक समझ लेंगे कि भाष्यकार ऐसे प्रकरणों की किसी प्रकार संगति बैठाने में व्यग्र रहते हैं। कोई एक संगति उनके हृदय को सन्तुष्ट नहीं करती। उस समय विज्ञान की चर्चा न होने से उधर दृष्टि न जाना ही इसका मुख्य कारण है।

और भी देखिए, सूर्य का एक मन्त्र है—

उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः।
दृशे विश्वाय सूर्यम्॥

(ऋ०, अष्ट० १।४।७)

इसका अक्षरार्थ सीधा-सीधा यह होता है कि उस जातवेदा सूर्य को, संसार को दिखाने के लिए, किरणें ऊपर लाती हैं। मन्त्र में 'उत्' उपसर्ग है और उसका सम्बन्ध यास्काचार्य और सायणाचार्य ने भी 'वह्' धातु के साथ माना है। वैदिक प्रक्रिया से भी यही उचित है। तब 'उद्वहन्ति' का शब्दार्थ ऊपर लाना ही हो सकता है, किन्तु यह समझ में नहीं आता कि किरणें सूर्य को ऊपर किस प्रकार लाती हैं या ऊपर लाने से संसार को सूर्य किस प्रकार दिखाई दे जाता है। किरणें नीचे लाती हैं—कहा जाता, तो कुछ बात भी बनती। ऊपर ले जाने से और संसार को दिखाने से क्या सम्बन्ध? किसी भाष्य या व्याख्या में इस बात पर प्रकाश नहीं डाला गया। किन्तु, आज वैज्ञानिकों की कृपा से इन अक्षरों का गम्भीर भाव हम स्पष्ट समझ सकते हैं। वैज्ञानिकों ने अब सिद्ध कर दिया है कि जिस समय हम सूर्य का उदय देखते हैं, वास्तव में उस समय सूर्य का उदय नहीं होता। अर्थात्, क्षितिज पर जबतक सूर्य नहीं आता, क्षितिज से बहुत नीचे रहता है, तभी भू-वायु के ऊपरी स्तर पर सूर्य-किरणें गिरती हैं। तरल पदार्थ पर फिसलकर वक्र हो जाना किरणों का स्वभाव है, कई बार जल में सीधी खड़ी की गई लकड़ी टेढ़ी दिखाई देती है। सन्ध्या करते समय पंचपात्र के जल में आचमनी टेढ़ी मुड़ी हुई देखकर कई लोग चौंक पड़ते हैं कि यह आचमनी टूट कैसे गई। इसी नियम के अनुसार वक्र होकर सूर्य-किरणें हमारी आँखों पर पहले ही आ जाती हैं—और उदय से पहले ही सूर्य को दिखा देती हैं। इस प्रकार, किरणों का सूर्य को ऊपर लाना स्पष्ट हो गया! मन्त्र सूर्य की स्तुति के प्रकरण का है।

उदय के पूर्व की ये वक्रीभूत किरणें वैदिक दर्शन में हानिकारक मानी गई हैं। इनसे बुद्धि की ईहा मन्द हो जाती है। अतएव, पुराणों में बताया गया है कि मन्देहा नाम के राक्षस उदय होते ही सूर्य को घेर लेते है। ईहा को मन्द करनेवाले इन असुरों वा

राक्षसों के नाश के लिए—उनके उपद्रव से बचने के लिए उसी समय में हमारा सन्ध्योपासन आवश्यक माना गया है। सन्ध्योपासन में सूर्य को जो अर्घ्य दिया जाता है, उससे इन मन्देहा नाम राक्षसों का नाश होता है, अर्थात् सूर्य के अभिमुख जलप्रक्षेप से उस जल पर पड़कर ये वक्र किरणें पुनः वक्र होंगी, और वक्र का वक्र होना सीधापन सिद्ध कर देगा। इस प्रकार, वैदिक आचरणों में सुदृढ वैज्ञानिक भित्ति के दर्शन भी हो जाते हैं।

इसी प्रकार, सूर्य के दूसरे सुप्रसिद्ध मन्त्र पर भी विचार कीजिए :

आकृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
हिरण्येन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन् ॥

इसका सीधा अर्थ यह है कि 'काले वर्ण के लोक से विचरता हुआ, मर्त्य और अमृत दोनों लोकों को सुव्यवस्थित करता हुआ, सुवर्णमय रथ से सविता (आदित्य-प्राण) समस्त लोकों को देखता हुआ या दर्शन देता हुआ, आ रहा है।' यहाँ काले वर्ण के लोक से क्या अभिप्राय है, यह प्रश्न उठता है। पृथ्वी और अन्तरिक्ष तो सूर्य के आने से उनके प्रकाश से श्वेत हो जाते हैं। भाष्यकार इतना ही व्याख्यान कर सन्तोष देते हैं कि सूर्य के आगमन के पहले अन्तरिक्ष अन्धकारमय काले वर्ण का ही था। किन्तु 'आवर्त्तमानः' यह वर्त्तमान काल का प्रयोग उनके विचरण-काल में ही लोक को कृष्ण-वर्ण बता रहा है। वर्त्तमान साइंस के द्वारा सूर्य का बार-बार फोटो लेकर सूर्य के अन्दर काले धब्बे स्पष्ट दिखाये जा रहे हैं। इस परीक्षण से मन्त्र का वास्तविक अर्थ समझने में बड़ी सहायता मिलती है कि प्राणरूप आदित्य-देवता का लोक यह सूर्यमण्डल स्वयं कृष्ण-वर्ण है। उस कृष्ण-वर्ण के द्युलोक (सूर्य-मण्डल) द्वारा सविता-प्राण (आदित्य) विचरण करता है। उसका रथ, अर्थात् चारों ओर का विचरण-मार्ग सोममय है और सूर्य-किरणों के संघर्ष से प्रज्वलित होकर हिरण्मय (सुवर्ण-जैसा रक्त-पीत वर्ण का) बना हुआ है। इस अर्थ के ध्यान में आने पर बुद्धि में एक प्रकार का प्रकाश हो जाता है, और वैदिक साहित्य पर गर्व करने का अवसर भी मिलता है कि जहाँ साइंस के विद्वान् अभी फोटो के द्वारा सूर्य में काले धब्बे ही देखने में व्यस्त हैं, वहाँ लाखों वर्ष पूर्व वैदिक ऋषियों ने स्पष्ट जान लिया था, कि सूर्यमण्डल काले वर्ण का है, और उसकी किरणें व्यापक सोम को प्रज्वलित कर लोक में प्रकाश फैलाती हैं। शतपथब्राह्मण में भी (का० ३, अ० ४, का० २, कं० १५) संकेत है कि यह जो सूर्य तप रहा है, वही इन्द्र है। यह पहले नहीं तपता था। जैसे और काले वर्ण के पदार्थ हैं—ऐसा ही था। देवताओं के दिये हुए उस जुष्टतनु और प्रिय धाम-रूप वीर्य से ही वह तपता है। 'तनुः प्रियधामवीर्य' आदि शब्द सोम के लिए ही प्रयुक्त हुआ करते हैं। अतः, सोम के कारण ही सूर्य दीप्त होता है, यहाँ यह स्पष्ट सिद्ध है। इससे अगली कण्डिका में यही तनु और प्रियधाम सोमरूप बनते हैं—यह भी कहा है। हम आगे वेद-शब्दार्थ के प्रकरण में सिद्ध करेंगे कि सोम ही 'महाव्रत' और 'साम' नाम से कहा जाता है। 'त्वं ज्योतिषा वितमाववर्थ', इस (ऋ० स०, १।९१।२२) सोम की स्तुति के मन्त्र में भी प्रकाश करना सोम का ही कार्य बताया गया है। इस शतपथब्राह्मण के भाष्य में श्रीमाधवाचार्य ने इस सूर्य-मण्डल के पहले कृष्ण-वर्ण था, यह अर्थ तो माना है,

किन्तु इसकी कोई विवेचना नहीं की। सम्भवतः, 'अर्थवादों का स्वार्थ में तात्पर्य नहीं होता', इसी विचार से इसे छोड़ दिया होगा। स्मरण रहे कि इस प्रकार के अर्थ विज्ञान के युग में ही दृष्टि में आ सकते हैं। भाष्यकारों के समय में इस तरह की दृष्टि होना सम्भव नहीं था। इन उदाहरणों से विचारक समझ सकेंगे कि भाष्यकारों का विज्ञान के प्रकाशित न करने में कोई दोष नहीं था। उस समय वैज्ञानिक दृष्टि के अभाव के कारण यह घटना घटी और वेद के अनेक रहस्यमय अंगों का लोप हो जाना ही इसका प्रधान कारण हुआ।

एक और कठिनता

वैदिक विज्ञान देवता-तत्त्व पर आश्रित है। आधुनिक साइंस का मूल आधार जैसे इलैक्ट्रिसिटी है, वैसे ही वैदिक विज्ञान का मूल आधार है 'प्राण-तत्त्व'। प्राण-विद्या के द्वारा ही सम्पूर्ण विज्ञान वेदों में बताया गया है। परिचय के लिए प्राण को शक्ति (Force या Energy) कह सकते हैं, जो कि अत्यन्त सूक्ष्म है। इन्द्रियों से उसका ग्रहण नहीं हो सकता। वही शक्ति जब स्थूल रूप में विकसित होती है, तब उसे 'रयि' या मैटर (Matter) कहते हैं। वैदिक सिद्धान्त में दृश्यमान जगत् का इसे ही मूल तत्त्व माना गया। इलैक्ट्रिसिटी प्राण-शक्ति की अपेक्षा बहुत स्थूल है। अस्तु; प्राण के ही ऋषि, पितृ, देवता असुर, गन्धर्व आदि भेद हैं। इनमें सृष्टि के आदि में प्राण की जो अवस्था होती है, उसे ऋषि-प्राण कहा गया। शतपथब्राह्मण में इसका स्पष्टीकरण है :

> असद्वा इदमग्र आसीत्। तदाहुः किंतदसदासीत् इति।
> ऋषयो वाव तेऽग्रेऽसदासीत्। तदाहुः के त ऋषय इति।
> प्राणा वा ऋषयः।
> (शतपथ, काण्ड ६)

प्रश्नोत्तर-शैली से उपनिबद्ध इस सन्दर्भ में आरम्भ में कहा गया—'यह जगत् उत्पत्ति से पहिले असत् था।' प्रश्न हुआ कि 'असत् किसे कहते हैं, अथवा वह असत् क्या था?' उत्तर मिला कि 'ऋषि ही उस समय असत्-स्वरूप थे।' यहाँ सृष्टि के पूर्व में वर्त्तमान ऋषियों को इन्द्रियग्राह्य न होने से असत् कहा गया। फिर, प्रश्न हुआ कि वे ऋषि कौन हैं?' उत्तर है 'प्राण ही ऋषि हैं।' इस ऋषि-प्राण का विकास होने पर आगे इसी से पितृ-प्राण, देव-प्राण और असुर-प्राण, इनसे फिर गन्धर्व-प्राण और इनसे उत्पन्न होनेवाले पशु-प्राण आदि होते हैं। शतपथ के चौदहवें काण्ड के जनक-सभा-वृत्तान्त में महर्षि याज्ञवल्क्य ने स्पष्ट रूप में देवताओं को प्राण-रूप कहा है।

मनुस्मृति के इस एक ही श्लोक में वैदिक प्राण-सिद्धान्त का स्पष्टीकरण हो गया है :

> ऋषिभ्यः पितरो जाताः पितृभ्यो देवदानवाः।
> देवेभ्यश्च जगत्सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः॥

इसका अर्थ है, ऋषि-प्राण से पितृ-प्राण की सृष्टि हुई, पितृ-प्राण से देव तथा असुर-प्राण बने, और उन्हीं से इस जड-चेतनात्मक जगत् की रचना हुई। कहीं-कही 'देवमानवाः'

भी पाठ है। देव शब्द से वहाँ असुरों का भी ग्रहण हो जाता है और उससे उत्पन्न मानव (मनु)-प्राण भी वहाँ कह दिया गया है। इन प्राणों के अवान्तर भेदों की गणना इस प्रकार की गई है—ऋषि ७, पितृ ८, देव ३३, असुर ९९, पशु ५ और गन्धर्व २७। इन उपभेदों के भी अनेक भेद हो जाते हैं। इन्हें ही वैदिक विज्ञान के तत्त्व (Elements) समझना चाहिए। इन्हीं के आधार पर वेदों में विज्ञान का विस्तार देखा जा सकता है। इनका आगे यथास्थान किंचित् स्पष्टीकरण होगा।

यह भी जान लेना चाहिए कि देवता, ऋषि, पितृ आदि शब्दों से वैदिक साहित्य में केवल प्राणों का ही संकेत नहीं है। इन शब्दों का आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक भावों से अनेक स्थानों में प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ, मानव और पशु को हम प्राण-विशेष कह आये हैं, परन्तु इनका अर्थ केवल प्राण ही होता है, और कुछ नहीं, यह कथन उपहासास्पद होगा। यही बात ऋषि, पितृ, देवता आदि शब्दों के विषय में समझ लीजिए। ये शब्द भी अनेक स्थानों पर भिन्न-भिन्न अर्थों में भी प्रयुक्त देखे जाते हैं। 'ऋषि' शब्द को ही लीजिए। प्राण-विशेष-रूप मूलतत्त्व को भी ऋषि कहा गया। अध्यात्म, अर्थात् हमारे शरीरों में उस मूल तत्त्व से उत्पन्न होनेवाले प्राण, इन्द्रिय आदि भी आध्यात्मिक ऋषि हैं। तारा-मण्डल में भी ऋषि हैं और इन सबकी गम्भीर विद्या को प्रकट करनेवाले भृगु, भरद्वाज, वसिष्ठ आदि पुरुषविशेष भी ऋषि हैं। सौम्य-प्राण पितर हैं, उनके आधार पर होनेवाली वसन्त आदि ऋतुएँ भी पितर हैं। प्रति शरीर में रहनेवाले सन्तानोत्पादक भाव भी पितर हैं और शरीर-त्याग के अनन्तर सूक्ष्म वा आतिवाहिक शरीरों में जानेवाले जीव भी पितर हैं। इसी प्रकार, आग्नेय प्राण भी देव हैं, तारा-मण्डल में भी इन्द्र आदि देव हैं। मनुष्य आदि शरीरों में भी देव हैं। लोकान्तरों में रहनेवाले शरीरधारी प्राणी भी देव हैं और इसी भू-मण्डल के उत्तर भाग में रहनेवाले मनुष्यविशेष भी देव थे।

अवश्य ही विभिन्न ऋषियों, विभिन्न देवताओं और पितर आदि में परस्पर सम्बन्ध है और वही वैदिक विज्ञान का निगूढ रहस्यांश है।

देवता-तत्त्व पर विचार करते हुए निरुक्तकार श्रीयास्काचार्य ने भी यही सिद्धान्त स्थिर किया है कि—'अपि वा उभयविधाः स्युः', अर्थात् शरीरधारी और अशरीरी तत्त्व-रूप दोनों प्रकार के देवता हैं। भेदोपभेदों-सहित सभी ऋषि, पितृ, देव आदि का वेदों में यथावसर विवरण प्राप्त हो जाता है।

इनमें कर्मकाण्ड के बहुत-से अंशों का सम्बन्ध यद्यपि कारण-रूप अशरीरी देवताओं से है, तथापि उपासना-काण्ड शरीरधारी चेतन-देवताओं से विशेष सम्बन्ध रखता है।

श्रीमाधवाचार्य के समय में उपासना-काण्ड की प्रधानता थी। उस समय शरीरधारी देवता ही मुख्य समझे जाते थे। देवताओं का दूसरा भाव प्रकाशित करना उस समय नास्तिकता समझी जाती थी। अबतक भी प्राचीन प्रथा के कट्टर पक्षपाती बहुत-से ऐसा ही समझते हैं। यही कारण है कि देवता-प्रतिपादक मन्त्रों के वैज्ञानिक अर्थ श्रीमाधवाचार्य नहीं लिख

सके। निरुक्तकार ने बहुधा ऐसे मन्त्रों के विज्ञान-तत्त्व-सम्बन्धी अर्थ अपनी संक्षिप्त गम्भीर और जटिल भाषा में लिखे हैं। श्रीमाधवाचार्य निरुक्तकार का आदर करते थे, अतएव अपने भाष्य में उन्होंने उनके किये हुए अर्थ को स्थान-स्थान पर उद्धृत कर दिया है, किन्तु उनका अपना अर्थ शरीरधारी देवता मानने की मर्यादा पर ही आश्रित है।

तात्पर्य यही है कि समय की परिस्थिति के अनुसार श्रीमाधवाचार्य ने श्रौतसूत्रादि के अनुसार केवल कर्म-सम्बन्धी अर्थ ही अपने भाष्य में प्रकाशित किये हैं, इससे वैदिक विज्ञान प्रकाशित न हो सका। किन्तु, निष्पक्ष दृष्टि से यह सभी को मानना पड़ता है कि श्रीमाधवाचार्य ने वेदों पर इतना श्रम किया कि जिसके सहारे आज हम वेदों को समझने का यत्न कर सकते हैं। उनका भाष्य न होता, तो आज वेद केवल पूजा की पुस्तक रह जाती। उससे कोई कुछ न समझ सकता। वह भाषा ही हमारे लिए अज्ञेय रहती। इससे श्रीमाधवाचार्य का उपकार-भार आर्यजाति पर बहुत है।

अब यह कहने की आवश्यकता नहीं कि उव्वट, महीधर आदि के भाष्यों में भी श्रौतसूत्रानुसार कर्मप्रधान अर्थ ही मिलते हैं; क्योंकि उन्होंने श्रीमाधवाचार्य का ही अनुसरण किया है।

वर्त्तमान युग के व्याख्याकार

वेद के वैज्ञानिक युग के व्याख्याकार श्रीस्वामी दयानन्द सरस्वतीजी हैं। इन्होंने वेद के गौरव की ओर आर्यजाति को दृष्टि बहुत-कुछ आकृष्ट की है। इस कारण से इनका भी उपकार विशेष माननीय है। वैज्ञानिक युग में उत्पन्न होने के कारण इनकी दृष्टि विज्ञान पर थी, यह स्वाभाविक ही था। साथ ही, वैज्ञानिक अर्थ प्रकट करने का इन्होंने यत्न भी किया। किन्तु, दुर्भाग्य से वैज्ञानिक अर्थों का कोई क्रम तब भी हाथ न लगा। किसी-किसी मन्त्र में प्रकरण के अन्वय की बात तो दूर है, उस मन्त्र के पूर्वापर-सम्बन्ध की भी परवाह न कर खास पदों से कोई वैज्ञानिक संकेत निकाल देने से, या तार, रेल, मोटर, वायुयान, बैलून आदि के नाम मन्त्रों में दिखा देने से वैज्ञानिकों को सन्तोष नहीं हो सकता, जबतक मूल सिद्धान्तों का विवरण वेदों में स्पष्ट न दिखाया जाय।

स्वामीजी के समय में भी एक बड़ी अड़चन यह थी कि अन्य विद्वानों की दृष्टि वेदों पर नहीं थी। तब विना सहायता और बिना गुरु-परम्परा के ज्ञान के, केवल व्याकरण-ज्ञान के बल पर स्वामीजी जो कुछ कर सके, वह भी बहुत किया। दूसरी बात यह थी कि स्वामीजी ने कई कारणों से अपने कुछ सिद्धान्त नियत कर लिये थे। उनपर ठेस लगने देना वे नहीं चाहते थे। स्वतन्त्र देवताओं की स्तुति-प्रार्थना वेदों में स्वीकार कर लेने पर कहीं प्रतीकोपासना सिद्ध न हो जाय, इस भय से इन्द्र, अग्नि, वरुण आदि देवतावाचक शब्दों का अर्थ उन्होंने बहुधा 'ईश्वर' ही कर दिया है और इस प्रकार देवता-विज्ञान उनके भाष्य में भी अप्रकाशित ही रह गया। हमारे पूर्वोक्त वैज्ञानिक मन्त्रों में विष्णु आदि शब्दों का अर्थ श्रीस्वामीजी ने परमात्मा ही किया है, और इसी कारण उनमें पूर्वोक्त विज्ञान स्पष्ट न हो सका।

एक यह भी देखा जाता है कि विज्ञान के मूल सिद्धान्तों को प्रकट करने की अपेक्षा सामाजिक बातों को, अपने अभिमत आचरणों को, और प्रचलित उपभोग की सामग्री को वेद-मन्त्रों में दिखाने का उन्हें विशेष ध्यान था। इसीलिएं, जिन मन्त्रों का स्पष्टतया वैज्ञानिक अर्थ हो सकता था, उनको भी उन्होंने सामाजिक प्रक्रिया पर ही लगाया है। इसके अनेक उदाहरण उनके भाष्य को अवधान से देखने पर मिल सकते हैं। यह भी उस प्रकार की दृष्टि न बन सकने का एक कारण हुआ कि वेद के ब्राह्मण-भाग को और पुराणों को श्रीस्वामीजी ने बहुत उपेक्षा से देखा। बिना ब्राह्मणों की सहायता के मन्त्रों का मुख्य विज्ञान क्रमबद्ध रूप में प्रकट नहीं हो सकता। इन सब कारणों से, अवसर आ जाबे पर भी, वैदिक विज्ञान प्रकट नहीं हो सका, न उसका कोई उपयुक्त मार्ग ही मिला। वैज्ञानिक समय के श्रीसत्यव्रत सामश्रमी आदि विद्वानों ने भी वैदिक विज्ञान प्रकट करने की चेष्टा कर इस दिशा में बहुत उपकार किया, किन्तु ब्राह्मण-ग्रन्थ, पुराण आदि की उपेक्षा के कारण वे भी पूर्ण सफलता प्राप्त न कर सके। कुछ आलोचनात्मक ग्रन्थों के अतिरिक्त क्रमबद्ध विज्ञान का कोई ग्रन्थ भी उन्होंने नहीं लिखा।

पाश्चात्य विद्वान् और वेद

इधर कई पाश्चात्य विद्वानों ने भी वेदों पर श्रमपूर्वक बहुत-कुछ विचार किया है और वेदों का गौरव प्रकट करते हुए उन्होंने भी भारत का उपकार ही किया है। किन्तु, उनकी दृष्टि विकासवाद के सिद्धान्त पर दृढ है। उनका यही ध्यान रहता है कि इतने प्राचीन समय में विज्ञान के सूक्ष्म और गम्भीर सिद्धान्त ध्यान में आ जाते, और उपनिबद्ध कर दिये जाते, यह सम्भव नहीं था। इस संकुचित दृष्टि को सामने रखकर विचार करने के कारण वेदों में कोई गहरी बात उन्हें सूझ ही नहीं सकती थी। इतना ही नहीं, गम्भीर रहस्यों को बताने का यत्न उनकी दृष्टि में वर्त्तमान साइंस की नकल है। और, वे उसे एक हास्य-क्रीडा का साधन समझते हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने वेदों को इसीलिए महत्त्व-पूर्ण ग्रन्थ माना है कि इनसे प्राचीन जाति की रहन-सहन की व्यवस्था आदि सामाजिक बातों का पता चल जाता है।

यद्यपि पाश्चात्य विद्वानों के आधारभूत विकासवाद का वर्णन भारतीय शास्त्रों में भी पर्याप्त मात्रा में देखने को मिलता है, तथापि उनके और हमारे विकासवाद में अन्तर है। इसका किंचित् स्पष्टीकरण भी यहां अप्रासंगिक न होगा, प्रत्युत मेरे प्रकृत विषय से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध ही सिद्ध होगा, इसलिए उसका भी संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जाता है।

विकासवाद और ह्रासवाद

आजकल विकासवाद एक महाशास्त्र बन गया है। वैज्ञानिक और ऐतिहासिक इन दोनों विचारधाराओं में इसका पूर्ण महत्त्व है। वैज्ञानिक विचारधारा में प्राणियों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विकासवाद माना जाता है और ऐतिहासिक विचारधारा में मनुष्य-

बुद्धि का क्रम से विकास हुआ। इस अंश में विकासवाद को पूर्ण प्रश्रय दिया जाता है। यहाँ हम ऐतिहासिक विचारधारा के विकासवाद पर ही कुछ पर्यालोचन करना चाहते हैं। वैज्ञानिक विकासवाद भी कई अंशों में हमारे शास्त्रों में गृहीत है—उसका विचार आगे यथावसर होगा।

इसमें किसी भी विचारशील व्यक्ति को सन्देह नहीं हो सकता कि संसार परिवर्त्तनशील है। संसार शब्द का अर्थ ही यह है—'संसरतीति संसार:', जो सदा सरकता रहे, अर्थात् एक दशा से दूसरी दशा में जाता रहे। जो संसार कल था, वह आज नहीं, और जो आज है, वह कल नहीं रहेगा। कल की और आज की स्थिति में अवश्य बहुत-कुछ तारतम्य होगा। इतना ही क्यों, प्रतिक्षण ही कुछ-कुछ परिवर्त्तन होता रहता है, किन्तु उसके समझने की शक्ति सर्वसाधारण में नहीं। सर्वसाधारण की दृष्टि में सैकड़ों वर्षों में उस परिवर्त्तन का प्रतिफल प्रकट हुआ करता है। जब धीरे-धीरे वह परिवर्त्तन स्थूल दशा में आ जाता है, तब सामान्य मनुष्य भी कह उठते हैं कि 'अब दुनिया और की और हो गई।' अस्तु; यह संसार का परिवर्त्तन-प्रवाह उन्नति की ओर जा रहा है या अवनति की ओर? इसमें कुछ मतभेद प्रतीत होता है। पाश्चात्य विद्वान् अधिकांश विकासवादी हैं। उनके मतानुसार संसार शनैः-शनैः उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हो रहा है। आज जो जगत् में उन्नति दिखाई देती है, वह पहले स्वप्न में भी न थी, और भविष्यत् में जो उन्नति होगी, उसका अभी किसी को स्वप्न भी नहीं। पूर्वदशा से आगे की दशा सर्वथा अच्छी होती है, यही उनका सिद्धान्त है। और सिद्धान्त के अनुरूप ही फल भी वहाँ प्रत्यक्ष है।

इसके विपरीत हमारे शास्त्र प्रायः ह्रासवादी हैं। हमारे यहाँ यह माना जाता है कि सत्ययुग में जो उन्नति थी, वह त्रेता में नहीं, त्रेता की द्वापर में नहीं और कलियुग का तो कहना ही क्या? इस युग में तो जगत् बड़े वेग से अवनति के गर्त्त में ही गिरता जाता है। यों, यह संसार का प्रवाह अवनति की ओर जा रहा है। फिसलते-फिसलते जब अवनति की अन्तिम सीमा आ जाती है, तब फिर कोई विशेष शक्ति (अवतार) इसे उठाकर उन्नति के शिखर पर रख देती है। वहाँ से फिर यह खिसकने लगता है। तात्पर्य यह है कि प्राकृतिक प्रवाह अवनति की ओर है। उन्नति तो प्रवाह में धक्का मारनेवाले विशेष कारण से एकाएक होती है। यही पुराणों के युगचरित और कल्की आदि अवतारों की कथा का सार हो सकता है।

स्थूल दृष्टि से देखने पर ये पश्चिमीय और पूर्वीय दोनों मत परस्पर बिलकुल विरुद्ध ही प्रतीत होते हैं। किन्तु, सूक्ष्म विचार करने पर इनमें, फलांश में कुछ एकता की भी झलक दिखाई दे जाती है। दृष्टि के भेद से एक ही प्रकार की स्थिति को एक उन्नति और दूसरा अवनति कह सकता है। हम जिसे अवनति समझते हैं, सम्भव है, उसी को दूसरा उन्नति समझे। प्रस्तुत उन्नति और अवनति अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार व्यवहार-मात्र है। एक स्थूल दृष्टान्त से यों समझिए कि आज से १००-१५० वर्ष पूर्व यहाँ मनों के भाव से अन्न मिलता था। उस समय बहुत ही अल्प व्यय से बड़े-बड़े कुटुम्बों का निर्वाह हो

सकता था और अच्छे-अच्छे पदों पर भी १०-२० रुपया-मात्र मासिक वेतन मिला करता था। इससे सर्वसाधारण के पास रुपया कम हुआ करता था। वर्तमान में रुपये का व्यवहार बहुत अधिक है। सैकड़ों-हजारों तक वेतन मिलता है, साधारण मनुष्यों की भी द्रव्य की आय कहीं बढ़ गई है, कृषकों के पास भी रुपये का आवागमन अधिक हो गया है। किन्तु, अन्न आदि आवश्यक वस्तुओं की इतनी महँगी है कि बहुतों को पेट पालना कठिन है। अब इस स्थिति को आप पूर्व की अपेक्षा उन्नति कहेंगे या अवनति ? केवल रुपये के व्यवहार की अधिकता पर दृष्टि डालनेवाले झट से इसे उन्नति कह उठेंगे, किन्तु निर्वाह की स्थिति को लक्ष्य में रखनेवाले इसे अवनति कहेंगे। यों लक्ष्य-भेद से एक ही स्थिति को उन्नति या अवनति कहना फलांश में कुछ भी विरोध नहीं रखता; क्योंकि बात दोनों की एक ही है। इसी प्रकार, जगत् की उन्नति और अवनति के निरूपण में पाश्चात्यों का और हमारा लक्ष्य भिन्न है। भारतवर्ष सदा से अध्यात्मवादी और अधिदैववादी है। उसका लक्ष्य है अन्तर्जगत् की उन्नति या मानसिक उन्नति। और, पाश्चात्य विद्वानों का लक्ष्य है बहिर्जगत् की उन्नति या भौतिक उन्नति।

मानसिक उन्नति तभी कही जाती है, जब यम (अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, चोरी न करना), नियम (शौच, सन्तोष, तप, ईश्वर-भक्ति) का पूर्ण परिपालन होता हो, राग-द्वेष और उनकी मूलभूत ममता संसार में बहुत कम हो, मनुष्यों की आवश्यकताएँ बहुत अल्प हों, और एकता का भाव बहुत बढ़ा हुआ हो। आधिदैविक उन्नति भी अन्तर्जगत् के देवता-तत्त्व की विचारधारा के अधिक प्रवृत्त होने पर कही जा सकती है। उसका प्रभाव भी मन पर ही पड़ता है। मन की उस स्थिति में यत्नविशेष से अनेक प्रकार की मानसिक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। संकल्प की पूर्णता, पूर्ण आयु आदि उस दिशा में एक स्वाभाविक बात है, यह योग-दर्शन का सिद्धान्त है। अस्तु, इस दशा को लक्ष्य में रखने पर ह्रासवाद ही अनेक अंशों में दृढ होता है। हरिश्चन्द्र के सत्य, शिवि की दया, भीष्म के ब्रह्मचर्य, विश्वामित्र के तप आदि के निदर्शन आजकल संसार में स्वप्नवत् ही हैं। कैकय-देश के अश्वपति राजा ने ऋषियों के समक्ष प्रतिज्ञा की थी कि—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥

(छान्दोग्योपनिषद्, अध्याय ५)

'मेरे राज्य में कोई चोर नहीं है, न कोई कृपण है, न कोई मद्य पीता है, न कोई विना अग्निहोत्र के रहता है, न कोई मूर्ख है, व्यभिचारी और व्यभिचारिणी की तो मेरे राज्य में चर्चा तक नहीं है।' क्या आज संसार में ऐसी कोई प्रतिज्ञा कर सकता है ? यही क्यों ? अभी कुछ पूर्व काल की ही वर्तमान समय से तुलना करने पर निष्पक्ष भाव से यह स्पष्ट मान लेना पड़ेगा कि मानसिक धर्मभाव क्रमशः बहुत-कुछ अवनत होते जा रहे हैं। धार्मिक जोश कई जातियों में अवश्य है, किन्तु धर्म का परिपालन कितना है—यह भी तो

देखना चाहिए। पुराने धर्मों के सम्बन्ध में आजकल बहुत-से महाशय कहते हैं कि वे अन्ध-विश्वास पर अवलम्बित थे, इस कारण इस प्रकाश के युग में उनपर किसी की दृष्टि नहीं जम सकती। किन्तु, जिन सत्य, क्षमा, अहिंसा, अस्तेय, इन्द्रियनिग्रह आदि को सब सभ्य संमाज खुले दिल से धर्म समझता है, वे भी आचरण में कहाँतक लाये जाते हैं? इसपर सूक्ष्म विचार करने से सबको ह्रासवाद का पक्षपाती होना पड़ेगा। वास्तव में, आजकल के युग के सत्य, क्षमा आदि का स्वरूप ही कुछ दूसरा है। सभ्य समाज ने इनको भी सभ्य रूप दे दिया है। सत्य का स्थान आजकल 'पॉलिसी' ने अधिकृत कर रखा है। प्लेटफार्म पर अनाथों की बात छेड़कर अश्रु बहा देने में ही आजकल की दया समाप्त है। जन-सेवकता की डींग मारकर प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेना ही इस युग का परोपकार है। मैं नहीं कहता कि संसार में कोई सत्यवादी, दयाशील या परोपकारी है ही नहीं। किन्तु, सामाजिक दृष्टि से इनका क्रमशः ह्रास हो रहा है, इसमें कोई सन्देह नहीं। अदालतों में मुकदमों की संख्या, मद्यपान और अशान्ति आदि की वृद्धि ही इसके लिए पुष्ट प्रमाण हैं। मन में इस प्रकार के विकार उत्पन्न हो जाने पर अन्तर्जगत् के देवता आदि पर विश्वास ही नहीं रहता और आधिदैविक अवनति भी हो ही जाती है।

मनुष्य या मनुष्य-समाज के मनोभाव जितने संयत रहते हैं, उतना ही वह भौतिक उन्नति में कम अग्रसर होता है। इसके विपरीत जितना भौतिक (बाह्य) उन्नति की ओर अधिकाधिक झुकाव होता है, उतनी मानसिक पवित्रता कम होती जाती है। अतः, भौतिक दृष्टिवालों के विकासवाद में और आन्तरिक दृष्टिवालों के ह्रासवाद में बहुत बड़ा अन्तर नहीं पड़ता।

इससे हमारा यह अभिप्राय कदापि नहीं कि भौतिक उन्नति की ओर भारतवर्ष ने कभी ध्यान ही नहीं दिया, भौतिक उन्नति यहाँ कभी हुई ही नहीं या 'ऋषि' और 'बर्बर' शब्द का अर्थ एक ही है। यह सब भ्रान्ति है। किन्तु, इतना अवश्य कहा जायगा कि भौतिक उन्नति यहाँ भी क्रम से हुई थी और क्रम से ही हो सकती है।

भौतिक विज्ञान और मानसिक पवित्रता—दोनों के मेल का युग मध्ययुग था। आदियुग नहीं। उसे त्रेता कहते हैं। आदि त्रेता-युग में बाह्य-विज्ञान उन्नत होता है, एवं उसमें आगे भी उन्नति और अवनति का क्रम चलता है। अतः, सम्भव है कि कई शिल्प-सम्बन्धी कलाएँ, जो आजकल अपूर्व दिखाई देती हैं, पूर्वकाल में न रही हों। यह कोई आवश्यक नहीं कि आजकल की तरह मोटरगाड़ियों का दौड़ना, बेतार के तार, ग्रामोफोन तथा रेडियो की कला का प्रचार जब हम प्राचीन भारत में भी होना सिद्ध कर दें, तभी उन्नत कहला सकें। कलाओं की उन्नति में क्रम-विकास सबको मानना पड़ेगा। साथ ही, यह भी कोई असम्भव नहीं कि पूर्वकाल में बहुत-सी ऐसी कलाएँ हों, जो मध्य में लुप्त हो गई हों और आजतक न आविष्कृत हो सकी हों। ढाके की मलमल और रोपड़ के चोर पकड़नेवाले ताले आजतक भी नहीं बन सके हैं, जिनका पुराने भारत में होना अनेक साक्षियों से सिद्ध है। यह भी किंवदन्ती बहुत प्रसिद्ध है कि आगरा के किले में एक ऐसा दीपक था, जो विना

तेल डाले ही न जाने कितने वर्षों से जल रहा था। उसमें वैज्ञानिक प्रक्रिया का ऐसा यन्त्र लगाया गया था, जो धुआँ के रूप में निकले हुए तेल को फिर तेल-रूप में परिणत कर देता था। उसे जब एक बार अपने स्थान से हटा दिया, तब वह बुझ गया और फिर वैसा न जल सका। भारत का इतिहास कोई एक दिन का नहीं, यह लाखों वर्षों का है। इसमें अनन्त कलाओं और शतशः विद्याओं का विकास और विनाश होता रहा है। किन्तु, भारत का प्रधान लक्ष्य मानसिक पवित्रता की ओर ही रहा है। उतनी ही भौतिक उन्नति को आश्रय देना भारत ने उचित समझा था, जिससे मानसिक पवित्रता दब न सके। और, जितने भी अंश में बाह्य उन्नति ने आन्तरिक पवित्रता को दबाया है, उतने ही अंश में भारत का ह्रास हुआ है।

मार्कण्डेयपुराण के युग-धर्माख्यान-सम्बन्धी एक प्रकरण का (४५-४६वाँ अध्याय) तात्पर्य यहाँ लिखा जाता है, जिससे हमारा पूर्वकथन सर्वांश में प्रमाणित हो जायगा : "आदि कृतयुग में विशेष कर्म की वृत्ति न थी। उस समय की प्रजा नदी, तालाब, समुद्र, पर्वत आदि के समीप रहा करती थी। गर्मी, सर्दी की बाधा बहुत कम थी। वे मनुष्य इच्छा, द्वेष, सुख दुःख, प्रिय, अप्रिय आदि द्वन्द्वों से रहित थे। ईर्ष्या का नाम भी न था। रहने के लिए घर नहीं होते थे। पिशाच, सर्प, राक्षस, पशु, पक्षी, मकर, चोर आदि का डर न था। ऋतुओं के फल-पुष्प आदि भी तब न होते थे। वे सब स्वभावतः तृप्त रहते थे। 'रसवती पृथ्वी' ही उनके लिए आहार थी। उन सबकी आयु नियत काल की होती थी। यौवन स्थिर रहता था। सब प्रकार के रूप आदि समान थे। उत्तमाधम-भाव या लड़ाई-झगड़े का नाम न था। संकल्प-मात्र से सन्तति होती थी। बड़े आनन्द से जिन्दगी गुजरती थी। क्रमशः, कुछ काल व्यतीत होने पर प्रजाओं में कुछ वितृप्तता (तृप्ति का अभाव, क्षुधा आदि) होने लगी। यद्यपि इच्छा-मात्र से तृप्ति हो जाती थी, किन्तु बारम्बार की इच्छा से मानसिक श्रम होने लगा। यही पहली 'मानसी सिद्धि' के नाश का समय है। इसके अनन्तर 'सोल्लासा' नाम की सिद्धि उन्हें प्राप्त हुई, जल का सूक्ष्म भाग आकाश में जाकर मेघ-रूप में परिणत होने लगा, और क्रमशः वृष्टि आरम्भ हुई। उस सामान्य वृष्टि से ही प्रजाओं के लिए एक प्रकार के वृक्ष, जिन्हें कल्पवृक्ष कहा जाता है, उत्पन्न हो गये। यही वृक्ष इन प्रजाओं के भोजन, वस्त्र, निवास आदि की व्यवस्था करते थे। इनमें किसी का स्वत्व (हक) न था। वे सबके साधारण रूप से भोग्य थे। काल व्यतीत होने पर धीरे-धीरे मनुष्यों के चित्त में राग (अभिलाषा) उत्पन्न होने लगा, और स्त्रियों को प्रतिमास ऋतु-धर्म और बारम्बार गर्भ-धारण होने लगा। तब वे वृक्ष भी नष्ट हो गये। यह दूसरी सिद्धि के नाश का समय है। इसके अनन्तर चार शाखाओं के दूसरे प्रकार के वृक्ष पृथ्वी में उत्पन्न हुए। इनके फलों से वस्त्र और आभूषण भी प्राप्त होते थे और उनसे सुगन्धि, सुन्दर और बड़ा पुष्टिकारक मधु मिलता था। उससे त्रेता-युग के आरम्भ में प्रजाओं का बड़े आनन्द से निर्वाह होता था। किन्तु, शनैः-शनैः इनका राग लोभ-रूप में परिणत हो गया और ये वृक्षों पर अपना-अपना हक जमाने लगे। इससे बहुधा वे वृक्ष भी नष्ट हो गये। अब सर्दी, गर्मी, क्षुधा, तृषा आदि की बाधा अधिक देखकर पहले

इन्होंने पर्वत आदि के समीप नाप-नापकर पुर, नगर, ग्राम आदि बनाये। (यहाँ पुराण में नाप आदि के जो परिमाण उन्होंने स्थिर किये, वे, और पुर, ग्राम, खेत आदि के लक्षण विस्तार से लिखे हैं। प्रकृत में विशेष उपयोग न होने के कारण यहाँ वह सब छोड़ दिया गया है।)

"उसके बाद वृक्षों की शाखाओं और पर्वतों की गुफाओं आदि के आकार पर घर बनाना आरम्भ किया गया। शाखाओं के ऊपर, नीचे आदि का संनिवेश देखकर उनके सदृश घर बनाये गये, इसीलिए इनका पहला नाम शाखाओं के नाम पर 'शाला' रखा गया। इस प्रकार शीत, उष्ण आदि का तो उपाय हुआ, किन्तु क्षुधा, तृषा की व्याकुलता बढ़ती रही। उस काल में विशेष प्रकार से वृष्टि होने लगी और वृष्टि के जल से खात, गढ़े आदि बनने लगे। बहुत-सी छोटी-छोटी नदियाँ बहने लगीं। जल और भूमि के संयोग से ऋतुओं के पुष्प-फल उत्पन्न होने लगे। चावल, यव आदि ग्राम्य और नीवार आदि आरण्य ओषधियाँ उत्पन्न हो गईं। क्रमशः जब राग और लोभ आदि बहुत बढ़ गये, और वृक्ष, क्षेत्र आदि के परस्पर स्वत्व में विवाद होने लगा, तब भूमि ने उन ओषधियों को ग्रस लिया। तब प्रजाओं की पुकार पर ब्रह्मा ने भूमि से फिर उन ओषधियों का रोहण किया और कर्म-सिद्धि का प्रकार चलाया। तब खेती करने की प्रक्रिया चली और राजा, प्रजा, यज्ञ, दान आदि की मर्यादा स्थापित की गई।"

इस प्रकरण पर विचारपूर्वक दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि विकासवादियों के जैसे ही सिद्धान्तों का यहाँ वर्णन किया गया है। पहले पर्वतों में निवास, फिर घरों में। पहले रसवती पृथ्वी ही आहार का साधन थी। इसका यही आशय हो सकता है कि पृथ्वी के कन्द आदि भोग्य थे। फिर फल, पत्र आदि, फिर वृक्षों का रस (मधु) और आगे क्रमशः ग्राम्य और आरण्य ओषधियाँ। पहले वृक्षों के वल्कल आदि ही पहनने के काम में आते थे, फिर फलों में से वस्त्र निकलने लगे; इसका अभिप्राय यही हो सकता है कि सेमल आदि की तरह कुछ ऐसे वृक्षों का परिज्ञान हुआ, जिनमें से रूई प्राप्त हो सकती थी। उससे कपड़े बनाने की विधि प्रचलित हुई। आधुनिक विकासवाद में अटकल से जो सभ्यता का विकास-क्रम निर्धारित किया जाता है, उसकी अपेक्षा इस क्रम में कहीं-कहीं भेद अवश्य है, किन्तु मूल सिद्धान्त की एकता स्पष्ट है। अब यहाँ देखने की बात यह है कि विकासवादी जिस क्रम का विकास या उन्नति कहकर वर्णन किया करते हैं, उसी को यहाँ ह्रास के शब्दों में वर्णन किया गया है। पूर्व प्रजा की प्रशंसा और उत्तर में सिद्धिनाश का अनुशोचन—इस बात को स्पष्ट करता है। अतः, यद्यपि यह अवस्था सर्वांश में हमारी लक्ष्यभूत नहीं, तथापि राग, द्वेष, ममता आदि के अभाव के लिए यह अवश्य आदर्श है।

जबतक परस्पर स्वत्व का झगड़ा न खड़ा हो, तबतक थोड़े ही पदार्थों से बहुतों का उपभोग अच्छी तरह हो सकता है। किन्तु, जब लोग 'मेरी-तेरी' पर उतर आते हैं और उपभोग की तृष्णा बढ़ती है, तब बहुत-से पदार्थ भी अल्प ही प्रतीत होने लगते हैं। फिर, पूर्व की अपेक्षा दशगुणित में भी निर्वाह नहीं होता। यही पुराण ने दिखाया है कि जब लोग ममता से उन वृक्षों आदि को अपना-अपना कहने लगे, उनपर हक जमाने लगे, तब वे

नष्टप्राय हो गये। ममतामूलक राग-द्वेष ही को इस प्रकरण में सब अनर्थों का मूल बताया गया है। इन्हीं से अन्तःकरण कलुषित होने पर कई प्रकार के कर्म करने पड़ते हैं, सुख-शान्ति जाती रहती है। आयु भी कम हो जाती है। उत्तम-मध्यमाधम-भाव से बहुत-से पारस्परिक भेद खड़े हो जाते हैं। इन्द्रिय-संयम न रहने पर सन्तति की अधिकता हो जाती है और निर्वाह में कठिनता बढ़ जाती है। बाह्य उन्नति पर लक्ष्य स्थापित करते ही ये सब दोष अवश्यम्भावी हैं। अतएव, बाह्य विकास को ही हमारे शास्त्र ह्रास कहते हैं। यहाँ इतना और स्मरण रखना आवश्यक है कि आदि दशा में बाह्य कलाओं का अभाव बताने पर भी हमारे यहाँ मुख्य विज्ञान का अभाव नहीं बतलाया गया है। आदि की प्रजा में भी तप था, स्वरूप-ज्ञान था, ईश्वर-भक्ति थी, मनःसंयम था। अतएव, कई प्रकार की मानस सिद्धियों का वर्णन उसमें संघटित होता है। यों, ह्रास और विकास की एकवाक्यता ही बन जाती है।

इस प्रकरण से यहाँ मेरा अभिप्राय यह है कि आदिप्रजा में आध्यात्मिक और आधिदैविक सिद्धान्तों के जानने और मनन करने की शक्ति आज की अपेक्षा बहुत अधिक रहती है। वह शक्ति पूर्व काल के संस्कारों के अनुसार आती है—यह हमारे शास्त्रों में स्थान-स्थान पर व्यक्त किया गया है, यहाँ उस शक्ति की प्राप्ति के लिए उन आदिपुरुषों को कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ा—इसलिए उसे ईश्वर-प्रदत्त ही कहा जाता है। आधिभौतिक सिद्धान्त भी उक्त दोनों प्रकार के सिद्धान्तों के अन्तर्गत हैं—इसलिए सिद्धान्त-रूप से उनका भी ज्ञान रहता है, कला-रूप से बाह्य विकास चाहे आगे क्रम से हो। और, आगे भी समय-समय पर विकास और ह्रास होते रहते हैं—यह भी हम पूर्व कह आये हैं। ब्रह्मा ने खेती आदि की प्रवृत्ति की—इस पूर्वोक्त पुराणोक्त का भी यही तात्पर्य है। ब्रह्मा बुद्धि के अधिष्ठाता देवता हैं, उनकी प्रेरणा से बुद्धि में खेती करने, घर बनाने आदि की प्रक्रिया का विकास हुआ। इसलिए, पुराने समय में विद्वान् था ही नहीं, यह यूरोपियन विद्वानों का विश्वास दृढ भित्ति पर अवलम्बित नहीं है। आध्यात्मिक और आधिदैविक विज्ञान उस समय बहुत उन्नत रूप में था, और उनपर आधारित आधिभौतिक विज्ञान भी था। सिद्धान्त-रूप से पूर्ण मात्रा में था। यही वेदों के आविर्भाव का समय है, अतः सिद्धान्त-रूप में वहाँ सब विज्ञान पूर्ण रूप में मिलते हैं।

आध्यात्मिक और आधिदैविक विज्ञानों के आधार के विना आधिभौतिक विज्ञान अधूरा रहता है। इसीलिए, आजकल के साइंसवेत्ताओं को अपनी थिउरियाँ नित्य बदलनी पड़ती हैं। और, अब आगे उनका गतिनिरोध हो गया है। इलैक्ट्रोन और प्रोट्रोन दोनों मूलतत्त्व किसी एक ही तत्त्व से निकले, यहाँतक उन्होंने मान लिया। इससे 'सखे सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (सबसे पहले एक ही मूलतत्त्व था—दूसरा कोई नहीं था), इस वैदिक सिद्धान्त की तो विजय उनके द्वारा भी घोषित हो गई। किन्तु, एक मूलतत्त्व से दो विरुद्ध धर्मवाले तत्त्व कैसे पैदा हो गये, यह गुत्थी अभी तक पाश्चात्य विद्वान् न सुलझा सके। और यह, विना उक्त दोनों विज्ञानों के आधार के सुलझ भी नहीं सकती। अस्तु; हम प्रस्तुत विषय से दूर होते जाते हैं। हमारा प्रकृत कथन यही था कि सब विषयों में विकासवाद के

एकान्त भक्त होने के कारण यूरोपियन विद्वानों की दृष्टि वेद के अमूल्य विज्ञान पर जम ही न सकी।

दूसरा कारण यह भी था कि वेद के पारिभाषिक शब्द, ब्राह्मणों, पुराणों और वेदांगों की सहायता से ही खुल सकते हैं। किन्तु, यूरोपियन विद्वानों ने ऐसा नहीं माना। वे ब्राह्मण, पुराण, वेदांग आदि को बहुत पीछे का मानते हैं। ब्राह्मणादि से मन्त्रों का तात्पर्य समझने में कुछ भी सहायता लेना नहीं चाहते, वेदमन्त्रों का अर्थ उनसे ही निकालना चाहते हैं। यही कारण है कि वेद की परिभाषाएँ उनकी दृष्टि में स्पष्ट नहीं होतीं, और अनेक शब्दों के तात्पर्यार्थ जानने के विषय में उन्हें अनेक कल्पनाओं का आश्रय लेना पड़ता है। वेद भारतीय शास्त्र हैं। यदि उनके मर्म-ज्ञान की अभिलाषा हो, तो भारतीय दृष्टि का ही आश्रय लेना होगा। यदि भारतीयेतर दृष्टि रखनेवाले यूरोपियन विद्वान् वेद का रहस्यार्थ प्राप्त करने में असमर्थ हो रहे हैं, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। वे भारतीय दृष्टि कहाँ से लायेंगे।

इस सब विस्तृत विवरण से हमने यह दिखाया कि अबतक वैदिक विज्ञान के क्रमबद्ध प्रकाशन न होने में बहुत-से कारण रहे। बहुत-सी कठिनाइयों के मेघ इस प्रकार छाये रहे कि वैदिक विज्ञान-मार्त्तण्ड के प्रकट होने का अवसर नहीं आया। भगवत्कृपा-वायु ने कठिनता-मेघों को दूर किया, तो अब विज्ञान-सूर्य चमका है। उसकी उपासना में विद्यावाचस्पतिजी ने उपर्युक्त विक्षेपों से बचकर, वर्त्तमान विज्ञान को भी दृष्टि में रखकर तथा ब्राह्मण, पुराण, आगम-शास्त्र, धर्मशास्त्र, वेदांग आदि की एकवाक्यता करते हुए वैदिक विज्ञान को प्रकाश में लाने का एक राजमार्ग निकाला है, मननशील विद्वानों के समक्ष शताधिक ग्रन्थों के प्रणयन द्वारा वैदिक परिभाषाओं को स्पष्ट किया है। यदि विवेचक विद्वान् उस मार्ग पर चलें, उसका रुचिपूर्वक प्रसार करें, और परिश्रमपूर्वक उस कार्य को आगे बढ़ाने में प्रवृत्त हो जायँ, तो निस्संशय वैदिक विज्ञान का प्रकाश फैल सकता है और इस शुभोदय से भारत को विश्व में अपना पुराना स्थान प्राप्त करने का अवसर मिल सकता है। इस प्रयास से भारत का मुख उज्ज्वल हो सकता है। यहाँ उसी मार्ग का संक्षिप्त दिक्-प्रदर्शन कराते हुए, भारतीय संस्कृति उसी पर आधारित है, यह दिखाने का प्रयत्न किया जायगा। वेद और विज्ञान शब्दों का अर्थ प्रथमतः बताते हुए, वेद में विज्ञान की प्रक्रिया की दिशा का का संक्षिप्त प्रदर्शन कर तदुपरान्त भारत और संस्कृति शब्दों का अर्थ और उनके साथ पूर्वोक्त विज्ञान का सम्बन्ध संक्षेप में बताकर इस निबन्ध को पूर्ण किया जायगा।

प्रथमतः, वेद शब्द के अर्थ पर ही विचार प्रारम्भ किया जाय, यह उचित होगा। इस व्याख्या में विज्ञान के भी अनेक भाग प्रस्तुत हो जायेंगे।

वेद शब्द का अर्थ

वेद शब्द 'विद् ज्ञाने' धातु से 'घञ्' प्रत्यय होकर बना है। 'घञ्' प्रत्यय का अर्थ भी भाव, कर्म या करण हो सकता है, इसलिए ज्ञान, ज्ञान का विषय, ज्ञेय पदार्थ

और ज्ञान के साधन तीनों ही वेद शब्द के वाच्य अर्थ हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त, भगवान् पाणिनि ने अपने धातुपाठ में 'विद्' धातु के अर्थ सत्ता, लाभ और विचारना—ये तीन और माने हैं। इनमें विचारना तो एक प्रकार से ज्ञान में ही अन्तर्गत हो जाता है, किन्तु सत्ता और लाभ अर्थ अतिरिक्त रहते हैं। उन अर्थों में भी उक्त तीनों प्रत्ययार्थ जोड़ने से वेद शब्द का अर्थ बहुत गम्भीर हो जाता है। लाभ आनन्द का उत्पादक वा आनन्द का ही एक रूप है, ऐसा सूक्ष्म विचार करने पर सत्ता, ज्ञान और आनन्द ये तीन जो ब्रह्म के लक्षण श्रुतियों में मिलते हैं—वे तीनों वेद शब्दार्थ में आ जाते हैं। अथवा यों भी कह सकते हैं कि 'विद्' धातु के अर्थों में सत्ता से उत्पत्ति, ज्ञान से पालन या जीवन, और लाभ से प्राप्ति वा लय बताया गया। इस प्रकार भी वेद-शब्दार्थ में ब्रह्म के लक्षण आ गये। जिससे सब उत्पन्न हो, जिसके आधार पर सब जीवित रहे, और जिसमें सब लीन हो, यही ब्रह्म का लक्षण श्रुति में कहा है। इसलिए, वेद शब्द, ब्रह्म शब्द का पर्याय बन जाता है। अस्तु; अन्य का विवेचन आगे स्फुट होगा, अभी ज्ञान अर्थ का ही विचार कीजिए। प्राचीन वाङ्मय में ब्रह्म, विद्या और वेद इन तीनों शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में मिलता है। तीन वेदों के लिए 'त्रयं ब्रह्म', 'त्रयी विद्या' और 'त्रयो वेदाः'—ये तीनों प्रकार के प्रयोग यत्र-तत्र समुपलब्ध होते हैं। यद्यपि सूक्ष्म विचार से इन शब्दों के अर्थ में व्यावहारिक दृष्टि से किंचित् भेद है। वेद का पहला जो ज्ञान अर्थ हम कह आये हैं, वह तो तीनों शब्दों में समान ही है, किन्तु साधनों का भेद प्रतीत होता है। भिन्न-भिन्न प्रकार के वस्तुधर्म, उनके कार्य-कारण-भाव आदि का ज्ञान यदि प्रत्यक्ष प्रमाण से हुआ हो, तो उस ज्ञान को ब्रह्म शब्द से कहा जायगा। वही ज्ञान यदि पूर्वसंचित संस्कारों की सहायता से हुआ हो, तो उसे 'विद्या' शब्द से प्रकट किया जायगा। यदि वैसा ज्ञान शब्दप्रमाण से हो, तो उसे 'वेद' शब्द से कहा जायगा। इसलिए इसका समानार्थक 'वाक्' शब्द भी सुप्रसिद्ध है। इतना अवान्तर भेद होने पर भी ज्ञान-मात्र पर दृष्टि रखकर तीनों शब्दों का समान रूप में प्रयोग भी बहुत प्रचलित है। पूर्वोक्त प्रकार से शब्द से होनेवाला ज्ञान और उस ज्ञान के साधन-रूप शब्द ही व्यवहार में 'वेद' शब्द के द्वारा बोध्य होते हैं। वहाँ भी विशेषकर लौकिक और अलौकिक ज्ञान के साधनरूप शब्द ही आज वेद नाम से संसार में प्रसिद्ध हो गये हैं। इसलिए, वेद शब्द पुस्तकों का ही वाचक बन गया, किन्तु उन वेद-पुस्तकों में वेद शब्द का और उसके अवान्तर विभागों के बोधक ऋक्, यजुः और साम शब्दों का एवं सामान्यार्थबोधक 'वाक्' शब्द का भी व्यवहार प्रत्यक्ष ज्ञान के साधनों और साथ ही ज्ञान के विषय बननेवाले अर्थों में भी हुआ है।

यह विचार कीजिए कि किसी वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान हमें किस प्रकार होता है। प्रत्यक्ष का लक्षण तो शास्त्रकारों ने यह किया है कि इन्द्रियों से ज्ञेय अर्थों का सम्बन्ध होने पर जो ज्ञान प्रकट हो, वह प्रत्यक्ष कहलाता है। रस, स्पर्श, गन्ध, शब्द इन गुणों में देखा भी यही जाता है कि वे गुण जब हमारी, रसना, त्वचा, घ्राण और श्रोत्र-इन्द्रियों पर पहुँचकर इनसे सम्बद्ध होते हैं, तभी इनका ज्ञान होता है। दूर की वस्तु का खट्टा-

मीठा रस, शीतल-उष्ण आदि स्पर्श हम नहीं जान सकते। यद्यपि दूर के पुष्प आदि के गन्ध का ज्ञान हमें होता है, किन्तु वायु द्वारा जब गन्धवाले द्रव्य के अंश हमारी घ्राण-इन्द्रिय पर लाये जाते हैं, तभी होता है। एवं, शब्द भी एक स्थान में उत्पन्न होने पर उसकी धारा जब हमारे कानों में आती है, तभी उसका भी ज्ञान होता है। इसी कारण दूर का शब्द अपनी उत्पत्ति के कुछ क्षणों के अनन्तर ही हमें सुनाई देता है और जिस समय हम शब्द सुनते हैं, उस समय वह अपने उत्पत्ति-स्थान में नहीं रहता, इससे धारा-रूप से चलता हुआ वा नया-नया शब्द उत्पन्न करता हुआ वह हमारे कान तक आ गया, यह समझ में आ जाता है। किन्तु, रूप की बात निराली है, बहुत दूर की वस्तु का भी रूप हम आँखों से देखते हैं, और वह रूप हमारे देखने के समय वहाँ दूरस्थान पर भी बना रहता है। रूप वा आकार का देखना ही वस्तु का देखना कहलाता है। तब प्रश्न यह उठता है कि विना आँख से सम्बन्ध हुए हमने आँख द्वारा उस वस्तु को वा उसके रूप और आकार को देखा कैसे? हमारे कई दर्शनकार चक्षु-इन्द्रिय का वस्तु के समीप पहुँच जाना मानते हैं। उनका विचार है कि हमारी चक्षु-इन्द्रिय तेज से बनी हुई है। तेजक पदार्थ—सूर्य, दीप आदि में से किरणें निकलती हैं, और दूर तक फैलती हैं। इसी प्रकार, आँख की भी किरणें हैं, वे जाकर वस्तु का स्पर्श करती हैं, तब हमें वस्तु का ज्ञान हो जाता है। किन्तु, ज्ञान की स्थिति पर विचार करनेवाले सूक्ष्म निरीक्षक विद्वान् इस सिद्धान्त से सन्तुष्ट नहीं होते। ज्ञान एक आन्तर वस्तु है। वह शरीर के भीतर ही होता है; बाहर वस्तुप्रदेश में ज्ञान नहीं हो सकता। आत्मा को व्यापक कहनेवाले दर्शन इसका यों समाधान कर लेते हैं कि आत्मा जब सब जगह है, तब शरीर से दूर भी बाह्य प्रदेश में ज्ञान हो जाने में बाधक क्या? ज्ञान तो आत्मा का ही धर्म है, वह आत्मा में किसी प्रदेश में भी हो सकता है। किन्तु, इसके विरुद्ध पक्षवाले विद्वान् कहेंगे कि आत्मा भले ही व्यापक रहे, किन्तु उसका भोग-साधन तो शरीर है, यह तो सभी मानते हैं। तब आत्मा के विशेष गुण ज्ञान, इच्छा, सुख, दुःख आदि शरीर के भीतर ही पैदा हो सकते हैं। बाहर भी यदि इनका उत्पन्न होना मान लिया जाय, तो शरीर की आवश्यकता ही क्या? दूसरी बात यह कि ज्ञान उत्पन्न होने में मन के भी सहयोग की आवश्यकता है, विना मन के योग के किसी इन्द्रिय के द्वारा हमें ज्ञान नहीं होता। देखा जाता है कि मन यदि दूसरी ओर लगा हो, तो कितना भी उत्तम गान हो रहा हो—मनुष्य उसे सुनता ही नहीं। कितनी भी उत्तम गन्ध आ रही हो, मनुष्य को पता ही नहीं लगता। हाथी-घोड़े भी सामने से निकल जायँ, तो पूछने पर मनुष्य कह देता है—'जी, मेरा तो मन ठिकाने नहीं था, मैंने कुछ नहीं देखा।' इसलिए, सांख्य, वेदान्तादि दर्शनों ने ज्ञान को अन्तःकरण का ही गुण माना है। आत्मा तो निर्विकार साक्षी-मात्र है। अस्तु; वह मन तो हृदय में ही बैठा रहता है, फिर बाहर वस्तुप्रदेश में ज्ञान होगा कैसे? कई ग्रन्थकारों ने इसके समाधान के लिए मान लिया है कि मन वा अन्तःकरण भी चक्षु के साथ बाहर चला जाता है। वहीं उसमें ज्ञान हो जाता है, किन्तु यह भी निरी उपहासास्पद कल्पना है। मन यदि बाहर चला जाय, तो क्षण के शतांश भर भी शरीर का धारण नहीं रह सकता। शरीर उसी क्षण वा लव में

गिर जायगा। कई ग्रन्थकार कह देते हैं कि चक्षु बाहर जाकर रूप को मन के पास पकड़ लाती है। किन्तु, आँख में केवल देखने की शक्ति है, पकड़ लाने की कोई शक्ति उसमें नहीं, इसलिए यह कल्पना भी पूरा नहीं उतरती। एक आँख को दबाकर टेढ़ी कर देखने से वस्तु दो दिखाई देने लगती हैं—एक अपने स्थान में और दूसरी स्थान से कुछ हट कर। इसी प्रकार, दूर की वस्तु छोटी दिखाई देती है—इन सब बातों की उपपत्ति इन विचारों से ठीक बैठती ही नहीं। अस्तु;

वैदिक विज्ञान इस सम्बन्ध में यह बताता है कि प्रत्येक वस्तु में उसकी प्राण-शक्ति व्याप्त है। प्राण के विना कोई भी वस्तु ठहर नहीं सकती। वह निष्प्राण हो जाती है। बल और विधारण प्राण की ही शक्ति है। विना प्राण के न किसी वस्तु में बल रहेगा, न उसका विधारण होगा। वह चूर-चूर होकर गिर जायगी। वह प्राण उस वस्तु के भीतर भी रहता है, और बाहर भी फैलता है। प्रत्येक पार्थिव (पृथिवी-तत्त्व के बने) पदार्थ में आग्नेय प्राण रहता है, अग्नि ही पृथिवी का प्राण है। वह अग्नि वैदिक परिभाषा में दो प्रकार का माना जाता है, चित्य और चितेनिधेय। अग्नि-प्राण के ही चयन (चिनाई) से सब वस्तु बनी है; प्राण ही भूतों का उत्पादन करता है। इस प्रकार, वस्तु के स्वरूप-संघटन में लगे हुए प्राण वा अग्नि को वैदिक परिभाषा में 'चित्य' कहते हैं। चित्य, अर्थात् चयन किया गया—जिसकी चिनाई हुई, वह। यों, चयन से वस्तु का स्वरूप बनाकर फिर प्राण उसपर बैठता है। जैसे, मकड़ी अपनी ही लार से जाल बनाकर उसपर स्वयं बैठती है, वा प्रकाश (तेजोद्रव्य) दीपक का स्वरूप बनाकर उसपर बैठकर दूर तक फैलता है, उसी प्रकार प्राण-शक्ति भौतिक वस्तुओं का स्वरूप बनाकर उनपर स्थित होती है। उस चित्य अग्नि को मृत वा मर्त्य और चितेनिधेय को अमृत कहा जाता है, अर्थात् चित्य में शक्ति मृत हो चुकी, वह (चित्य) अपने स्थान से हट नहीं सकता, किन्तु चितेनिधेय चारों ओर फैलता रहता है।

सृष्टि में चार प्रकार के पदार्थ होते हैं—स्व-ज्योति, पर-ज्योति, रूप-ज्योति और अ-ज्योति। अपने-आप प्रकाश रखनेवाले सूर्य, विद्युत्, अग्नि आदि स्व-ज्योति कहे जाते हैं। जो दूसरे के प्रकाश से चमक उठें, वे पर-ज्योति हैं; जैसे चन्द्रमा, दर्पण, जल आदि। जिनमें प्रकाश वा चमक न हो, उन्हें रूप-ज्योति कहते हैं; जैसे पृथिवी-तत्त्व के बने हुए पदार्थ; उनमें चमक नहीं, रूप ही उनका प्रकाश है। और, जिन वायु आदि में रूप भी नहीं होता, वे अ-ज्योति कहने योग्य हैं। इसमें स्व-ज्योति और पर-ज्योति के प्राणभूत प्रकाश का दूर तक फैलना प्रत्यक्ष है, अतः उसे सभी मानते हैं। किन्तु, वैदिक विज्ञान बताता है कि तुल्य न्याय से रूप ज्योति, अर्थात् पार्थिव आदि पदार्थों के प्राण भी इसी प्रकार चारों ओर फैलते हैं। वस्तु के परिमाण के अनुसार उनके फैलने की अवधि छोटी या बड़ी होती है। जैसे, छोटे-से टिमटिमाते दीपक का प्रकाश बहुत अल्प स्थान में फैलता है, बड़े लैम्प का दूर तक, और सूर्य की समस्त ब्रह्माण्ड में ही व्याप्त है। ऐसे ही छोटी वस्तु का प्राण थोड़ी दूर तक फैलता है, बड़ी वस्तु का दूर तक। इसीलिए, छोटी वस्तु समीप से ही दिखाई देती है और बड़ी वस्तु पर्वत आदि बहुत दूर से भी दीख पड़ते हैं। बस, विचारक

विद्वान् समझ गये होंगे कि विभिन्न वस्तुओं के चितेनिधेय प्राण अपने वेग से उस वस्तु के रूप को साथ लेकर हमारी चक्षु तक आते हैं, और इसी कारण हमें अपनी चक्षु से दूर रहने वाली भी वस्तु वा उसका रूप दिखाई देता है। इस प्राण के फैलाव को ही वैदिक परिभाषा 'वितान-वेद' कहते हैं। विस्तार होने से यह वितान है और ज्ञान का साधन होने से वेद। जहाँतक जिस वस्तु के प्राण का वितनन वा विस्तार होता है, वहाँतक वह वस्तु दिखाई देती है। प्राणशक्ति विना आधार के नहीं रहती वा नहीं चलती। इसलिए, अपनी आधार-भूत वाक् को भी साथ लाती है। प्राण के साथ वाक् का भी वितनन (विस्तार) होता है, अर्थात् इस वेद में वाक् और प्राण दोनों मिले हुए हैं। खूब स्मरण रखिए कि वाक् और प्राण के नाम से जो आध्यात्मिक, अर्थात् शरीर के तत्त्व हमारे परिचित हैं, वे प्राण वा वाक् यहाँ न समझे जायँ। अवश्य ही वे आध्यात्मिक वाक् वा प्राण भी इनसे ही बने हुए हैं, किन्तु ये, जिनका हम वितनन बता रहे हैं, बहुत सूक्ष्म तत्त्व हैं। इनका निरूपण हम आगे 'पुरुषविज्ञान-प्रकरण' में अव्यय-पुरुष की कलाओं के रूप में करेंगे। यहाँ इतना ही समझा जाय कि प्रत्येक वस्तु की शक्ति वा 'एनर्जी' उसके मैटर का अति सूक्ष्म भाग साथ लेकर दूर तक फैलती है। ये सूक्ष्म वाक् और प्राण मण्डल-रूप में ही रहा करते हैं, इसीलिए चारों ओर ही उनका प्रसार है—और वस्तु चारों ओर से ही समानान्तर पर दिखाई पड़ती है। जितना उस वस्तु का आकार है, वह ऋक् कहा जाता है और जहाँतक उसका प्रसार होगा, वह अन्तिम मण्डल उसका साम है—साम का अर्थ है समाप्ति वा अन्तिम भाग। और मध्य के जितने मण्डल हैं, उनमें व्याप्त अग्नि-तत्त्व यजुः कहलाता है। ऋक् और साम तो अवधि-मात्र हैं, वस्तु का सार—उसका तत्त्व यजुः में ही भरा रहता है। नये-नये पदार्थ उसी से उत्पन्न होते रहते हैं।

वर्तमान साइंस कहता है कि वस्तु का कोई अंश नहीं फैलता, न उसका कोई अंश हमारी आँख तक आता है। सूर्य वा अन्य विद्युत्, दीपक आदि की किरणें उस वस्तु का स्पर्श कर उसी के आकार की बनकर हमारी आँख पर आती हैं, और वे ही हमें उस वस्तु का रूप वा आकार दिखा देती हैं। उन्हीं किरणों का पुंज छाया-चित्र या 'फोटो भी है। यहाँ साइंटिस्ट महोदय थोड़ी भूल करते हैं। प्रकाश की किरणें अवश्य आती हैं, किन्तु उनके साथ वस्तु के अंश का आना भी मानना ही पड़ेगा। यदि यह प्रश्न उठाया जाय कि 'किरणों में तो सात रूप हैं, फिर हमें कोई वस्तु काली और कोई पीली या श्वेत क्यों दिखाई देती है ?' तो इसका उत्तर वैज्ञानिक लोग देते हैं कि वह वस्तु किरणों के रूपों को खा जाती है, फिर जिस रूप को वह उगलती है, वह हमारी आँख पर आकर हमें दिखाई देता है। फिर भी, यह प्रश्न उठेगा कि कोई वस्तु काले रूप को और कोई पीले रूप को क्यों उगलती है ? तब अन्ततः वस्तु के स्वभाव वा वस्तु-शक्ति की ही शरण लेनी पड़ेगी—कि जिस वस्तु में जिस रूप के उगलने की शक्ति है, वा जिसे उगल देने का जिसका स्वभाव है, उसे ही वह उगलती है। अच्छा, तो अब वे केवल प्रकाश की किरणें ही नहीं रहीं, वे तो वस्तु की उगली हुई हैं—तो वस्तु का अंश उनके साथ जरूर है। वैदिक विज्ञान

इस बात को यों कहेगा कि जिन सूर्य आदि की किरणों को वस्तु ने खा लिया, वे तो उसमें आत्मसात् हो गई, खाई हुई वस्तु तो अपने स्वरूप में प्रविष्ट हो जाती है। अब जो उगली जाती हैं, वे तो उस वस्तु के ही अंश हैं। यों तो, प्रत्येक वस्तु कुछ लेती और देती रहती है, यह वैदिक विज्ञान का सिद्धान्त ही है, जिसे हम आगे यज्ञ-प्रक्रिया में स्पष्ट करेंगे। किन्तु जो कुछ लिया, वह उस वस्तु का अपना बन गया। अब जो देगी, वह उसका अपना अंश कहलायगा। उन्हें अब प्रकाश की किरण नहीं कह सकते। प्रकाश की किरणें वस्तु में प्रविष्ट होकर उसमें आत्मसात् हो चुकी हैं और अब जो निकली हैं, वे उस वस्तु के ही अंश हैं। और देखिए—कोई वस्तु दूर और कोई समीप दिखाई देती है, उसकी दूरी वा समीपता को भी हम पहचानते हैं, प्रत्येक व्यक्ति का अनुभव इसमें साक्षी देगा। तब प्रश्न यह है कि एक ही आँख के धरातल पर, एक ही बिन्दु पर, आये हुए पदार्थ जब हमें दिखाई देते हैं, तब उनकी दूरी या समीपता जानने का आधार क्या है ? एक बिन्दु पर पड़े हुए प्रतिबिम्बों की दूरता वा समीपता तो हम नहीं समझ पाते, फिर एक ही आँख की बिन्दु पर पड़े हुए वस्तु-प्रतिबिम्बों की दूरता वा समीपता कैसे समझी जाय ? इसका उत्तर साइंटिस्ट यों देते हैं कि दूर वा नजदीक से आये हुए रूपों में कुछ तारतम्य होता है। उसी तारतम्य के आधार पर दूरी वा समीपता का अनुमान हो जाता है। वस्तुतः 'स्पेस', अर्थात् दूरी अथवा नजदीकी का प्रत्यक्ष नहीं, अनुमान है। किन्तु, यह अनुमान हमें इतना अभ्यस्त हो गया है कि उसमें क्षण विलम्ब नहीं लगता, हम उसे प्रत्यक्ष ही मान लेते हैं, जैसे चतुर चितेरा एक ही धरातल पर लिखे चित्र में रूपों की ऐसी विशेषता कर देता है कि हमें उस चित्र में वस्तुओं के मध्य में अवकाश और उनकी दूरी और नजदीकी का भान होने लगता है। नाटक के परदों में और सिनेमा के दृश्यों में जो दूरी-नजदीकी का भान है, वह इसी आधार पर तो है। वे सब तो एक ही धरातल पर हैं, किन्तु रूपों के तारतम्य से—उनकी विशेषता से हमें उनकी दूरी-नजदीकी का भान हो जाता है। यही बात हमारे वस्तुओं के प्रत्यक्ष में है। चक्षु के धरातल पर आये हुए रूपों की विशेषता से हमें दूरी वा समीपता का भान हो जाता है। बस, जब दूर वा समीप से आगत रूपों में आप विशेषता मानते हैं, तब यह भी मान लेना होगा कि वे रूप वस्तुधर्म हैं। प्रकाश की किरणें तो एक ही स्थान से चली हैं, वे सब वस्तुओं का स्पर्श कर आपकी आँखों पर आती हैं। उनका तो अपने मूलस्थान से समान ही अन्तर है, तब दूरी वा समीपता से उनमें विशेषता क्यों आयगी ? जिन वस्तुओं का स्पर्श कर वे आँख पर आती हैं, वे वस्तुएँ दूर वा समीप हैं, उनकी कुछ विशेषता ये लाती हैं। तभी तो इनमें विशेषता आती है—और वे दूरता वा समीपता का अनुमान कराती हैं। वास्तव में तो दूरता वा समीपता हमारे वैदिक विज्ञान के अनुसार अनुमेय हैं भी नहीं, वह प्रत्यक्ष ही हैं। हम 'स्पेस' वा आकाश को निरा शून्य नहीं कहते, उसमें भी तत्त्व भरे हुए हैं; वे तत्त्व भी पूर्वोक्त वेद-मण्डलों पर प्रभाव डालते हैं, जिससे उनकी बहुलता वा अल्पता भी प्रत्यक्ष से गृहीत हो जाती है। और, उस बहुलता वा अल्पता का ही नाम दूरी वा समीपता है। मैं इस अप्रकृत विषय के विस्तार में यहाँ नहीं लगूँगा। इसका विषय प्रस्तुत होने पर, इसका

विवरण होगा। यहाँ तो साइंटिस्ट महानुभावों के माने हुए तत्त्वों पर ही विचार करना है। अस्तु; यों सूक्ष्म विचार करने पर वस्तु के अंशों का फैलना साइंटिस्टों को भी स्वीकार करना ही पड़ेगा। अच्छा, केवल रूप के सम्बन्ध में हम यदि उनकी ही कल्पनाएँ मान भी लें, तो भी वस्तु का आकार—लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई, गोलाई आदि भी तो आँख से दिखाई देती है। फोटो में तो ज्यों का त्यों आकार बन जाता है। इसका उपपादन कैसे होगा ? वस्तु का स्पर्श कर प्रकाश की किरणें उसी क्रम से आँख पर और फोटो के कैमरे पर आ जमती हैं, इससे वहाँ भी वैसा आकार बन जाता है, यह साइंटिस्ट महाशयों की कल्पना केवल कल्पना-मात्र ही है। किरणों का स्वभाव तो चारों ओर फैलने का है। यदि भिन्न-भिन्न वस्तुओं ने उनमें कोई खास विशेषता अर्पित न की होती, तो वे स्वयं कोई सन्निवेश बना नहीं सकती थीं। स्वतः उनमें सन्निवेश (खास तौर पर जमने का स्वभाव) नहीं है। तो, सन्निवेश अवश्य ही वस्तुधर्म है, जो किरणों के साथ आँख आदि पर आया है। यह ठीक है कि किरणों की सहायता के विना वस्तु के वे अंश नहीं आ सकते वा वैदिक विज्ञान के अनुसार हम कहेंगे कि वस्तु का अंश यहाँ रहता हुआ भी किरणों की सहायता के विना अभिव्यक्ति—प्रकाशित नहीं हो सकता। अभिव्यक्ति वा प्रकाश में तो किरणों की सहायता सभी मानते हैं, किन्तु केवल किरणें ही वस्तु के प्राण और वाक्-रूप अंश की सहायता के विना अपने सन्निवेश से नये आकार बना लेती हैं, यह बात बुद्धि स्वीकार नहीं करती। अच्छा, यदि किरणें ही सन्निवेश बना लेती हैं, तो वे किरणें तो बहुत दूर तक व्याप्त होंगी। फिर, बहुत दूर तक भी फोटो क्यों नहीं उतर जाता ? वा सीमा से बाहर बहुत दूर तक भी वस्तु क्यों नहीं दिखाई देती ? इसका वे क्या उत्तर देंगे। हमारे पास तो इसका सीधा उत्तर है कि ऋक् के अनुसार ही साम होता है। ऋक् का (वस्तु की मूर्त्ति का) जितना परिमाण है, उसके अनुसार ही साम-मण्डल बनेगा। साम-मण्डल के भीतर ही फोटो उतर सकता है, और उसके भीतर रहनेवाला द्रष्टा ही उसे देख सकता है। आप कहें कि किरणों में सन्निवेश ले जाने की शक्ति भी नियत दूरी तक ही है, तो यह शक्ति तो उस वस्तु ने ही डाली, यही तो कहना पड़ेगा। स्वतः तो सूर्य की किरणों में बहुत दूर तक फैलने की शक्ति है, उसका प्रतिनियमन किसने किया ? बात यह है कि आधुनिक साइंस, करके दिखाने की बहुत बड़ी शक्ति देता है, उसकी उपपत्ति ठीक-ठीक हृदय में बैठाकर उसे वाणी द्वारा प्रदर्शित करना वह बहुत अल्प सिखाता है। वैदिक विज्ञान प्रत्येक बात को बुद्धिग्राह्य बनाता है, और उसके उपपादन-व्याख्यान की शक्ति भी देता है। अस्तु; हमारा वक्तव्य यही है कि वस्तु के सूक्ष्मांश का फैलना बुद्धिग्राह्यता के लिए मानना ही पड़ेगा, अन्यथा उपपत्ति नहीं बैठ सकती। उसके अतिरिक्त, वस्तुधर्म के सूक्ष्मांशों का वस्तु-स्वरूप के बाहर भी फैले रहना और युक्तियों से भी सिद्ध होता है। आधुनिक विज्ञानवेत्ता भी कहते हैं कि वृक्ष कारबोनिक एसिड उगलते हैं, इसलिए रात को वृक्षों के नीचे नहीं सोना चाहिए। बहुत-से वैज्ञानिकों ने सिद्ध किया है कि स्त्रियों का मलिन रज कुछ दूर के सुकुमार पुष्प आदि को भी कुम्हला देता है इत्यादि। हमारा आयुर्वेद-विज्ञान भी, इमली के वृक्ष के नीचे सोनेवाले को गठिया रोग हो जाता है, यह बताता है। हमारी संस्कृति का स्पर्शास्पर्श-विवेक सब इसी

आधार पर अवलम्बित है। बाग-बगीचों से कुछ दूर तक भी उनकी तरी का अनुभव होता है—इत्यादि बहुत-से अनुभव इसके प्रमाणभूत हैं। हाइड्रोजन-ऑक्सीजन आदि का अंश ही वायुमण्डल में फैला रहना साइंस स्वीकार करता है। वे भी तो किसी वस्तु के अंश ही वायुमण्डल में आये हुए हैं।

साइंटिस्ट महानुभावों को सम्भवतः यह शंका है कि यों वस्तु के अंश क्षीण होते जायेंगे, तो वस्तु का आकार कम होता जाना चाहिए, और कुछ दिनों में ही वस्तु लघु हो जानी चाहिए। किन्तु, वैदिक विज्ञान में इस शंका का स्थान नहीं। हम प्राण-तत्त्व वा उसके सहचर वाक्-तत्त्व को स्थानावरोधक (जगह रोकनेवाली वस्तु) नहीं मानते। स्थानावरोधकता घनीभूत होने पर ही आती है, प्राण-तत्त्व तो शक्तिविशेष ही माना जाता है, अति सूक्ष्म वाक्-तत्त्व भी शक्ति का सहचर उसी रूप में रहता है। इसलिए, ऐसे तत्त्वों के निकल जाने पर भी वस्तु में न्यूनता का प्रश्न नहीं उठता और जैसे ये तत्त्व उनसे निकलते हैं, वैसे प्रकृति-नियमानुसार भिन्न-भिन्न स्थानों से आकर उनकी पूर्त्ति भी तो होती रहती है। अधिक व्यय होने पर तो वस्तु में जीर्णता आ ही जाती है। इस सबका विवरण यज्ञ-विज्ञान के प्रकरण में किया जायगा। जिस प्रकार की वेद-प्रक्रिया हम बताने लगे हैं, उसमें तो निकलने एवं न्यून होने का प्रश्न ही नहीं उठता। ऋक्, यजुः और साम तीनों वेद परस्पर सम्बद्ध रूप में ही रहते हैं। साम-मण्डल के अन्तर्गत यजुः ही देखने में वा फोटो, चित्र आदि में वा दूर से प्रभाव डालने आदि में कारण होता है। सब जगत् के प्राणभूत सूर्य को उदाहरण मानकर इन वेदों का विवरण शतपथब्राह्मण में (का० १०, आ० ५, ब्रा० २ के आरम्भ में) इस प्रकार मिलता है :

यदेतन्मण्डलं तपति, तन्महदुक्थम्, ता ऋचः स ऋचां लोकः। अथ यदेतदर्चिर्दीप्यते, तन्महाव्रतम्, तानि सामानि, स साम्नां लोकः। अथ य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः, सोऽग्निः, तानि यजूंषि, स यजुषां लोकः ॥१॥ सैषा त्रय्येव विद्या तपति। तद्धैतदप्यविद्वांस आहुः—त्रयी वा एषा विद्या तपति इति। वाग्घैव तत्पश्यन्ती वदति ॥२॥ य एष एव मृत्युः य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो अथैतदमृतम्—यदेतदर्चिर्दीप्यते, तस्मान्मृत्युर्न म्रियते, अमृते ह्यन्तः। तस्माद् न दृश्यते अमृते ह्यन्तः ।३॥ तदेष श्लोको भवति अन्तरं मृत्योरमृतमिति—अवरं ह्येतन्मृत्योरमृतम्। मृत्यावमृतमहितमिति—एतस्मिन्पुरुषे एतन्मण्डलं प्रतिष्ठितं तपति। मृत्युर्विवस्वन्तं वस्ते इत्यसौ वा आदित्यो विवस्वान्, एष ह्यहोरात्रे विवस्ते। तमेष वस्ते, सर्वतो ह्यनेन परिवृतो मृत्योरात्मा विवस्वति इति एतस्मिन् हि मण्डले एतस्य पुरुषस्यात्मा एतदेष श्लोको भवति ॥४॥ तयोर्वा एतयोः, उभयोः, तस्य चार्चिष एतस्य च पुरुषस्य एतन्मण्डलं प्रतिष्ठा। इत्यादि।

शतपथब्राह्मण के उपर्युक्त अंश का अर्थ इस प्रकार है :

"यह जो सूर्य का मण्डल तप रहा है, वह 'महदुक्थ' नाम से वेदों में परिभाषित है। यह ऋचा-रूप है (अनेक ऋचाओं का समूह है)। यही ऋचाओं का लोक, अर्थात् स्थान है।

यह जो प्रकाश फैल रहा है, या प्रदीप्त हो रहा है, वह 'महाव्रत' नाम से प्रसिद्ध है। ये ही साम कहे जाते हैं। यह (प्रकाश-मण्डल) सामों का लोक है। इस मण्डल के बीच में जो 'पुरुष', अर्थात् प्राणात्मा व्याप्त है, वह अग्नि है। ये ही 'यजुः' कहे जाते हैं, यह यजुः का लोक है। इस प्रकार, यह त्रयी विद्या, ऋक्, यजु और साम ही तप रहे हैं, किन्तु इस त्रयी विद्या, अर्थात् तीनों तत्त्वों को भिन्न-भिन्न कहनेवाले भी अविद्वान् हैं। यह एक ही 'वाक्' (प्राण के साथ चलनेवाला सूक्ष्म तत्त्व, जो पहले कहा जा चुका है) तीन रूपों से दिखाई देती हुई मानों बोल रही है—इसके आगे 'मृत्यु' और 'अमृत'-तत्त्व, जो हम पहले कह आये हैं, का भी स्पष्टीकरण है कि—मण्डल में जो पुरुष (प्राण-रूप अग्नि) है, वह मृत्यु, अर्थात् मृत्यु से आक्रान्त मर्त्य है। जो प्रकाश-रूप से प्राण (चितेनिधेय) फैल रहा है, वह अमृत है। इसी कारण मर्त्य-मण्डल मरता नहीं, अर्थात् नष्ट नहीं होता; क्योंकि वह अमृत के भीतर बैठा है। यही अमृत उसकी रक्षा कर रहा है। (प्राण के ही आधार पर वाक् जीवित रहती है। प्राण से ही उसका पोषण भी होता है, जैसा आगे स्पष्ट किया जायगा।) वह मर्त्य-मण्डल स्वतः हमें दिखाई भी नहीं देता; क्योंकि वह अमृत के अन्तर्गत, अर्थात् उससे आवृत है।" इससे स्पष्ट कर दिया गया कि मण्डल स्वतः दिखाई नहीं देता, उसके फैले हुए प्राण-रूप रश्मि-पुंज ही दिखाई दिया करते हैं। इस सारे विषय को हम एक प्राचीन मन्त्र-रूप श्लोक में भी देख सकते हैं। श्लोक इस प्रकार है :

अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्।
मृत्युर्विवस्वन्तं वस्ते मृत्योरात्मा विवस्वति॥

इसका व्याख्यान ब्राह्मण करता है कि अमृत मृत्यु से अन्तर है (अन्तर शब्द का अर्थ दूर भी होता है, वही अर्थ यहाँ अभिप्रेत है), अवर है, अर्थात् इधर हमारी ओर दूर तक फैला हुआ है। किन्तु, यह सम्पूर्ण प्रकाश-मण्डल उस मर्त्यरूप मूर्त्ति-मण्डल पर ही रखा हुआ है, अर्थात् उसके आधार पर ही प्रतिष्ठित है (मूर्त्ति के न रहने पर यह अमृत-प्रकाश-मण्डल कैसे रह सकता है? मूर्त्ति के स्थान से हट जाने पर प्रकाश-मण्डल भी स्थान से हट जायगा)। यह मूर्त्ति-मण्डल उसी के आधार पर वास कर रहा है। और, वह मूर्त्ति-रूप सूर्य-मण्डल अहोरात्रजनक इस प्रकाश-मण्डल को मानों पहने हुए है (जैसे हम लोग वस्त्र पहनते हैं), वैसे प्रकाश-मण्डल ने मूर्त्ति-मण्डल को पहन रखा है, अर्थात् प्रकाश-मण्डल मूर्त्ति का वस्त्रस्थानीय है। इस मृत्यु-मण्डल की आत्मा भी इस प्रकाश-मण्डल के केन्द्रभूत विवस्वान् नाम के प्राण पर ही प्रतिष्ठित है। यही श्लोक का आशय है। अतः, इन दोनों साम और यजुः की—प्रकाश-मण्डल और फैले हुए प्राण की—प्रतिष्ठा वह मूर्त्ति-मण्डल ही है। यह उक्त शतपथब्राह्मण का अनुवाद हुआ। यहाँ ऋक्, यजुः और साम शब्दों का विस्पष्ट विवरण, उनकी वाक्-प्राणरूपता और उनका अन्योन्य-सम्बन्ध स्पष्ट अक्षरों में बताया गया है। इसके आगे ब्राह्मण में, प्रक्रिया में और अध्यात्म में भी इन तीनों मण्डलों का विवरण है। इससे स्पष्ट सूचित कर दिया है कि वस्तु-मात्र में ये तीनों विराजमान हैं। और, इन तीनों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। एक के विना दूसरा नहीं रहता, तीनों नित्य सम्बद्ध

रहते हैं। आजकल के साइंटिस्ट महोदय 'प्रकाश' गणित का बहुत बड़ा विस्तार फैलाकर जो कहा करते हैं कि बहुत-से तारा-मण्डल इतनी दूर पर हैं कि उनका प्रकाश यहाँ पहुँचने में सैकड़ों वर्ष लग जाते हैं, महाभारत-युद्ध के समय जो नक्षत्र हमारे आकाश-मण्डल में आया था, उसका प्रकाश अब हमारे पास पहुँचा है। वह तारा अब न मालूम कहाँ है— सम्भव है, नष्ट भी हो गया हो, किन्तु हम उसे प्रकाश के आधार पर आज देख रहे हैं, यह सब उनकी एक रोचक कल्पना-मात्र है। किन्तु, वैदिक विज्ञान से वह विरुद्ध है; क्योंकि ऋक् और साम, अर्थात् मण्डल और प्रकाश वैदिक विज्ञान की दृष्टि में नित्य-सम्बद्ध हैं। 'ऋच्यध्यूढं साम' साम-मण्डल ऋक् के ही आधार पर ठहरा है, मण्डल (मूर्त्ति) यदि नष्ट हो जाय, तो साम (प्रकाश-मण्डल) रह नहीं सकता।

यह 'वितान-वेद' का संक्षिप्त वर्णन हुआ। दूसरे छन्दों का निरूपण करते हुए श्रुतियों में यह भी समझाया गया है कि आकार-बद्ध वह मूर्त्ति-पिण्ड भी साम-मण्डल की सीमा तक (प्रकाश की अन्तिम परिधि तक) फैला हुआ है। परिच्छेद—सन्निवेश वा मर्यादाबद्ध आकार का ही नाम वैदिक परिभाषा में छन्द है। बिना ऋचा के साम रह ही नहीं सकता, इसलिए साम के साथ संनिवेश-बद्ध मूर्त्ति भी चारों ओर फैलती है। वह स्वयं मर्त्य (गतिशून्य) है, किन्तु अमृत-प्राण उसे ले आता है। जैसा 'मृत्युर्विवस्वन्तं वस्ते', इस उक्त श्रुति में स्पष्ट किया गया है कि 'मृत्यु विवस्वान् मण्डल-प्राण को पहने हुए है'। वह अमृत मण्डल-प्राण उसे भी खींच ले जाता है। यही कारण है कि मूर्त्ति का पूरा सन्निवेश— जैसा का तैसा, उसके विशेष चिह्नों-सहित हम देखा करते हैं। इतना अवश्य है कि अमृत-प्राण की गति सूचीमुख के रूप में तिरछी (तिर्यग्) होती है, अर्थात् आगे-आगे सूक्ष्म होती जाती है।

प्रत्येक मूर्त्ति के व्यास के दोनों ओरवाले बिन्दु ही छन्द हैं। उसी मर्यादा के भीतर वह मूर्त्तिपिण्ड बँधा हुआ है। कहा जा चुका है कि प्रत्येक मूर्त्ति अग्नि-रूप है, वह चित्याग्नि है, वाक् भी उसे कहते हैं। उसका एक केन्द्र-बिन्दु है, जो प्रजापति का स्थान माना जाता है। उसी के आकर्षण में यह मूर्त्ति और इसका साम-मण्डल बद्ध हैं। अग्नि में स्वभावतः गति है, अतः मूर्त्ति का प्रत्येक परमाणु अमृत-प्राण के साथ बाहर की ओर चलता रहता है, किन्तु केन्द्र-बिन्दु स्थिर है, वह नहीं चलता। यदि वह चल जाय, तो वस्तु के स्वरूप का नाश ही हो जाय। तब विचार में लाइए कि केन्द्र-बिन्दु के दोनों ओर के दो बिन्दु तिर्यक् रूप में चले, वे दोनों एक-दूसरे की ओर तिर्यक् चलने के कारण तीसरे बिन्दु पर आकर परस्पर मिलकर एक हो गये, और अन्य अणु, जो क्रम से मूर्त्ति में से आ रहे हैं, उन सबके केन्द्र में बैठ गये। इनके तिर्यक् चलने से एक छोटा-सा त्रिभुज बना। इस त्रिभुज पर जो मुख्य मूर्त्ति से निकले हुए अणुओं की एक मूर्त्ति बनेगी, वह प्रधान मूर्त्ति से २ अणु छोटी होगी; क्योंकि प्रधान का केन्द्र-बिन्दु तो चला नहीं, और ओर-छोर के दो बिन्दु एक हो गये, तब दो की न्यूनता हो गई। अब यहाँ जो २ अणुओं के योग से एक अणु होकर इस मूर्त्ति का केन्द्र बन गया है, वह भी आगे न जायगा। और, उसके भी आस-पास के

बिन्दु दूसरा त्रिभुज बनाकर आगे एक होकर तीसरी मूर्त्ति के केन्द्र बनेंगे। वह तीसरी मूर्त्ति दूसरी मूर्त्ति से भी दो अणु न्यून होगी, ऐसे अनन्त त्रिभुज चारों ओर बनते जायेंगे, और आगे-आगे फैलनेवाली मूर्त्तियाँ क्रम से छोटी होती जायेंगी। अणु जैसा सूक्ष्म भाग दृष्टि से पकड़ा नहीं जा सकता, इसलिए थोड़ी दूर तो यह न्यूनता प्रतीत नहीं होती, किन्तु आगे चलकर मूर्त्ति छोटी दिखाई देने लगती है। यही कारण है कि दूर के पर्वत, वृक्ष आदि हमें छोटे दिखाई देते हैं; क्योंकि उनकी मूर्त्ति जो हमारी आँख में आकर बनती है, वह पूर्वोक्त क्रम से छोटी होती-होती यहाँतक बहुत छोटी हो गई है। दूर-दूर के सूर्य-चन्द्र-तारा आदि तो यहाँतक पहुँचने में बहुत ही छोटे हो जाते हैं। इसलिए, उनके अतिविशाल आकार को भी हमारी दृष्टि बहुत छोटा देखती है। यों चलते-चलते दृश्यता की अन्तिम परिधि पर जाकर वह पिण्डमूर्त्ति अणुमात्र रह जायगी और केवल एक बिन्दु आगे चल नहीं सकता, इसलिए उससे आगे वस्तु का स्वरूप दिखाई नहीं देगा। इस क्रम में अपने स्थान पर स्थित मुख्य मूर्त्ति को 'ऋक्', अन्तिम परिधि पर चारों ओर बनी हुई अतिसूक्ष्म मूर्त्तियों को 'साम' और मध्य के अनन्त त्रिभुजों पर विराजमान मूर्त्तियों को और उनमें व्याप्त वाक् वा अग्नि-रस को 'यजुः' कहा जाता है। असली 'ऋक्' हमें कभी नहीं दिखाई दे सकती; क्योंकि हमारी दृष्टि में और उसमें कुछ अन्तर तो अवश्य रहेगा। इसी प्रकार 'साम' की अणु-रूप मूर्त्तियाँ भी दृष्टि में नहीं आ सकतीं। तब केवल यजुः, अर्थात् मध्य की मूर्त्तियों को ही हम देखा करते हैं। यजुः, अर्थात् मध्यमूर्त्तियों को ही देखने का हमारी दृष्टि का स्वभाव हो गया है, इसलिए जो ऋक् हमारी दृष्टि पर भी आ जाय, वह भी हमें दिखाई नहीं देती, जैसे, आँख में लगाये हुए अंजन की श्यामता वा श्वेतता हमें दिखाई नहीं देती,। इसीलिए, 'सांख्यकारिका' में जहाँ न दीखने के कारणों का विवरण है: "अतिदूरात् सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोनवस्थानात् सौक्ष्म्याद् व्यवधानादभिभवात् समानाभिहाराच्च।" [अर्थात् अत्यन्त दूर से, अत्यन्त समीप से, नेत्र-इन्द्रिय में विकार हो जाने पर, मन के चक्षु के साथ न रहने पर, दृश्य वस्तु के सूक्ष्म होने पर, दृश्य वस्तु के और चक्षु के मध्य में किसी ठोस वस्तु के व्यवधान हो जाने पर, दृश्य वस्तु के किसी प्रबल अन्य विषय से दब जाने पर, (जैसे सूर्य प्रकाश से दबे हुए चन्द्रमा की चाँदनी नहीं दिखाई देती) और अपनी समान वस्तु से मिल जाने पर (जैसे दो दीपकों का प्रकाश एक स्थान में भिन्न-भिन्न दिखाई नहीं देता) विद्यमान वस्तु भी आँख से दिखाई नहीं देती]—वहाँ दूरता की तरह अतिसमीपता को भी न दीखने का कारण बताया गया है। अस्तु, हमारी आँख दो हैं। उन दोनों पर बाहर की वस्तुओं की किरणें आती हैं, तो वस्तु दो दिखाई देनी चाहिए थीं, किन्तु उन चक्षुओं की धारा भीतर मस्तिष्क की ओर जाकर तिर्यक् रूप में त्रिभुज बनाती हुई एक हो गई है, जैसा पहले विवृत किया जा चुका है। इसलिए, मस्तिष्क में होनेवाला प्रकाश एक ही होता है। दो वस्तु नहीं दिखाई देतीं। जैसे सब वस्तुओं में से प्राणरूप किरण चारों ओर फैलती हैं, वैसे ही हमारी चक्षु भी एक वस्तु है, उसकी भी किरणें अवश्य ही भीतर और बाहर जाती हैं। भीतर जाने के कारण तो वस्तु के भिन्न-भिन्न दो द्वारों से आई किरणें भी एक हुईं, यह बताया गया है। और, बाहर जाने के कारण उनका

मध्य के अल्प वा अधिक जितने पदार्थों से सम्बन्ध होता है, उसके ही आधार पर हम वस्तु की समीपता वा दूरता का ज्ञान प्राप्त किया करते हैं। कहा जा चुका है कि मध्य के पदार्थों की अल्पता ही समीपता और उनकी अधिकता ही दूरता कही जाती है। बाहर की वस्तुओं की आँख पर आई किरणें भी टकराकर चक्षु की किरणों के साथ ही पुनः बाहर लौट जाती हैं। दोनों आँखों की बाहर जाती हुई किरणों की तिर्यग्गति के कारण वे त्रिभुज बनाकर पूर्वोक्त रीति से मिल जाती हैं—इसलिए एकरूप होकर ही आगे फैलती हैं। किन्तु, जब आँख में कोई विकार होने के कारण किरणों की गति में विषमता आ जाय, वा जब एक आँख को हाथ से दबाकर हम टेढ़ा कर दें, तब प्राकृतिक सूत्र का विच्छेद हो जाने के कारण दोनो आँखों की किरणें परस्पर मिलती नहीं। भीतर भी उनका सूत्र एक नहीं होता, इसलिए वास्तु दो दिखाई देने लगती हैं, और बाहर जाती हुई आँखों की किरणों के साथ लौटनेवाली वस्तुओं की किरणें भी पृथक्-पृथक् दो सूत्रों पर जाती हैं, इसलिए उनके आधार पर, जिस सूत्र पर दबाई हुई आँख की किरणें गई हैं, उस सूत्र पर हम दूसरी वस्तु देखते हैं। यद्यपि उस बिन्दु पर वस्तु नहीं होती, कुछ हटकर होती है, किन्तु किरणों की वक्रता (टेढ़ापन) उसे अपने स्थान से हटकर दीखने की घटना करा देती है। पूर्वोक्त वैदिक परिभाषा के अनुसार यों समझिए कि साम-मण्डल तक प्रत्येक त्रिभुज पर ऋक् फैली हुई है, उनमें से एक स्थान की ऋक् का सम्बन्ध एक चक्षु से होता है, और सूत्र टेढ़ा हो जाने के कारण दूसरे स्थान की ऋक् का सम्बन्ध दूसरी चक्षु से हो जाता है, इसलिए भिन्न-भिन्न स्थानों पर दो वस्तुएँ दिखाई दे जाती हैं। कदाचित् शंका हो कि फिर यह दो वस्तुओं का ज्ञान भ्रम नहीं कहलायगा, यह तो यथार्थ ज्ञान ही हुआ, तो इसका समाधान है कि उन वस्तुओं में द्वित्व-प्रतीति ही भ्रम है। वे एक ऋक् से निकलती हैं, और एक साम-मण्डल में स्थित हैं, इसलिए एकता का ही ज्ञान उनमें यथार्थ है। उन्हें दो समझ लेना ही भ्रम कहलाता है। अस्तु;

वर्त्तमान पाश्चात्य साइंस, दूर की वस्तु छोटी क्यों दिखाई देती है, इसकी ठीक उपपत्ति नहीं बता सकता। पहिले साइंटिस्टों की कल्पना थी कि भूमि के गोल होने के कारण ऐसी घटना होती है, जैसे समुद्र में आते हुए जहाज का ऊपर का शिखर ही बहुत दूर से हमें दिखाई देता है, शेष नीचे का भाग भूमि की गोलाई के कारण समतल में न होने से (नीचे रहने से) हमारी आँख पर नहीं आता। इसी प्रकार, सभी दूर की वस्तुओं के कुछ भाग ही आँख पर आते है, शेष भाग भूमि की गोलाई के कारण आँख के सूत्र पर न होने से आँख पर नहीं आते। इसलिए, पूरी वस्तु न दीखने से छोटी दिखाई देती है। किन्तु, यह कल्पना निरी उपहासास्पद है। जहाँतक भूमि का सम धरातल स्पष्ट दिखाई देता है, उसके अन्तर्गत भी वस्तु छोटी दीखती है। तब वहाँ भूमि की गोलाई का प्रभाव कैसे माना जाय? दूसरी बात यह कि पर्वत आदि का कोई उच्च भाग हमें दिखाई दे, और कोई नीचे का भाग नहीं दिखाई दे, वहाँ यह कल्पना चल सकती है। किन्तु, नीचे से ऊपर तक सम्पूर्ण पर्वत दिखाई दे रहा हो, और उसके सभी भाग छोटे दिखाई देते हों, वहाँ गोलाई क्या करेगी?

गोलाई किसी भाग को ढक सकती है, छोटा नहीं बना सकती। इसके अतिरिक्त, भूमि के पदार्थों में यह मनमानी कल्पना चलाइए। सूर्य, चन्द्रमा, तारा आदि जो छोटे दिखाई देते हैं, उनमें भूमि की गोलाई कैसे प्रभाव डालेगी ? इसलिए, वैदिक विज्ञान के 'छन्दोवेद' के प्रदर्शित प्रकार के अनुसार ही वस्तु के छोटी वा स्थानभ्रष्ट दीखने की उपपत्ति हो सकती है। और कल्पनाएँ निरी अटकल पर हैं, जो ठीक उतरती नहीं। इस प्रकार, 'वितान-वेद' और 'छन्दोवेद' से यह सिद्ध हुआ प्रत्येक वस्तु का हम तक प्राप्त होना और उसका ज्ञान होना 'वेद' से ही सम्भव है। इसलिए, विद् धातु के ज्ञान और लाभ (प्राप्ति) इन दोनों अर्थों का समन्वय घटित हो गया।

पूर्वोक्त शतपथब्राह्मण के पाठ में 'महोक्थ' और 'महाव्रत' शब्द और आये हैं। इनका सम्बन्ध 'रसवेद' से है। इसमें यह बताया जाता है कि प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति और स्थिति भी वेद के आधार पर ही है। हम पूर्व दो-एक जगह संक्षिप्त संकेत कर चुके हैं, और आगे 'यज्ञ-प्रकरण' में विशेष रूप से स्पष्ट करना है कि जड-चेतनात्मक प्रत्येक वस्तु से कुछ अंश (प्राण और वाक्) निकलते रहते हैं, और उनकी पूर्ति के लिए कुछ अंश बाहर से आते भी रहते हैं। ये आने और जानेवाले तत्त्व अग्नि नाम से वैदिक परिभाषा में कहे जाते हैं; क्योंकि अग्नि शब्द इस परिभाषा में प्राण का वाचक है, और प्राण-तत्त्व का ही आवागमन होता है। वाक् का अंश तो प्राण के साथ चला जाता वा आ जाता है, वह स्वतन्त्र नहीं। किन्तु, उस वाक् के अंश के कारण अग्नि के दो रूप हो जाते हैं—एक अग्नि और दूसरा सोम। 'अग्नीषोमात्मकं जगत्', यह श्रुति का सिद्धान्त है। वाक् के अंश की प्रधानता हो जाने पर 'सोम' नाम पड़ता है और प्राण की प्रधानता में 'अग्नि' नाम व्यवहृत है। यों प्राण की भी दो जातियाँ मान ली जाती हैं—आग्नेय प्राण और सौम्य प्राण। प्रत्येक पदार्थ में बाहर से सोम वा सौम्य प्राण ही आते हैं; क्योंकि सोम सर्वत्र व्यापक है, और वह अग्नि के द्वारा आकृष्ट होता है। अग्नि उसे अपनी ओर खींचकर अपने रूप में परिणत कर देता है, फिर सोम अग्नि-रूप ही हो गया और अग्नि-तत्त्व के रूप में ही निकलता है। आगे के आकर्षण से बाहर जाकर फिर वह अपने घन में मिलकर, सोम-रूप हो जाता है। इस तरह ये दोनों तत्त्व आपस में बदलते रहते हैं, इससे सिद्ध है कि मूलतः दोनों एक ही हैं, अवस्थाभेद-मात्र है। संसार में जिन पदार्थों में आर्द्रता वा चिकनापन देखा जाय, उनमें सोम की अधिकता समझनी चाहिए, और जिनमें रूक्षता वा तीक्ष्णता (तेजी) देखी जाय, उनमें अग्नि की अधिकता जाननी चाहिए। सोम कहाँ-कहाँ विशेष मात्रा में रहता है, वे पदार्थ वेद-मन्त्र में गिन दिये गये हैं :

त्वमिमा ओषधीः सोम विश्वास्त्वमपो अजनयंस्त्वं गाः।
त्वमा ततन्थोर्वन्तरिक्षं त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ ॥

(ऋ० सं०, १।९१।२२)

हे सोम ! तुमने इन सब ओषधियों को उत्पन्न किया है, अर्थात् ओषधियों में तुम विशेष रूप से रहते हो। संस्कृत-भाषा में ओषधि उन्हें कहा जाता है, जिनका पौधा शीघ्र

नष्ट होनेवाला हो, और फल देर तक ठहर सके—'ओषध्यः फलपाकान्ताः।' फलों के पकते ही उनका पौधा नष्ट हो जाता है—जैसे जौ, गेहूँ, चावल आदि। ये सब वस्तुएँ ओषधि कहलाती हैं। वनस्पति उन्हें कहते हैं जिनका पौधा चिरस्थायी हो, किन्तु फल जल्दी नष्ट हो जाय—जैसे आम, अमरूद, केला आदि फल। इनमें ओषधियों में सोम की प्रधानता रहती है, और वनस्पतियों में अग्नि की। सोम बल देता है, और अग्नि देता है बुद्धि। केवल फलाहारी पुरुषों में बुद्धि तीव्र होगी। बुद्धि में सात्त्विकता भी होगी, किन्तु शरीर में बल अल्प होता जायगा। चावल, गेहूँ, जौ आदि में सोम प्रधान है, इसलिए उनसे बल मिलता है। अस्तु; आगे मन्त्र में कहा है कि हे सोम! तुमने जल को उत्पन्न किया है और गौओं को भी तुमने ही उत्पन्न किया है। जल सोम का ही एक रूप है, उसमें सोम की मात्रा बहुत अधिक है, आर्द्रता और चिकनाई उसके प्रमुख धर्म हैं। तैल, घृत आदि में चिकनाई उसी के सम्बन्ध में होती है और गौ के दुग्ध, घृत, दधि आदि में विशेषता से सोम विराजमान है, अतएव ये सब बल और पुष्टि के देनेवाले हैं। मन्त्र के उत्तरार्द्ध में सोम की व्यापकता बताई गई है, कि हे सोम तुमने सम्पूर्ण अन्तरिक्ष आकाश-प्रदेश को विस्तृत या व्याप्त कर रखा है। तुम्हारे ही कारण आकाश इतना विस्तृत है। तुम सम्पूर्ण आकाश में फैले हुए हो। तुम ही प्रकाश द्वारा अन्धकार को हटाते हो। कहा जा चुका है कि अग्नि के आघात से सोम ही प्रज्वलित होकर प्रकाश करता है। अस्तु, सोम का परिचय देने को अप्रस्तुत विषय का हमने यहाँ विस्तार किया। तात्पर्य यही था कि प्रत्येक पदार्थ में बाहर से सोम आता है, और वह अग्नि-रूप होकर निकलता है। प्रकाशशील पदार्थों में यह बात प्रत्यक्ष देखी जाती है। तेल में जो सोम है, दीपक उसका ग्रहण करता है और उसे अग्निरूप बनाकर बाहर फेंकता रहता है। सूर्य के विषय में वर्त्तमान विज्ञानवेत्ता अन्वेषण कर बताते हैं कि करोड़ों मन प्रकाश और उष्णता सूर्य से निकलती रहती है, किन्तु उसकी पूर्त्ति कैसे होती है? जिस प्रकार दीपक जलानेवाला मनुष्य दीपक में तेल डालता है, उस प्रकार सूर्य में तेल कौन डालता है? साइंस इसका ठीक पता अभी तक नहीं दे सका। किन्तु, वैदिक विज्ञान इसका उद्घाटन करता है। वेद कहता है कि—'सोमेनादित्या बलिनः', अर्थात् 'सोम से ही आदित्य बलवान् हैं।' अन्तरिक्ष में चारों ओर व्याप्त अनन्त सोम को सूर्य-मण्डल का आदित्य-प्राण अपने आकर्षण से अपने भीतर लेता रहता है, और उसे अग्नि के रूप में बदलता हुआ समस्त ब्रह्माण्ड में फेंकता रहता है। यह सूर्य-मण्डल केवल दृष्टान्त-रूप है। जगत् के प्रत्येक पदार्थ में आवागमन-प्रक्रिया चलती रहती है। निकलनेवाले अग्नितत्त्व का नाम वैदिक परिभाषा में 'महोक्थ' है। 'उक्थ' शब्द 'उत्थ' से बना है। वह अपने स्थान से उठकर बाहर को चलता है, इसलिए उसे 'उत्थ' वा 'उक्थ' कहते हैं। प्रत्येक पदार्थ में छोटा-छोटा 'उक्थ' है। किन्तु, सूर्य-मण्डल का यह 'उक्थ' अति विशाल है, इसलिए उसे उक्त श्रुति में 'महोक्थ' (महान् उक्थ) कहा गया है। वह श्रुति सूर्य-मण्डल को ही दृष्टान्त बनाकर प्रवृत्त है। आनेवाले सोम-तत्त्व को यहाँ 'महाव्रत' कहते हैं। वैदिक परिभाषा में व्रत शब्द भोजन छोड़ने और भोजन लेने, दोनों अर्थों में प्रयुक्त है। व्याकरण के वार्त्तिककार ने भी लिखा है: 'व्रताद्भोजनतन्निवृत्त्योः', अर्थात् भोजन और भोजन-निवृत्ति

दोनों अर्थों में व्रत शब्द से 'णिच्' प्रत्यय का विधान है। इससे 'व्रत' शब्द के दोनों अर्थ सिद्ध हैं। यज्ञ में दीक्षित यजमान जो भोजन करता है, उसका 'व्रत' शब्द से ही व्यवहार होता है। यह बाहर से आनेवाला पदार्थ प्रत्येक वस्तु का भोजन बनकर उसे पुष्ट करता है। हम जो भोजन करते हैं, वह हमारे शरीर में प्रकृति द्वारा (पदार्थों के बाहर निकलने के द्वारा), जो न्यूनता आई है, उसकी पूर्त्ति कर देता है। इसी तरह प्रत्येक पदार्थ में होनेवाली न्यूनता की पूर्त्ति बाहर से आनेवाले सोम से होती है। अतः, उसे 'महाव्रत' नाम दिया गया। प्रत्येक पदार्थ में व्रत है, सूर्य में महाव्रत है। उठकर बाहर निकलनेवाला अग्नि नाम का प्राण-तत्त्व मूर्त्ति-मण्डल का ही अंश है। अबतक जो मूर्त्ति में आत्मसात् होकर उसका स्वरूप-भूत था, वही उठकर बाहर निकलता है, इसलिए उसे 'ऋक्' बतलाया गया है। परिधि, अर्थात् व्याप्ति की अन्तिम सीमा पर जाकर वही, अग्नि-मण्डल का आकर्षण हट जाने के कारण, प्रकृति के व्यापक सोम में मिलकर सोम-रूप हो जाता है, इसलिए श्रुति ने फैली हुई अर्चि को महाव्रत का जनक होने से 'महाव्रत' बतलाया और उसे 'साम' कहा है। छान्दोग्य-उपनिषद् में साम का निर्वचन अनेक प्रकार से करते हुए बतलाया है कि साम के अनेक 'प्रस्ताव' होते हैं तथा 'निधन' एक ही होता है। जहाँ से चलता हो, उसे प्रस्ताव कहते हैं और जहाँ जाकर समाप्त होता हो, उसे निधन कहा जाता है। तात्पर्य यह कि साम अनेक स्थानों से चलता है और एक स्थान पर आकर समाप्त होता है। यह लक्षण भी आगन्तुक सोम में घटित हो जाता है। कारण यह कि फैला हुआ सोम अनेक बिन्दुओं से आता है और एक ऋक्-पिण्ड पर या उसके केन्द्र-बिन्दु पर समाप्त हो जाता है। इस प्रकार, आवा-गमन रहने पर भी वस्तु सर्वथा उच्छिन्न नहीं होती। 'वही वस्तु है'—ऐसी प्रत्यभिज्ञा बनी रहती है। वह स्थिर रहनेवाली वस्तु अग्नि ही है। इसलिए, उसको श्रुति में अग्नि नाम से ही कहा है और उसे यजुः बतलाया है। ये हैं 'रसवेद'। सम्पूर्ण जगत् के मूलतत्त्व का नाम रस है। 'रसो वै सः', परब्रह्म रसरूप ही है। उससे सम्बन्ध रखने के कारण इन्हें रस कहा और सत्ता-साधन होने के कारण वेद।

इसी आवागमन-प्रक्रिया से प्रत्येक वस्तु-पिण्ड बनता है। इसी आधार पर स्थित रहता है। अतएव, इसका रसवेद नाम सार्थक है। जैनदर्शन में भी सत्ता का लक्षण यही मिलता है : 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्', अर्थात् जिसमें नये-नये अवयव उत्पन्न होते रहें (बाहर से तत्त्व आकर वस्तु-स्वरूप का निर्माण करते रहें), व्यय भी होता रहे (कोई अंश निकलता भी रहे) और यह सब होते हुए ध्रुवत्व (स्थिरता) भी रहे, वही सत् कहलाता है। इसी उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का नाम सत्ता है। इस प्रकार, 'विद्' धातु का सत्ता अर्थ भी वेद-शब्दार्थ में सुसंगत हुआ। इन सब बातों पर गम्भीर दृष्टि डालकर ही भगवान् पाणिनि ने 'विद्' धातु के अर्थों का निर्देश किया है। 'विद् विचारणे' में विचारण का अर्थ विशेष रूप से चारण अथवा चरण (चलना-फिरना) कर लें, तो वेद की उक्त समस्त प्रक्रिया का उस अर्थ में समावेश हो जायगा। इन्हीं विचारों से मुनियों तथा आचार्यों की व्यापक गम्भीर दृष्टि का पता चलता है। भगवान् पाणिनि का व्याकरण एक गम्भीर वैदिक

दर्शन है । वे अपने धातुओं के अर्थ-निर्देश से ही समझा देते हैं कि कोई वस्तु नई पैदा नहीं होती, न किसी वस्तु का सर्वथा नाश होता है। किन्तु. प्रकट हो जाने का नाम ही जनन या उत्पत्ति है तथा तिरोहित हो जाने या न दिखाई देने का नाम ही विनाश है। देखिए उनका धातुपाठ—'जनी प्रादुर्भावे' (प्रादुर्भाव—प्रकटता अर्थ को ही जन् धातु बताता है।) 'णश् अदर्शने' (न दिखाई देने के अर्थ में नश् धातु का प्रयोग है)। 'अदर्शनं लोपः' सूत्र भी इस दार्शनिक सिद्धान्त का निर्देश कर रहा है। अस्तु; भारतीय संस्कृति की गम्भीरता का दिग्दर्शन कराने को हम इन विषयों का संक्षिप्त निर्देश करते चलते हैं। फिर, प्रकृत वेद शब्दार्थ के विषय पर आइए।

कहा जा चुका है कि ऋक् और साम केवल मर्यादा बाँधनेवाले हैं। इसलिए, वितान-वेद और छन्द-वेद में इन्हें छन्द ही कहते हैं। छन्द का अर्थ मर्यादा (हदबन्दी) है। रस-वेद में भी उन्हें यजुः का अश्व या वाहन बतलाया है (शतपथब्राह्मण, काण्ड १०)। क्योंकि, आवागमन तो अग्नि का होता है। उसके आने और जाने की प्रक्रिया ही ऋक् और साम है। मूल तत्त्व वाक्-रूप या अग्नि-रूप यजुः ही है। वह सर्वत्र ऋक् से साम-मण्डल तक फैला हुआ है। ग्रन्थ-रूप वेदों में भी विज्ञान के अनुसार यही प्रक्रिया रखी गई है—ऋक् पद्य-रूप, अर्थात् वाक्यों को नियत मर्यादा में रखनेवाली होती है। साम भी वाक्यों को नियत मर्यादा में बाँधे रहता है। किन्तु वह गेय रूप है—उसका गान होता है, इसलिए गान में विननन होकर वह ऋक् की अपेक्षा बहुत विस्तृत हो जाता है। यजुः गद्य-रूप प्रकीर्ण फैला हुआ है। उसके पद या वाक्य किसी नियत मर्यादा से सम्बद्ध नहीं हैं। किन्तु, यज्ञ का आहुति-प्रदान-रूप मुख्य कार्य यजुः से ही होता है।

प्रकृत वैज्ञानिक क्रम में भी कार्योत्पादक यजुः ही है। उससे ही अन्यान्य तत्त्वों की सृष्टि होती है। शतपथब्राह्मण(का० १०; अ० ३ के ब्रा० ५, क० १, २) में यजुः की सृष्टि-जनकता का विवरण करते हुए कहा है कि—

अयं वाव यजुर्योऽयं पवते, एष हि यन्नेवेदं सर्वं जनयति, एतं यन्तमिदमनुप्रजायते। तस्माद्वायुरेव यजुः। अयमेवाकाशो जूः। यदिदमन्तरिक्षम्। एतं ह्याकाशमनुजवते। तदेतद्यजुर्वायुश्चान्तरिक्षं च। यच्च जूश्च। तस्माद्यजुरेष एव ह्येति। तदेतद्यजुर्ऋक्सामयोः प्रतिष्ठितम्। ऋक्सामे वहतः।

यहाँ यत् और जू इन दोनों शब्दों ('यज्जूः') से यजुः बना है। यत् शब्द का अर्थ है चलता हुआ—गतिशील। और 'जूः' शब्द का अर्थ है—स्थिर। इसलिए, यत् शब्द से वायु, और जू शब्द से आकाश गृहीत है। वायु और आकाश का सम्मिलित रूप 'यजुः' कहलाता है। यह 'यजुः' गतिशील होने के कारण सबको उत्पन्न करता है और आकाश में स्थिति-शक्ति होने के कारण वह सबको प्रतिष्ठित रखता है। महोक्थ और महाव्रत की पूर्वोक्त आवागमन-प्रक्रिया में आने-जानेवाला यह यजुः ही है। अतः, यजुः, ऋक् और साम पर प्रतिष्ठित है। ऋक् और साम इसका वहन करते हैं, अर्थात् बाहर निकालते और भीतर

प्रवेश कराते हैं। इसीलिए, 'त्रयी', अर्थात् तीनों वेद ही सबके उत्पादक और प्रतिष्ठापक हैं। यही उक्त श्रुति का आशय है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि ये 'वायु' एवं 'आकाश', पंचभूतों के अन्तर्गत 'वायु' तथा 'आकाश' नहीं हैं; क्योंकि भूत तो बहुत पीछे उत्पन्न होते हैं। वेद तो प्राण-रूप हैं, अतः उनके बहुत पूर्व की अवस्था हैं। वेदों से आगे भूतों की उत्पत्ति होती है, मध्य में कई प्रकार के क्रम हैं। अतएव, अन्यत्र श्रुतियों में इस 'यजुः' को अग्नि-रूप भी कहा जाता है :

अग्निर्जागार तमृचः कामयन्तेऽग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति।
अग्निर्जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः॥

(ऋक्, ५।४५।१५)

अर्थात्, अग्नि जाग रहा है। ऋचाएँ उसी की कामना करती हैं, अर्थात् उसी में रहती हैं। साम भी उसमें प्राप्त होते हैं। उसी जागते हुए अग्नि से सोम कहता है कि 'मैं तुम्हारी मित्रता में हूँ, किन्तु तुमसे छोटी श्रेणी का हूँ।' यहाँ ऋक्-साम के प्रसंगवश अग्नि पद से यजुः ही लिया जाता है। यजुः को अग्नि-रूप पूर्वोक्त शतपथ-श्रुति में भी कहा गया है। और, अग्नि नाम प्राण का है—यह हम अनेक बार कह चुके हैं।

आश्चर्य के साथ देखा जाता है कि आधुनिक विज्ञान 'साइंस' में इस प्रकरण का स्पष्ट प्रतिबिम्ब आ गया है। साइंस पहले ऑक्सीजन, हाइड्रोजन आदि को मौलिक तत्त्व मानता था, इनका परस्पर परिवर्त्तन नहीं हो सकता, यह उसकी घोषणा थी। किन्तु, खोज करते-करते यह अब इस तथ्य तक पहुँच गया है कि इन 'ऑक्सीजन' आदि का परस्पर परिवर्त्तन होता है, इसलिए ये मौलिक तत्त्व नहीं है। मौलिक तत्त्व केवल दो ही हैं : १. इलैक्ट्रोन, २. प्रोटोन। इनमें 'प्रोटोन' स्थिर है और 'इलैक्ट्रोन' चारों ओर घूमता है, उन दोनों से ही सब तत्त्व बने हैं। इस प्रकार, गतिशील और स्थितिशील पदार्थों से जगत् की उत्पत्ति, आज का विज्ञान भी मानता है, किन्तु हमारे यहाँ हजारों वर्ष पूर्व के ब्राह्मण-ग्रन्थ में स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा है। फिर भी, स्मरण रखना चाहिए कि पाश्चात्य 'साइंस' की खोज अभी भौतिक तत्त्वों तक ही सीमित है, किन्तु वैदिक विज्ञान इससे कई श्रेणी ऊपर आप को ले जाता है, जैसा कि आगे स्पष्ट हो जायगा। अस्तु;

तीन प्रकार के वेदों का यह संक्षिप्त विवरण हुआ। इन वेदों का स्फुट प्रादुर्भाव 'आदित्य' में होता है। और, 'आदित्य' की मुख्य शक्ति का नाम 'गायत्री' है। यही कारण है कि गायत्री वेदों की माता कही गई है, एवं ये वेद 'गायत्रीमातृक' कहलाते हैं। इनसे भी उच्च श्रेणी के पुरुष-तत्त्व और जगत्कारण 'ब्रह्म' को भी 'वेद' नाम से श्रुतियों में कहा गया है। आगे पुरुषविज्ञान में कहा जायगा कि अव्यय पुरुष की कलाएँ मन, प्राण और वाक् ही सब सृष्टि के मूल-तत्त्व हैं। इनका विशेष विवरण तो उसी प्रकरण में होगा, यहाँ वेद के प्रसंग से इतना कह देना आवश्यक है कि इनमें से वाक् को ऋग्वेद, प्राण को यजुर्वेद, और मन को सामवेद, श्रुतियों में कहा गया है। कहा जा चुका है कि भूतों का आदिम

सूक्ष्म भाग ही वाक् है, उससे ही सब पदार्थ बनते हैं। उसी वाक् के भेद ऋक्, साम और यजुः हैं। इसीलिए श्रुति में यह कहा गया है कि—

ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्त्तिमाहुः
सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत्,
सर्वं तेजः सामरूप्यं हि शश्वत्
सर्वं हीदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम् ॥

(तैत्तिरीय ब्राह्मण, २।१२)

(सब मूर्त्तियाँ ऋक् से ही उत्पन्न हुई हैं। संसार में गति, अर्थात् क्रियाएँ जितनी हैं, वे सदा यजुः से उत्पन्न हैं और जितने तेज हैं, वे साम के रूप हैं, इस प्रकार ब्रह्म, अर्थात् वेद से ही सब कुछ की सृष्टि हुई है।) ब्रह्म नाम वेद का है, यह आरम्भ में ही स्पष्ट कह चुके हैं। ऋक् को यहाँ मूर्त्तिरूप पिण्ड की उत्पत्ति बताना ऋक् को वाक् का रूप सिद्ध करता है; क्योंकि वाक् से ही सब मूर्त्ति और पिण्ड बनते हैं। गति, अर्थात् क्रिया, का मूल कारण यजु है, उसकी प्राणरूपता इससे सिद्ध हुई। क्योंकि, सम्पूर्ण क्रियाओं का मूलकारण प्राण ही है। तेज शब्द से यहाँ रूप विवक्षित है, दर्शनशास्त्रों के अनुसार भी रूप तेज का ही मुख्य गुण है। उस रूप का ही वितनन और विस्तार होता है, उस बिस्तार का कारण मनस्तत्त्व है। वह साम-रूप बताया गया है। तात्पर्य यह कि दृश्य जगत् को तीन ही रूपों में बाँटा जा सकता है—कर्म, रूप और नाम। नाम और मूर्त्ति का अभेद है, इसलिए नाम शब्द से भी मूर्त्ति का ही बोध होता है। इनके मूल कारण हैं क्रमशः—वाक्, प्राण, और मन। इनको ही उक्त श्रुति में ऋक्, यजुः और साम कहा गया है। ये मन, प्राण, वाक्-रूप तीनों वेद, ब्रह्मरूप ही कहलाते हैं। ब्रह्म शब्द से भी इनका श्रुति में व्यवहार है। इनका उद्भव सर्वप्रथम सत्यलोक और स्वयम्भू-मण्डल में ही हो जाता है। यहाँ से सर्वत्र इनका प्रसार होता है। आगे सूर्य-मण्डल में इनका स्फुट प्रादुर्भाव होता है, जैसा पहले ही कह चुके हैं। वहाँ ये वेद गायत्रीमातृक हो जाते हैं। शतपथब्राह्मण की पुरश्चरण श्रुति[1] (४।६।७।१-५) में कहा गया है कि ऋक्, यजुः, साम नाम की जो तीन विद्याएँ हैं, उनमें यह पृथ्वी ऋक् है, अन्तरिक्ष यजुः है, और द्युलोक साम है। यह वाक् की एक साहस्री है। द्वितीय सहस्र विष्णु है और तृतीय इन्द्र। ऋक् और साम इन्द्र हैं, और यजुः विष्णु हैं। ऋक् और साम वाक् हैं, यजुः मन है आदि। विचार करने पर इसका भी आशय पूर्वोक्त प्रकरणों से मिल जाता है। हमारी इस पृथ्वी के प्राण-रूप अग्नि की व्याप्ति सूर्य-मण्डल तक है। इसीलिए, इसका साम 'रथन्तर साम' के नाम से व्यवहृत हुआ है। पृथ्वी का साम सूर्य के रथ का तरण करता है, अर्थात् सूर्य के प्रकाश-मण्डल को पारकर विम्ब

१. त्रयी वै विद्या ऋचो यजूंषि सामानि। इयमेवर्चो स्यां ह्यर्चति। योऽर्चति स वागेवर्चा वाचा ह्यवति। योऽर्चति सोऽन्तरिक्षमेव यजूंषि। द्यौः सामानि। सैषा त्रयी विद्या सौम्येऽध्वरे प्रयुज्यते ॥ १ ॥............तद्वा एतद् सहस्रं वाचः प्रजातम्। द्वे इन्द्रस्तृतीयं विष्णुः। ऋचश्च सामानि चेन्द्रो यजूंषि विष्णुः ॥ ३ ॥ इत्यादि।

तक पहुँचता है। वहाँतक पृथ्वी का दर्शन हो सकता है। यदि सूर्यमण्डल पर स्थित होकर कोई पृथ्वी को देखे तो, एक छोटे-से बिन्दु के रूप में यह दिखाई देगी, उससे आगे न दिखाई पड़ेगी। सूर्यमण्डल का साम, बृहत्साम कहलाता है, वह बहुत बड़ा है, पृथ्वी का साम उसके पेट के अन्दर आ जाता है। अस्तु; इस प्रकार से पृथिवी-मण्डल को लक्ष्य रखकर वेदों का यदि विचार करें, तो पृथिवी ऋक् है और द्युलोक, जो सूर्यमण्डल का स्थान है, वह साम है। मध्य में जहाँ पृथिवी का रस-रूप प्राण फैला हुआ है, वह अन्तरिक्ष, यजुः नाम से कहा गया है। इस व्याप्ति को सहस्र और साहस्री के नाम से ही श्रुति में कहा जाता है, तो यह पूर्वोक्त पृथिवी से द्युलोक तक पृथिवी के देवता अग्नि की एक साहस्री हुई। इसी प्रकार, अन्तरिक्ष के देवता इन्द्र वा विद्युत् की भी व्याप्ति होकर साहस्री बनती है और आदित्य-मण्डल के प्राण 'विष्णु'-प्राण की भी साहस्री होती है। इसके अनन्तर जो वाक्, प्राण और मन-रूप वेद हमने अभी बताये हैं, उनकी दृष्टि से उक्त श्रुति में कहा गया है कि ऋक् और साम वाक्-रूप होने से इन्द्र हैं—वाक् ऐन्द्री ही कही जाती है। इन्द्र उसका अधिष्ठाता है और यजुः विष्णु है, वह मन है। अन्यत्र श्रुतियों में ऋक् को वाक्, प्राण को यजुः और मन को साम कहा है। किन्तु, यहाँ यह आशय रखा गया है कि प्राण और वाक्, एक ही रूप हैं, प्राण ही चयन के द्वारा वाक्-रूप में परिणत होता है। प्राण इन्द्र है, यह आगे ऋषि-विवेचन में स्पष्ट किया जायगा। ऋक् और साम, पूर्वोक्त रीति से प्राण से संकलित वाक्-रूप हैं। अतः, दोनों को यहाँ वाक्-रूप और इन्द्र रूप बताते हुए, प्राणाधिष्ठित वाक् का ही रूप बताया गया है। मन, इन दोनों का जनक, मुख्य तत्त्व है, यह आगे अव्ययपुरुष के विवरण में स्पष्ट होगा। मुख्य तत्त्व सूर्य-मण्डल और सौर-प्राणों में ही प्रादुर्भूत है। इसलिए, उसे मुख्य आदित्य-प्राण के वाचक विष्णु शब्द से कहा गया। वस्तुतः, ये तीनों ही वेद सदा मे सम्मिलित रहते हैं और सभी पदार्थ इन तीनों से ही उत्पन्न हैं। इसीलिए, किसी को एक स्थान में किसी वेद का रूप और दूसरे स्थान में अन्य वेद का रूप बताने में कोई विरोध नहीं होता। हमारी त्रिलोकी के तीन देवता अग्नि, वायु और सूर्य को भी कई श्रुतियों में ऋक्, यजुः और साम के रूप में बताया है। अग्नि ऋक् है, वायु यजुः है और आदित्य साम है। कई श्रुतियों में इन तीनों देवताओं से तीनों वेदों की उत्पत्ति भी बताई जाती है, जिसका स्पष्टीकरण आगे वेद-प्रादुर्भाव के निरूपण में किया जायगा। इस तरह वाक् शब्द से और ऋक्, यजुः, साम शब्दों से अनेक वैज्ञानिक अर्थ श्रुतियों में प्राप्त होते हैं।

यहाँ बहुत-से विद्वान् सज्जनों को शंका होगी कि आरम्भ से यहाँ तीन ही वेदों का विवरण क्यों? इस प्रसंग में चौथा अथर्ववेद क्यों नहीं आया? इसका उत्तर यही है कि वैज्ञानिक परिभाषा में ये तीनों वेद अग्नि-रूप हैं, और अथर्ववेद आप्-रूप और सोमप्रधान है, जिसका विवरण आगे सृष्टि-प्रक्रिया में ही करेंगे।

यह मूलतत्त्व रूप वैज्ञानिक वेदों का संक्षिप्त विवरण हुआ। इन सब वेदों का निरूपण जिन ग्रन्थों और पुस्तकों में है, वे ही हमारी आर्य जाति के सर्वस्व, सर्वमान्य

ग्रन्थ-रूप वेद हैं। उन वेदों का प्रादुर्भाव किस प्रकार हुआ, इसमें भी बड़ा मतभेद सुनकर विचारक विद्वान् बड़ी भ्रान्ति में पड़ जाते हैं, इसलिए उनके प्रादुर्भाव का भी यहाँ निरूपण कर देना प्रसंगप्राप्त है।

वेद-प्रादुर्भाव के विभिन्न मत और उनका समन्वय

यह शब्दप्रमाण-रूप स्वतःप्रमाण वेद-ग्रन्थ सभी ज्ञान-विज्ञानों का भाण्डार है, यह आर्य जाति का सुदृढ विश्वास है। यह ग्रन्थ-रूप वेद मनुष्य-जाति को किस प्रकार मिला, इसपर शिष्ट-सम्प्रदाय में तीन प्रकार के सिद्धान्त प्रचलित हैं, जिनका विवरण प्राचीन भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में मिलता है।

१. वेद किसी के बनाये हुए नहीं, स्वतः आविर्भूत हैं, अतः अपौरुषेय हैं।

२. वेद ईश्वर-कृत हैं। ईश्वर-रूप ही हैं, ऐसा सिद्धान्त भी इसी के अन्तर्गत है।

३. ईश्वर के अनुग्रह से जिन परोक्ष विषयों का ज्ञान प्राप्त कर महर्षियों ने अपने शब्दों में प्रकट किया, वे ही वेद हैं। (ब्रह्मा को प्रथमतः प्राप्त हुए; वा अग्नि, वायु, सूर्य को प्राप्त हुए, उन्होंने प्रचार किया—ये मत भी इसी शाखा में अन्तर्निहित होते हैं)।

इन तीनों मतों की अवान्तर शाखाएँ बहुत हैं, जिनकी संख्या ४० से ऊपर है। वेद को न माननेवाले सम्प्रदायों के ऐसे मत भी हैं, जो वेद को निर्दय पुरुषों, धूर्तों के बनाये मानते हैं। और, कुछ एक पाश्चात्य विद्वान् वेदों को प्रारम्भिक सभ्यता-काल के अपरिपक्व ज्ञान के फलभूत कहते हैं, किन्तु उन सबकी विस्तृत समालोचना यहाँ नहीं की जायगी। केवल शिष्ट-परिगृहीत पूर्वोक्त तीन सिद्धान्तों पर ही विवेचन किया जायगा। विवेचन से ही विरुद्ध मतों की आलोचना हो जायगी।

पहला सिद्धान्त मीमांसा के आचार्य जैमिनि ने प्रकट किया है, और भाष्यकार शबरस्वामी, वार्त्तिककार कुमारिलभट्ट आदि ने इसका तिस्तृत विवेचन किया है। इनकी प्रधान युक्तियाँ निम्नांकित हैं :

(क) मनुष्य जिन स्वर्ग, देवता आदि को प्रत्यक्ष नहीं देख सकता, अथवा किस कर्म के द्वारा आत्मा में किस प्रकार का अपूर्व वा संस्कार उत्पन्न होता है, यह नहीं जान सकता। इन्हीं सब स्वर्ग, अपूर्व, देवता आदि का विवरण वेदों में प्राप्त होता है। विना ज्ञान के शब्द-प्रयोग हो नहीं सकता। इसलिए, यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वेद शब्दों के प्रयोक्ता को इन परोक्ष वस्तुओं का ज्ञान कैसे प्राप्त हुआ? कदाचित् यह उत्तर दिया जाय कि 'ज्ञान किसी को था ही नहीं, विना ज्ञान के ही आडम्बर से पर-वंचना के लिए ऐसे शब्द गढ़ दिये गये', तो यह उत्तर ठीक नहीं; क्योंकि एक तो वेदों की शब्द-रचना सुव्यवस्थित है, प्रमाण-शब्दों में जिस प्रकार कार्य-कारण-भाव का विवरण होना चाहिए,

और साध्य, साधन, इतिकर्त्तव्यता-रूप तीन अंशों की परिपूर्त्ति जिस प्रकार से विद्वानों में होनी चाहिए, उसी प्रकार की वेदों में देखी जाती है। अतः, उन्हें वंचक अल्पज्ञों की कृति नहीं कहा जा सकता। दूसरे जो लाभ प्रत्यक्षसिद्ध हैं; जैसे वृष्टि, आरोग्य-प्राप्ति आदि। इनके जो उपाय वेदों में बताये गये हैं, उनका फल प्रत्यक्ष देखा जाता है। तब उन्हें अप्रामाणिक कैसे कहा जाय। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि जिन स्वर्ग, अपूर्व, देवता आदि का वर्णन वेदों में है, वह प्रामाणिक ही है। स्मरण रहे कि मीमांसा के मत में जबतक अप्रामाण्य का कोई कारण न बताया जाय, जबतक ज्ञान को प्रमाण ही माना जाता है। प्रामाण्य स्वतःसिद्ध है और अप्रामाण्य किसी कारण से आता है, इसलिए जब अप्रामाण्य मानने का कोई कारण नहीं, तब वेद में प्रामाण्य ही सिद्ध रहेगा। ऐसी स्थिति में उसके वक्ता को स्वर्ग, अपूर्व, देवता आदि का ज्ञान कैसे हुआ—यह प्रश्न शेष रह जाता है। प्रमाणान्तर से इन वस्तुओं का ज्ञान होना सम्भव नहीं, कदाचित् यह कल्पना की जाय कि स्वर्ग, अपूर्व, देवता आदि का ज्ञान सामान्य मनुष्यों को नहीं होता, किन्तु उच्च श्रेणी के योग, तप आदि से सम्पन्न ऋषि-मुनि आदि इन सूक्ष्म तत्त्वों का भी अपनी बुद्धि के सामर्थ्य से ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं और वेद-शास्त्र द्वारा दूसरों को उपदेश देते हैं। यह कल्पना भी ठीक नहीं उतरती; क्योंकि वहाँ भी प्रश्न होगा कि योग, यज्ञ, तप आदि करने की प्रेरणा ही उन्हें कहाँ से मिली? योगादि का ज्ञान वेद से ही माना जाता है और वेद को इनके आधार पर उत्पन्न मान लिया जायगा, तो स्पष्ट अन्योन्याश्रय-दोष हो जायगा। विना योग, तप आदि के वेद का निर्माण नहीं हो सकता और विना वेद के यज्ञ, तप आदि जाने नहीं जा सकते, इस अन्योन्याश्रय से उद्धार पाने का कोई उपाय नहीं। इसलिए, अगत्या वेद को अकर्त्तृक ही मानना पड़ता है, अर्थात् उनका बनानेवाला कोई नहीं, वह स्वतः प्रादुर्भूत है।

(ख) दूसरी युक्ति अकर्त्तृक माननेवालों की यह है कि जो वस्तु जिसकी बनाई होती है, उसके साथ उसके कर्त्ता का स्मरण किसी-न-किसी रूप में हो ही जाया करता है, किन्तु वेद के कर्त्ता का स्मरण अभ्रान्त रूप में आजतक किसी को नहीं हुआ। इससे भी यही सिद्ध होता है कि इनका कर्त्ता कोई है ही नहीं। यदि होता, तो उसका अवश्य स्मरण होता। कदाचित् यह कहा जाय कि बहुत-से पुराने गृह, कूप, आराम आदि ऐसे मिलते हैं, जिनके बनानेवाले की स्मृति आज किसी को नहीं, किन्तु फिर भी वे अकृत्रिम तो नहीं माने जा सकते। इसी प्रकार, शब्द-समूह-रूप वेद को भी अकृत्रिम कैसे कहा जाय? तो इसका यही उत्तर है कि जीर्ण कूप, आराम आदि के कर्त्ता का किसी-न-किसी रूप में किसी-न-किसी को अवश्य स्मरण रहता ही है। किन्तु, वेद के कर्त्ता का स्मरण तो किसी को भी हुआ हो, ऐसा पता नहीं लगता। जिन विद्वानों ने प्रतिपक्ष रूप में खड़े होकर भी इस बात का प्रयत्न किया कि हम कर्त्ता का पता लगायेंगे ही, वे भी निश्चित रूप से किसी निर्णय पर पहुँचने में असफल ही रहे। जब कोई पता लगा ही नहीं सकता, तो स्पष्ट ही मानना पड़ेगा कि वेद का कर्त्ता कोई है ही नहीं।

मन्त्रों के साथ जिन ऋषियों का उल्लेख मिलता है, वे ही उनके कर्त्ता हैं, यह मानना तो नितान्त ही भूल है। वे तो प्रवचनकर्त्ता हैं, अर्थात् जिन्होंने मन्त्रों का प्रचार

किया या इनके अनुष्ठान से और इनकी बताई हुई विद्याओं और विधियों से लाभ उठाया, उन्हीं के नाम मन्त्रों के साथ प्रतिष्ठित रखे गये हैं। वे कर्त्ता नहीं हो सकते।

(ग) कुछ विद्वान् यह भी युक्ति देते हैं कि केवल स्वर्ग, अपूर्व, देवता आदि का ही ज्ञान अनुपपन्न नहीं, सृष्टि के आरम्भ में मकान बनाना, खेती करना आदि विभिन्न व्यावहारिक ज्ञान भी मनुष्यों को सर्वप्रथम कैसे हुआ? जब मनुष्यों की यह प्रकृति देखी जाती है कि उन्हें बिना सिखाये नई बात स्वतः नहीं आती। शिक्षा प्राप्त कर लेने पर वे भले ही देखी हुई बातों के आधार पर नई-नई खोज कर सकें, किन्तु कुछ भी जिन्होंने नहीं सीखा है, वे स्वयं कोई खोज कर डालें, यह असम्भव है। कई विद्वानों ने अनुभव के आधार पर लिखा है कि कुछ छोटे बालकों को भेड़िये उठा ले गये, बहुत समय बाद उनका पता चला और उन्हें लाया गया, तो वे किसी भी प्रकार की मानवीय चेष्टा में असमर्थ पाये गये। वे न बोल सकते थे और न कोई मानवोचित व्यवहार ही कर सकते थे। इससे स्पष्ट ही ज्ञात होता है कि मनुष्य सीखने पर ही कुछ कर सकता है। इसलिए, आरम्भ में वेद के द्वारा ही उन्हें यह सारा व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त हुआ, अतः वे वेद किसी मनुष्य के बनाये नहीं हो सकते।

इस सिद्धान्त पर एक बहुत बड़ा प्रश्न यह उठता है कि वेद शब्दसमूह-रूप हैं और शब्द का उत्पादन कण्ठ, तालु आदि शरीरावयवों की सहायता से होता है, तो जब एक भी शब्द अकृत्रिम उत्पन्न नहीं हो सकता, तब शब्दसमूह-रूप वेद को अकृत्रिम कैसे मान लिया जाय? इसका उत्तर मीमांसक देते हैं कि शब्द उत्पन्न नहीं होता, वह नित्य है। वर्त्तमान में जिन कारणों को हम शब्द का उत्पादक समझते हैं, वे उत्पादक नहीं, अभिव्यंजक-मात्र हैं। उच्चारण से नित्य शब्द की अभिव्यक्ति-मात्र होती है, इसलिए तो भिन्न-भिन्न मनुष्यों द्वारा उच्चरित क, ग आदि वर्णों में प्रत्यभिज्ञा हो जाती है कि यह वही ककार, गकार हैं आदि। यदि उच्चारण से शब्द उत्पन्न होता, तो भिन्न-भिन्न पुरुषों द्वारा उच्चरित वर्ण भिन्न-भिन्न होते और उनमें वही ककार है, इत्यादि प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती थी। और, उच्चारण-काल में ही वर्ण उत्पन्न होते और उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाते, तो उनका समुदाय भी नहीं बन सकता था। फिर, वर्णसमुदाय-रूप पद और पदसमुदाय-रूप वाक्य कहाँ से बनते? पद-वाक्यों से अर्थ-प्रतीति होकर जो व्यवहार चलता है, वह कैसे चलता? इसलिए, वर्णों को नित्य ही मानना पड़ेगा। उनका समुदाय भिन्न-भिन्न प्राकृतिक सामग्री से हो गया है। वर्णसमुदाय-रूप ही वेद हैं, इसलिए उनकी अकृत्रिमता में कोई बाधा नहीं आती।

यह भी स्मरण रहे कि मीमांसकों के सिद्धान्त में दृश्य जगत् की सृष्टि और प्रलय मानने में कोई भी प्रमाण नहीं है। वे मानते हैं—'न कदाचिदनीदृशं जगत्', अर्थात् जगत् सदा इसी रूप में चल रहा है। इससे भिन्न अवस्था में कभी था, ऐसा मानने का कोई प्रमाण नहीं है। उपनिषदादि के सृष्टि-प्रलय-प्रतिपादक वाक्य अर्थवादमात्र हैं। वे विधियों की स्तुतिमात्र करते हैं, स्वार्थ में उनका कोई तात्पर्य नहीं है। इसलिए, जैसे सब जगत् अनादि काल से इसी रूप में चला आ रहा है, उसी प्रकार वेद भी अनादि काल से चले आ रहे हैं, ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं। इस सिद्धान्त का पुष्टीकरण श्रुति-स्मृति-पुराण आदि से भी होता है।

यथा प्रदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति, एवं वा अरे अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इति ।

(श० ब्रा०, काण्ड १४, बृहदारण्यकोपनिषद्)

इसका अभिप्राय यह है कि जैसे प्रज्वलित पावक से छोटे-छोटे अग्निकण निकलते हैं, उसी प्रकार महाभूत परमात्मा के निःश्वास-रूप से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्वाङ्गिरस् वेद आदि प्रकट होते हैं । इससे स्पष्ट हो जाता कि जैसे निःश्वासादि में मनुष्य का स्वातन्त्र्य नहीं है, वह इच्छापूर्वक श्वास-प्रश्वास नहीं चलाता, प्रत्युत प्रकृति के नियमानुसार श्वास-प्रश्वासादि उससे प्रकट होते हैं, वैसे वेद-निर्माण में भी ईश्वर की स्वतन्त्रता नहीं है, वह उन्हें इच्छापूर्वक नहीं बनाता, किन्तु नित्य वेद उससे प्रकटमात्र हो जाते हैं । 'नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा', इस श्रुति में भी यही आशय प्रकट किया गया है कि नित्य वाणी-रूप वेदों को स्वयम्भू ईश्वर ने प्रकाशित कर दिया ।

यदि वै प्रजापतेः परमस्ति वागेव तद् ।

(श० प०, ५।१।३।११)

अर्थात्, प्रजापति से भी पर कोई वस्तु है, तो वह वाक् ही है । इत्यादि श्रुतियों में वेद-रूप वाक् की अनादिता और नित्यता शतशः उद्घोषित हुई है ।

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा ।
आदौ वेदमयी नित्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥

अर्थात्, जिसका न आदि है, न अन्त, ऐसी नित्य वेदमयी वाणी को स्वयम्भू ब्रह्मा ने प्रकाशित किया । उससे ही संसार के सब व्यवहार प्रारम्भ हुए ।

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् ।
वेद शब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे ॥

अर्थात्, प्रजापति ने सब जाति-व्यक्तियों के नाम और कर्म एवं सब प्रकार की संस्थाएँ वेद शब्दों से ही बनाईं ।

इन सब स्मृतियों से भी वेद की अनादिता और नित्यता स्पष्ट सिद्ध हो जाती है और इससे वेद अनादि और अपौरुषेय ही ठहरते हैं ।

दूसरा सिद्धान्त न्याय-वैशेषिक-दर्शनों के ग्रन्थों में मिलता है । उनका कहना है कि पूर्वोक्त सिद्धान्त के अनुसार वेद किसी मनुष्य ने नहीं बनाये और वे अनादि हैं, उनसे ही सब प्रकार की प्रवृत्ति चली है, यह तो ठीक है । किन्तु, शब्द को नित्य नहीं माना जा सकता, और शब्दों का समूह तो सुतरां कभी नित्य नहीं हो सकता । शब्दों की उत्पत्ति वागिन्द्रिय द्वारा होती है, यह हम प्रत्यक्ष देखते हैं, तब उसे नित्य कैसे मान लिया जाय ? और, प्रत्येक ग्रन्थ किसी रचयिता के द्वारा ही रचा जाता है, तब वेद-रूप ग्रन्थ अकस्मात् प्रादुर्भूत हो गया, यह कैसे मान लें । सृष्टि-प्रलय-व्यवस्था भी अनुमान और शब्द दोनों प्रमाणों से

सिद्ध है, फिर उसका अपलाप कैसे किया जा सकता है, जबकि जगत् प्रत्यक्ष ही परिवर्त्तन-शील दिखाई देता है, तब 'न कदाचिदनीदृशं जगत्' यह सिद्धान्त ठहर ही कैसे सकता है। तब एक बार प्रलय होने पर फिर वेद प्रकट होंगे, तो उनका कोई कारण तो अवश्य ही मानना पड़ेगा। इसलिए यह सिद्धान्त युक्ति-युक्त है कि जैसे जगन्नियन्ता परमात्मा ने सब जगत् को बनाया, वैसे ही सब वेदों का निर्माण किया, और उनके द्वारा ही सब जगत् को शिक्षा दी। वेदों की वाक्य-रचना स्पष्ट ही बुद्धिपूर्वक की हुई प्रतीत होती है। इसलिए, किसी बुद्धिमान् को उनका कारण भी मानना ही पड़ेगा। वह सर्वबुद्धिनिधान परमेश्वर ही उनका कारण हो सकता है। सब श्रुति, स्मृति, पुराण आदि भी इसी का प्रतिपादन करते हैं। पूर्व में जो प्रमाण दिये गये हैं, उनमें भी स्वयम्भू परमात्मा के द्वारा ही वेदों का प्रकट होना बताया गया है। निःश्वास-रूप कहने का या परमात्मा के द्वारा निर्मित न कहकर उत्सृष्ट (प्रकट किये गये) कहने का अभिप्राय यही है कि प्रतिकल्प में जब-जब सृष्टि होती है, तब-तब ये वेद इसी रूप में परमात्मा द्वारा बनाये जाते हैं। अनादि परम्परा-प्राप्त होने के कारण और कोई परिवर्त्तन किये जाने के कारण इनमें स्वतन्त्र रूप से बनाये जाने का व्यवहार नहीं किया जाता, प्रत्युत इन्हें नित्य ही माना जाता है। यह नित्य शब्द लाक्षणिक है।

नित्यता दो प्रकार की होती है : (१) कूटस्थ नित्यता और (२) प्रवाह-नित्यता। आकाश, काल आदि जो सदा एकरूप रहते हैं, जिनमें कोई परिवर्त्तन नहीं होता और निरवयव हैं, प्रलय में भी प्रलीन नहीं होते, वे कूटस्थ नित्य कहे जाते हैं। और, जो परिवर्त्तन-शील होने पर भी नित्य बने रहते हैं, वे प्रवाह-नित्य हैं। जैसे : जल का प्रवाह गंगा आदि नदियों में सदा रहता है, किन्तु जो जल एक क्षण पूर्व था, वह दूसरे क्षण में नहीं रहता। इसी प्रकार, वेद के शब्द एक नहीं रहते, अर्थात् जो पहले थे, वे ही अब नहीं हैं। उनके सदृश ही दूसरे शब्द उत्पन्न होते रहते हैं। उनका प्रवाह अविच्छिन्न रहता है। मन्त्र-भाग में तो स्पष्ट ही वेदों की उत्पत्ति ईश्वर से श्रुत है :

> तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
> छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुः तस्मादजायत॥
>
> (यजुः, ३१।७; ऋ०, १०।९०।९; अथ०, १९।६।१३)

अर्थात्, सबके द्वारा पूजनीय और यजनीय परमात्मा से ऋक्, यजु, साम और छन्द, अर्थात् अथर्ववेद प्रकट हुए।

स्मृति-पुराणादि में भी ईश्वर के एकरूप ब्रह्मा के मुखों से वेदों का उत्पन्न होना कहा गया है।

दूसरी बात यह भी है कि प्रामाण्य स्वतःसिद्ध नहीं होता; अपितु कारण में गुण होने के कारण प्रमाण में प्रामाण्य आता है। शब्द में वक्ता यदि आप्त हो, तो प्रामाण्य माना जाता है। ऐसी स्थिति में यदि वेद का कोई वक्ता न हो, तो उसमें प्रामाण्य कैसे माना जा सकेगा। ईश्वर को वक्ता मान लेने पर वेदों के प्रामाण्य में कोई सन्देह नहीं उठ सकता;

क्योंकि वह परम आप्त है। अतः, वेदों को ईश्वर-कृत मानना ही उत्तम सिद्धान्त है। वेद अनन्त ज्ञान-रूप है और ईश्वर का ज्ञान भी अनन्त माना जाता है। अतः, कई जगह वेद को ईश्वर का रूप भी बताया गया है। ज्ञानरूपता से ही इसकी उपपत्ति समझनी चाहिए। उत्तरमीमांसा (वेदान्त) में भी इसीसे मिलता-जुलता सिद्धान्त प्राप्त होता है। वहाँ आकाश, काल, आदि कोई भी पदार्थ सर्वथा नित्य नहीं माना जाता। पूर्ण रूप से नित्य तो एक परब्रह्म ही है। आकाशादि सृष्टि में उत्पन्न होते हैं और प्रलय में विलीन हो जाते हैं। इसी प्रकार की नित्यता वे शब्दों में भी मानते हैं। और, ऐसा ही नित्य वेदों को भी कहते हैं।

इस सिद्धान्त पर यह प्रश्न उठता है कि, ईश्वर भी तो निराकार है, फिर कण्ठ, तालु आदि के अभिघात से उत्पन्न होनेवाले शब्द-रूप वेद उसने कैसे प्रकट किये, शब्दों का उत्पादन निराकार के द्वारा कैसे हुआ ? और, उनका प्रसार किस रूप में हुआ ? इसका उत्तर पुराणों और आगम-शास्त्रों में इस रूप में दिया जाता है कि वाक् चार प्रकार की है : परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। इनमें से परा तो आत्मा की मुख्य शक्ति-रूप ही है। उसका कोई स्वरूप निश्चत नहीं किया जा सकता। पश्यन्ती वह वाक् है, जिसमें शब्द और अर्थ दोनों एक रूप में रहते हैं, दोनों का विभाग नहीं होता। इसे केवल प्रकाश-रूप कहकर शास्त्रों में वर्णन किया गया है। मध्यमा में शब्द और अर्थ का विभाग तो हो जाता है, किन्तु शब्द मन-ही-मन में मँडराते रहते हैं, कण्ठ, तालु आदि का कोई व्यापार उनमें नहीं होता और न उन शब्दों को कोई सुन सकता है। इसे लोक में मन से बात करना कहते हैं। चौथी वाक् वैखरी है। यह दो भागों में विभक्त है : एक उपांशु-भाषण, अर्थात् काना-फूसी और दूसरा उच्चैःस्वर का भाषण, जिसे सब सुन सकें। परा, पश्यन्ती, मध्यमा का कण्ठ, तालु आदि व्यापार से कोई सम्बन्ध नहीं। केवल वैखरी में ही कण्ठ, तालु आदि व्यापार की आवश्यकता होती है। परा, पश्यन्ती में तो पुरुष का भी कोई स्वातन्त्र्य नहीं है। वे तो निर्विकल्प और सविकल्प ज्ञान-रूप होने के कारण स्वतःसिद्ध हैं। ज्ञान का स्वरूप मनुष्य के बनाने से नहीं बनता। वह तो नित्य वस्तु है, जो प्रमाणों के आधार पर आविर्भूत होता है। इसी मुख्य नित्य ज्ञान को वेदान्त-दर्शन में ब्रह्म-रूप ही माना गया है, और मनोवृत्ति-रूप ज्ञान प्रमाणों के आधार पर संगठित होता है। पश्यन्ती में भी शब्द और अर्थ का विभाग नहीं हो पाता। मध्यमा में शब्द-अर्थ का विभाग होने पर वहाँ पुरुष का स्वातन्त्र्य होता है कि वह जैसे चाहे, वैसे शब्दों का संगठन कर लेता है और वैखरी द्वारा उन्हें प्रकट करता है। ऐसी स्थिति में भी ऋषि-महर्षियों की पश्यन्ती या मध्यमा वाणी में परमात्मा ने वेदों को प्रकट कर दिया, और उन्होंने वैखरी द्वारा शिष्य-प्रशिष्यों में उनका प्रचार किया, ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं आती। पुराणों में भी इतनी विशेषता और भी मिलती है कि परमात्मा ने पहले जगन्निर्माता ब्रह्मा की बुद्धि में वेदों को प्रकट किया, और ब्रह्मा के द्वारा ऋषि-महर्षियों को उनकी शिक्षा मिली। श्रीमद्भागवत में मंगलाचरण में ही यह स्पष्ट कहा गया है कि 'तेन ब्रह्म हृदा य आदिकवये', अर्थात् जिस परमात्मा ने हृदयस्थ बुद्धि के द्वारा आदिकवि ब्रह्मा को वेद-विस्तार दिया। आगे भी

लिखा है—'प्रचोदिता येन पुरा सरस्वती वितन्वताऽजस्य सतीं स्मृतिं हृदि', अर्थात् जिस भगवान् की प्रेरणा से अज ब्रह्मा को वेदों की स्मृति-रूप सरस्वती प्राप्त हुई। इसी प्रकार से अन्यान्य पुराणों में भी कई स्थानों पर वर्णन आता है।

इसपर अनेक विवेचक विद्वानों का तीसरा पक्ष उपस्थित होता है कि ब्रह्मा भी तो कोई शरीरधारी पुरुष नहीं, वह परमात्मा का ही एक सृष्टिकारक रूप है, और उसके चतुर्मुख आकार आदि का वर्णन तो एक वैज्ञानिक आधार पर कल्पना-मात्र है। तब वैखरी वाक् द्वारा ब्रह्मा से भी शब्दराशिरूप वेद प्रकट नहीं हो सकते। यदि ब्रह्मा को साकार भी मान लिया जाय, तो वह सृष्टि करता हुआ मनुष्यों को पढ़ाता भी रहा—यह बात समझ में नहीं आती। इसके अतिरिक्त, एक ही मन्त्र भिन्न-भिन्न वेदों वा एक ही वेद में बार-बार क्यों आया? शाखा-भेद में मन्त्रों का पाठ-भेद क्यों हुआ, और एक शाखा के पाठ की दूसरी शाखा में निन्दा क्यों की गई? जैसा कि तैत्तिरीय शाखा में यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र का 'इषे त्वोर्जे त्वा वायवःस्थोपायवःस्थ' पाठ है, और मध्यन्दिनी शाखा के शतपथब्राह्मण में 'उपायवःस्थ' बोलने की निन्दा की गई है। इन सब बातों की उपपत्ति ईश्वर-कृत मानने में बैठती नहीं, इसलिए ब्रह्मा ने भी ऋषि-महर्षियों की पश्यन्ती वा मध्यमा वाक् में वेदों को प्रकट किया, और वैखरी वाक् में तो वेद प्रथमतः उन्हीं ऋषि-महर्षियों द्वारा प्रकट किये गये, जिनका नाम उन-उन मन्त्रों के साथ लिया जाता है, और जिस स्मरण का आधार वैदिकों की परम्परा एवं सर्वानुक्रमणी-सूत्र आदि हैं। अतः, सामान्य जनता तो केवल वैखरी वाक् को ही वेद समझती है, वा कहती है, उसकी दृष्टि में तो वेद के कर्त्ता वे ही ऋषि-महर्षि सिद्ध होते हैं, जिनके नाम मन्त्रों या ब्राह्मणों के साथ लगे हुए हैं। उन्हें ज्ञान अवश्य परमात्मा की कृपा से प्राप्त हुआ, इसमें सन्देह नहीं। इसी अभिप्राय से स्थान-स्थान पर ऋषि-महर्षियों को ही वेद का कर्त्ता कहा गया है।

यामृषयो मन्त्रकृतो मनीषिणः अन्वैच्छन् देवास्तपसा श्रमेण।
तां दैवीं वाचं हविषा यजामहे सानो दधातु सुकृतस्य लोके ॥

(तै० ब्रा०, २।७।७)

यहाँ देव शब्द विद्वान् का बोधक है। शतपथब्राह्मण (२।२।२।६) में स्पष्ट लिखा है कि देव दो प्रकार के होते हैं। जो मुख्य देव हैं, वे तो हैं ही; उनके अतिरिक्त जो वेद पढ़े हुए और वेद की व्याख्या करनेवाले हैं, वे विद्वान् ब्राह्मण मनुष्य होने पर भी देव हैं। ये दूसरे प्रकार के देव ही प्रकरणानुसार यहाँ पर ग्राह्य होंगे, तब इस श्रुति का अर्थ यों होगा :

विद्वान् ब्राह्मण जो मनीषी और मन्त्रकर्त्ता ऋषि हैं, उन्होंने अपने तप और श्रम से जिस दैवी वाक्-रूप का अन्वेषण किया, अर्थात् उसे प्राप्त और प्रकट किया, उस दैवी वाक् की हम पूजा करते हैं, वही हमें सुकृत के लोक में प्राप्त करे।

नमः ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्रपतिभ्यः।

(तै० ब्रा०, ४।१।१)

अर्थात्, मन्त्रों के कर्त्ता और मन्त्रों के स्वामी ऋषियों को हम प्रणाम करते हैं। यहाँ मन्त्रपति शब्द से उनके प्रचारक लिये जायेंगे। इससे सिद्ध हो जाता है कि मन्त्रों के कर्त्ता भी ऋषि हैं और प्रचारक भी। पद से ही उन्हें प्रकरणबद्ध संहितादि रूप में परिणत करनेवाले भी ले लिये जायेंगे।

इमे सर्वे वेदा निर्मिताः सकल्पा सरहस्याः।

इत्यादि श्रुतियों द्वारा गोपथब्राह्मण में भी वेदों का निर्माण स्पष्ट बताया है, और अंगों के नाम भी साथ हैं, अंगों के निर्माता ऋषि हैं, इसमें तो कोई मतभेद नहीं है। अतः, वेदों का भी ऋषियों द्वारा निर्माण इससे सिद्ध होता है।

अजान् ह वै पृश्नींस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्या नर्षत्
तद् ऋषिणामृषित्वम् ॥

इसका अर्थ है कि तपस्या करते हुए अजपृश्नि नाम से प्रसिद्ध महापुरुषों को स्वयम्भू ब्रह्म प्राप्त हुआ। यही ऋषियों का ऋषित्व है। यहाँ अज शब्द का अर्थ माधवाचार्य आदि भाष्यकारों ने यह किया है कि वे ऋषि लोग सृष्टि के आरम्भ में एक बार ही जन्म ग्रहण करते हैं। हम संसारी जीवों की तरह बार-बार जन्म-मरण के चक्कर में नहीं पड़ते। तात्पर्य यह कि वे ईश्वर-प्राप्त दिव्य ज्ञान के द्वारा मुक्त हो जाते हैं, बार-बार वेद-प्रचार के लिए आधिकारिक पुरुष बन जाते हैं। इसीलिए, बार-बार जन्म-प्रवाह में न पड़ने के कारण ही उन्हें 'अज' कहा गया है और ज्ञान द्वारा वे निर्मल हो गये हैं, यह पृश्नि शब्द का अर्थ है। पृश्नि शुक्ल का वाचक है। निर्मल को शुक्ल कहना युक्ति-युक्त है। अज शब्द का दूसरा अभिप्राय यह भी हो सकता है कि—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगां अजोऽन्यः।'

(श्वेताश्वतरोपनिषद्)

इस श्वेताश्वर-श्रुति में प्रकृति को अजा और पुरुष को अज कहा गया है। पुरुष सर्वथा निर्लिप्त रहता है। वह प्रकृति का द्रष्टामात्र है, उसके गुणों से बद्ध नहीं। इसी प्रकार, वे ऋषि लोग प्रकृति के बन्धन से विमुक्त हो गये, अतः उन्हें अज कहा गया। तीसरी बात यह भी है कि अजपृश्नि आदि नामों से पुराणों में कुछ ऋषि प्रसिद्ध हैं, उन्हीं का यहाँ उल्लेख हुआ है। अस्तु; जो कुछ भी हो, इस श्रुति से इतना अवश्य सिद्ध हो जाता है कि तपस्या करते हुए ऋषियों को वेद का ज्ञान मिला, और इसी कारण वे ऋषि कहलाये। ऋक्-संहिता का एक मन्त्र भी इस विषय का संकेत करता है :

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्।
ता माभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्तरेभा अभि संनवन्ते ॥

(ऋक्, १०।७१।३)

इसका अर्थ है कि विदितार्थ धीर पुरुषों ने पद से प्राप्त होने योग्य वाक् के मार्ग को यज्ञ से प्राप्त किया और उस वाक् को अति सूक्ष्म अर्थों के जाननेवाले ऋषियों में प्रविष्ट पाया। तदनन्तर, उस वाक् को विस्तार से संवादन कर बहुत देशों में फैलाया, अर्थात् बहुतों को पढ़ाया। इसी वाक् को शब्द करते हुए सात पक्षी चारों ओर फैलाते हैं। यहाँ पक्षीवाचक 'रेभ' शब्द से गायत्री आदि सात छन्द विवक्षित हैं। इन छन्दों की पक्षिरूपता ब्राह्मणों में कई जगह वर्णित हुई है। छन्दों को पक्षी क्यों कहा जाता है, यह वैज्ञानिक तत्त्व है। जिसका विवरण यहाँ अप्रासंगिक हो जायगा। अस्तु; प्रकृत विषय में इस मन्त्र से यह सिद्ध हो जाता है कि पहले ऋषियों के हृदयों में ज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ, उन्होंने उसे छन्दोबद्ध किया, और वाक्य-रूप में मुनियों को पढ़ाया, और मुनियों ने मनुष्य में उसका प्रचार किया।

यो वै ज्ञातोऽनूचानः स ऋषिः।

(श०प०ब्रा० ४।३।९)

यह ब्राह्मण-श्रुति भी यही संकेत करती है कि जो ज्ञान प्राप्त करते हैं और उसका अनुवचन करते हैं, अर्थात् औरों को पढ़ाते हैं, वे ही ऋषि कहलाते हैं।

ये समुद्रान्निरखनन् देवास्तीक्ष्णाभिरभ्रिभिः।
सु देवो अद्यतद्विद्याद् यत्र निर्वपणं दधुः॥

यह मन्त्र भी इसी विषय का संकेत करता है। इसका व्याख्याण शतपथ, ७।५।२।५२ में किया गया है कि देव, अर्थात् विद्वानों ने मन-रूप समुद्र से वाक्-रूप तीक्ष्ण कुदालों द्वारा खोदकर त्रयी विद्या-रूप वेदों को बाहर निकाला। उन ऋषियों के इस त्रयी विद्या-रूप दान को उन्होंने जिस ग्रन्थ में स्थापित किया, उसको भी श्रेष्ठ विद्वान् ही जान सकता है। सर्वसाधारण उसे अब भी नहीं पा सकते; क्योंकि यह विषय अत्यन्त गम्भीर है।

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत।

(ऋक्, १।१।२)

यह मन्त्र ऋषियों का पूर्वापर-भाव बताता है। वह भी तभी सम्भव है, जब मनुष्य-रूप ऋषियों को कर्त्ता माना जाय। यदि किसी पुरुष का सम्बन्ध वेद-मन्त्रों से न मानें, तो पूर्वापरीभाव किसका? अर्थात्, पूर्व ऋषि कौन और अपर ऋषि कौन, इसकी कोई व्यवस्था नहीं लगाई जा सकती।

युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान्महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाता स्वयम्भुवा॥

अर्थात्, युगों के अन्त में जब वेद अन्तर्हित, अर्थात् प्रलीन हो गये, तब आगे पुनः युग का आरम्भ होने पर इतिहास-सहित उन वेदों को ब्रह्मा की आज्ञा से ऋषियों ने प्राप्त किया। इत्यादि बहुत-सी स्मृतियाँ भी ऋषियों के द्वारा ही वेदों की प्रघटना बतला रही हैं।

सारांश यह कि लौकिक शब्दों का यह क्रम प्रसिद्ध है कि पहले वक्ता किसी लौकिक

प्रमाण के द्वारा अर्थ का ज्ञान प्राप्त करता है और उसे दूसरों को बताने के लिए शब्दों द्वारा प्रकट करता है। यह प्रक्रिया वेदों में नहीं मानी जा सकती; क्योंकि किसी भी दूसरे लौकिक प्रमाण से वेद-प्रतिपादित स्वर्ग, अपूर्व, देवता आदि का ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिए, इस दृष्टि से तो ज्ञान-रूप वेद को अपौरुषेय, अलौकिक या ईश्वर-प्रदत्त कहा जा सकता है, किन्तु सृष्टि के आरम्भ में ऋषियों ने तप वा यज्ञ किया, तब उनके अन्तःकरण में ईश्वर ने दिव्य ज्ञान दिया, उस ईश्वर-प्राप्त दिव्य ज्ञान को अपने शब्दों द्वारा ऋषियों ने प्रकट किया, पढ़ाया और फैलाया। यह प्रक्रिया सब प्रमाणों से सिद्ध होती है। निरुक्तकार यास्क ने भी प्रथम काण्ड के प्रथमाध्याय के अन्त में इस क्रम को स्पष्ट लिखा है :

साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणाय इमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च॥
(नि०, १।१)

इसका अर्थ स्पष्ट है कि आदि ऋषियों को सब जगत् के वस्तु-धर्मों का और मनुष्य के कर्त्तव्य आदि का साक्षात्कार, अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त हुआ था। (ऐसा ज्ञान उनके तप आदि से प्रसन्न भगवान् की कृपा का ही फल था, यह मानना ही पड़ेगा; क्योंकि किसी प्रमाण से ऐसा ज्ञान प्राप्त होना सम्भव नहीं। हमारे शास्त्रों में बुद्धि आदि का क्रमिक ह्रास ही माना गया है। तदनुसार, जब आगे के मुनियों को वैसा तथ्य साक्षात्कार न हो सका, तब पूर्व ऋषियों ने उपदेश द्वारा मन्त्रों के रूप में उन्हें ज्ञान दिया, जिन्होंने साक्षात्कार किया, वे ऋषि कहलाये, और जिन्होंने पढ़कर ज्ञान प्राप्त किया, वे मुनि।) आगे बुद्धि के ह्रास के कारण जब केवल मन्त्रों के संकेत से इस प्रकार के तत्त्वज्ञान का धारण न रह सका, तब संहिता-रूप में मन्त्र-भाग और कर्मविधि-रूप में ब्राह्मण-भाग का संकलन हुआ। (बिल्मग्रहण का अर्थ कई प्राचीन विद्वान् भेदपूर्वक ग्रहण करते हैं, अर्थात् भिन्न-भिन्न रूप से सब तत्त्वों को समझने के लिए भिन्न-भिन्न ग्रन्थों की आवश्यकता हुई। किन्तु कई प्रतिष्ठित विद्वान् बिल्मग्रहण का अर्थ यही करते हैं कि वैखरी वाक् के रूप में, जहाँ शब्द-अर्थ दोनों विभक्त हो चुके हैं, उस रूप में स्पष्ट ग्रहण कराने के लिए ग्रन्थों का प्रणयन हुआ। इससे वैखरी वाक् के रूपों में वेदों का प्रादुर्भाव ऋषियों के द्वारा स्पष्ट हो जाता है।) उनके भी अर्थ में जब सन्देह होने लगा, तब निघण्टु-ग्रन्थ और व्याकरण-शिक्षा आदि ग्रन्थ भी बनते गये। कई विद्वान् यहाँ 'समाम्नासिषुः' का अर्थ अभ्यास करना मानते हैं, और इसका यह तात्पर्य लगाते हैं कि केवल मन्त्र-संकेत से काम न चला, तब ग्रन्थों के रूप में उन अर्थों का अभ्यास किया गया। किन्तु, यह अर्थ पूर्ण रूप से यहाँ संगत नहीं प्राप्त होता; क्योंकि जब ग्रन्थों का संकलन ही न हुआ, तब अभ्यास कैसा? इसलिए कोई संकलनकर्त्ता भी तो मानना ही पड़ेगा। वे ऋषि कहलाते हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ 'इमं ग्रन्थं' और 'वेदाङ्गानि च', इनका भी सम्बन्ध 'सामाम्नासिषुः' के साथ ही है, तब क्या व्याकरण, निघण्टु आदि वेदांगों को भी अकर्त्तृक ही कहा जायगा? ऐसा सम्भव नहीं है, और न किसी ने माना है, इसलिए सृष्टि-प्रलयादि व्यवस्था पर पूर्वोक्त प्रक्रिया ही सुसंगत होती है।

पूर्वोक्त वाक्य के अतिरिक्त, निरुक्तकार यास्क ने अन्यत्र भी कई जगह वेदों के ऋषि-कर्तृत्व का संकेत किया है। जैसा कि दैवतकाण्ड के आरम्भ में ऋषि, देवता आदि की व्यवस्था बताते हुए स्पष्ट कहा है :

यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्य-
मिच्छन्स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतस्य मन्त्रो भवति।

अर्थात्, ऋषि के हृदय में जो कामना हो और उस कामना की पूर्त्ति जिस देवता के द्वारा होना उपयुक्त समझकर वह ऋषि जिस देवता की स्तुति करता हो, वही उस मन्त्र का देवता कहलाता है।

यहाँ ऋषि अपनी कामना की पूर्त्ति के लिए मन्त्र द्वारा देवताओं की स्तुति करता है, यह स्पष्ट ही कहा गया है। यह कामना पुरुषविशेष को ही हो सकती है। अपौरुषेयता वा ईश्वरप्रोक्तता में वह नहीं बन सकती। हाँ, किस देवता में कितनी शक्ति है, कौन किस कामना को पूर्ण कर सकता है, इत्यादि ज्ञान अवश्य ही उसके हृदय में ईश्वर-प्रदत्त था। आगे भी निरुक्तकार ने लिखा है :

एवमुच्चावचैरभिप्रायैर्ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति।

(अपने भिन्न-भिन्न अभिप्रायों के अनुसार ऋषियों को मन्त्र-दर्शन होते हैं।)

यहाँ भी ऋषियों के अभिप्राय का सम्बन्ध मन्त्रों से स्पष्ट बताया गया। वैश्वानर अग्नि किसका नाम है, इसका विवेचन करते हुए भी दैवत काण्ड के प्रथमाध्याय में निरुक्तकार यास्क ने लिखा है कि 'उधर से सूर्य की किरणें पृथिवी पर आती हैं और इधर से पृथ्वी की प्राण-रूप किरणें ऊपर को जाती हैं, इन दोनों का परस्पर सम्बन्ध देखकर ऋषि ने 'वैश्वानरो यतते सूर्येण' ऐसा कहा है। यहाँ दोनों किरणों का सम्बन्ध देखकर शब्द-रूप में उसे कहना स्पष्ट ही ऋषि का कार्य बताया गया है। प्रथम काण्ड के चतुर्थ अध्याय में भी निरुक्तकार कहते हैं :

त्रितं कूपेऽवहितमेतत्सूक्तं प्रतिबभौ, तत्र ब्रह्मेति-
हासमिश्रमृङ्मिश्रं गाथामिश्रञ्च भवति।

अर्थात्, त्रित ऋषि जब कूप में पड़े हुए थे, तब उनके हृदय में इस सूक्त का प्रादुर्भाव हुआ, इसलिए उस सूक्त के मन्त्र उस ऋषि का अपना इतिहास भी बतलाते हैं, देवताओं से प्रार्थना करते हैं और देवताओं ने पहले जिनकी रक्षा की है, वह गाथा भी कहते हैं। अब भी ऋषिप्रोक्तता में किसी को सन्देह रह जाय, तो मिटना कठिन ही होगा। बात स्पष्ट है कि ऋषियों को दिव्य ज्ञान प्राप्त हुआ; उस ज्ञान के वे द्रष्टा कहलाये, अर्थात् उन्होंने उस ज्ञान का साक्षात्कार किया। और, वैखरी वाक्-रूप में निबद्ध मन्त्रों की दृष्टि से वे कर्त्ता कहलाते हैं; क्योंकि शब्दानुपूर्वी का संगठन उन्होंने ही किया है। बृहद्देवता, सर्वानुक्रमणी आदि में जो ऋषियों और देवताओं के कई इतिहास मिलते हैं, उनमें भी यही प्रक्रिया सिद्ध

होती है। अन्यान्य दर्शनप्रवक्ता या वेदान्तप्रवक्ता मुनि या विशिष्ट विद्वान् भी इसी मार्ग का स्पष्ट उपदेश करते हैं। व्याकरण के आचार्य भगवान् पाणिनि ने तद्धित-प्रकरण में दो अधिकार पृथक्-पृथक् बनाये हैं। 'कृते ग्रन्थे', जिसने जिस ग्रन्थ का प्रणयन किया हो, उसके नाम से प्रत्यय लगाकर ग्रन्थ का नाम होता है, यह एक अधिकार है। दूसरा अधिकार 'तेन प्रोक्तम्' (४।३।१०१) है, इससे प्रवचनकर्त्ताओं के नाम से भी शास्त्रों अथवा आचार्यों के नाम होते हैं। इस सूत्र के भाष्य में महाभाष्यकार पतंजलि मुनि ने यह शंका की है कि 'कृते ग्रन्थे' अधिकार से ही काम चल जाय, तो फिर 'तेन प्रोक्तम्' अधिकार क्यों किया गया? इसपर अवान्तर प्रश्न उठाया है, 'ननु चोक्तम् नहि छन्दांसि क्रियन्ते नित्यानि छन्दांसि', अर्थात् वेद तो नित्य हैं, बनाये नहीं जाते। फिर, उनके नामों का निर्वचन 'कृते ग्रन्थे' अधिकार से कैसे होगा? इस अवान्तर प्रश्न का उत्तर वे देते हैं—'यद्यप्यर्थो नित्य: यात्वसौ वर्णानुपूर्वी सा अनित्या', अर्थात् वेदों का अर्थ तो नित्य है, पर शब्द-रचना तो कृत्रिम ही है। यहाँ स्पष्ट ही पूर्वोक्त प्रक्रिया का अनुमोदन किया गया है। इसकी व्याख्या में कैयट ने स्पष्ट लिखा है कि महाप्रलय में जब वर्णों का सन्निवेश नष्ट हो जाता है, तब दूसरे कल्प में उत्पन्न हुए ऋषि अपने पूर्व कल्प के दृढ संस्कार से वेदार्थ का स्मरण कर शब्द-रचना किया करते हैं। नागेशभट्ट ने भी उसकी व्याख्या में लिखा है कि अंशत: वेद नित्य हैं, और अंशत: अनित्य वा बनाये हुए भी हैं। शाखाओं के नाम प्रवचनकर्त्ताओं के नाम से हुए हैं। इन मीमांसकों की उक्ति का भी इसी सूत्र के भाष्य में खण्डन है कि प्रवचन तो प्रतिग्राम कठ, कलाप आदि शाखाओं का होता है, किन्तु उन प्रवचनकर्त्ताओं के नाम से इन शाखाओं के नाम नहीं पड़ते। इसलिए प्रथम प्रवचनकर्त्ता, अर्थात् स्वयं बनाकर प्रकाशित करनेवाले के नाम से ही शाखाओं के नाम रखे गये हैं। 'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु' (४।३।१०३) इस सूत्र में भी सूत्रकार पाणिनि ने स्पष्ट संकेत किया है कि कई ब्राह्मण प्राचीन काल से चले आ रहे हैं, और कई नवीन संकलित हुए हैं। इससे भी ऋषियों का निर्माता होना स्पष्ट सिद्ध होता है। वैशेषिक दर्शन में कणाद मुनि ने भी 'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे' लिखकर वेदों की रचना को बुद्धिपूर्वक रचना बतलाया है। ईश्वर का नाम वेदकर्त्ता-रूप से उन्होंने कहीं नहीं लिया। इसी प्रकार, न्यायसूत्रकार गौतम ऋषि ने वेदों का प्रामाण्य समर्थन करते हुए लिखा है कि 'मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्' (न्या० २।१),अर्थात् आप्तोक्त शब्द का ही प्रामाण्य माना जाता है, जैसे विष-निर्हरणादि मन्त्र और आयुर्वेद का प्रामाण्य उनकी फल-सिद्धि देखकर माना जाता है, फल-सिद्धि से वक्ताओं में आप्तत्व का निश्चय हो जाता है और स्थालीपुलाकन्याय से उनका सम्पूर्ण कथन प्रमाण ही मान लिया जाता है। इसी प्रकार वेदों का भी प्रामाण्य सिद्ध है। इसके भाष्य में वात्स्यायन ने स्पष्ट कर दिया है कि आयुर्वेद आदि के जो रचयिता हैं, वे ही वेदों के भी द्रष्टा हैं, इसलिए उनमें प्रामाण्य-निश्चय होने से सम्पूर्ण वेदों का प्रामाण्य मान लिया जाता है। नित्यत्व के कारण प्रामाण्य मानने का भाष्यकार ने स्पष्ट खण्डन किया है कि नित्यता तो केवल इसी कारण व्यवहृत होती है कि भिन्न-भिन्न युगों और मन्वन्तरों में इनका अध्ययनाध्यापन-सम्प्रदाय नहीं टूटता, इसलिए

प्रवाह-नित्यता मान ली जाती है, इससे प्रामाण्य का कोई सम्बन्ध नहीं। प्रामाण्य तो आप्त प्रामाण्य से ही होता है। लौकिक वाक्यों में भी आप्त प्रामाण्य से ही वाक्यों का प्रामाण्य माना जाता है। 'आप्तोपदेशः शब्दः' (न्या० सू०, २।१), इस सूत्र के भाष्य में भी वात्स्यायन ने लिखा है : 'जिसने जिस वस्तु का साक्षात्कार किया और जैसा देखा, वैसा ही उसे प्रकट किया, ऐसा उपदेष्टा ही आप्त है। किसी अर्थ को प्रत्यक्ष देखना ही उसकी आप्ति कहलाती है। उसके द्वारा प्रवृत्त होनेवाला आप्त है।' यह लक्षण ऋषि, आर्य और म्लेच्छ सबमें घटित होता है। जिन विषयों का म्लेच्छों को स्पष्ट ज्ञान है, उनमें वे भी आप्त हैं और आर्यों को जिन विषयों का स्पष्ट ज्ञान है, उनमें वे आप्त हैं। इस प्रकार, आप्त का लक्षण सबमें समान है। किन्तु, सर्वसाधारण के द्रष्टव्य जो विषय नहीं होते, अलौकिक प्रत्यक्ष से उनका ज्ञान प्राप्त कर उनके विषय में स्पष्ट उपदेश देना ऋषियों की विशेषता है। यहाँ लौकिक और ऋषि-वाक्यों में भेद हो जाता है, अर्थात् लौकिक विषय का उपदेश देनेवाले आप्त होने पर भी ऋषि नहीं कहलाते, किन्तु इन्द्रियों से न जानने योग्य विषयों का तपः-प्रभाव से एवं ईश्वरानुग्रह से साक्षात्कार कर उनका उपदेश करनेवाले ही ऋषि कहलाते हैं।

न्याय-भाष्यकार वात्स्यायन के विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि द्रष्टा, आप्त और अनूचान शब्दों का एक ही अर्थ है, केवल इन्द्रियों से उत्पन्न होनेवाले ज्ञान को ही प्रत्यक्ष नहीं कहते, किन्तु बुद्धि में विलक्षण प्रकार का सामर्थ्य प्राप्त कर जो परीक्षा, समीक्षा या अन्वीक्षा की जाती है, उसके अनन्तर होनेवाला स्पष्ट ज्ञान प्रत्यक्ष ही है। वेदान्त-दर्शन ने तो, इन्द्रियजन्य ज्ञान हो, अनुभवजन्य ज्ञान हो या शब्दजन्य ज्ञान हो, सबके अनन्तर जो स्पष्ट प्रतिभास होता है, जिसपर अन्तःकरण की दृढता हो जाती है, उसका ही निर्विकल्पक अवगम, अधिगम, प्रत्यक्ष, प्रमा आदि नामों से व्यवहार किया है। ऐसा ज्ञान अलौकिक विषयों में भी विशेष सामर्थ्य से प्राप्त होता है और उस ज्ञान को प्राप्त करनेवाले ही 'ऋषि' कहे जाते हैं।

आविर्भूतप्रकाशानामनभिप्लुतचेतसाम् ।
अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशिष्यते ।। (हरिः)

अर्थात्, जिनके अन्तःकरण में योग-समाधि द्वारा प्रकाश हो गया है, जिनके चित्त में भ्रम कभी आ नहीं सकता, उन महापुरुषों का ज्ञान चाहे, वह भूतकाल का हो, या भविष्यत्-काल का, प्रत्यक्ष से भिन्न नहीं कहा जाता। न्यायशास्त्र में भी लौकिक और अलौकिक दोनों प्रकार का प्रत्यक्ष मान लिया गया है। इसी प्रत्यक्ष को दृष्टि भी कहते हैं। इसी आधार पर ऋषियों को द्रष्टा कहा गया है। वे अलौकिक अर्थों के द्रष्टा हैं और शब्दरूप मन्त्रों के प्रवक्ता।

प्रथम सिद्धान्त के विवेचन में मीमांसकों की ओर से जो यह प्रश्न उठाया गया था कि सर्वप्रथम योग, तप और यज्ञादि का ज्ञान ही कैसे हुआ ? इनके अलौकिक सामर्थ्य का

ज्ञान भी तो वेदों से ही प्राप्त होता है, जब वेद प्रकट ही न हुए, तब इनका ज्ञान कैसे हो प्राप्त हो सकेगा। वेदों के प्रकट होने पर योग, तप आदि का ज्ञान और योग, तप, यज्ञ द्वारा ईश्वरानुग्रह प्राप्त कर 'वेदों का प्रकाश, यह तो स्पष्ट ही अन्योन्याश्रय हो गया। इसका समाधान अन्य आचार्यों की ओर से यही किया जाता है कि पूर्व-कल्प के दृढ संस्कार से प्रारम्भ के ऋषियों को तप, योग आदि के प्रभाव का स्मरण हो आता है। इसीसे वे तप आदि में प्रवृत्त होते हैं। भगवान् मनु ने (अध्याय १, श्लोक ३०) लिखा है : जैसे नई ऋतु आने पर पूर्वसिद्ध उस ऋतु के चिह्न स्वयं स्पष्ट रूप से प्रकट हो जाते हैं, वैसे कल्पादि में उत्पन्न होनेवाले दृढ संस्कारयुक्त प्राणी भी अपने संस्कार-वश अपने-अपने कार्यों में लग जाते हैं। पुराणों में भी सर्वतः प्रथम उत्पन्न हुए ऋषियों-मुनियों की, पूर्वसंस्कार-वश स्वयं तप, योग आदि में प्रवृत्ति बताई है। सनत्कुमारों को जन्म से ही तत्त्वज्ञान प्राप्त था, यह सब पुराणों में वर्णन है, **अजान्ह वै पृश्नीन्** इत्यादि पूर्वोक्त श्रुति में भी जब तप के अनन्तर वेद का प्रादुर्भाव बताया गया है, तब वेदों के श्रद्धालु, आस्तिक पुरुषों को इसपर शंका हो ही नहीं सकती कि पहले तप में प्रवृत्ति कैसे हुई। पूर्वसंस्कार-वश तप में प्रवृत्ति मानी जाती है।

सिद्ध यह हुआ कि आदि सृष्टि में उत्पन्न, तप, योग आदि में प्रवृत्त ऋषियों के अन्तःकरण में ईश्वरानुग्रह से सब विषयों का ज्ञान प्रादुर्भूत हुआ। और, उसे उन्होंने शब्दों द्वारा प्रचारित किया। हमारे वेदान्त आदि दर्शनों में ज्ञान को नित्य माना गया है। वह आत्म-स्वरूप है। परमात्मा को भी सत्, चित्, आनन्द शब्द से सम्बोधित किया जाता है। वहाँ चित् का अर्थ ज्ञान ही है। इसलिए, ज्ञान की दृष्टि से वेद सर्वथा नित्य, ईश्वर-रूप और अपौरुषेय हैं। वे कभी उत्पन्न नहीं होते। नित्य होने पर भी अन्तःकरण की वृत्ति में ज्ञान का प्रादुर्भाव किसी निमित्त से ही होता है। यहाँ ईश्वर-प्रसाद से वह ज्ञान प्रादुर्भूत हुआ। इस दृष्टि से वेदों को ईश्वर-कृत मानना भी युक्ति-युक्त है और उस ज्ञान को शब्दों द्वारा ऋषियों ने प्रचारित किया, इसलिए ऋषियों को भी वेद का कर्त्ता माना जा सकता है। यों, इन तीनों सिद्धान्तों का समन्वय हो जाता है, कोई परस्पर विरोध नहीं रहता।

यहाँ पुनः यह विचार उपस्थित होता है कि शास्त्रकारों ने ऐसा स्पष्ट माना है कि कोई भी ज्ञान शब्द को छोड़कर नहीं होता, प्रत्येक ज्ञान के साथ शब्द गुँथे रहते हैं।[1] आगमशास्त्र में भी प्राथमिक सृष्टि में शब्द और अर्थ को एक रूप में ही सम्बद्ध माना जाता है। आगे चलकर शब्दधारा और अर्थधारा पृथक्-पृथक् होती हैं। पहले कहा जा चुका है कि पश्यन्ती वाक् में शब्द और अर्थ परस्पर सम्बद्ध ही हैं। मध्यमा में आकर वे विभक्त हो जाते हैं। इस प्रक्रिया पर दृष्टिपात करने से यह सिद्ध होगा कि आदि ऋषियों को अन्तःकरण में जो अतीन्द्रिय अर्थों का ज्ञान हुआ, उसके साथ भी शब्द अवश्य रहे होंगे। और तो क्या, ईश्वर जब सृष्टि करने का विचार करता है, तब उसके ज्ञान में भी उन अर्थों के साथ उनके वाचक शब्द भी अवश्य आते हैं, यह भी श्रुति-स्मृतियों में बताया गया है कि (**स भूरिति व्याहरत् भुवमसृजत्**) प्रजापति ने भू शब्द कहा और भूमि को उत्पन्न किया।

---

१. 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमाद्ऋते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।' (हरिः)

इस श्रुति का और वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे (वेद के शब्दों से ही सब पदार्थों का सन्निवेश बनाया गया) इत्यादि स्मृतियों का यही तात्पर्य हो सकता है कि ईश्वर के ज्ञान में शब्दपूर्वक अर्थ पहले उपस्थित हुए और उन अर्थों को ईश्वर ने बाहर प्रकट कर दिया। केवल निर्विकल्पक ज्ञान में शब्दों का सम्बन्ध नहीं रहता, ऐसा कई आचार्य मानते हैं, किन्तु वह निर्विकल्पक ज्ञान तो किसी कार्य का सम्पादक नहीं होता। जब उसका सविकल्पक रूप बनता है, तभी उससे कुछ काम होता है। इसलिए, ऋषियों का ज्ञान सविकल्पक ही था, तभी उन्होंने शब्द द्वारा उसे प्रकाशित किया; तब यही क्यों न मान लिया जाय कि ऋषियों के ज्ञान में जो शब्द आये थे, वे ही शब्द वेद थे और उन्हीं शब्दों को ऋषियों ने प्रकाशित कर दिया। उनकी रचना में ऋषियों की कोई स्वतन्त्रता नहीं थी, ऐसा मान लेने पर ईश्वर ही वेदकर्त्ता सिद्ध होगा; क्योंकि उसी ने शब्द भी ऋषियों के ज्ञान में दिये। और, शब्दों को नित्य माननेवाले तो यह भी कह सकेंगे कि शब्दों को भी ऋषियों के ज्ञान में ईश्वर ने प्रकट-मात्र कर दिया, वे उत्पन्न नहीं किये गये, नित्य ही थे। इससे ईश्वर की भी स्वतन्त्रता वेदों के सम्बन्ध में नहीं है। वे तो नित्य ही हैं, इसी आशय से ईश्वर के निःश्वासरूप से वेदों का प्रकट होना कहा गया है। तब तृतीय मत का कोई आधार नहीं रह जाता। अपौरुषेयता और ईश्वर द्वारा रचा जाना ही सिद्ध होता है।

इसपर तृतीय सिद्धान्त के अनुयायी यह विवेचना करते हैं कि पश्यन्ती और मध्यमा वाणी के सम्बन्ध में हमारा कोई विवाद नहीं, उसे नित्य या ईश्वर-प्रदत्त ही मान लीजिए। हम तो केवल वैखरी, वाक्रूप (बिलम) वेदों के सम्बन्ध में ही विचार करते हैं कि ये वेद ईश्वर-कृत हैं या महर्षि-कृत। उसके सम्बन्ध में यह प्रश्न रह जाता है कि जो शब्द ईश्वरानुग्रह से ऋषियों की पश्यन्ती वा मध्यमा वाक् में प्रादुर्भूत हुए, उन्हीं शब्दों को ऋषियों ने प्रचारित किया वा उन्हें समझकर सर्व-सुबोध बनाने के लिए शब्दों की रचना उन्होंने अपनी इच्छा से की। शब्दों की नित्यता मान लेने पर भी इस प्रश्न का समाधान नहीं हो सकता; क्योंकि नित्य शब्दों की आनुपूर्वी किसी के द्वारा इच्छापूर्वक ही बनाई जाती है। यों तो शब्द-नित्यतावाद के अनुसार रघुवंशादि काव्यों की भी नित्यता वा अपौरुषेयता सिद्ध हो जायगी। इसलिए, वैखरी वाक्-रूप से शब्दों की आनुपूर्वी का संगठन महर्षि-कृत है या ईश्वर-कृत, यही विचारणीय विषय रह जाता है। वहाँ तृतीय पक्षवालों का यही कहना है कि ज्ञान जो ऋषियों की बुद्धि में प्रकट हुआ था, उसे प्रचारित करने के लिए शब्द-रचना ऋषियों ने ही की। वेदों के ही स्वाध्याय से यह बात स्पष्ट हो जाती है। अस्मद् शब्द का प्रयोग वक्ता सर्वत्र अपने लिए ही करता है। यदि कोई वक्ता न हो, तो शतशः मन्त्रों में जो अस्मद् का प्रयोग आता है, वहाँ उस शब्द से किसका ग्रहण किया जायगा। **'योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः'**, **'युयोध्यस्मज्जुहुराणम्'**, **'अग्ने नय सुपथाराये अस्मान्'** इत्यादि मन्त्रों में अस्मद् शब्द का वाच्य ईश्वर को भी नही कहा जा सकता; क्योंकि ईश्वर का किसी से द्वेष नहीं है, न वह अपने को सुमार्ग में ले जाने के लिए किसी से प्रार्थना ही कर सकता है। अतः, अगत्या वहाँ अस्मद् शब्द का वाच्य द्रष्टा महर्षियों को ही कहना पड़ेगा, तब उनके द्वारा शब्द-रचना होना स्पष्ट सिद्ध हो जायगा।

कुछ विद्वान् यहाँ यह समाधान करते हैं कि जो यज्ञादि में इन मन्त्रों का प्रयोग करते हैं, वे ही अस्मद् शब्द के वाच्य हैं, ऐसी प्रार्थना करने का उन्हें ईश्वर ने उपदेश दिया है। वे ही अपने लिए धन-भूमि आदि की कामना करते हैं, शत्रुओं का नाश करने की प्रार्थना करते हैं इत्यादि। किन्तु, यह समाधान भी सर्वत्र समीचीन नहीं हो सकता। बहुत-से मन्त्र ऐसे प्राप्त होते हैं; जिनमें अस्मद् शब्द से यज्ञादि में प्रयोग करनेवाले को नहीं लिया जा सकता, इसके दो एक उदाहरण देना यहाँ अप्रासंगिक न होगा :

रमध्वं मे वचसे सोम्याय ऋतावरी रूपमुहूर्त्तमेवैः ।
प्रसिन्धुमच्छा बृहती मनीषा वस्युरह्वे कुशिकस्य सूनुः ।।

(ऋ० सं०, ३।३३।५)

अर्थात्, हे जलवाली नदियो ! तुम मेरे मधुर वचन द्वारा अपने शीघ्र गमन से मुहूर्त्त-मात्र विश्राम कर लो। मैं कुशिक का पुत्र अपनी रक्षा चाहता हुआ अपनी बुद्धि के अनुसार तुम्हारे सम्मुख होकर तुमसे प्रार्थना करता हूँ।

इस मन्त्र का ऋषि विश्वामित्र है, वह नदियों की स्तुति करता है, इसके मूल में निरुक्तकार आदि ने यह आख्यान बताया है कि विश्वामित्र पैजवन सुदास राजा के पुरोहित थे। वह राजा से बहुत-सा धन लेकर सतलज और विपाशा के संगम पर पहुँचे, वहाँ उतरने का मार्ग न देखकर विश्वामित्र ने नदियों की स्तुति की और पहले निषेध करके अन्त में नदियों ने उनकी बात मानकर उन्हें मार्ग दे दिया। इस प्रकरण के मन्त्रों का यही स्वारसिक अर्थ होता है। अब यहाँ अस्मद् शब्द से इस मन्त्र का उच्चारण करनेवाले को ही लिया जाय, तो वह अपने को कुशिक-पुत्र क्यों कहेगा और नदियों के प्रवाह को रोकने की सब प्रयोक्ताओं को क्यों आवश्यकता होती ? इसलिए, इस मन्त्र का अर्थ करने में विश्वामित्र को ही वक्ता मानना आवश्यक है।

अकारि त इन्द्र गोतमेभिर्ब्रह्मण्योक्ता नमसा हरिभ्याम् ।
सुपेशसं वाजमाभरा नः प्रातर्मक्षू धिया वसुर्जगम्यात् ।।

(ऋ०, १।६३।९)

अर्थात्, इस मन्त्र को गोतम ऋषि ने ही लिखा है, और गोतम गोत्र के ऋषियों ने तुम्हारी स्तुति की, तुम हमें अन्न, धन आदि दो, यह इन्द्र से उनकी प्रार्थना है। अब प्रत्येक प्रयोक्ता अपने को गौतम-वंश का कैसे कह सकेगा, जैसे हिन्दी-भाषा के पुराने कवि अपनी कविता में अपने नाम की छाप दे देते थे, वैसी ही छाप इन मन्त्रों में भी स्पष्ट प्राप्त होती है, फिर भी वेदों को अस्मर्यमाणकर्त्तृक कहकर अपौरुषेय बतलाना मीमांसकों का कैसे संगत है, यह भगवान् ही जान सकता है।

कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना ।
नाना धियो वसूयवोऽनु गा इव तस्थिमेन्द्रायेन्दो परिस्रव ।।

(ऋ०, ९।११२।३)

अर्थात्, मैं मन्त्र-समूहों का रचयिता हूँ, मेरा पुत्र वैद्य है, अथवा यज्ञ की चिकित्सा करनेवाला ब्रह्मा है, मेरी कन्या बालू की रेत से जौ आदि अन्नों को सेंकती है, अर्थात् जौ की घानी आदि बनाती है। इस प्रकार, हम लोग भिन्न-भिन्न कार्य करते हुए भी परस्पर सहयोग से रहते हैं। हे सोम ! तुम इन्द्र के लिए अपना रस निकालो।

अब सोचने की बात है कि प्रत्येक मन्त्रप्रयोक्ता का पुत्र वैद्य हो वा उसकी लड़की घानी आदि बनानेवाली हो—यह कैसे सम्भव है। अस्तु; इस प्रकार के मन्त्र बहुत-से हैं, जिनमें अस्मद् शब्द का सम्बन्ध उनके प्रवक्ता ऋषि से ही हो सकता है।

आभोगयं प्र यदिच्छन्त ऐतनापाकाः प्राञ्चो मम केचिदापयः।
सौधन्वनासश्चरितस्य भूमनागच्छत सवितुर्दाशुषो गृहम्॥
(ऋ०, १।११०।२)

इस मन्त्र का कुत्स ऋषि और ऋभु देवता बताये गये हैं। वहाँ ऋभु देवताओं को ऋषि ने अपना पूर्वज कहा है और अपनी ज्ञाति बताई है। वहाँ पुराणादि से कुत्स के कुल का ऋभुओं से उत्पन्न होना सिद्ध हो जाता है। अब प्रत्येक मन्त्रप्रयोक्ता ऋभु देवताओं को अपना पूर्वज कैसे कह सकेगा। अस्तु;ऐसे मन्त्रों में अस्मद् शब्द का सम्बन्ध प्रत्यक्ष ही उनके प्रवक्ता ऋषि से ही हो सकता है, अन्यथा उनका कोई अर्थ ही सुसंगत नहीं होता। हाँ, कहीं-कहीं वक्ता ऋषियों ने अपने वक्तव्य विषय को किसी देवता आदि के मुख से कहलवाया है, जैसा कि इन्द्र-अगस्त्य के संवाद आदि में वा वागाम्भृणीण सूक्त में, वे देवता ही ऋषि माने जाते हैं और उनका ही अस्मद् शब्द से ग्रहण होता है। मन्त्रद्रष्टा ऋषि ने अपने नाम को वहाँ गुप्त रखा है, किन्तु ऐसे मन्त्र स्वल्प ही हैं, ऐसा निरुक्तकार ने लिखा है। कह चुके हैं कि—'अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यः', 'इति शुश्रुम धीराणां येनस्तद् विचचक्षिरे' इत्यादि मन्त्र ऋषियों का जो पूर्वापरभाव बतलाते हैं, उनकी भी संगति अपौरुषेय वा ईश्वर-कृत मानकर नहीं बैठ सकती। अतः, ईश्वरानुग्रह से अलौकिक ज्ञान प्राप्त कर शब्द-रचना ऋषियों ने ही स्वतन्त्रतापूर्वक की—यही वेद-पर्यालोचन से सिद्ध होता है। प्रतिपाद्य विषय ईश्वरानुग्रह से बुद्धि में प्राप्त हुआ, इस आशय से मन्त्रों को ईश्वर-प्रणीत कहा जा सकता है और ज्ञान की नित्यता से अपौरुषेयता भी बन सकती है, किन्तु वैखरी वाणी में शब्दों के प्रयोक्ता तो ऋषि-महर्षि ही मानना उचित है। वे रागद्वेष-रहित परम-प्राप्त हैं। यह उनकी रचना से ही स्पष्ट हो जाता है और प्रामाण्य में कोई शंका नहीं हो सकती। उन्होंने अर्थ का प्रत्यक्षवत् दर्शन किया, इसीलिए वे द्रष्टा कहे जाते हैं। प्राप्त अर्थ का ही स्पष्टीकरण उन्होंने अपने शब्दों द्वारा किया, अतः मीमांसकों ने उन्हें प्रवचनकर्त्ता माना यह भी ठीक ही है। लौकिक शब्दों की तरह अन्य लौकिक प्रमाणों से अर्थ जानकर शब्दों द्वारा प्रकाशित करना सम्भव नहीं—यही वेद की विलक्षणता है और इसी कारण उसे ईश्वर-कृत अपौरुषेय वा नित्य कहना युक्तियुक्त ही होता है। मीमांसकों की यह भी युक्ति ठीक नहीं उतरती कि इनके कर्त्ता का किसी को स्मरण नहीं, इसलिए इन्हें अपौरुषेय मानना चाहिए। जब सर्वानुक्रमणी

आदि में सूक्तों, मन्त्रों आदि सबके ऋषि स्पष्ट लिखे हैं और मन्त्रों में भी यत्र-तत्र कर्त्ता का नाम स्पष्ट आ जाता है, तब कर्त्ता का नाम किसी को स्मरण नहीं, यह किस आधार पर माना जा सकता है। ऋषि लोग केवल प्रवचनकर्त्ता हैं, निर्माता नहीं, यह उक्ति ठीक नहीं उतरती; क्योंकि ऐसा मानने में प्रमाण क्या? वेदों को अपौरुषेय मान लेने पर प्रवचनकर्त्ता का नाम ऋषि है—यह सिद्ध होगा और ऋषि प्रवचनकर्त्ता ही हैं, निर्माता नहीं, यह मान लेने पर अपौरुषेयत्व सिद्ध होगा, यह एक प्रकार का असमाधेय अन्योन्याश्रय आ जाता है। सृष्टि-प्रलय-व्यवस्था सभी शास्त्रकारों ने मानी है, इसलिए 'न कदाचिदनीदृशं जगत्' (सदा से जगत् इसी प्रकार चला आ रहा है), यह मीमांसकों का कथन भी सबसे विरुद्ध ही है। हाँ, यदि अपौरुषेय का यह अर्थ किया जाय कि प्रमाणान्तर से अर्थ को जानकर स्वतन्त्रता से जो वाक्य प्रयोग किया जाता है, वह पौरुषेय है। वेद में ऐसा नहीं, इसलिए उन्हें अपौरुषेय कहना चाहिए, तो ऐसी अपौरुषेयता पर हमें कोई आपत्ति नहीं। क्योंकि, उनके अर्थों का ज्ञान लौकिक प्रमाणों से नहीं हो सकता, यह हम भी मानते हैं।

अब यहाँ एक प्रबल प्रश्न उठता है कि पूर्वोक्त पहले और दूसरे सिद्धान्तों की पुष्टि में जो श्रुति-स्मृतियों के प्रमाण दिये जा चुके हैं, उनकी क्या गति होगी? ज्ञान की दृष्टि से वा वृत्त्यात्मक विषय-ज्ञान की दृष्टि से अपौरुषेय वा ईश्वर-कृत कहा गया है, यह समाधान उपयुक्त नहीं प्रतीत होता; क्योंकि 'नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा' (यह नित्यवाणी है, स्वयम्भू ब्रह्मा ने इसे प्रकटमात्र किया है), 'अनादिनिधना नित्या...' आदि प्राचीन आप्तोक्त स्मृति में भी वेदवाणी को ही नित्य कहा है और 'तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः' इत्यादि पूर्वोक्त पुरुषसूक्त के मन्त्र में ऋक्, यजुः, साम का नाम लेकर उनकी ईश्वर से उत्पत्ति बताई गई है, तब केवल ज्ञानरूप से नित्य कहने वा अर्थज्ञान ईश्वर-प्रदत्त होने के कारण ईश्वर-प्रणीत बता देने से उन प्रमाणों की स्पष्ट हत्या हो जायगी। इसलिए, अपौरुषेय वा ईश्वर-प्रणीत होना ही प्रमाणसिद्ध होता है—इसका मुख्य समाधान यह है कि वाक्-शब्द मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद में केवल शब्द के लिए ही प्रयुक्त नहीं हुआ है, किन्तु सब जगत् के उपादान कारण-रूप भूतों की प्रथम अवस्था को वहाँ वाक् शब्द से कहा गया है। देखिए—'वागेवेदं सर्वम्' इस ऐतरेय ब्राह्मण में वाक् की सर्वरूपता बताई गई है। शतपथब्राह्मण की पुरश्चरणश्रुति में (४।६।७।१) कहा गया है कि ऋक्, यजुः, साम नाम की जो तीन विद्याएँ हैं, उनमें यह पृथ्वी ही ऋक् है, अन्तरिक्ष ही यजुः है और द्युलोक ही साम है। यह एक साहस्री वाक् से उत्पन्न हुई है। दूसरा इन्द्र है और तीसरा विष्णु है, ऋक् और साम इन्द्र हैं, यजुः विष्णु हैं! ऋक् और साम से जो यजुः की उत्पत्ति हुई है, वह तेज से तेज की उत्पत्ति है। इन्द्र इसी को कहते हैं; जो तप रहा है, अर्थात् सूर्य का नाम इन्द्र है, यही सबका भरण-पोषण करनेवाला है इत्यादि। शतपथब्राह्मण, १०।५।२।१४। में भी कहा गया है कि 'यह अग्नि ही तीन प्रकार से प्रादुर्भूत है, जिसे वाक् कहा जाता है—वह आदित्य है। उसका मण्डल ऋक् है, प्रकाश साम है और मध्य में जो पुरुष-रूप तत्त्व है, वह यजुः है'; इस प्रकार के ब्राह्मणों में प्राप्त शतशः विवरणों से विचारक विद्वानों को यह निश्चय हो जाता है कि वाक्, ऋक्, यजुः, साम आदि शब्द वैज्ञानिक अर्थों के लिए ही वहाँ प्रयुक्त हुए हैं। पृथ्वी, अन्तरिक्ष और

द्युलोक के जो प्रधान देवता अग्नि, वायु और आदित्य माने गये हैं, वे भी ऋक् यजुः और साम नाम से संकेतित हैं। हमारा पार्थिव अग्नि ऋक् है, उसकी व्याप्ति सूर्यमण्डल तक होती है, इसलिए उसकी दृष्टि से सौर अग्नि को साम कहा गया है और मध्य में अग्नि का सहचर वायु, यजुः नाम से व्यवहृत है।

इन वैज्ञानिक वेदों का निरूपण हम पहले कर चुके हैं। नित्यता वा ईश्वरकर्तृता के प्रमाणों की संगति भी वहाँ दिखाई जा चुकी है। इसलिए, शिष्ट-परिगृहीत तीनों सिद्धान्तों का समन्वय हो जाता है।

एक यह भी सिद्धान्त कई प्रमाणों से सिद्ध है कि अग्नि, वायु और सूर्य से तीनों वेदों का प्रादुर्भाव हुआ, इसका भी वैज्ञानिक वेदों में संकेत पहले बताया जा चुका है। ग्रन्थ-रूप वेदों में भी इस सिद्धान्त का समन्वय यों हो सकता है कि ऋग्वेद में प्रधानतया इस पार्थिव अग्नि का विवरण है। दूसरे लोकों के अग्नि इसके सहचर-रूप से वर्णित हैं। यजुर्वेद में प्रधान रूप से अन्तरिक्ष के प्रधान देवता वायु का मुख्य रूप में वर्णन है और सामवेद में सूर्य और आदित्य का। यह बात तीनों वेदों के आरम्भिक मन्त्रों में संकेत रूप से बताई गई है। ऋग्वेद के प्रारम्भ का मन्त्र है : **अग्निमीले पुरोहितम्**, अर्थात् यहाँ हमारे सम्मुख विराजमान पार्थिव अग्नि का हम प्रस्तवन करते हैं। यजुर्वेद के प्रारम्भ में ही वायु का प्रस्ताव किया जाता है : **इषे त्वोर्ज्जे त्वा वायवःस्थ** और सामवेद के आरम्भ में **अग्न आयाहि वीतये** यह मन्त्र है। अर्थात्, सूर्यलोक से आनेवाला अग्नि उसमें मुख्यतया प्रस्तुत है। यद्यपि सभी वेदों में सभी देवताओं की स्तुति आती है; क्योंकि सभी लोकों में सभी देवता व्याप्त हैं। किन्तु, एक-एक को प्रधान रखकर उसके सहचर-रूप से अन्य देवताओं का प्रस्तवन उन-उन वेदों में किया गया है। इसी आशय से **अग्नेर्ऋग्वेदो अजायत** इत्यादि श्रुति में और—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम् ॥

—इस मनु-प्रोक्त स्मृति में अग्नि, वायु, सूर्य से ऋग्यजुःसाम वेदों की उत्पत्ति बताई गई है।

इस सम्पूर्ण प्रकरण का सारांश यह है कि वेद शब्द और उसके अवान्तर विशेष बतानेवाले ऋग्यजुःसाम शब्द, दो प्रकार के अर्थों में व्यवहृत होते हैं, एक, जगत् के उत्पादक वैज्ञानिक अर्थ में, दूसरे, उसके ज्ञान में। ज्ञान में प्रयुक्त होनेवाले वेद शब्द का भी चार प्रकार से व्यवहार होता है—शब्द-समूह के उत्पादक, पश्यन्ती और मध्यमा वाक् के ज्ञान-रूप अर्थ में, उस ज्ञान से उत्पन्न होनेवाले शब्द-समूह में, उस शब्द-समूह को सुनकर श्रोता के हृदय में उत्पन्न होनेवाले ज्ञान में और उस ज्ञान के विषयीभूत लौकिक वा अलौकिक अर्थों में। इनके विशेष्य-विशेषण-भाव में वक्ता के इच्छानुसार परिवर्त्तन हो सकता है। लौकिक या अलौकिक शब्दाभिव्यक्ति के जनक ज्ञान को वेद कहते हैं, उस ज्ञान के द्वारा अभिव्यक्ति होनेवाले शब्दों से श्रोता को जो ज्ञान होता है, उसे भी वेद कह सकते हैं। ज्ञान से उत्पन्न वा

ज्ञान के उत्पादक और ज्ञान में अर्थ के साथ अनुस्यूत रहनेवाले शब्द-समूह को भी वेद कहते हैं और उस ज्ञान के विषयीभूत और शब्दों के वाच्य अर्थ को भी वेद कहा जाता है। वेद शब्द की व्याकरणानुसार भिन्न-भिन्न व्युत्पत्तियों से ये चारों ही अर्थ प्रकाशित हो जाते हैं। इनमें से वैज्ञानिक वेदों के उत्पादन में मनुष्य का कोई सामर्थ्य नहीं,' वे ईश्वर-कृत, ईश्वर-निःश्वसित वा अपौरुषेय ही कहे जा सकते हैं। शब्द-समूह को विशेषण मानकर ज्ञान को विशेष्य मानने की दशा में भी वेद सर्वथा 'अपौरुषेय' ही हैं; क्योंकि ज्ञान स्वरूपतः नित्य है और ऋषियों के हृदय में ईश्वर की प्रेरणा से प्रादुर्भूत हुआ। वस्तुतः, ज्ञान ईश्वर का रूप है, इसलिए वेद को ईश्वर का रूप भी कहा जाता है। ज्ञान के विषयीभूत शब्दों के वाच्य अर्थ को, यदि वेद शब्द से लिया जाय, तो वेद को ईश्वर-निर्मित और ईश्वर-निःश्वसित कहा जाता है। यदि शब्द-समूह को ही प्रधान माना जाय, तो भी यह विचारना होगा कि कौन-सा शब्द-समूह ? ज्ञान के साथ नित्य सम्मिलित पश्यन्ती वा मध्यमा वाक् का शब्द-समूह, अथवा वैखरी वाक् का शब्द-समूह। प्रथम पक्ष में भी वेदों की अपौरुषेयता वा ईश्वर-प्रणीतता ही रहेगी; क्योंकि पश्यन्ती वा मध्यमा के उत्पादन में मनुष्य का कोई व्यापार नहीं चल सकता। वे अर्थ के साथ नित्य सम्मिलित शब्द, शब्द-नित्यतावादियों के मत में अपौरुषेय हैं और अनित्यतावादियों के मत में ईश्वर-प्रणीत हैं। अब विवाद केवल वैखरी वाक् के शब्दों पर ही रह गया, वे भी शब्द-नित्यतावादियों के मत में अपौरुषेय हैं, ध्वनिमात्र पौरुषेय है, उससे अभिव्यंजित होनेवाला मुख्यस्फोट-रूप शब्द तो नित्य ही है। तब केवल आनुपूर्वी का सन्निवेश ऋषि-महर्षियों द्वारा माना जायगा। और, वाक्यस्फोट-रूप शब्द को नित्य माननेवालों के मत में तो वाक्य-रूप आनुपूर्वी नित्य ही है, इसलिए उस आनुपूर्वी की अभिव्यंजक प्रथम ध्वनि के कर्त्ता होने मात्र से ऋषियों में कर्त्तृत्व का विश्राम होगा। अनित्यत्ववादियों के मत में भी लौकिक प्रमाणान्तर से अर्थ जानकर शब्द-प्रयोग करना, जैसा कि लौकिक शब्दों में होता है, वह तो वेद में है नहीं। ईश्वर-प्रसाद से ज्ञान प्राप्त कर केवल शब्दों का प्रयोग करने के कारण ऋषि-महर्षि प्रवक्ता या प्रणेता कहे जायेंगे। इस प्रकार, सूक्ष्म विचार करने पर वेद का कर्त्ता कौन है, इस विषय में कोई बड़ी विप्रतिपत्ति नहीं रहती, अधिकांश में उनकी अपौरुषेयता ही सिद्ध होती है। केवल बहुत थोड़े अंश में विवाद रहता है, जो नगण्य है। अतः, वेदों की अपौरुषेयता वा ईश्वर-प्रणीतता ही आर्य-संस्कृति में प्रधानतया मान्य है।

वेदों की विशेषता

अन्य शास्त्रों वा काव्यादि के शब्दों से वेद के शब्दों में विलक्षणता यही है कि अन्य शास्त्रों वा काव्यादि के शब्दों के प्रतिपाद्य अर्थों का ज्ञान उनके वक्ता को लौकिक प्रमाणों से होता है, दूसरे प्रमाणों से अर्थ-साक्षात्कार कर वे स्वतन्त्र रूप से शब्द-प्रयोग करते हैं, इसलिए वे ग्रन्थकर्त्ता कहे जाते हैं। किन्तु, वेद-शब्दों के वाच्यार्थ स्वर्ग, अपूर्व, देवता आदि का स्फुट ज्ञान प्रमाणान्तर से सम्भव नहीं। यहाँ वह ज्ञान, योग, समाधि आदि द्वारा प्रसादित ईश्वर के द्वारा ही प्रदत्त है और उस ज्ञान का मूल दूसरा कोई शब्द भी नहीं कहा

जा सकता; क्योंकि वेद से प्राचीन कोई ग्रन्थ अभी तक किसी ने नहीं माना। अन्य ग्रन्थों का ज्ञान वेद से उन ग्रन्थों के अर्वाचीन होने के कारण वेदमूलक कहा जा सकता है, किन्तु वेद का ज्ञान ईश्वर-प्रदत्त के अतिरिक्त कुछ नहीं कहा जा सकता। इसलिए, अर्थ की दृष्टि से ऋषि-महर्षि द्रष्टा कहे जाते हैं और शब्दों की दृष्टि से प्रयोक्ता वा आनुपूर्वी निर्माता। यों द्रष्टृत्व और कर्त्तृत्व भी समन्वित हो जाता है।

दूसरे, वेदों में यह विशेषता है कि इनके सिद्धान्त काल-भेद से परिवर्त्तित नहीं होते। यही इस बात का प्रमाण है कि ये ईश्वरीय ज्ञान हैं। मनुष्य के ज्ञान में भ्रम, प्रमादादि सम्भव हैं। अतः, वह ज्ञान बदलता रहता है। भूल प्रतीत होने पर दूसरा अधिक विद्वान् उस सिद्धान्त को बदल देता है। किन्तु ईश्वर में भ्रम, प्रमादादि सम्भव नहीं, अतः ईश्वर-ज्ञान कभी नहीं बदलता। यही कारण है कि बड़े-बड़े विज्ञानवेत्ता विद्वान् बड़े विचार से जो सिद्धान्त (थिउरियाँ) स्थिर करते हैं, वे भी आगे बदल देने पड़ते हैं। किन्तु, वैदिक सिद्धान्त ईश्वरीय ज्ञान है। उसमें आजतक कोई भूल नहीं निकल सकी। जहाँ-जहाँ आधुनिक विज्ञान ने वैदिक विज्ञान के सिद्धान्तों से मतभेद दिखाकर संघर्ष किया, वहाँ आधुनिक विज्ञान को ही घूम-फिरकर वैदिक सिद्धान्तों की शरण में आना पड़ा। वैदिक सिद्धान्त अटल रहे। इसके कई एक उदाहरण हैं, दृष्टान्त-रूप में दो-तीन हम उपस्थित कर देते हैं।

१. वेद का अनादिकाल से अटल सिद्धान्त है कि सम्पूर्ण जगत् का मूल तत्त्व एक है। 'सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' यहाँ का घण्टाघोष है। पाश्चात्य विज्ञान पहले इसके विरुद्ध चला। उन्होंने अपने कल्पित हाइड्रोजन, ऑक्सिजन आदि को मौलिक और अपरिवर्त्तनीय तत्त्व माना। अन्वेषण से उनकी संख्या बढ़ती गई। पैंसठ, तिरानब्बे, शताधिक आदि खूब संख्या-विस्तार हुआ। किन्तु, आज विज्ञान रास्ते पर आ गया है कि अबतक के माने हुए शताधिक तत्त्व मौलिक नहीं, वे तो जन्य हैं। मौलिक तत्त्व तो दो ही हैं—इलैक्ट्रोन और प्रोट्रोन। और, अब आवाज उठ गई है कि दो का भी एक ही मूल से विकास है। यों इस विज्ञान के मध्याह्न-काल में भी 'सदेव सम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' का विजय-शंख बज गया। यद्यपि एक तत्त्व से विकास होने की पूरी प्रक्रिया अभी विज्ञान नहीं समझ सका है और दोनों ओर के पारंगत विद्वानों का कथन है कि विना आध्यात्मिक दृष्टि मिले, यह गुत्थी सुलझेगी भी नहीं, तथापि सिद्धान्त-रूप में तो पाश्चात्य विज्ञान को वैदिक विज्ञान की शरण में आना ही पड़ा।

२. यह दृश्यमान सृष्टि कितने काल से चल रही है—इसपर बहुत बड़ा मतभेद था। वेदोक्त युग-प्रक्रिया के अनुसार, जिसका कि विशद रूप से स्पष्टीकरण वेदानुयायी पुराणों में है, सृष्टि कुछ न्यून दो अरब वर्ष पुरानी मानी जाती है। पाश्चात्यों में धर्मग्रन्थ इसे केवल पाँच हजार वर्ष पुरानी कहते थे। विज्ञान भी पहले सृष्टि की आयु अल्प ही बताने लगा। किन्तु, शनैः-शनैः भूगर्भ-विज्ञान के आविष्कार उनकी आँखें खोलते गये। पाश्चात्य वैज्ञानिक, क्रम से सृष्टि की प्राचीनता मानते-मानते आज करीब दो अरब वर्ष पुरानी

सृष्टि स्वीकार कर चुके हैं। यद्यपि भारतीय शास्त्रों की तरह वे वर्ष, मास, तिथि आदि की पूरी गणना आज भी नहीं कर पाये हैं, उसमें न जाने कितना समय अभी और लगेगा, तथापि सिद्धान्त-रूप में यहाँ भी वैदिक विज्ञान का विजय घोषित हो गया।

३. वैदिक विज्ञान, शब्द को आकाश का गुण कहता आया है। वेद वाक् को इन्द्रपत्नी कहता है। इन्द्र अन्तरिक्ष का देवता सब अन्तरिक्ष में व्यापक है। पाश्चात्य विज्ञान इससे विरुद्ध चला। वह शब्द को वायु का गुण सिद्ध करने में लगा। किन्तु, आज रेडियो के आविष्कार ने उनकी 'थिउरी' बदल डाली। आज वे मान गये कि शब्द सेकेण्डों में जितनी दूर पहुंच जाता है, उतनी गति वायु में नहीं है। इससे शब्द, 'ईथर' वा 'स्पेस' का ही गुण है। ईथर और स्पेस दोनों ही हमारे यहाँ आकाश-तत्त्व में ही अन्तर्गत हैं, इससे यहाँ भी वैदिक विज्ञान का जयघोष हुआ।

४. वृक्ष, लता आदि को पहले विज्ञान चेतन नहीं मानता था। वेदादि शास्त्र इन्हें सदा से चेतन कहते थे। स्वनामधन्य भारतमूर्द्धन्य डॉ० जगदीशचन्द्र वसु ने वैज्ञानिक प्रक्रिया से ही वृक्षादि में प्राणसत्ता सिद्ध कर वैदिक विज्ञान का जयध्वज फहरा दिया।

५. और तो क्या, नित्य व्यवहार में आनेवाली ऋतु-मास की गणना को ही देख लीजिए। मनुष्यबुद्धि-प्रसूत ज्ञान आजतक ऋतुमासादि की गणना करने में भी समर्थ न हो सका। हमारे मुसलमान भाइयों का मुहर्रम और रमजान कभी प्रचण्ड ग्रीष्म में आता है, और कभी महाशीत में। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि ऋतु (मौसम) उनकी मास-गणना का साथ नहीं देती, उस गणना को अवैज्ञानिक घोषित करती है। प्रति मास के दिनों का निरूपण वे कर ही नहीं सके। कभी कोई महीना उनतीस दिन का होता है, तो कभी वही तीस वा एकतीस दिन का हो जाता है। आज कौन-सी तारीख है, इसका वे कोई प्रमाण नहीं दे सकते। अपने को बहुत बड़ा वैज्ञानिक माननेवाली पाश्चात्य जातियों का इतिहास भी बताता है कि मौसम से भेद देखकर एक बार ग्यारह दिन बीच में से निकाल देने पड़े थे। पहली तारीख को ही बारह तारीख घोषित की गई थी। चतुर्थ वर्ष फरवरी में एक दिन बढ़ाने की कल्पना कर आगे ऐसा भेद न आने का उपाय किया गया, किन्तु फिर भी गड़बड़ी देख शताब्दी के अन्तिम वर्ष में दिन न बढ़ाना स्थिर किया। इन बातों का आधार कुछ नहीं, केवल मनुष्यबुद्धि-प्रसूत 'थिउरी' थी। आज भी विद्वान् कहते हैं कि अब भी वर्ष-गणना में कुछ घड़ी-घण्टों का अन्तर है। कई शताब्दी वा सहस्राब्दी के बाद फिर ऐसा समय आयगा कि तारीखें बदल देनी पड़ेंगी। आज यह तारीख ही क्यों है, इसका प्रमाण तो उनके पास कुछ भी नहीं। किन्तु, वैदिक विज्ञान के आधार पर चलनेवाली तिथि-मासादि-प्रक्रिया कभी बदलनी पड़ी हो, ऐसा कोई इतिहास नहीं। सौर वर्ष से सावन वर्ष को मिला देने के लिए जो यहाँ अधिमास का सिद्धान्त चलाया गया है, उसका मूल ऋक्संहिता में मिलता है। वारुण-सूक्त में मन्त्र है कि :

वेद मासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावतः। वेदा य उपजायते।

अर्थात्, वरुण देवता बारह महीनों को जानता है, और जो नया महीना बढ़ जाता है, उसे भी जानता है। वरुण देवता से अधिक मास का क्या सम्बन्ध है, इस जटिल गम्भीर विवेचना में हम यहाँ नहीं पड़ेंगे। दैवत-विज्ञान बहुत विस्तृत एक स्वतन्त्र निबन्ध का विषय है। यहाँ इतना ही संकेत कर देते हैं कि वैदिक विज्ञान के अनुसार, हमारी पृथ्वी भगवान् सूर्य के वश में है वो उसकी परिक्रमा करती है और चन्द्रमा इस पृथ्वी की परिक्रमा करता हैं। उसी प्रकार सूर्य वरुण की परिक्रमा करता रहता है। वरुण की स्तुति में ऋक्-संहिता का मन्त्र है कि :

उरुं हि राजा वरुणश्चकार सूर्याय पन्थामन्वेतवा उ।
अपदे पादाप्रतिधातवेऽकरुतापवक्ता हृदयाविधिश्चित्॥
(ऋ०, १।२४।८)

इसका प्रकृतोपयोगी आशय है कि वरुण राजा सूर्य को चलने के लिए बहुत बड़ा मार्ग देता है। विना पैरवाले सूर्य को पैर भी वही देता है। इससे स्पष्ट है कि वरुण के ही आकर्षण में बद्ध सूर्य-मण्डल उसकी परिक्रमा करता रहता है। इन्हीं चन्द्र, पृथ्वी, सूर्य आदि की गति के कारण हमारे यहाँ की तिथि, मास, वर्ष आदि की व्यवस्था चलती है। इसी व्यवस्था को सुसंगत चलाने के लिए अधिक मास 'उपजायते' की व्यवस्था है। इस व्यवस्था से अति प्राचीन काल से बराबर चलते रहने पर भी हमारी व्यवस्था में ऋतु-परिवर्त्तन में कोई भेद नहीं पड़ता। इसीसे विज्ञ विद्वान् समझ सकते हैं कि यह ईश्वर-ज्ञान द्वारा सम्पादित व्यवस्था है। हमारा सपूर्ण पंचांग तिथि, वार, नक्षत्र आदि कोई भी मनुष्य-कल्पित नहीं, सब सूर्य, चन्द्रादि के आधार पर हैं। तिथियों की दो प्रकार की व्यवस्था है। यह सम्पूर्ण खगोल-कल्पित ३६० भागों में विभक्त किया गया है। इसी के कल्पित वृत्तों पर सूर्य, चन्द्रमा अथवा पृथ्वी और चन्द्रमा परिभ्रमण करते हैं। सूर्य और चन्द्रमा के बीच में प्रति बारह-बारह अंश के अन्तर के अनुपात से एक-एक तिथि मानी जाती है। अर्थात्, अमावस्या तिथि को सूर्य और चन्द्रमा एक सूत्र पर रहते हैं। आगे चन्द्रमा अपनी गति के अनुसार चलने लगता है। भू-भ्रमणवादियों के मत में सूर्य स्थिर है और सूर्य का घूमना जो मानते हैं, उनके मतानुसार सूर्य एक दिन में एक अंशमात्र चलता है, किन्तु चन्द्रमा एक दिन में १३ अंश चलता है। भू-भ्रमण या सूर्य-भ्रमण में कोई गणित का भेद नहीं पड़ता, इसलिए समझने की सुगमता के लिए हम यहाँ दृष्टि के अनुसार सूर्य-भ्रमण को ही मानते हुए निरूपण करेंगे। उक्त प्रक्रिया के अनुसार सूर्य और चन्द्रमा में १२ अंश का अन्तर जबतक रहे, तबतक एक तिथि मानी जाती है। अर्थात्, १२ अंश के अन्तर तक प्रतिपदा, १२ से २४ अंश के अन्तर तक द्वितीया, २४ से ३६ अंश के अन्तर तक तृतीया इत्यादि। यों घूमते-घूमते ३० तिथियों में ३६० अंश पूरे हो जायेंगे और पुनः अमावस्या को सूर्य और चन्द्रमा एक सूत्र में आ जायेंगे। चन्द्रमा के भ्रमण का मार्ग कभी भूमण्डल के समीप रहता है और कभी बहुत दूर। समीप का घेरा छोटा होने के कारण उसके अंश छोटे होते हैं और समान गति से वहाँ १२ अंश अल्प समय में पूरे हो जाते हैं, किन्तु पृथ्वी से बहुत दूर का घेरा बड़ा हो जाता है। वहाँ के अंश

भी बड़े होते हैं, इसलिए वहाँ १२ अंश पूरे करने में अधिक समय लगता है। यही कारण है कि हमारी तिथियाँ घटती-बढ़ती रहती हैं। जब पृथ्वी के समीप में चन्द्रमा भ्रमण करता रहेगा, तब तिथि छोटी रहेगी और दूर के भ्रमण में तिथि बड़ी हो जायगी। यों ही घड़ियों का भेद पड़ते-पड़ते जहाँ एक ही दिन के भीतर दूसरे १२ अंशों की भी समाप्ति हो जायगी, वहाँ तिथि टूट जायगी और जहाँ एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय तक पूरे २४ घण्टे व्यतीत हो जाने पर भी १२ अंश पूरे न होंगे, वहाँ तिथि बढ़ जायगी। यह तिथियों की एक प्रकार की व्यवस्था है। दूसरी व्यवस्था यह है कि चन्द्रमा का पूरा १६वाँ हिस्सा, अर्थात् एक कला जबतक सूर्य के तेज से प्रकाशित न हो जाय, तबतक एक तिथि। अमावस्या को चन्द्र-मण्डल के सम-सूत्र भाग में ठीक उसके मस्तक पर सूर्य-मण्डल रहता है, इसलिए चन्द्रमा का ऊपरी भाग जो पृथ्वी के सम्मुख नहीं है, वह उस दिन सूर्य के तेज से पूरा प्रकाशित रहता है। किन्तु, पृथ्वी के सम्मुख भाग पर ऊपरी भाग का व्यवधान हो जाने के कारण कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता, इसलिए हमें उस दिन चन्द्र-मण्डल दिखाई नहीं देता। किन्तु, जब चन्द्रमा १२ अंश आगे निकल गया, तब वक्र भाव से १६वें अंश पर प्रकाश पड़कर शुक्ल-प्रतिपदा को चन्द्रमा को एक कला बन जाती है।

इतना सूक्ष्म भाग दृश्य नहीं हो सकता, इसलिए शुक्ल-प्रतिपदा को भी हमलोग चन्द्र-दर्शन नहीं कर पाते। किन्तु, द्वितीया को जब दो कलाएँ चमक उठती हैं, तब चन्द्रमा का कुछ अंश हमें दिखाई देने लगता है। इसी प्रकार, आगे एक-एक कला बढ़ती जाती है और एक कला की पूर्त्ति के साथ ही एक तिथि की पूर्त्ति मान ली जाती है। पूर्णिमा को चन्द्रमा और सूर्य ठीक सामने आ जाते हैं, इसलिए चन्द्रमा का इधर का भाग पूरा प्रकाशित हो जाता है। उस दिन अमावस्या से १६वीं तिथि, अर्थात् पूर्णिमा हो जाती है। फिर, वक्रता के कारण १-१ अंश पर प्रकाश गिरना बन्द होता जाता है और चन्द्र-मण्डल घटने लगता है। अमावस्या को फिर दोनों मण्डलों के साथ हो जाने के कारण चन्द्रमा अदृश्य हो जाता है। यह तिथि-गणना की दूसरी व्यवस्था है। इसमें स्थिति पहली व्यवस्था से विपरीत पड़ती है, अर्थात् जबतक चन्द्रमा पृथ्वी के समीप में घूमता रहेगा, तबतक सूर्य से दूर रहने के कारण प्रकाश न्यून अंश पर पड़ेगा और कलापूर्त्ति विलम्ब से होगी। किन्तु, जब वह पृथ्वी से जितना दूर होगा, उतना ही सूर्य-मण्डल के समीप पहुँचेगा, इसलिए प्रकाश पड़ने में शीघ्रता होगी और कलापूर्त्ति भी शीघ्र होगी। इसलिए, दोनों प्रकार की व्यवस्थाओं में घड़ियों का भेद पड़ता है। किस कार्य में कैसी तिथि लेना है, यह निर्णय धर्मशास्त्रों में कर दिया जाता है। अस्तु; हमें यहाँ इतना ही कहना है कि दोनों प्रकार की तिथियाँ प्रत्यक्ष से जानी जा सकती हैं। यन्त्र से सूर्य और चन्द्रमा का वेध कर पहिले प्रकार की तिथि जान ली जायगी और चन्द्र-मण्डल को यन्त्र से स्पष्ट देखकर प्रकार की तिथि का भी स्फुट ज्ञान हो जायगा। नक्षत्र का ज्ञान तो स्पष्ट ही हो जाता है कि जिस नक्षत्र (तारा) के समसूत्र में जबतक चन्द्रमा रहे, तबतक वह नक्षत्र कहलाता है। इस प्रकार, हमारे तिथि, नक्षत्र आदि कल्पना-प्रसून नहीं, प्रत्यक्षगम्य हैं।

वारों की स्थिति भी सुव्यवस्थित प्रकार से है। प्राचीन ज्योतिष में ग्रहों की स्थिति इस प्रकार मानी गई है। पृथ्वी से आरम्भ कर पहले चन्द्रमा, उसके आगे बुध, उसके आगे शुक्र, फिर सूर्य, उसके ऊपर क्रम से मंगल, बृहस्पति और सबसे अन्त में शनैश्चर है। इस क्रम के अनुसार, प्रातः सूर्योदय से आरम्भ कर १-१ ग्रह की एक-एक होरा (१ होरा १ घण्टे की होती है) मानी जाती है। २४ घण्टे में सातों ग्रहों की होराओं के तीन चक्कर होकर आगे तीन ग्रहों की होराएँ और व्यतीत होकर दूसरे दिन के सूर्योदय-काल में चौथे ग्रह की होरा आयगी और वह वार उसी के नाम से होगा। यह क्रम ऊपर से नीचे की ओर को चलता है, अर्थात् अभी पहले जो ग्रहसंस्था बतलाई है, वह नीचे से ऊपर की ओर थी, यहाँ उससे विपरीत क्रम है। तो, अब सोचिए कि आज यदि सूर्यवार है, तो सूर्य की होरा से आरम्भ है। तीन चक्कर काटकर, २२वीं होरा फिर सूर्य की होगी। २३वीं शुक्र की, २४वीं बुध की होकर वह अहोरात्र समाप्त हो जायगा। तब दूसरे दिन प्रातः चन्द्रमा की होरा होगी और सूर्यवार के दूसरे दिन चन्द्रवार होगा। अब चन्द्रमा से आरम्भ कर तीन चक्कर काटकर २२वीं होरा फिर चन्द्रमा की आई। २३वीं सर्वोच्च शनैश्चर की और २४वीं बृहस्पति की होकर वह अहोरात्र भी समाप्त हो जायगा। अब तीसरे दिन प्रातः मंगल की होरा होगी, इसलिए वह मंगलवार कहलायगा। इसी क्रम से सातों वार गिन लीजिए। व्यवस्था ठीक उतरेगी। यह ठीक है कि तिथि और नक्षत्र की तरह यह वार-क्रम प्रत्यक्ष नहीं देखा जा सकता। किन्तु है ग्रह-संस्था के अनुसार सुव्यवस्थित। इस प्रकार विज्ञान-सिद्ध भारत के सुव्यवस्थित पंचांग को उलट-पलटकर आज कल्पित मार्ग पर हमें ले जाने की चेष्टा हो रही है, यह हमारा दुर्भाग्य ही है। अस्तु; यह प्रसंग बहुत लम्बा हो गया। कहना केवल यही था कि वेदानुयायिनी व्यवस्था वैज्ञानिक और अटल है। यह भी वेदों की विलक्षणता और उनके ईश्वरीय ज्ञान होने का प्रमाण है।

वेद तीन या चार

यह भी एक सन्देह का स्थान है कि ये ग्रन्थ-रूप वेद तीन हैं या चार। क्योंकि 'इति वेदास्त्रयस्त्रयी' और 'चत्वारो वेदाः', दोनों प्रकार के वाक्य प्राचीन ग्रन्थों में मिलते हैं। इसका समाधान यह है कि रचना-भेद की दृष्टि से तो वेद तीन ही होते हैं; क्योंकि रचना तीन प्रकार की हुआ करती है। गद्य, पद्य और गान। उनमें गद्य को यजुः, पद्य को ऋक् और गान को साम कहा जाता है। चौथे प्रकार की कोई रचना प्रसिद्ध नहीं। इसलिए, चौथा वेद नहीं हो सकता। इस क्रम में यजुर्वेद-संहिता में जो छन्दोबद्ध पद्य आते हैं, वे ऋक् ही कहलायेंगे। अथर्ववेद-संहिता में भी जो गद्य-भाग है, वह यजुः समझ लिया जायगा। पद्य-भाग ऋक् और गान-भाग भी यदि कोई मिले, तो वह साम में अन्तर्गत हो जायगा। यह तीन वेद मानने की उपपत्ति है। यज्ञ में जो कार्यकर्त्ता ऋत्विक् होते हैं, उनकी दृष्टि से वेद चार कहे जाते हैं; क्योंकि प्रत्येक छोटे (इष्टि) और बड़े (सोम) यज्ञों में चार ऋत्विक् आवश्यक होते हैं: होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा। बड़े

यज्ञों में एक-एक के तीन सहायक और होकर सोलह ऋत्विक् हो जाते हैं। किन्तु, वे तीन सहायक उसी मुख्य में अन्तर्गत मान लिये जाते हैं। अस्तु; यों चार ऋत्विकों के पढ़ने के लिए एक वेद के चार विभाग भगवान् वेदव्यास ने किये हैं। जिससे एक-एक वेद को पढ़कर भी कोई विद्वान् यज्ञ में ऋत्विक् बन सके। होता के पढ़ने का ऋग्वेद है, जिसे होतृ-वेद भी कहते हैं। केवल ऋग्वेद-मात्र पढ़कर वैदिक विद्वान् यज्ञ में होता बन सकता है। अध्वर्यु के पढ़ने का वेद यजुर्वेद है, वह अध्वर्यु-वेद भी कहलाता है एवं उद्गाता के पढ़ने का सामवेद है। सामवेद पढ़कर वैदिक विद्वान् यज्ञ में उद्गाता हो सकता है। इन तीन प्रकार के ऋत्विकों के लिए एक-एक वेद आवश्यक माना गया, किन्तु ब्रह्मा सबके कार्यों का निरीक्षक है। विना उसके सब कार्यों के जाने निरीक्षण कैसे कर सकेगा। इसलिए, उसे तीनों ही वेद पढ़ना आवश्यक है। तीनों के निरीक्षण के अतिरिक्त अवसर आ जाने पर शान्तिक, पौष्टिक, प्रायश्चित्त आदि कर्म भी उसे करने पड़ते हैं। इन कर्मों के ज्ञान के लिए अथर्ववेद पढ़ना भी उसे आवश्यक होता है। यों ब्रह्मा चतुर्वेदी ही हो सकता है। अथर्ववेद उसका प्रातिस्विक वेद है। वर्त्तमान वेद-संहिताओं का संघटन इन ऋत्विकों के कार्य के अनुकूल ही हुआ है। संहिता में भी स्पष्ट बताया गया है :

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उत्वः ॥
(ऋ०, १०।७१।११)

इसका अर्थ यह है कि एक होता नाम का ऋत्विक् ऋचाओं का परिपोषण करता रहता है, अर्थात् स्तोत्र-शास्त्र-रूप में उनके समूह का पाठ करता रहता है। और, एक गायत्री आदि छन्दोबद्ध ऋचाओं का गान करता रहता है, एक ब्रह्मा नाम का ऋत्विक् कर्मों का क्रम बताता रहता है और किसी विघ्न के आ पड़ने पर उसकी शान्ति की विद्या का भी उपदेश करता रहता है। चौथा अध्वर्यु नाम का ऋत्विक् (अग्नि में आहुति डालता हुआ) यज्ञ के अवयवों को बनाता है। बस, इसी वेद-बोधित ऋत्विकों के कार्य के अनुसार चार संहिताओं का संघटन है और इनमें यजुर्वेद का आहुति देने का कार्य मुख्य माना जाता है।

आजकल के जो कई एक विद्वान् यह घोषणा करते हैं कि वेदों का मुख्य प्रतिपाद्य यज्ञ-कर्म नहीं है। उन्हें इस ऋचा पर विशेष ध्यान देना चाहिए कि स्वयं ऋग्वेद की ऋचा ही जब यज्ञ का क्रम बता रही है, तब उसके अतिरिक्त वेदों का मुख्य प्रतिपाद्य क्या हो सकता है। अस्तु।

ब्राह्मण-भाग भी वेद हैं

यह भी कुछ दिनों से एक विवाद का विषय बन गया है कि मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का नाम वेद है या केवल मन्त्र-भाग का। प्राचीन ग्रन्थों में इस विवाद का कोई मूल नहीं मिलता। प्राचीन ग्रन्थों में सभी जगह मन्त्र और ब्राह्मण दोनों को वेद माना गया है : 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेद नामधेयम्'। मीमांसा और न्याय-शास्त्र में जो वेद के विषय-विभाग किये हैं—विधि, अर्थवाद, अनुवाद आदि, वे सभी मुख्यतया ब्राह्मण में ही घटित होते हैं। व्याकरण के मुख्य आचार्य भगवान् पाणिनि ने भी 'छन्दसि' पद से मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का ग्रहण

किया है। अर्थात्, उन्होंने 'छन्दसि' कहकर व्याकरण के जिन-जिन प्रत्यय, आदेश, स्वर आदि का विधान किया है, वे मन्त्र और ब्राह्मण दोनों में पाये जाते हैं। जो कार्य केवल मन्त्र-भाग में ही इष्ट थे, उनके लिए सूत्रों में 'मन्त्रे' पद दियां है। केवल ब्राह्मण में होने-वाले व्याकरण-कार्यों के लिए 'ब्राह्मणे' पद उनके सूत्रों में आता है। इससे 'छन्द' पद से दोनों का ग्रहण स्पष्ट है। धर्मशास्त्र के प्रधान प्रवक्ता भगवान् मनु ने भी—

उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा।
सर्वथा वर्त्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः॥

इत्यादि वचनों में ब्राह्मण के वाक्यों को वैदिकी श्रुति नाम से कहा है। इन सब वचनों को देखने से यही सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में मन्त्र और ब्राह्मण दोनों ही वेद कहे जाते थे। इसके अतिरिक्त, वर्त्तमान मन्त्र ब्राह्मणात्मक ग्रन्थों के पर्यालोचन से भी दोनों का ही वेदत्व सिद्ध होता है; क्योंकि संहिताओं में—विशेष कर शुक्ल-यजुर्वेद-संहिता में जो मन्त्रों का क्रम है, वह ब्राह्मण के अनुसार ही उपपन्न हो सकता है। प्रथम मन्त्र के अनन्तर दूसरा मन्त्र क्यों आया, दूसरे के अनन्तर तीसरा क्यों आया, यह उपपत्ति शतपथब्राह्मण से ही सिद्ध होती है। अन्यथा, इस क्रम का कोई बीज प्राप्त नहीं हो सकता और कृष्ण-यजुर्वेद की तैत्तिरीयसंहिता आदि में तो आज भी मन्त्र और ब्राह्मण सम्मिलित रूप में ही उपलब्ध हैं। तब, उनको पृथक्-पृथक् ग्रन्थ कैसे कहा जा सकता है। आधुनिक विद्वान् यह युक्ति देते हैं कि ब्राह्मण-भाग में कई जगह मन्त्रों का व्याख्यान मिलता है, इसलिए वेद शब्द से केवल मन्त्र-भाग को ही लेना उचित है और ब्राह्मण तो उनके एक प्रकार के भाष्य हैं। इसलिए, उन्हें वेद नहीं कहना चाहिए। विचार करने पर उनकी यह युक्ति ठीक नहीं उतरती; क्योंकि व्याकरण के महाभाष्यकार श्रीपतंजलि मुनि ने महाभाष्य में यह विचार उठाया है कि व्याकरण किसे कहना चाहिए? केवल सूत्रों को या व्याख्या-सहित सूत्रों को? इसका निर्णय यही किया है कि व्याख्या-सहित सूत्रों का नाम व्याकरण है। इसी न्याय से व्याख्या-सहित मन्त्रों का नाम पूर्वोक्त प्रमाणों से वेद मान लिये जाने पर कोई आपत्ति नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त, ब्राह्मण केवल व्याख्या-रूप ही तो नहीं है। यज्ञादि कर्मों की विधि, उनकी अवान्तर इतिकर्त्तव्यता और उनकी स्तुति आदि सब स्वतन्त्र रूप में ही वर्णित हैं। हम अभी पूर्वमन्त्र का प्रमाण दे चुके हैं कि यज्ञ की इतिकर्त्तव्यता का संकेत मन्त्र-भाग में भी प्राप्त है। उसके अतिरिक्त और सैकड़ों मन्त्रों* में देवताओं का सम्बोधन करके निवेदन किया गया है

*१. वायवायाहि दर्शते मे सोमा अरंकृताः तेषां पाहि श्रुधी हवम्।—ऋक्संहिता, मं० १, सू २, मं० १।

२. अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि स इद्देवेषु गच्छति।—ऋक्संहिता, मं० १, सूत्र १, मं० ४।

३. विश्वे देवास आगत शृणुताम इमं हवम्, एदंबर्हिरनिषीदत।

४. जातवेदसे सुनवाम सोममरातीयतो निदहाति वेदः।

५. इन्द्र वायुरिमे स्वतो उपप्रयोभिरागतम् इन्दवो वा मुषन्ती हि।

६. इन्द्र सोमं पिब ऋतुना त्वां विशन्त्विन्दवः, मत्सरास्तदौकाः।—ऋक्संहिता, १।१४।१४।

कि यह हवि आपके लिए प्रस्तुत है, इसे कृपया स्वीकार कीजिए। इस यज्ञ के आप रक्षक हैं। आपका रक्षित यज्ञ देवताओं को प्रसन्न करेगा इत्यादि। विना यज्ञ के उसे स्वीकार कराने का और क्या उपाय हो सकता है। उस यज्ञ की पूरी विधि तो ब्राह्मणों में ही प्राप्त होती है। केवल मन्त्रभाग के आधार पर तो कोई भी यज्ञ नहीं हो सकता। 'विना यज्ञ के इन मन्त्रों के अर्थ की संगति ही क्या बैठ सकती है। वेद को यज्ञ-वेद और सब ज्ञान-विज्ञानों की निधि-रूप जो बताया जाता है, वे उक्तियाँ भी ब्राह्मणों के सावधान पर्यालोचन से ही सार्थक होती हैं। ब्राह्मणों के मनन से ही सब प्रकार के विज्ञान भी प्रस्फुट होते हैं। जैसा इसी निबन्ध से विद्वानों को स्पष्ट अवगत होगा। इसलिए, शिष्ट-सम्प्रदाय में मन्त्र, ब्राह्मण दोनों ही वेद-पद से गृहीत हैं।

ब्राह्मणों में भी तीन अवान्तर विभाग होते हैं। कर्मकाण्ड के प्रतिपादक भाग का नाम ब्राह्मण ही रहता है। उपासना-काण्ड का जिस भाग में प्रतिपादन है, उसे आरण्यक कहते हैं और ज्ञान-काण्ड के वा आत्मतत्त्व के प्रतिपादक भाग का उपनिषद् नाम से व्यवहार किया जाता है। ये तीनों एक ही ग्रन्थ के तीन निभाग हैं, जो सुविधा के लिए पृथक्-पृथक् नामों से पृथक्-पृथक् प्रकाशित किये गये हैं।

शाखा-भेद

वेद पढ़नेवालों की सुविधा के लिए भगवान् कृष्णद्वैपायन व्यास से संहिता और ब्राह्मणों का पृथक्-पृथक् सम्पादन किया, और चारों वेदों को अपने चार मुख्य शिष्यों को पढ़ाया। उन शिष्यों ने भी अपनी-अपनी शिष्य-परम्परा में उन ग्रन्थ-रूप वेदों का प्रचार किया। यों, क्रमशः फैलती हुई गुरु-शिष्य-परम्परा में जो कहीं-कहीं पाठभेद वा ब्राह्मणों के क्रमभेद हो गये, वे आजकल शाखाभेद नाम से कहे जाते हैं। प्राचीनकाल में शाखाभेद बहुत बढ़ गया था। महाभाष्यादि ग्रन्थों में मिलता है कि चारों वेदों को मिलाकर ११३१ शाखाएँ हो गई थीं। उनमें १००० शाखाएँ केवल सामवेद की थीं; क्योंकि गान में थोड़े-थोड़े स्वर का भेद गिनने पर बहुत शाखाएँ हो सकती हैं। किन्तु, आज तो सब मिलाकर प्रायः १६ शाखाएँ मिलती हैं और सब शाखाएँ अध्येताओं के अभाव से लुप्त हो गईं। जो मिलती हैं, उनके पर्यालोचन से स्पष्ट हो जाता है कि उनमें कहीं-कहीं कुछ पाठभेद और कहीं क्रम-भेद हैं। हाँ, कृष्णयजुः और शुक्लयजुः नाम से जो यजुर्वेद के दो भेद आजकल प्रसिद्ध हैं, उनमें बहुत बड़ा अन्तर है। उनके भी मन्त्रों में तो बहुत बड़ा अन्तर नहीं है, किन्तु कृष्ण-यजुः में मन्त्र और ब्राह्मणों का विभाग ही नहीं है। ब्राह्मण का पाठ भी शुक्लयजुः के शत-पथब्राह्मण से प्रायः नहीं मिलता। इसका कारण पुराणों में एक कथा द्वारा वर्णित है कि भगवान् व्यासजी के यजुर्वेद के शिष्य वैशम्पायन थे। उनकी शिष्य-मण्डली में एक याज्ञवल्क्य भी थे। एक बार याज्ञवल्क्य की गर्वोक्ति से वैशम्पायन रुष्ट हो गये और उन्होंने क्रोध-पूर्वक याज्ञवल्क्य से कहा कि तुम दुष्ट हो, हमारी विद्या छोड़ दो। यह सुनते ही याज्ञवल्क्य ने एक वमन किया और उसमें विद्या-जनित संस्कारों को निकाल फेंका। इससे यह

सिद्ध होता है कि उपनेयनादि संस्कारों में गुरु लोग जैसे शिष्य में संस्कारों के संस्थापित करने की विधि जानते थे, उसी प्रकार उनके निकाल देने का विज्ञान भी उन्हें विदित था। अस्तु; इस अंश पर कोई विश्वास करे या न करे, किन्तु यह सिद्ध है कि याज्ञवल्क्य ने उस प्राचीन वेद को छोड़ दिया और सूर्य की उपासना द्वारा नवीन वेद प्राप्त किया। इसलिए, इन दोनों शाखाओं में कुछ विशेष अन्तर प्राप्त होता है। शुक्ल-यजुर्वेद की १५ शाखाएँ और कृष्ण-यजुर्वेद की ८६ शाखाएँ ग्रन्थों में वर्णित हैं। इनमें परस्पर अवान्तर भेद बहुत स्वल्प है। आधुनिक कई विद्वान् ऐसा मानते हैं कि शाखा नाम वेद के व्याख्यान का है। किन्तु, यह कथन उचित नहीं प्रतीत होता; क्योंकि जितनी वेद-संहिताएँ आज प्राप्त होती हैं, वे सब ही शाखा नाम से ही प्रसिद्ध हैं। वे यदि वेद के व्याख्यान हैं, तो मुख्य वेद फिर कौन-से हैं ?

इसका कोई निर्णय न हो सकेगा। उपलब्ध ग्रन्थों में से इच्छानुसार किसी को मुख्य वेद कह देना और किसी को शाखा कह देना, यह निर्मूल बात कैसे चल सकती है। जैसे, ऋग्वेद-संहिता आजकल दो प्रकार की उपलब्ध है : एक मण्डल-क्रम से और दूसरा अष्टक-क्रम से। मण्डल-क्रमवाली शाकल-शाखा कही जाती है और अष्टकवाली वाष्कल-शाखा। जब दोनों ही शाखा नाम से प्रसिद्ध हैं, तब मण्डल-क्रमवाली को मुख्य वेद कह दिया जाय और अष्टक-क्रमवाली को शाखा या व्याख्यान-रूप कह दिया जाय, यह तो मनमानी कल्पना हुई। अस्तु; हमें यहाँ विवाद से प्रयोजन नहीं। शिष्ट-सम्प्रदाय में सभी शाखा कहलाती हैं। उनमें पूर्वोक्त प्रकार से कहीं-कहीं पाठभेद कहीं थोड़ा क्रमभेद-मात्र है। किसी शाखा में कुछ मन्त्र अधिक मिलते हैं, दूसरी में वे नहीं पढ़े जाते—ऐसा भेद भी कहीं प्राप्त है। ब्राह्मण, आरण्यक आदि भी किन्हीं शाखाओं के भिन्न-भिन्न रूप हैं और किन्हीं शाखाओं के सम्मिलित रूप भी। कुलक्रमागत अपनी-अपनी शाखा का ही अध्ययन ब्राह्मणों में प्रचलित है। आगे बुद्धि की मन्दता देखकर वेदों को समझने के लिए आचार्यों ने अंगों का भी निर्माण किया और उनका भी बहुत विस्तार हुआ। यह सब ग्रन्थ-रूप वेदों के विस्तार का संकेतमात्र प्रदर्शित किया गया है। यों वेद शब्द का अर्थ विस्तारपूर्ण हुआ।

अब आगे विज्ञान शब्द की संक्षिप्त व्याख्या की जाती है।

ज्ञान और विज्ञान

संस्कृत वाङ्मय में ज्ञान और विज्ञान ये दोनों शब्द भिन्न-भिन्न प्रकार के अर्थों में पृथक्-पृथक् रूप से प्रयुक्त देखे जाते हैं। आजकल प्रचलित भाषा में ज्ञान शब्द सामान्यरूप से जानने के अर्थ में और विज्ञान शब्द एक निश्चित सिद्धान्त के अर्थ में प्रयुक्त होता है। या, यों कहिए कि अँगरेजी, 'साइन्स' शब्द का अनुवाद 'विज्ञान' शब्द से किया जाता है। साइन्स के भिन्न-भिन्न भेदों का व्यवहार यहाँ भी विज्ञान में भिन्न-भिन्न विशेषण लगाकर करते हैं, जैसे भौतिक विज्ञान, रासायनिक विज्ञान, मनोविज्ञान आदि-आदि। अमरकोषकार ने इनका अर्थ लिखा है कि :

मोक्षे धीर्ज्ञानमन्यत्र विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोः।

अर्थात्, मोक्ष के सम्बन्ध में जो विचार किया जाय, उस विचार और बुद्धि को 'ज्ञान' कहते हैं और इसके अतिरिक्त शिल्प या शास्त्र के विषय की बुद्धि को 'विज्ञान' कहते हैं। इसके अनुसार, शिल्प, अर्थात् कारीगरी और धर्म, अर्थ तथा काम-सम्बन्धी सब विचारों को विज्ञान कहना प्राप्त होता है। किन्तु, दार्शनिक भाषा में इनका अर्थ और ही प्रकार का किया जाता है। भगवद्गीता में दो-तीन जगह साथ-साथ इन दोनों शब्दों का प्रयोग मिलता है :

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ (अध्याय ७)

भगवान् कहते हैं कि अर्जुन, अब मैं तुझे विज्ञान-सहित वह ज्ञान विशेष रूप से बता देता हूँ, जिसके जान लेने पर कुछ भी जानने की बात बाकी नहीं रह जाती।

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ (गीता, ९।१)

अर्थात्, अब मैं तुमको अत्यन्त गुप्त विज्ञान-सहित ज्ञान का उपदेश करूँगा; क्योंकि तुम अच्छे पात्र हो। गुणों में दोष खोजने की तुम्हारी प्रवृत्ति नहीं है। इन ज्ञान-विज्ञान को जानकर तुम शोक-मोहादि अशुभ प्रसंग से विमुक्त हो जाओगे इत्यादि।

इन स्थानों में ज्ञान और विज्ञान या विज्ञान-सहित ज्ञान के उपदेश का विषय बताया गया है। यहाँ शिल्प और साइन्स का कोई प्रसंग नहीं है, आत्मा या ईश्वर के सम्बन्ध की ही चर्चा है। इसलिए, विज्ञान शब्द का भी उसके अनुकूल ही अर्थ करना पड़ेगा।

श्रीशंकराचार्य आदि व्याख्याकारों ने यहाँ इन शब्दों का यह अर्थ बताया है कि शब्द-मात्र के सुनने से जो बुद्धि होती है, उसे ज्ञान और मनन एवं एकाग्रता से चित्त लगाने पर जो विस्पष्ट अनुभव होता है, उसे विज्ञान कहा गया है। यों, दार्शनिक भाषा और प्रचलित भाषा में इन शब्दों के भिन्न-भिन्न अर्थ दिखते हैं। तब क्या ये शब्द मूल से ही अनेकार्थक रहे? या इनका कोई नियत अर्थ पहले रहा और धीरे-धीरे व्यवहार में भिन्न-भिन्न अर्थ आते गये, यह विचार उठता है। इसीका संक्षिप्त विवरण यहाँ किया जायगा।

संस्कृत-व्याकरण की दृष्टि से 'वि' यह उपसर्ग विशेष, विविध और विरुद्ध अर्थों में भिन्न-भिन्न स्थानों में प्रयुक्त हुआ है। इस दृष्टि से देखने पर प्रचलित भाषा और दार्शनिक भाषा में विज्ञान, शब्द का 'वि' विविध या विशेष अर्थ में प्रयुक्त जान पड़ता है। विशेष प्रकार का ज्ञान सुदृढ ज्ञान या सुनिश्चित सिद्धान्त प्रचलित भाषा में 'वि' का अर्थ माना गया है। और, यही विशेष ज्ञान या विस्पष्ट ज्ञान दार्शनिक भाषा में भी माना गया, किन्तु साहित्यिक भाषा में विविध प्रकार का ज्ञान भासित होता है; क्योंकि शिल्प आदि में विविध प्रकार का ज्ञान ही विवक्षित है।

श्रीमद्भगवद्गीता के विज्ञान-भाष्य में और वैदिक साहित्य की आलोचना में गुरुप्रवर श्रीविद्यावाचस्पतिजी ने इन शब्दों का एक ऐसा अर्थ लिखा है, जो तीनों भाषाओं में अनुगत हो जाता है। उनका मन्तव्य है कि भिन्न-भिन्न प्रकार के अनन्त पदार्थों में एक तत्त्व को अनुगत देखना ज्ञान कहा जाता है और एक ही तत्त्व से अनन्त पदार्थों का विस्तार हुआ, इस प्रक्रिया से उसी बात को देखने का नाम विज्ञान है। अनेकता में एकता का दर्शन ज्ञान और एकता को अनेकता के रूप में विभक्त देखना विज्ञान है, यही तात्पर्य हुआ। अब देखना है कि इस प्रकार के अर्थ करने का आधार क्या है और यह अर्थ सब भाषाओं में किस प्रकार समन्वित हो जाता है। वैसे तो ज्ञान शब्द सामान्य रूप से जानने-मात्र का बोधक है और विज्ञान आदि उसी के विशेष हैं, किन्तु जहाँ ज्ञान, विज्ञान, अज्ञान आदि की श्रेणी में ज्ञान शब्द आये, वहाँ उसको भी पृथक्ता दिखाने के लिए विशेष अर्थ ही मानना पड़ेगा। इस प्रकार के उक्त विशेष अर्थ का आधार स्वयं भगवद्गीता में ही स्पष्ट है:

> सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
> अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥

अर्थात्, भिन्न-भिन्न प्रकार के विभक्त, सब भूतों में, जिस प्रक्रिया से, एक ही अविनाशी तत्त्व को देखा जाय, वही सत्त्वगुण का कार्य है और उसे 'ज्ञान' कहते हैं।

यही बुद्धि मोक्ष के उपयोगी मानी गई है, इसलिए 'अमरकोष' का 'मोक्षे धीर्ज्ञानम्' लिखना भी सुसंगत हो गया। अब विज्ञान शब्द का विवेचन बाकी रहा। अन्यत्र पुराणों में जो इसका विवेचन मिलता है, उसमें विज्ञान शब्द के उक्त अर्थ का भी आधार मिल जाता है। श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध के उन्नीसवें अध्याय के निम्नांकित श्लोकों

> नवैकादश पञ्च त्रीन् भावान् भूतेषु येन वै।
> ईक्षेतार्थैकमप्येषु, तज्ज्ञानं मम निश्चितम् ॥ (११।१९।१४)
> एतदेव हि विज्ञानं न तथैकेन येन यत्।
> स्थित्युत्पत्तिलयान् पश्येद् भावानां त्रिगुणात्मनाम् ॥ (११।१९।१५)

—में भी शब्द आये हैं। और, इनका विवेचन करते हुए यह लिखा गया है, जगत् के अनन्त पदार्थों का नौ, ग्यारह, पाँच और तीन के रूप में वर्गीकरण करना (जैसे—न्याय-वैशेषिक में नौ-द्रव्य, बौद्धदर्शन में पंच स्कन्ध, सांख्य में तीन गुण, जैनदर्शन में पंचास्तिकाय, प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में प्रकृति-पुरुष के ऊपर के ग्यारह मूल तत्त्व आदि के रूप में वर्गीकरण किया गया है) और अन्त में सबमें एक ही मूल तत्त्व को अनुगत देखना—यह प्रक्रिया ज्ञान कहलाती है। इसे ही विज्ञान भी कहते हैं। किन्तु, इस प्रकार से नहीं, उसमें प्रक्रिया का भेद हो जाता है कि एक से ही सब पदार्थों की उत्पत्ति, उसी में स्थिति और अन्त में उसी में सबका लय देखा जाय, उस प्रक्रिया को विज्ञान समझना। कूर्मपुराण के उत्तर खण्ड के १५वें अध्याय में भी इन शब्दों का यही विवरण किया गया है कि जिस विद्या के द्वारा एक ही महेश्वर भगवान् को सर्वव्यापक देखा जाय, वह (विद्या) ज्ञान कहलाती है और उसके विस्तार द्वारा चौदह विद्याओं से भिन्न-भिन्न तत्त्व देखे जायँ, उसे विज्ञान कहते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता की ज्ञानेश्वरी टीका में श्रीज्ञानदेवजी ने भी ऐसी ही व्याख्या की है :

तीरलग्ना तरणीव कुण्ठीभवति शेमुषी ।
परावृत्तपदो दूराद्विचारश्चोपसर्पति ।।
तर्कोऽपि नैवोत्सहते यत्र तज्ज्ञानमर्जुन ।
प्रपञ्चोऽन्यत्तु विज्ञानमज्ञानं तत्र सत्यधीः ।।

अर्थात्, तीर से बँधी हुई नाव की तरह जहाँ बुद्धि आगे न बढ़कर कुण्ठित हो जाती है। विचार भी अपने पैर पीछे हटाता हुआ जहाँ से दूर हट जाता है और तर्क भी जहाँ जाने का उत्साह नहीं करता, वह (एक तत्त्वरूप) ज्ञान है, और उससे भिन्न उसका बनाया हुआ यह प्रपंच। विज्ञान और प्रपंच को सत्य समझ लेना है अज्ञान।

इन सब विवरणों से यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि आरम्भ में विविधता के अर्थ में 'वि' उपसर्ग को मानकर एक की अनेकता देखने में ही विज्ञान शब्द की प्रवृत्ति हुई थी। आगे अनेकता का सम्बन्ध जहाँ-जहाँ विवक्षित हुआ, वहाँ यह शब्द विकास पाता गया।

एक को अनेक रूप देना ही शिल्प है। जैसे, एक ही सुवर्ण के बहुत-से आभूषण बना देना, या एक ही मृत्तिका को घट, कुंडी आदि अनेक रूप देना; एक ही लकड़ी के कुर्सी, बेंच, तख्त आदि बहुत-से पदार्थ बना देना, यही तो शिल्प है। इसलिए, शिल्प में विज्ञान शब्द की प्रवृत्ति हुई। अन्यान्य शास्त्रों में भी एक को अनेकता दी जाती है, जैसे व्याकरण में एक शब्द और धातु के अनेक रूप, काव्य में एक ही वस्तु का अनेक रूप में वर्णन, आयुर्वेद में एक ही औषधि के कई योग तैयार करना आदि-आदि। इसीलिए, मोक्ष-शास्त्र के अतिरिक्त अन्यान्य शास्त्रों को भी विज्ञान ही कहा जाने लगा। पदार्थ-विज्ञान या 'साइंस' की भी प्रवृत्ति अनेकता की ओर ही है। रसायन-विज्ञान तो स्पष्ट ही एक को अनेक रूप देता है। मनोविज्ञान में भी अनेक रूप से एक का विश्लेषण किया जाता है। इसी कारण 'साइंस' को भी विज्ञान नाम दिया गया।

अनेक में एकता देखना कठिन बात है। वहाँ बुद्धि कुण्ठित होती है, जैसा कि श्रीज्ञानदेव ने पूर्वोक्त पद्य में समझाया है। एक-तत्त्व-दर्शन तो शब्द-प्रमाणों पर श्रद्धा रखनेवाले या योग-समाधि तक पहुँचनेवाले विशेष व्यक्तियों को ही हो सकता है। किन्तु, एक से अनेक पदार्थ बनाना प्रत्यक्ष भी देखा जा सकता है। अतः, एक से अनेकता का सुस्पष्ट ज्ञान होना कोई कठिन बात नहीं। एक से अनेक पदार्थ बनते हुए देखनेवाले विज्ञान को ही आधार मानकर भिन्न-भिन्न तत्त्वों में एकता का दर्शन करानेवाला ज्ञान भी दृढता प्राप्त करता है। विज्ञान की सहायता से ही ज्ञान में विस्पष्टता आती है। इसलिए गीता-भाष्यकारों का 'विज्ञान' शब्द से विस्पष्ट ज्ञान अर्थ लेना भी हमारे विरुद्ध नहीं पड़ता, प्रत्युत अनुकूल ही रहता है।

अच्छा, यह भी देखना चाहिए कि ज्ञान और विज्ञान बताने की प्रतिज्ञा करके भगवान् ने उस प्रकरण में उपदेश क्या किया? इसकी आलोचना करने पर भी एक की अनेकरूपता और अनेक में एक-तत्त्व-दर्शन, ये दोनों ही बातें यहाँ मिलती हैं, जैसा कि

गीता के सप्तम अध्याय में कहा है—'मेरी प्रकृति आठ रूपों में विभक्त है।' इस प्रकार, विज्ञान पहले बताकर 'मुझसे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, सब मेरे ही स्वरूप में अन्तर्गत हैं,' इस प्रकार अनेक की एकता-रूप ज्ञान कहा गया है। और, नवें अध्याय में भी ज्ञान-विज्ञान की प्रतिज्ञा के अनन्तर ये ही दोनों प्रकार की प्रक्रियाएँ मिलती हैं। ज्ञान की विस्पष्टता तो मनन और समाधि के अनन्तर होती है, उस विस्पष्टता को शब्दों से नहीं कहा जा सकता। यों, प्रकरण के अनुसार भी ज्ञान, विज्ञान शब्दों के उक्त अर्थ ही दृढ होते हैं। उपनिषद् और वेदान्त-दर्शन में जगदीश्वर को ज्ञान-रूप और जीवों को विज्ञान नाम से कहा गया है। इससे भी उक्त अर्थ ही दृढ होता; क्योंकि जीव परमात्मा के एक अंश माने जाते हैं। इस प्रकार, पर्यालोचना करने पर विज्ञान शब्द को अनेकार्थक नहीं मानना पड़ता है। किन्तु मूल में एक ही अर्थ में प्रयुक्त होकर वह क्रम विकसित हुआ है, यह तो स्पष्ट हो जाता है। यह भी स्मरण रहना चाहिए कि अँगरेजी के 'साइन्स' और 'फिलासफी' शब्दों का अनुवाद संस्कृत में 'विज्ञान' और 'दर्शन' शब्दों से किया जाता है। पाश्चात्य विद्वान् इनकी परिभाषा प्रायः यही बताते हैं कि क्रियारूपता (प्रैक्टिस) में आकर जो सिद्धान्त दृढ हो जाते हैं, वे 'साइन्स' की श्रेणी में आ जाते हैं। और, जबतक वे किसी उच्च विद्वान् की बुद्धि से प्रसूत, केवल अटकल वा विचार के ही रूप में रहते हैं, तबतक वे 'फिलासफी' ही कहे जाते हैं। केवल विचार-रूप में रहना 'फिलासफी' और क्रियारूप में परिणत हो जाना 'साइन्स' है। ऐसा विवरण कुछ विद्वानों से सुना जाता है। किन्तु, संस्कृत-शास्त्रों में विज्ञान और दर्शन शब्दों के वाच्य अर्थों में इस प्रकार का भेद शिष्ट-सम्मत नहीं है। जैसे, विज्ञान शब्द का अर्थ श्रीशंकराचार्य आदि आचार्यों ने अवगम वा प्रत्यक्ष-सदृश दृढ ज्ञान किया है—वैसे 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादि श्रुतियों में दर्शन शब्द का अर्थ भी वही अवगम वा निश्चयात्मक ज्ञान ही है। आध्यात्मिक तत्त्वों को भी क्रिया-रूप में उपनिषदों में समझाया गया है। जैसा कि मन की अन्नमयता का ज्ञान श्वेतकेतु को सोलह दिन उपवास कराकर उद्दालक ऋषि ने दृढ कराया (छान्दोग्य-उपनिषद्, प्र० ६, ख० ६)। प्रजापति ने इन्द्र और विरेचन को जलपात्र में प्रतिबिम्ब दिखाकर आत्मज्ञान का उपदेश प्रारम्भ किया (छान्दोग्य, प्र० ८, ख० ६) वा दृप्त बालाकि गार्ग्य को अजातशत्रु ने सूक्ष्म पुरुष के पास ले जाकर आत्मतत्त्व समझाने का आरम्भ किया (बृहदारण्यक, अ० ४, का० १) इत्यादि। इस प्रकार, विज्ञान और दर्शन शब्द हमारे यहाँ एक रूप में ही व्यवहार में आते हैं। हाँ, दर्शन शब्द का प्रयोग कहीं-कहीं 'मत' के अर्थ में भी मिलता है: 'इति हि तेषां दर्शनम्' इत्यादि। किन्तु जो दर्शनों के सिद्धान्त हमारे यहाँ माने जाते हैं, वे भी दृढ हैं। अटकल पर अवस्थित कोई नहीं। श्रेणीभेद वा अधिकारी की भूमिकाओं का भेद ही दर्शनों के सिद्धान्त-भेद का कारण है। जिस भूमिका को लक्ष्य कर जो दर्शन प्रवृत्त हैं, उस भूमिका में वही सिद्धान्त दृढ हैं। इस अप्रस्तुत विषय का विस्तार यहाँ नहीं किया जा सकता। यह एक स्वतन्त्र निबन्ध का विषय है। यहाँ इतना ही कहना है कि अटकल पर अवलम्बित वा अदृढ सिद्धान्त हमारे यहाँ दर्शन नहीं माने जाते। हम तो विज्ञान और दर्शन का भेद 'कैसे' और 'क्यों' इन

दो शब्दों में कर सकते हैं। बाष्प (भाप) से ट्रेन कैसे चलती है, इसकी प्रक्रिया जान लेना साइन्स वा विज्ञान हुआ। क्यों चलती है, बाष्प में ऐसी शक्ति कहाँ से आई, ये सब विचार फिलासफी या दर्शन की श्रेणी में आते हैं। क्रिया के उपयुक्त सामग्री मात्र जानकर उसमें काम कर दिखाना साइन्स वा विज्ञान हुआ। और, उस कार्य के होने का मूलतत्त्व खोजना फिलासफी या दर्शन कहलायगा। इस दृष्टि से देखने पर तो जो कुछ हम यहाँ कहेंगे, या कहीं भी कहते हैं—वह दर्शन की परिभाषा में आ सकता है। विज्ञान उसे नहीं कहा जा सकता; क्योंकि जो कुछ कहते हैं, उसे करके दिखाने की शक्ति आज हममें नहीं। उस प्रक्रिया को हम बहुत काल से भूल चुके हैं। इन परिषदों का लक्ष्य भी करके दिखाना नहीं। आज तक सब कुछ वाचक आडम्बर (जबानी जमा-खर्च) है। इसलिए, यहाँ तो विज्ञान शब्द का एक से अनेक की कल्पना-रूप पूर्वोक्त अर्थ मानकर ही हमें वाचक-रूप में चलना है।

मूलतत्त्व-निरूपण

इस प्रकार, एक मूलतत्त्व से अनन्त पदार्थ बनने की प्रक्रिया विज्ञानशब्दवाच्य है, यह सिद्ध किया गया। इतना अवश्य है कि वेदों में यह प्रक्रिया इस प्रकार से निरूपित है कि बुद्धि उसपर ठीक जम जाती है। सन्देह वा अप्रामाणिकता की कल्पना का कोई अवसर नहीं रहता। यह भी बुद्धि में साहस हो जाता है कि इसे तो हम करके भी देख सकते हैं। इसलिए, आप्त विद्वान् यहाँ 'वैदिक विज्ञान' शब्द का प्रयोग करते हैं। अस्तु; यह प्रक्रिया वेद-ग्रन्थ में किस रूप में आम्नात है, इनका प्रकरण प्रथमतः आरम्भ किया जाता है। अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड-विस्तृत सम्पूर्ण प्रपंच का मूलतत्त्व एक ही है—यह वेदों का सुप्रसिद्ध घण्टाघोष है :

> **आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परं किञ्चनास।**
> **एकं वा इदं विबभूव सर्वम् (ऋक्)**
> **सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।**
> **नेह ना नास्ति किञ्चन। (छान्दोग्य०)**

इत्यादि शतशः मन्त्र ब्राह्मण, उपनिषदादि श्रुतियाँ बार-बार इस सिद्धान्त को घोषित कर रही हैं। यह प्रपंच-सृष्टि जाग्रत् अवस्था है और प्रलय सुषुप्त अवस्था। वह मूलतत्त्व तो इन सब अवस्थाओं से परे है, अतएव उसमें कोई गुण वा धर्म नहीं। गुण और धर्म तो प्रपंच-रूप वा अवस्था-रूप है। वे पीछे उत्पन्न होते हैं। मूल में उनकी सत्ता कहाँ ? इसलिए वह न किसी इन्द्रिय से जाना जा सकता है, न वाणी से कहा जा सकता है, न मन में ही आ सकता है।

> **न तत्र चक्षुर्गच्छति, न वाग् गच्छति, न मनो गच्छति।**

बात भी बिलकुल ठीक है। हम तो अवस्था वा गुण देखने वा पहचानने की ही शक्ति रखते हैं। अवस्थाओं को हटाकर मूलतत्त्व को जानने की शक्ति हमारी इन्द्रियाँ या मन नहीं रखते। एक छोटी-सी वस्तु को ही लीजिए। आप की अंगुली में एक छोटी-सी अंगूठी है।

यह सुवर्ण की एक अवस्था है, इसमें तो कोई सन्देह नहीं हो सकता। अच्छा, इसके बनने के पूर्व वह सुवर्ण कड़ी, कासा या गोले के रूप में रहा होगा, वे भी सुवर्ण की अवस्थाएँ थीं। तो, अब आप सब अवस्थाओं को हटाकर शुद्ध सुवर्ण-तत्त्व को कहीं ढूँढकर देखिए वा ध्यान में लाइए, न कहीं देख सकेंगे, न मन में ला सकेंगे। जब कभी सुवर्ण-तत्त्व ध्यान में आयगा, तो चूरा, कटक, कुण्डल, अंगूठी वा तवक—किसी-न-किसी अवस्था को साथ लेकर ही ध्यान में आयगा। सब अवस्थाओं को छोड़कर शुद्ध सुवर्ण-तत्त्व न कहीं दिखाई दे सकता है, न कभी ध्यान में आ सकता है। जब मन ही उसे नहीं पकड़ सकता, तब वाणी कहाँ से कह सकेगी। यही दशा सब वस्तुओं की है। बिखेरा हुआ घूरा, मकानों पर वा वस्त्रों पर जमी हुई अति सूक्ष्म कणरूप रफी, मोटी डली, चिनी हुई भित्ति, ये सब मृत्तिका की अवस्थाएँ हैं। इन अवस्थाओं को छोड़कर शुद्ध मृत्तिका-तत्त्व क्या है, यह हम नहीं देख सकते, न कभी ध्यान में ला सकते हैं। सैकड़ों वर्षों की खोज के पश्चात् पाश्चात्य वैज्ञानिक महाशय इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि मौलिक तत्त्व दो ही हैं। इलैक्ट्रोन और प्रोट्रोन। और, सब हाइड्रोजन, ऑक्सिजन आदि तत्त्व उनकी अवस्थाएँ हैं। किन्तु, जिन दो को मूल तत्त्व माना गया, उनमें भी एक निरन्तर गतिशील और एक सर्वदा स्थितिशील है। ये गति और स्थिति भी अवस्थाएँ हैं। उनमें भी अनुस्यूत एक ही तत्त्व है, यह भी उन्होंने मान लिया। किन्तु, उसको अवस्था-शून्य-रूप में पहचानना उनकी शक्ति के बाहर ही रहा है। मननशील विद्वानों का कथन है कि जबतक वर्त्तमान साइन्स वैदिक प्रक्रिया या आध्यात्मिकता की ओर न झुकेगा, तबतक इस अवस्था का हल नहीं प्राप्त कर सकेगा। अस्तु;

इस प्रकार, अवस्था-रहित द्रव्य के प्राप्त न होने या ध्यान में न आने के कारण ही बौद्धदर्शन में अवस्थाओं को ही मूलतत्त्व मान लिया गया और इसी आधार पर वह दर्शन वैनाशिक दर्शन कहलाया। एक अवस्था का विनाश हुए विना दूसरी अवस्था उत्पन्न नहीं हो सकती। जैसा कि बीज से यदि अंकुर बनेगा, तो बीज की अपनी अवस्था पहले नष्ट हो जायगी। उसके बाद अंकुर की अवस्था आ सकेगी। इसी प्रकार सुवर्ण को यदि अंगूठी बनाना होगा, तो पूर्वस्थित उसकी टिकड़ी या गोले की अवस्था को गलाकर नष्ट कर देना पड़ेगा। इस प्रकार, एक तत्त्व नष्ट होकर उसके विनाश से दूसरा तत्त्व उत्पन्न होता है, अतः विनाश ही मूलतत्त्व ठहरता है और उसके प्रतिपादन से यह दर्शन या विचारधारा भी वैनाशिक दर्शन कहलाता है। यह अवस्था-परिवर्त्तन क्रिया का ही एक रूप है। क्रिया को श्रम भी कहते हैं, इसलिए इस दर्शन के विद्वान् 'श्रमण' कहे जाते हैं।

किन्तु, वैदिक विज्ञान का विचार है कि यदि अवस्थाएँ ही सब कुछ होतीं, तो सब अवस्थाओं में अनुगत एक रूप की प्रत्यभिज्ञा (पहचान) कैसे हो सकती थी। अंगूठी, कटक, कुण्डल, टिकड़ी, चूरा, विविध आभूषण आदि किसी भी रूप में देखकर 'यह सुवर्ण है', इस प्रकार की पहचान हमें तत्काल हो जाती है। अवस्थाओं में परिवर्त्तन हुआ, किन्तु सुवर्ण नहीं बदला। इससे यह बात सामने आई कि न बदलनेवाला सुवर्ण एक मुख्य तत्त्व है, और पूर्वोक्त अवस्थाएँ उसमें आगन्तुक हैं, अर्थात् आती और जाती हैं। कार्य-कारणभाव के निश्चय का

यही प्रकार है कि जो अनुगत रहे, उसे कारण समझा जाता है और जिनमें अनुगत रहे, उन्हें कार्य। इस नियम से प्रकृति में कारणता सुवर्ण या मृत्तिका में ही सिद्ध होती है, अवस्थाओं में नहीं। अस्तु; इसी प्रक्रिया से जब देखेंगे कि जिसे सुवर्ण कहा जाता है, वह भी तेज और पृथ्वी के अंशों से बना है, इसलिए उनकी अवस्थामात्र है। वे पृथ्वी और तेज भी किसी तत्त्व की अवस्थाएँ हैं। इस प्रकार, चिन्तना में अग्रतर होते हुए उस मूलतत्त्व पर पहुँचा जा सकेगा, किन्तु उसका मन में लाना या किसी को समझाने के लिए वाणी से कहना सम्भव न होगा। जब मोटी वस्तु सुवर्ण या मिट्टी का ही वास्तव स्वरूप पूर्वोक्त युक्ति से हम नहीं पहचान सकते, तब मूलतत्त्व को पहचानने की कथा तो बहुत दूर की है। पहले कहे गये प्रकार से सुवर्ण और मृत्तिका आदि भी एक अवस्थाविशेष हैं। इसलिए, उनमें कुछ गुण और धर्म मान लिये जाते हैं और उन गुण तथा धर्मों के आधार पर उसका नामकरण भी कर लिया जाता है या उन पदार्थों का परस्पर भेद भी समझ लिया जाता है। किन्तु, मूलतत्त्व तो सारी अवस्थाओं से रहित है, इसलिए न उसका कोई नामकरण हो सकता है, न कोई गुण तथा धर्म ही उसमें कहे जा सकते हैं। इसी आधार पर उसे मन और वाणी से परे कहा जाता है।

वास्तविक कोई नाम न होने पर भी यदि किसी नाम की वहाँ कल्पना करें, तो उसके सम्बन्ध में कुछ कहना बन नहीं सकता और उसी को आधार बनाकर सारा विषय कहना है, इसलिए श्रुतियों ने उस तत्त्व के लिए काल्पनिक 'रस' शब्द का प्रयोग किया है—'रसो वै सः'। सत्, चित्, आनन्द, ब्रह्म आदि शब्दों का प्रयोग भी आगे की अवस्थाओं को देखकर उसपर आरोपित किया गया है। यहाँ यह विचार भी आवश्यक है कि किस आधार पर उसके लिए 'रस' शब्द का प्रयोग हुआ। काल्पनिक शब्द की मूलभूत कल्पना का भी कोई आधार तो होना चाहिए। निराधार कल्पना श्रुति-सम्मत नहीं हो सकती। इसलिए इस शब्द के प्रयोग के आधार का अन्वेषण होना चाहिए। उस निर्गुण निरवस्थ तत्त्व में आगे उत्पन्न होनेवाले गुण और धर्मों के आधार पर नाम-कल्पना कर ली जाती है। यहाँ 'रस' शब्द आनन्द का वाचक है और मूलतत्त्व की आनन्दरूपता अनेक युक्तियों से सिद्ध होती है।

मूलतत्त्व की आनन्दरूपता

१. मूलतत्त्व से जो सारा प्रपंच प्रकट होता है, उसको मूलतत्त्व का विकास ही कहा जा सकता है, उसका परिणाम इसे नहीं कह सकते। क्योंकि, जगत् को उत्पन्न करने के उपरान्त भी उस मूलतत्त्व में किसी प्रकार का परिवर्त्तन नहीं होता। जिस प्रकार दूध से दही बनता है, वह दूध का परिणाम है। अब दही दूध नहीं कहलाता। बीज से वृक्ष हुआ, वह वृक्ष अब बीज नहीं कहलाता, उसके गुण-धर्म भी बदल गये, किन्तु मूलतत्त्व में ऐसा कोई परिवर्त्तन नहीं होता, इसलिए इस संसार और सम्पूर्ण प्रपंच को इसके मूलतत्त्व का विकास ही कह सकते हैं। पुष्प की नन्हीं-सी कलिका का विकास हो जाने पर भी पुष्प का नाश या उस पुष्प के गुण-धर्मों का परिवर्त्तन नहीं देखा जाता, इसलिए विकास शब्द वहाँ उपयुक्त है

और विकास शब्द का व्यवहार आनन्द में भी देखते हैं। किसी मनुष्य को यदि आनन्द हुआ हो, तो कहा जाता है कि वह विकसित हो गया या फूल उठा। अतः, विकसित होनेवाले मूलतत्त्व को आनन्द या रस शब्द से संज्ञित करना युक्तियुक्त है।

२. शास्त्रों में आनन्द के दो स्वरूप वर्णित हुए हैं। एक शान्त्यानन्द दूसरा समृद्धयानन्द। चित्त में किसी प्रकार की चंचलता न उठना शान्त्यानन्द कहा जाता है और नई वस्तु की प्राप्ति पर चित्त का उल्लास या बढ़ना समृद्धयानन्द है। इनमें शान्त्यानन्द को ही हमारे शास्त्र मुख्य मानते हैं। इसका प्रमाण है कि कोई बड़ा विलासी रईस अपने विविध आनन्दप्रद नाच-रंग, खान-पान, आमोद-प्रमोद आदि को छोड़कर भी शयन की इच्छा अवश्य करता है। शयन में कोई समृद्धयानन्द नहीं, किन्तु शान्त्यानन्द वहाँ अवश्य हैं। किसी प्रकार चंचलता या क्षोभ शयनावस्था में मन में नहीं रहता। इससे सिद्ध हुआ कि समृद्धयानन्द से ऊबकर मनुष्य शान्त्यानन्द में अवश्य जाना चाहता है और इसमें शान्त्यानन्द की प्रधानता स्पष्ट हो जाती है। संसार में सर्वत्र शान्त्यानन्द का प्रसार देखा जाता है। परस्पर विरुद्ध रहनेवाले तत्त्व भी एक प्रकार के सहयोग का पालन करते हुए संसार में शान्ति की व्यवस्था करते हैं। जैसे, जल और अग्नि दोनों परस्पर विरुद्ध तत्त्व हैं, किन्तु अग्नि का उत्ताप जब ग्रीष्म ऋतु आदि में अपनी विशेषता से जगत् की शान्ति भंग करना चाहता है, तब जल वर्षा रूप से गिरकर उसके उत्ताप का शमन करता हुआ शान्ति की व्यवस्था कर देता है। इसी प्रकार, जल जब अधिक मात्रा में बढ़कर अपने आप्लावन से शान्ति भंग करने को उद्यत होता है, तब अग्नि उसका शोषण कर जगत् में शान्ति ले आता है। इसी प्रकार, वायु की प्रबलता को पर्वत आदि पार्थिव पदार्थ कम कर देते हैं और पृथ्वी की जडता-रूप स्थिरता को हटाकर वायु उसमें क्रिया-रूप भिन्न-भिन्न पदार्थों के उत्पादन की शक्ति उत्पन्न कर देता है। इस प्रकार, सारे तत्त्व परस्पर मिलकर जगत् में शान्ति की व्यवस्था करते हुए जब देखे जाते हैं, तब इनमें शान्तिरूप आनन्द का अनुस्यूत होना प्रतीत होता है और इससे इनका मूलतत्त्व भी शान्त्यानन्द रूप है, यह सिद्ध हो जाता है। कारण से ही कार्य में धर्मों का प्रादुर्भाव है, इसलिए कारण को भी आनन्दरूप मानना उचित हो जाता है।

३. समृद्धयानन्द का क्या स्वरूप है, यह भी विचार्य विषय है। श्रुति ने कहा कि 'यो वै भूमा, तत्सुखम्, यदल्पं तद्दुःखम्', अर्थात् महत्त्व में सुख है और अल्पता में दुःख है। अनुभवसिद्ध भी यही बात है कि जिस मनुष्य के पास जितनी सम्पत्ति, धन, पशु, गृह, भूमि आदि होती है, वह अपने को उतना ही सुखी मानता है और जिसके पास सम्पत्ति जितनी अल्प मात्रा में होती है, वह अपने को उतना ही दुःखी समझता है। जब किसी को कोई नई वस्तु, गृह, भूमि, धन, सम्पत्ति आदि मिलती है, तब वह अपने को आनन्द में मग्न पाता है, यही समृद्धयानन्द है। आगे क्षर पुरुष के निरूपण में स्पष्ट होगा कि व्यावहारिक आत्मा की पाँच कलाएँ हैं—१. बीजचिति (कारण-शरीर), २. देवचिति (सूक्ष्म शरीर), ३. भूतचिति (स्थूल शरीर), ४. प्रजा (सन्तति) और ५. वित्त (सम्पत्ति)। इनमें पाँचवीं सम्पत्ति-रूप कला अपनी सम्पत्ति में भी व्याप्त रहती है। जब कोई नई वस्तु प्राप्त हो, तब वह व्यावहारिक

आत्मा की पाँचवीं कला उस गृह, भूमि आदि को भी अपने स्वरूप में प्रविष्ट करने को फूलती है, या विस्तृत होती है। यही आनन्द के अनुभव का हेतु है। आगे वह पदार्थ भी उस कला के स्वरूप में प्रविष्ट हो जाता है। इसलिए, प्रसरण अवरुद्ध हो जाता और उस क्षण का जैसा आनन्दानुभव आगे नहीं रहता। किन्तु, इसके विपरीत जब हमारी सम्पत्ति का कोई अंश निकल जाता है, तब उस कला के क्षीण होने के कारण दुःख का अनुभव होता है। इस विचार से जब सिद्ध हो गया कि महत्त्व में आनन्द है और अल्पता में दुःख है, तब वह मूल-तत्त्व तो परम महान् है, वह विभु है, अर्थात् सर्वत्र व्यापक है, उससे अन्य किसी की अधिक महत्ता होना सम्भव नहीं, तब उनकी परमानन्दरूपता में संशय नहीं होता।

४. उक्त प्रक्रिया को हो दूसरी रीति से भी देखा जा सकता है कि जहाँ जितनी शक्ति है, वहाँ उतना ही आनन्द है। पशु, पक्षी आदि तिर्यग्योनि की अपेक्षा मनुष्य में प्रकृति-दत्त शक्ति अधिक है, इसलिए मनुष्य उन पशु, पक्षी आदि को काम में लेता हुआ आनन्द का अनुभव करता रहता है। घोटक-परिचालन में, हाथी के आरोहण में, गोदोहन में या शुक, सारिकादि के शब्द सुनने में आनन्द का अनुभव करते हुए बहुत लोग देखे जाते हैं। मनुष्यों में भी ज्ञान-शक्ति, बल-शक्ति जिसमें जितनी अधिक हो, वह उतना ही अधिक आनन्द का अनुभव करता है। और, अपने से अल्प-शक्तिवालों पर अपना प्रभुत्व दिखाता हुआ ही विशेष आनन्दित होता रहता है; जैसे पशु, पक्षी आदि की अपेक्षा देव, गन्धर्व, पितर आदि में शक्ति अधिक है। इसलिए, उनका आनन्द मनुष्य से अधिक माना जाता है और मनुष्य भी उनका स्थान पाने को यज्ञादि सत्कर्मों द्वारा यत्नशील रहता है। तैत्तिरीय उपनिषद् की आनन्द-वल्ली में भी यह विषय स्पष्ट किया गया है कि जो मनुष्य बलवान्, बुद्धिमान्, धनवान् और युवा है, वह मनुष्य आनन्द की एक सीमा पर पहुँचा हुआ है। उसे जितना आनन्द है, उससे शतगुणित आनन्द गन्धर्वों को, उससे शतगुणित पितृ- देव आदि को, इस प्रकार शत-शतगुणित रूप आनन्द का तारतम्य वहाँ दिखाया है और जिसके हृदय में किसी कामना का उदय ही नहीं होता, ऐसे श्रोत्रिय का आनन्द इन सबके समान श्रेणी का बताया है। इस प्रकार शक्ति के आनन्द की मात्रा बढ़ती जाती है। तब जो मूलतत्त्व सर्वशक्तिसम्पन्न है, जिससे अधिक शक्ति कहीं सम्भव ही नहीं, उसके परमानन्द-रूप होने में विवाद का कहाँ स्थान रहा ?

५. प्रत्येक प्राणी सदा आनन्द की ही इच्छा करता रहता है और जहाँ आनन्द का अनुभव करे, वहीं उसका प्रेम होता है। इसलिए, आनन्द का ही दूसरा रूप प्रेम है। संसार में दो ही तत्त्व अनुभव में आते हैं—सत्ता और ज्ञान। असत् से विलक्षणता दिखाने-वाली सत्ता सर्वत्र व्यापक है और जड-चेतन का विभाग करनेवाला ज्ञान भी चेतनों में सर्वत्र व्याप्त है : ये दोनों ही हमें सर्वदा प्रिय होते हैं। इसी सत्तावाले पदार्थों के संग्रह में सदा हमारी प्रवृत्ति रहती है। हम अधिक-से-अधिक पदार्थों का संग्रह करना निरन्तर चाहते हैं। इस इच्छा से सत्तायुक्त पदार्थों में हमारा प्रेम सिद्ध है और ज्ञान-सम्पादन में भी हमारी निरन्तर इच्छा रहती है। जो मनुष्य जिस बात को नहीं जानता, उसे जानने के लिए सदा यत्नशील रहता है। विचारशील मनुष्य इसका अनुभव कर सकते हैं कि किसी शास्त्र की

कोई बात समझ में जबतक नहीं आती, तबतक उनके चित्त में कितनी विकलता रहती है और समझ में आते ही कैसा आनन्द आता है। इससे सत्ता और ज्ञान दोनों का प्रिय होना स्पष्ट सिद्ध हो जाता है। और, प्रियता के साथ ही उनकी आनन्दरूपता भी समझ में आ जाती है। इस प्रकार, जब इनमें आनन्दरूपता है, तब इनके मूलतत्त्व में भी अवश्य आनन्दरूपता सिद्ध होगी; क्योंकि कार्य में जो धर्म होते हैं, वे कारण से ही आते हैं। इस युक्ति से भी मूलतत्त्व की आनन्दरूपता सिद्ध हो जाती है।

६. यह भी वैदिक सिद्धान्त है कि जगत् का मूलतत्त्व और हमारा आत्मा भिन्न-भिन्न नहीं हैं। वह मूलतत्त्व ही आत्मा-रूप होकर हमारे भीतर भी बैठा है। इसलिए, श्रुति कहती है कि मूलतत्त्व को समझने के लिए पहले अपने आत्मा को समझो। अपने आत्मा पर जब हम विचार करते हैं, तब उसकी आनन्दरूपता स्पष्ट हो जाती है; क्योंकि जो चेतन या अचेतन प्राणी या जड आत्मा के अनुकूल हो, उसी पर प्रेम होता है। आत्मा से किंचित् प्रतिकल होते ही प्रेम हट जाता है और उसका विपरीत गुण द्वेष उसका स्थान ले लेता है। इस बात को श्रुतियों ने अनेक स्थानों पर स्पष्ट दिखाया है :

तदेतत् प्रेयः पुत्रात् प्रेयो मित्रात् इत्यादि।

और

न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति
आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति।
न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति
आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति॥ इत्यादि।

(बृहदारण्यकोपनिषद्)

अर्थात्, यह आत्मा पुत्र से, मित्र से, सबसे अत्यन्त प्रिय है। पति की कामना के लिए स्त्री को पति के प्रति प्रेम नहीं होता, अपनी इच्छा रति के लिए प्रेम होता है। इसी प्रकार, पति का स्त्री के प्रति प्रेम स्त्री के लिए नहीं है, अपनी इच्छापूर्त्ति के लिए है। इत्यादि रूप से पुत्र, मित्र आदि सबका विस्तार दिखाकर अन्त में श्रुति ने कहा है कि सबकी कामना के लिए सबके साथ प्रेम नहीं होता, अपनी कामना के लिए सबसे प्रेम होता है। इसलिए, आत्मा ही प्रेम का मुख्य स्थान है और वही आनन्दमय है। यही अनुभवसिद्ध बात भी है।

इसपर कई सज्जन शंका करते हैं कि अनुभव तो अत्यन्त स्वार्थी पुरुषों का है और श्रुति में भी स्वार्थ का ही अनुवाद प्रतीत होता है। उदारचरित पुरुषों में तो देखा जाता है कि दूसरे के हित के लिए वे अपने शरीर और प्राण को अनायास निछावर कर देते हैं। इसी प्रकार देशसेवी नेता देश-हित के लिए अपने प्राणों को समर्पित करते हुए देखे गये हैं। तब अपने लिए ही सब कुछ प्रिय होता है, यह कथन केवल स्वार्थमूलक ही ठहरता है और यह कोई प्रशंसा की बात नहीं। किन्तु, कहना पड़ेगा कि यहाँ विचार में थोड़ी भूल रह

गई है। जो स्त्री, पुत्र आदि अपने पति पिता आदि के लिए अपने शरीर या प्राणों को निछावर कर देते हैं, उनकी पति, पिता आदि में अत्यन्त भक्ति है। वह भक्ति उनके ही चित्त की एक वृत्ति है, अर्थात् उनकी बुद्धि का एक अंश है। उस बुद्धि-वृत्ति की रक्षा के लिए उन्होंने शरीर या प्राण का परित्याग किया। यह सिद्ध है कि शरीर, प्राण आदि की अपेक्षा बुद्धि का और उसकी वृत्तियों का आत्मा से निकटतम सम्बन्ध है। तब आत्मा से निकटतम सम्बन्ध रखनेवाले के लिए दूर सम्बन्ध रखनेवाले का बलिदान हुआ, तो इससे तो पूर्वोक्त युक्ति ही दृढ हुई कि आत्मा परम प्रिय है। उससे जिसका जितना निकट उम्बन्ध है, वह अधिक प्रिय रहता है और दूर सम्बन्ध रखनेवाला न्यून। यही बात देशसेवियों में भी घटा लीजिए। उनकी देश पर निरतिशय भक्ति है और उस भक्ति-रूप चित्तवृत्ति की रक्षा के लिए दूर सम्बन्धवाले शरीर, प्राण आदि को वे कष्ट देते हैं और उनका त्याग तक कर देते हैं। अस्तु; इस प्रकार परम प्रिय होने के कारण आत्मा की आनन्दरूपता सिद्ध होती है और परतत्त्व या मूलतत्त्व उससे पृथक् नहीं, इसलिए उसकी भी आनन्दरूपता स्पष्ट हो जाती है।

७. संसार में जितने दुःख हैं, मृत्यु का दुःख उन सबसे प्रबल है। इसलिए, प्राणिमात्र को जितना भय मृत्यु का रहता है, उतना और किसी का नहीं। मृत्यु अभाव-रूप है। वह जब दुःख-रूप है, तब उसके विपरीत सत्ता अवश्य ही आनन्द-रूप सिद्ध हुई; क्योंकि आनन्द और दुःख दोनों परस्पर विरुद्ध स्वभाववाले हैं, यह अनुभव-सिद्ध है। ऐसी स्थिति में जो शुद्ध सत्ता-रूप है और अपने अनुप्रवेश से ही सबको सत्ता देता है, उस सद्रूप को अवश्य ही आनन्द कहना पड़ेगा।

इस प्रकार, अनेक युक्तियों से मूलतत्त्व की 'रस'-रूपता सिद्ध हो जाती है और इसी आधार पर श्रुति ने मूलतत्त्व को 'रस'-रूप या आनन्द-रूप बताया है। अब प्रश्न यह होता है कि गुण-धर्म-रहित और व्यापक होने के कारण क्रिया-रहित ऐसे मूलतत्त्व से यह प्रपंच कैसे बन गया। प्रपंच तो भिन्न-भिन्न प्रकार के अनन्त गुण और धर्म रखता है। यदि मूल कारण में ही गुण-धर्म नहीं थे, तो प्रपंच में कहाँ से आ गये। इस प्रश्न का उत्तर श्रुति, पुराण आदि सबमें यही दिया जाता है कि उस मूलतत्त्व-रूप परब्रह्म में ऐसी शक्ति है कि वह प्रपंच को रच देती है :

> परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते।
> स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥
>
> (श्वेताश्वतरोपनिषद्)

उक्त शक्ति का नाम बल रखा जाता है। एक ही तत्त्व बल, शक्ति और क्रिया इन तीनों नामों से कहा जाता है। जब वह सुप्त अवस्था में रहे, कुछ करता हुआ न रहे, उस अवस्था में उसे बल कहते हैं और वही जब कार्य करने को समुद्यत हो, तब उसका नाम शक्ति पड़ जाता है। अन्त में क्रिया-रूप होकर वह उपशान्त हो जाता है, फिर नया बल जाग्रत् होता है। इस प्रकार, रस और बल दो मूलतत्त्व सिद्ध हुए। किन्तु, स्मरण रहे कि ये

दो नहीं हैं, एक ही हैं; क्योंकि शक्ति शक्तिमान् से अपनी पृथक् सत्ता नहीं रखती। अग्नि और दाहकता-शक्ति इन दोनों को दो तत्त्व नहीं कहा जाता। पृथक् सत्ता रखने पर ही संख्या बढ़ती है। एक ही सत्ता यदि एक से दूसरे में संक्रान्त होती जाय, तो वहाँ पृथक् संख्या नहीं गिनी जाती। जैसे, हमारे पास धोती या दुपट्टा कोई वस्त्र है। इस वस्त्र में बहुत तन्तु (धागे) भी ओत-प्रोत हैं। तन्तु में रूई, रूई में कपास, कपास में भी मिट्टी अवश्य ही अनुगत है, किन्तु वस्त्र को देखकर पाँच वस्तुएँ नहीं कही जातीं। वस्त्र एक ही कहलाता है; क्योंकि इन पाँच वस्तुओं की सत्ता वस्त्र में पृथक्-पृथक् नहीं। एक ही सत्ता पाँचों में अनुगत है। कारण की सत्ता को ही कार्य ने ले लिया। दूसरे शब्दों में कारण की सत्ता से ही कार्य सत्तावान् हो जाता है। इसलिए, मृत्तिका की सत्ता कपास में, कपास की रूई में, रूई की तन्तु में और तन्तुओं की वस्त्र में आ गई, इसलिए वह वस्त्र एक ही कहलाता है। इसी प्रकार शक्ति-शक्तिमान् को भी समझिए। शक्ति अपने आश्रय से भिन्न अपनी सत्ता नहीं रखती। वह पृथक् होकर कभी प्राप्त भी नहीं हो सकती। जब कभी शक्ति का अनुभव होगा, आश्रय के द्वारा ही होगा। इसलिए उसे पृथक् नहीं कहा जा सकता। इस सिद्धान्त में निष्कर्ष यह आया कि वेद संसार का मूलतत्त्व 'एकमेवाद्वितीयम्' मानता है। किन्तु, यह शक्ति अपने आश्रय से बिलकुल विरुद्ध स्वभाव रखती है। मूलतत्त्व एक और विभु (व्यापक) है। उसका किसी देश या किसी काल में अभाव नहीं। किन्तु, बल-रूपा शक्ति परिच्छिन्न परिधि (Limit) में है और संख्या की अनन्तता उसमें है। अर्थात्, सर्वत्र ही मूलतत्त्व या 'रस' में बल भी है। शक्ति-शून्य मूलतत्त्व कहीं नहीं। किन्तु एक बल सर्वत्र व्यापक नहीं। खण्डशः अनन्त बल उसमें रहते हैं। मूलतत्त्व अविनाशी है, किन्तु यह बल या शक्ति प्रतिक्षण परिवर्त्तनशील है। यह शक्ति जब जाग्रत् होती है, तब प्रथम कार्य यही करती है कि अपरिच्छिन्न 'रस' को अपनी परिमितता से परिच्छिन्न-सा दिखा देती है। जैसे, समुद्र के अथाह जल में उठनेवाली तरंगें जल को अपने रूप में बँधा हुआ-सा दिखाती हैं अथवा जैसे अनन्त आकाश में अपना मकान बनाने को हम पूर्व और पश्चिम की ओर दो दीवारें खड़ी करते हैं। वे दीवारें अपने घेरे में बाँधकर अनन्त आकाश को भी परिच्छिन्न-सा दिखा देती हैं। यथार्थ में कोई परिच्छेद मूलतत्त्व में नहीं होता। वह सदा अपरिच्छिन्न ही रहता है। किन्तु, शक्ति के परिच्छिन्न होने के कारण पूर्वोक्त प्रकार से उसमें परिच्छेद प्रतीत हो जाता है। इसीलिए, इस शक्ति का नाम शास्त्र में माया रखा गया है। 'मा' धातु का अर्थ 'मिति', अर्थात् परिच्छेद या Limit है। अमित या अपरिच्छिन्न में मिति या परिच्छेद दिखाने के कारण माया शब्द का व्यवहार शक्ति के लिए प्रयुक्त हुआ। साथ ही, अमित को मित कैसे दिखा दिया या अमित से अभिन्न होती हुई भी यह शक्ति स्वयं सीमित कैसे हो गई, इन बातों का कोई उत्तर दिया नहीं जा सकता। इसलिए, इस माया-शक्ति को अनिर्वचनीय (न कहने योग्य) भी कहा गया है। यही कारण है कि संसार में जहाँ कहीं ऐसी कोई बात दिखाई दे कि जिसकी तर्क-युक्ति आदि से कोई उपपत्ति सिद्ध न होती हो, उसे माया ही कह दिया जाता है। इस प्रकार, शक्ति का माया नाम और शक्ति के द्वारा परिच्छिन्न रूप में दिखाई देनेवाले मूलतत्त्व का नाम 'पुरुष'

हो जाता है। 'पुरुष' शब्द का अर्थ है 'पुर में शयन करनेवाला', अर्थात् एक परिधि में परिच्छिन्न दिखाई देनेवाला।

पुरुष-विज्ञान

आगे उस एक बल पर क्रम से अन्यान्य बल प्रवाह-रूप से आते रहते हैं। इसलिए, उन बलों का चयन होता है। चयन शब्द का अर्थ है 'चिनाई'। जैसे एक ईंट या पत्थर पर दूसरी ईंट या पत्थर रखकर एक दीवार खड़ी की जाती है, उसी प्रकार एक बल पर दूसरे बल का चयन होता रहता है। यद्यपि जैसे क्रिया पर क्रिया नहीं हो सकती, उसी प्रकार क्रिया की सूक्ष्म अवस्था बल पर भी दूसरा बल नहीं आ सकता। बल स्वयं क्षणिक होने के कारण दूसरे बल का आधार नहीं बन सकता। किन्तु, रस में स्थित होकर बल जब प्रवाही बन गया, तब उसपर अन्य बल को भी आने का अवसर मिलता है। इसी प्रकार चयन होते-होते उन बलों में एक दूसरे के साथ ग्रन्थि भी पड़ती जाती है, इसलिए व्यवहार में तीन प्रकार के पुरुष कहे जाते हैं। जहाँतक केवल परिच्छेदमात्र हुआ हो, चयन नहीं, वह 'उत्तमपुरुष' या 'अव्ययपुरुष' कहलाता है। बलों पर बलों का चयन हो जाने के उपरान्त उसकी 'अक्षरपुरुष' संज्ञा हो जाती है और बलों की ग्रन्थि पड़ जाने पर वह 'क्षरपुरुष' कहलाता है। वह क्षरपुरुष ही प्रपंच के रूप में परिणत हुआ करता है। इस प्रकार, सम्पूर्ण दृश्य-प्रपंच का उपादान कारण क्षरपुरुष, निमित्त कारण अक्षरपुरुष और सबका आलम्बन वा अधिष्ठान अव्ययपुरुष है। विकार न होने पर भी परिच्छेद (लिमिट) हो जाने के कारण भेद का प्रादुर्भाव वहाँ हो जाता है। बल जबतक केवल जाग्रत् रहता है—परिच्छेद नहीं करता—तबतक वह 'परात्पर' है, वह एक है, वहाँ भेद नहीं। किन्तु, अव्ययपुरुष में भेद उत्पन्न हो गया। अतः, जहाँ 'एकमेवाद्वितीयम्' कहा हो वा परब्रह्म, परमेश्वर आदि शब्द जहाँ हो, वहाँ परात्पर ही समझना चाहिए। परिच्छिन्न होने पर भी जो सबसे बड़ा है, वह 'ईश्वराव्यय' है और उसके अनन्तर छोटे-छोटे परिच्छेदवाले 'जीवाव्यय' कहलाते हैं। आगे कहे जानेवाले अक्षर वा क्षरपुरुष अव्यय की सीमा का अतिक्रमण नहीं कर सके हैं। जिस जीव वा वस्तु का अव्यय जितने परिमाण में होगा, उतने ही परिमाण में उसके अक्षर और क्षरपुरुष भी कार्य करेंगे। आगे कहा जानेवाला 'शुक्र', जो मूर्त्तियों का उत्पादक है, वह भी उतने ही प्रदेश में रह सकता है। अव्यय के बढ़ने वा घटने पर ये सब भी बढ़-घट जाते हैं। इससे अव्यय ही सबका मूल आधार माना जाता है।

इनमें प्रत्येक पुरुष की पाँच-पाँच कलाएँ वेदों में वर्णित हैं। यों, तीन पुरुषों की पन्द्रह कलाएँ हो जाती हैं और सब में अनुप्रविष्ट रहनेवाले विशुद्ध मूलतत्त्व को भी (जसका नाम वेदों में 'परात्पर' है) एक कला के रूप में गिन लेने पर यह षोडशी पुरुष (सोलह कलावाला पुरुष) प्रजापति के नाम से श्रुतियों में प्रसिद्ध है। प्रजापति का निरूपण आगे करेंगे। निम्ननिर्दिष्ट श्रुति में सोलह कलाओं का निर्देश है :

> गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु।
> भूतानि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्वे एकीभवन्ति॥

(मुण्डकोपनिषद्, मु० ३, ख० २, मं० ७)

यह लय बतानेवाली श्रुति है। इसमें बताया गया है कि लय के समय पन्द्रह कलाएँ पर-अव्यय में प्राप्त होकर एक हो जाती हैं। यहाँ पर-अव्यय से ईश्वराव्यय का अव्यय से भी पर-परात्पर समझना चाहिए। देव, भूतविज्ञानमय, आत्मा (जीवात्मा) आदि सब पहले ईश्वराव्यय में लीन होते हैं—और आगे ईश्वराव्यय के भी परात्पर में प्रलीन होने पर सोलहवीं कला परात्पर में जाकर सब एक हो जाते हैं।

अव्यय पुरुष की पाँच कलाओं के नाम आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण और वाक् हैं। इनमें शक्ति के द्वारा परिच्छिन्न होने पर सबसे पहले मन का प्रादुर्भाव माना गया है। जिसको हम मन समझते हैं, वह तो बहुत पीछे उत्पन्न होनेवाली स्थूल अवस्था है। यहाँ जो मन बतलाया जाता है, वह अति सूक्ष्म सबकी आदिभूत अवस्था है। इनके नामों में भ्रम न हो जाय, इसलिए इस सर्वप्रथम मन का श्वोवसीयस मन नाम से श्रुतियों में व्यवहार है। बृहदारण्यक उपनिषद् में 'तन्मनोऽकुरुत' कहकर मूलतत्त्व आत्मा से सर्वप्रथम मन का प्रादुर्भाव बताया गया है और ऋग्वेदसंहिता के नासदीय सूक्त में भी :

कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं तदासीत्।

इत्यादि मन्त्र के द्वारा सर्वतः प्रथम मन और उसकी इच्छावृत्ति का उद्भव बताया गया है। पूर्वोक्त प्रकार से मन में रस और बल दोनों तत्त्व हैं। इसमें दोनों प्रकार का चयन आरम्भ होता है। एक खोलनेवाला तथा दूसरा बाँधनेवाला। स्मरण रहे कि गाँठ लगाने के लिए जिस प्रकार बल काम में आता है, खोलने के लिए भी वैसे ही बल की आवश्यकता हुआ करती है। खोलनेवाले बल से मन के अनन्तर विज्ञान और उसके अनन्तर आनन्द की अभिव्यक्ति हो जाती है। इसलिए, आनन्द, विज्ञान और मन ये तीनों मुक्तिसाक्षिक कलाएँ कही जाती हैं। इनका सृष्टि-प्रक्रिया में उपयोग नहीं होता। इनमें तो सृष्टि का अत्यन्त लय-रूप मुक्ति होती है। किन्तु, बाँधनेवाले बल से जो कलाएँ निर्मित होती हैं, उनका नाम है मन, प्राण और वाक्। मन को दोनों तरफ लिया गया है। वह बन्ध और मोक्ष दोनों का कारण है। उसी से उत्पन्न होनेवाले हमारे मन के लिए भी कहा जाता है :

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

अर्थात्, हमारी अध्यात्म-दशा में भी मन ही बन्ध या मोक्ष की ओर ले जानेवाला है। जब वह संसार की ओर झुकता है, तब अधिक-से-अधिक बाँधता चला जायगा और जब श्रेयमार्ग में परमात्मा की ओर चला गया, तब सारे बन्धनों से मुक्त कराकर मोक्ष-पद पर प्रतिष्ठित कर देगा। अस्तु; अव्ययपुरुष की इन पाँचों कलाओं का निरूपण तैत्तिरीय उपनिषद् में हुआ है। वहाँ 'वाक्' का नाम 'अन्न' है। वह अन्न वाक् की स्थूल अवस्था है, जो आगे स्पष्ट होगी। इनमें तीन कलाएँ मुक्तिसाक्षिक और तीन सृष्टिसाक्षिक हैं। मन को दोनों ओर ग्रहण करने से ६ हो जाती हैं, यह कह चुके हैं। सृष्टि के विषय में जहाँ कहीं आत्मा शब्द आया है, वहाँ शतपथ आदि ब्राह्मणों में सर्वत्र 'सोऽयमात्मा मनोमयः प्राणमयो वाङ्मयः,' यह बार-बार स्मरण कराया है। अर्थात्, अव्ययपुरुष की कला-रूप ये तीन

तत्त्व ही आत्मा-रूप से सम्पूर्ण प्रपंच में अवस्थित हैं। प्रपंच का यदि हम विश्लेषण करने लगें, तो तीन ही वस्तुएँ हाथ लगती हैं—ज्ञान, क्रिया और अर्थ। उनके मूलतत्त्व ये तीन माने गये हैं—सम्पूर्ण ज्ञान का मूलतत्त्व मन है, क्रिया का मूलतत्त्व प्राण (सारी क्रियाएँ प्राण से ही निकलती हैं) और अर्थों का मूलतत्त्व वाक्। यह 'वाक्' शब्द 'अवाक्' से निकला है। 'अव्' उपसर्ग के अकार का लोप व्याकरण में माना गया है। इसलिए, अवाक् का 'वाक्' ही शेष रह जाता है। अवाक् शब्द का अर्थ है—सबसे नीची श्रेणी की वस्तु। इसका तात्पर्य यही है कि स्थूल रूप में आ जाने के कारण यह मन और प्राण की अपेक्षा छोटी श्रेणी की वस्तु मानी जाती है। दूसरा निर्वचन यह भी है कि 'उ', 'अ' और 'अक्' इन तीनों से मिलकर वाक् शब्द बनता है। इनमें 'अ' विशुद्ध तत्त्व, अर्थात् मन का वाचक है और 'उ' प्राण का। इन दोनों से यह अंकित रहती है, इसलिए भी 'वाक्' कहलाती है। इससे आशय यही निकला कि मन और प्राण के विना वाक् का मिलना असम्भव है। भूतों की सूक्ष्मावस्था-रूप 'वाक्' में मन और प्राण सर्वत्र व्यापक हैं। प्राण की व्यापकता समझ में आ सकती है; क्योंकि जड-चेतनात्मक सम्पूर्ण प्रपंच में क्रिया-शक्ति सर्वत्र ही दिखाई देती है, किन्तु मन की व्यापकता में बहुत विचारकों को सन्देह होगा। मन से निकला हुआ ज्ञान तो केवल चेतनों में ही दिखाई देता है, जड वस्तुओं में उसका अभाव है। तब उसे सर्वत्र व्यापक कैसे माना जा सकता है। किन्तु, इसके समाधान के लिए यह पहिले दृढता से समझ लेना चाहिए कि वैदिक दर्शन में जड-चेतन-व्यवहार केवल काल्पनिक है। जडों में ज्ञान का अभाव कभी नहीं होता। जड-चेतन की उपपत्ति तो आयुर्वेद के परमाचार्य महामुनि चरक ने लिखी है कि :

सेन्द्रियं चेतनद्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम्।

अर्थात्, जहाँ इन्द्रियों का विकास हो गया, वह चेतन कहलाने लग गया। जहाँ इन्द्रियाँ गुप्त ही रह गईं, विकास न पा सकीं, वह जड़ कही गया। मन या उससे प्रकट होनेवाला ज्ञान तो सर्वत्र ही है, किन्तु इन्द्रियों के अभाव में उसका विकास नहीं हो पाता। इसलिए, जड पदार्थ में भी किंचित् विलक्षणता उत्पन्न होकर यदि इन्द्रियों का विकास हो जाय, तो वह चेतन-रूप में परिणत हो जाता है। जैसे, फलों के सड़ जाने पर वहाँ सैकड़ों कृमि (कीड़े) चेतन उत्पन्न हो जाते हैं। मिट्टी और लकड़ी में भी आर्द्रता आते ही कृमि और घुन उत्पन्न हो जाते हैं। इसी प्रकार, चेतन में भी यदि इन्द्रियों का विकास न रहे, अर्थात् वे शिथिल या विलुप्त हो जायँ, तो उनमें जडता की प्रतीति होने लगती है; जैसे मृत, प्रसुप्त अथवा मूर्च्छित शरीर में। अस्तु; प्रस्तुत यही था कि 'वाक्' समस्त भूतों की जननी है और मन तथा प्राण उसके गर्भ में अवश्य रहा करते हैं। हमारे यहाँ सांख्य-दर्शन की प्रक्रिया में भी भौतिक प्रपंच में शब्द-तन्मात्रा की उत्पत्ति सर्वप्रथम मानी जाती है। उसके आगे ही क्रम से अन्य तन्मात्राएं और पंच महाभूत उत्पन्न होते हैं। इससे दार्शनिक प्रक्रिया में भी 'वाक्' की भूतजनकता सिद्ध है।

इन तीनों कलाओं में प्राण के आधार पर अक्षरपुरुष का विकास होता है। वह प्राणप्रधान या क्रियाप्रधान है और वाक् के आधार पर क्षरपुरुष विकसित होता है। वह

अर्थप्रधान है। इसकी प्रक्रिया वैदिक विज्ञान में यह बताई गई है कि जब एक व्यापक तत्त्व को परिधि के भीतर ले लिया जाय, तब वह स्वभावतः उस परिधि को तोड़कर बड़ा बनने की ओर प्रवृत्त रहता है। सजातीयाकर्षण का यही सिद्धान्त है कि मिट्टी का ढेला आकाश में फेंके जाने पर भी हमारे हाथ के द्वारा दी हुई शक्ति समाप्त हो जाने पर अपने-आप अपने धन पृथ्वी-पिण्ड की ओर आता है। तैजस दीपक की शिखा अपने धन सूर्य-मण्डल की ओर ऊपर को ही स्वभावतः चलती है। ऐसे भूमा में से निकला हुआ वह पुरुष भूमा-रूप ही बनना सतत चाहता है और इसका प्रकार यही है कि वह अपने से बाहर के व्यापक तत्त्व को भी अपने भीतर लेता जाय। इसलिए, बाहर व्याप्त तत्त्व को अपने भीतर लेने की एक प्रवृत्ति उसमें उत्पन्न होती है, जिसे शतपथब्राह्मण (बृहदारण्यक उपनिषद्) में 'अशनाया' नाम दिया गया है। अशनाया का अर्थ है भूख, अर्थात् उसे सबको अपने भीतर ले लेने की भूख होती है। यह अशनाया भी एक प्रकार का बल है और रस तथा बल के लिए 'अमृत' और 'मृत्यु' शब्दों का श्रुतियों में पारिभाषिक प्रयोग है, अर्थात् वहाँ रस को अमृत कहते हैं और बल को मृत्यु। इसलिए, अशनाया को भी वहाँ मृत्यु कहा गया है। उक्त परिभाषा पर ध्यान न देने के कारण ही यहाँ भाष्यकारों ने क्लिष्ट कल्पना की है कि जब किसी को भूख लगती है, तब वह प्राणियों को मारता है। इसलिए, अशनाया मृत्यु-रूप है। वस्तुतः, इस कल्पना की कोई आवश्यकता नहीं। अशनाया को मृत्यु कहने का अभिप्राय तो श्रुति का इतना ही है कि वह अशनाया एक प्रकार का बल है। अशनाया बल उत्पन्न होने पर तीन अंश हो जाते हैं, जिनके नाम उक्थ, अर्क और अशिति श्रुतियों में प्रसिद्ध हैं। अशनाया से अपना अन्न लेने को उस बलविशिष्ट रस का एक अंश उठता है, वह उठने के कारण 'उक्थ' कहा जाता है। उत्थ से ही उक्थ बना है। तब वह बाहर से अन्न लेने को चलता है। इस चलन को श्रुति में 'अर्चन' कहा गया है और चलनेवाले अंश से जो वस्तु बनती है, उसे कहा गया है—'अर्क'। तब वह अपने से बाहर के जिस तत्त्व को अपने भीतर ले लेता है, वह बाहर का तत्त्व उसकी 'अशिति', अर्थात् खुराक बन जाती है। इस प्रकार, यह आकर्षण-विकर्षण-प्रक्रिया चल पड़ती है और उन परिच्छिन्नता को प्राप्त पुरुषों के बलों का एक प्रकार संघर्ष-सा मच जाता है। यही क्रियाप्रधान अक्षरपुरुष का प्रादुर्भाव है।[1]

अक्षरपुरुष

यह अक्षरपुरुष प्राणप्रधान या क्रियाप्रधान है। इसकी भी पाँच कलाएँ हैं। जिनके नाम हैं—ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि और सोम। ये ही पाँचों ईश्वर कहलाते हैं। दूसरे शब्दों में अक्षरपुरुष-रूप ईश्वर ये पाँच रूप हैं:

> **यदक्षरं पञ्चविधं समेति युजो युक्ता अभि यत्संवहन्ति।**
> **सत्यस्य सत्यमनु यत्र युज्यते तत्र देवाः सर्व एकीभवन्ति॥**
>
> (ऐ० उ०, ३।८।१)

---

१. नैवेह किञ्चनाग्रासीत, मृत्युनैवेदमावृतमासीद्, अशनायया—। अशनाया हि मृत्युः तन्मनो कुरुत आत्मन्विश्यामिति। सोऽर्चन न चरत तस्याऽस्यत अपोजायन्त। अर्चते वै मेकमभूदिति। तदेवार्कस्यार्कत्वम्।

इस श्रुति में अक्षर के पाँच भेदों का संकेत किया है और शतपथब्राह्मण के ११,७ काण्डों में इनका विशद वर्णन है।

यदर्चिमद् यदणुभ्योऽणु यस्मिन् लोका निहिता लोकिनश्च।
तदेतदक्षरं ब्रह्मसप्राणस्तद्‌वाङ्‌मनः।

(मुण्डको०, मुण्डक २)

संयुक्तमेतत् क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः।

(श्वेताश्वतरोप०, अ० १, मं० ८)

—इत्यादि श्रुतियों में भी अक्षरपुरुष का निर्देश है। परिधि के भीतर के तत्त्व को बाहर फेंकनेवाली शक्ति का नाम इन्द्र है और बाहर फेंकने से जो स्थान रिक्त हो गया, उसकी पूर्त्ति के लिए बाहर से तत्त्व लेकर पालन कर देनेवाली शक्ति का नाम विष्णु है। और, इस प्रकार आवागमन होते रहने पर भी वस्तु को एक रूप में दिखानेवाली प्रतिष्ठा-शक्ति का नाम ब्रह्मा है। प्रतिष्ठा स्थिरता रखने के कारण यही सबका उत्पादक कहलाता है। ये तीनों शक्तियाँ केन्द्र में रहती हैं। केन्द्र का नाम वैदिक परिभाषा में 'नाभि' है। उस नाभि में रहने के कारण अक्षर की ये तीनों कलाएँ 'नम्य' कही जाती हैं। अब केन्द्र से फेंके हुए रस का प्रतिष्ठा-प्राण की सहायता से बाहर एक पृष्ठ बन जाता है। उस पृष्ठ पर भी दो तत्त्व रहते हैं, बाहर जानेवाले और बाहर से आकर भीतर केन्द्र की ओर जानेवाले। इनमें बाहर जानेवाले तत्त्व का नाम अग्नि है और बाहर से वस्तु के केन्द्र की ओर जानेवाले तत्त्व का नाम सोम है। ये दोनों कलाएँ पृष्ठ पर रहने के कारण 'पृष्ठ्य' कहलाती हैं। स्मरण रहे कि अव्यय पुरुष की अन्तिम प्राण और वाक् नाम की कलाएँ यहाँ अग्नि और सोम के रूप मे विकसित हुई हैं। इसलिए, अग्नि को 'प्राण' और सोम को 'वाक्' नाम भी दिया जा सकता है। इन दोनों पृष्ठ की कलाओं का विकास तत्त्वों के बाहर निकलने के कारण ही हुआ है। इसलिए, बाहर फेंकनेवाली 'इन्द्र' शक्ति का इनके साथ विशेष सम्पर्क है और इन तीनों 'इन्द्र', 'अग्नि' और 'सोम' को मिलाकर एक ही रूप में इनकी उपासना पुराणों में प्रसिद्ध हो गई और तीन रूप सम्मिलित होने के कारण बहुत बड़ा महत्त्व हो जाने से ये तृतीय देवता महेश्वर नाम से उपास्य हो गये। इन्द्र, अग्नि और सोम ये तीनों उनके नेत्र मान लिये गये : 'वन्दे सूर्यशशाङ्कवह्निनयनम्'।

आगे क्षरपुरुष के निरूपण में स्पष्ट करेंगे कि इन्द्र का अधिष्ठान सूर्य-मण्डल है, सोम का चन्द्र-मण्डल, अग्नि अपने रूप में पृथ्वी में व्याप्त है ही। इन्हीं तीनों को भगवान् महेश्वर का नेत्र कहा गया है। इस मूर्त्ति के रहस्य का और भी विवरण आगे भारतीय संस्कृति के प्रकरण में किया जायगा। यह संक्षेप में अक्षरपुरुष के विकास का वर्णन किया गया। सबके आदिभूत ब्रह्मा के नाम से ही समस्त शक्तियों का वर्णन ब्राह्मणों में अधिक मिलता है। और, अग्नि-सोम का प्रपंच भी विस्तार से है। विष्णु और इन्द्र, इन दोनों शक्तियों के कार्य स्थान-स्थान पर संकेतित हैं।

उभा जिग्यथुर्न परा जये न पराजिग्ये कतरश्च नैनोः ।
इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वितदैरयेथाम् ।।

(ऋ० ६।६९।८)

(इन्द्र और विष्णु) दोनों ही असुरों को जीतते रहते हैं। कभी नहीं हारते । ये दोनों परस्पर भी स्पर्द्धा, अर्थात् युद्ध कर एक-दूसरे को दबाने की इच्छा करते हैं, किन्तु इनमें से कोई भी नहीं हारता । दोनों मिलकर तीन प्रकार के सहस्र प्रेरित करते हैं । इस ऋक्संहिता के मन्त्र में इन्द्र और विष्णु की स्पर्द्धा स्पष्ट वर्णित है । ये जो तीन सहस्र प्रेरित करते हैं, उनसे ही साम-मण्डल बनता है, जिसका निरूपण वेद-शब्दार्थ में किया जा चुका है ।

क्षरपुरुष

श्रुतियों में प्रतिपादित हुआ है कि प्रजापति का अर्धभाग तो अमृत रहता है और आधा मर्त्य हो जाता है । इसका आशय है कि अक्षरपुरुष अंशतः अपने स्वरूप में भी बना रहता है और उसीका अंश भूतों के रूप में भी विकसित होता जाता है। भूतों के रूप में विकसित होना ही संसार की उत्पत्ति है। इसलिए, कहा जा सकता है कि भूत-रूप में परिणत क्षरपुरुष ही संसार है । उस क्षरपुरुष की भी अक्षर की सहायता से पाँच कलाएँ बनती हैं, जिनके नाम हैं—प्राण, आप, वाक्, अन्नाद और अन्न । शतपथब्राह्मण के षष्ठ काण्ड के आरम्भ से ही इन कलाओं की उत्पत्ति का क्रमिक विवेचन है और आगे के काण्डों में भी वह विस्तृत होता गया है । षष्ठ काण्ड के आरम्भ में प्राणों का नाम 'ऋषि' लिखा है तथा उन्हीं का विकास तीनों वेदों को माना है, जिनका निरूपण हम पहले वेद-शब्दार्थ-निरूपण में कर चुके हैं। आगे प्राण से 'आप्' की उत्पत्ति बताई गई है । अस्तु; आगे इन कलाओं का आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक रूप में विस्तृत विकास हो जाता है । सबके उत्पादक तत्त्व आधिदैविक प्रकरण में आते हैं और उनसे दोनों प्रकार की धाराएँ चलती हैं— आधिभौतिक और आध्यात्मिक । प्रत्येक प्राणी का पृथक्-पृथक् शरीर-रूप जो एक-एक पिण्ड बनता जाता है, उसका बाह्य और आन्तर विस्तार आध्यात्मिक रूप कहा जाता है । और, ब्रह्माण्ड की एक-एक शाखा में जड-चेतन-रूप समस्त तत्त्वों को उत्पन्न करनेवाले जो पाँच पिण्ड हैं, उन्हें आधिभौतिक रूप कहते हैं । इससे यह सिद्ध हुआ कि सबके मूल में आधिदैविक रूप है । उनसे उत्पन्न या विकसित होते हैं आधिभौतिक रूप और उनसे भी फिर विकसित होते हैं आध्यात्मिक रूप । आधिदैविक स्थिति में क्षरपुरुष की कलाओं के भी वे ही नाम रहते हैं, जो अक्षरपुरुष की कलाओं के थे, अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि और सोम । आधिभौतिक रूप में पाँच मण्डलों के नाम होते हैं—स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य, पृथ्वी और चन्द्रमा । इनके परस्पर संयोग से उत्पन्न होनेवाले प्राणिशरीरों की पाँच कलाओं के नाम से पहले कहे जा चुके हैं—बीज-चिति (कारण-शरीर), देव-चिति (सूक्ष्म-शरीर), भूत-चिति (स्थूल शरीर), प्रजा, (सन्तति) और वित्त (सम्पत्ति) । इन तीनों प्रकार की पाँच-पाँच कलाओं की मूलभूत कलाएँ वे ही पूर्वोक्त पाँच हैं—प्राण, आप्, वाक् अन्नाद और अन्न ।

अक्षरपुरुष की कलाओं से क्षरपुरुष का विकास होने में मध्य में एक नया तत्त्व उत्पन्न होने की ओर आवश्यकता होती है; जिसे वैदिक परिभाषा में 'शुक्र' नाम दिया गया है। लौकिक भाषा में उसे 'वीर्य' शब्द भी कहा जाता है। जैसे, प्रत्येक प्राणिशरीर की उत्पत्ति वीर्य से देखी जाती है, वैसे ही इस सम्पूर्ण प्रपंच की उत्पत्ति जिससे होती है, वह भी वीर्य या शुक्र नाम की एक वस्तु है। उक्त तीन पुरुषों में केवल अव्यय पुरुष को पुरुष या अमृत शब्द से कहते हैं। अक्षर और क्षर को प्रकृति नाम देते हैं। श्रुतियों में इन्हें ब्रह्म शब्द से भी कहा गया है। इन पुरुष और प्रकृति के योग से उत्पन्न होनेवाला है—शुक्र। ये तीनों एक ही मूल तत्त्व के रूप हैं।

तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।

(कठोपनिषद्)

संहिता में भी मन्त्र है—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः सः प्रजापतिः॥

(यजुः, ३२।१)

श्रीभगवद्गीता में भी यही क्रम निर्धारित हुआ है। वहाँ अव्ययपुरुष को पुरुष और क्षर तथा अक्षर को उसकी अपरा और परा प्रकृति माना (सप्तम अध्याय) है। अस्तु; उक्त शुक्र की उत्पत्ति में यज्ञ-प्रक्रिया का उपयोग आवश्यक होता है। इसलिए, यहाँ पहले यज्ञ-प्रक्रिया का थोड़ा विवरण देना आवश्यक होगा।

यज्ञ-प्रक्रिया

यज्ञ वैदिक विज्ञान का एक मुख्य विषय है। यह यज्ञ शब्द विज्ञान के क्षेत्र में पारिभाषिक है। यज्ञ पाँच रूपों में विभक्त है। यज्ञ के ये पाँच रूप इस प्रकार हैं :

१. वेदों से यज्ञ सम्पन्न होता है। वेदों का वैज्ञानिक स्वरूप वेद-शब्दार्थ-निरूपण में पहले स्पष्ट कर दिया गया है। यज्ञ के स्वरूप-निर्माण के समय क्रमशः पहले यजुः, तदनन्तर ऋक् और फिर साम अपना भाग ग्रहण करते हैं। ये ही तीनों वेद क्रम से अनुप्रविष्ट होकर यज्ञ के स्वरूप का निर्माण करते हैं। ये तीनों वेद 'वाक्'-रूप हैं। ये अपने स्वरूप का जहाँ तक विस्तार अथवा विकास करते हैं, यज्ञ भी वहीं तक सम्पन्न होता है। जब कि वेद वाक्-प्रधान है, तब यज्ञ प्राणप्रधान है और वाक् तथा प्राण नित्य संसक्त अथवा मिले-जुले रहते हैं। इसलिए, यज्ञ के उद्भव-स्थल ये वेद ही हैं। वेदों के त्रिधातु होने से उनका आशय-रूप यज्ञ भी त्रिधातु है।

यज्ञ के द्वारा सत्य का विस्तार होता है। तीनों वेद-विद्याएँ सत्य में ही वर्त्तमान रहती हैं।

यज्ञ-भेदों की सृष्टि में सर्वप्रथम स्वयम्भू यज्ञ आता है। इस स्वयम्भू यज्ञ के साथ सम्बद्ध जो तीन वेद हैं, उन्हीं में इस चराचरात्मक सम्पूर्ण जगत् की सत्ता है। इस यज्ञ में

सतत हवन की क्रिया चलती रहती है। यह अपने को ही अपने में ही आहुत करता है, फलतः नये-नये ऋग्यजुःसाम की निरन्तर उत्पत्ति होती रहती है। त्रिवेदी के उत्पन्न होने पर उससे संसर्ग रखनेवाला जब नया यज्ञ सम्पन्न होता है, तब नवीन वस्तु का निर्माण हो जाता है। ये जो सूर्य, पृथ्वी, चन्द्रमा आदि ग्रह-उपग्रह हैं, ये यज्ञ के द्वारा नवीन उत्पन्न किये हुए वेदों के द्वारा सम्पाद्यमान यज्ञ-स्वरूप ही हैं। परन्तु, इनका सम्बन्ध उस स्वयम्भू यज्ञ से अवश्य है। यद्यपि इन समस्त यज्ञों का क्रम भी उसी स्वयम्भू यज्ञ के क्रम से सर्वथा सम्बद्ध है, तथापि इतना भेद है कि इन यज्ञों का आश्रय पृथक् है और स्वयम्भू यज्ञ का आश्रय पृथक्। स्वयम्भू यज्ञ का आश्रय परमेष्ठी है। इस परमेष्ठी का अधिष्ठाता ईश्वर है। इसके तीनों वेद भी ईश्वर हैं तथा उन तीनों वेदों से सम्पाद्यमान यज्ञ भी ईश्वर है। उसी वेद से, उसी यज्ञ से अथवा उसी प्रजापति से यह सम्पूर्ण चराचरात्मक जगत् उत्पन्न हुआ है। ये सब विषय पुरुषसूक्त में संकेतित हैं। वहाँ विराट्-रूप क्षरपुरुष की उत्पत्ति बताकर उसी के अवयवों से यज्ञ कहा है और उसी पुरुष के अवयवभूत देवताओं को यज्ञ का कर्त्ता बताया है। दूसरे मन्त्र में उसी सर्वहुत् यज्ञ से वेदों की उत्पत्ति कहकर आगे सब पदार्थों की उत्पत्ति बताई गई है।[1] ब्राह्मणों में उसका विवरण है।[2]

२. हमारे दृष्टि-पथ में जो कुछ आता है, वह सब प्राण है। इस प्राण का प्रकाशक मन है और तेज-स्वरूप में दिखाई देनेवाली वाक् इन प्राणों के आधार पर रहती है। इन प्राण, मन और वाक् का संकलन करने पर एक प्रजापति होता है। इस प्रजापति में यज्ञ क्या है? मन का प्राण में प्रविष्ट होना, उसका मन में आना और वही क्रिया वाक् के साथ होना, इस गमनागमन को ही यज्ञ कहना न्यायप्राप्त है। ऐतरेय महर्षि ने कहा है कि 'वाचश्चित्तस्योत्तरोत्तरक्रमो यज्ञः', अर्थात् मन का प्राण में आकर वाक् बनना तथा वाक् का पुनः मन में परिवर्त्तित होना, इस क्रम को यज्ञ कहते हैं। इस प्रकार, एक दूसरे के रूप में परिवर्त्तित होने का क्या कारण है? वहं मध्य-स्थित प्राण ही इस प्रकार के परिवर्त्तन का का कारण है। वही क्रिया-रूप है, अतः उसे यज्ञ कहना उपयुक्त है। मन और वाक् ये दोनों उसी प्राण-रूप यज्ञ के साथ चलनेवाले हैं।

---

१. तस्माद्विराडजायत विराजो अधिपूरुषः ।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः ॥
यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत ।
वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ॥
तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम् ।
पशूँस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये ॥
तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥
तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः ।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः ॥ इत्यादि ।

(ऋ०, १०।९०।५-१०)

३. सोम को अमृत कहा जाता है। अमृत वह इसलिए है कि वह कभी नष्ट नहीं होता, वह उपादान कारण है। संसार के सम्पूर्ण पदार्थों का। जब सोम सम्पूर्ण आकाश में व्याप्त रहता है, तब उसमें रूप, रस, गन्ध आदि कुछ भी नहीं रहते, परन्तु वह सोम ही तो है, जिसके संयोग से रूप, रस, गन्धादि से युक्त पदार्थों का निर्माण हो जाता है। जब यह सोम दूसरे सोम से आघात-प्रत्याघात करता है, तब इस आघात से बल-विशेष की उत्पत्ति होती है। यह बल 'सहः' शब्द से कहा जाता है। इस सहः नामक बल से स्वभावतः अग्नि की उत्पत्ति हो जाती है। उस सम्पूर्ण क्रिया को 'यज्ञ' शब्द से कहा जाता है, जिससे सोम के आघात से सहः नामक बल उत्पन्न होकर उससे अग्नि की उत्पत्ति होती है।

४. सोम की अग्नि में हवन करते समय सोम अग्नि के रूप में चला जाता है। वह अग्नि-ज्वाला-रूप में शक्ति-भर उठकर शान्त हो जाता है और तत्पश्चात् सोम के रूप में ही बदल जाता है। यह अग्नि के सोम-रूप में और सोम के अग्नि-रूप में परिवर्त्तित होने की प्रक्रिया निरन्तर प्रचलित रहती है। इस परिवर्त्तित होने की प्रक्रिया को 'यज्ञ' कहा जाता है।

५. सर्वादि प्रजापति का विस्तृत होना जैसे यज्ञ बताया गया और सम्पूर्ण प्रजा की उत्पत्ति उस यज्ञ से निर्दिष्ट की गई, वैसे ही प्रजाओं का निरन्तर प्रजनन जो अबाध गति से चल रहा है, वह भी यज्ञ के ही द्वारा चल रहा है। जिस प्रकार वस्तुस्वरूप रक्षा यज्ञ से ही सम्भव है, उसी प्रकार वस्तु-समुत्पादन भी यज्ञ से ही सम्भव है। इसके स्फुट दृष्टान्त भी देखे जा सकते हैं। बीज से एक छोटा पौधा बनता है। इसमें आरम्भ से यज्ञ की ही प्रक्रिया चलती है। पृथ्वी में सर्वत्र अग्नि व्याप्त है। उस अग्नि पर केवल थोड़ा-सा आवरण है। आवरण को हटाते ही वह अग्नि अपना स्वरूप प्रकट कर देती है। श्रुतियों में जो 'त्र्यङ्गुला वेदिः' लिखा है, उसका आशय यह है कि तीन अंगुल आवरण हटा देने से अग्नि अपना स्वरूप स्फुट कर देती है। जब कृषक नया अन्न पैदा करने को अथवा माली नया पौधा लगाने को उद्यत होता है, तब वह पहले भूमि को किंचित् खोदता है। उसका खोदना आवरण हटाने के लिए ही है। आवरण हटाने पर उस अग्नि पर बीज डाल दिया जाता है। वह बीज सोमप्रधान है, उसकी अग्नि पर आहुति होती है। इसके साथ ही सोमप्रधान जल का सेक भी वहाँ आवश्यक है; क्योंकि बीज में जितना सोम का अंश था, उससे काम नहीं चल सकता था। जल में सोम की प्रचुर मात्रा है, जैसा कि पहले मन्त्र के व्याख्यान द्वारा स्पष्ट किया जा चुका है। इस प्रकार, अग्नि पर सोम की आहुति से एक यज्ञ सम्पन्न हुआ और इसका फल हुआ—एक अंकुर की उत्पत्ति। इसके आगे पुनः यज्ञ-प्रक्रिया चलती रहती है। अग्नि के भीतर जो सोम का अंश आर्द्रता है, उसे सूर्य-मण्डल की अग्नि अपनी ओर, ऊपर को खींचती है। किन्तु, उसमें पार्थिवांश भी है, इसलिए वह पृथ्वी से छूट नहीं सकता। पृथ्वी का अंश मृत्तिका उसके साथ ही खिंचती चलती है। परिणाम यह होता है कि अंकुर क्रमशः ऊपर को बढ़ता जाता है। पृथिवी और सूर्य के आकर्षण-विकर्षण से आगे चलकर उसमें अनेक शाखाएँ भी निकल आती हैं और यज्ञ-प्रक्रिया से ही परिपाक होते-होते वहाँ पुष्प और फलों का भी प्रादुर्भाव हो जाता है। यह भी ध्यान देने की

बात है कि पृथ्वी का स्वरूप काला है। पृथ्वी को श्रुतियों में सर्वत्र कृष्णा ही कहा गया है और सूर्य का ऊपरी कवच-भाग हिरण्यवर्ण बतलाया गया है। हिरण्यवर्ण लाल रंग को साथ लिये हुए पीले रंग को कहते हैं। इस वर्ण का पृथ्वी के दोनों वर्णों से संयोग होने पर हरित वर्ण उत्पन्न होता है। इसलिए, अंकुर और आगे उत्पन्न होनेवाले पत्र, शाखा आदि सब हरे वर्ण के होते हैं। जबतक यह यज्ञ-प्रक्रिया चलती रहेगी, तबतक पौधा या वृक्ष हरा-भरा बना रहेगा। किन्तु, इस यज्ञ-प्रक्रिया का विच्छेदक भी एक प्राण आता है, जिसे यम-प्राण कहते हैं। उस यम-प्राण के द्वारा जब यज्ञ-प्रक्रिया विच्छिन्न कर दी जाती है और पृथ्वी का रस ऊपर उठना बन्द हो जाता है, तब पौधा या वृक्ष के पत्ते पीले पड़ जाते हैं; क्योंकि अब पृथ्वी के कृष्ण वर्ण का सम्बन्ध वहाँ नहीं रहा, केवल सूर्य का उत्तप्त पीत वर्ण रह गया। इससे विचारकों की समझ में आ सकता है कि वृक्षादि की उत्पत्ति और उनका धारण, ये दोनों कार्य यज्ञ-प्रक्रिया के द्वारा ही सम्पन्न हो रहे हैं। यही स्थिति समस्त प्राणियों की भी है। स्त्री के गर्भाशय-स्थित अग्नि पर शुक्र-रूप सोम की आहुति पड़ती रहती है, इस यज्ञ-क्रिया से एक नवीन प्राणिशरीर की उत्पत्ति का आरम्भ हो जाता है। क्रमशः यज्ञ-प्रक्रिया से ही शरीर संगठित होता है और आगे जठर-स्थित वैश्वानर अग्नि पर दो बार प्रतिदिन भोजन-रूप सोम की आहुति देते रहने से उसकी स्थिति बनी रहती है। जब वहीं यम आकर इस सोमाहुति-रूप यज्ञ-प्रक्रिया को विच्छिन्न कर देता है, तब शरीर नष्ट हो जाता है। इसी आशय से श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है :

सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥

अर्थात्, प्रजापति ने प्रजाओं के साथ ही यज्ञ को उत्पन्न किया और प्रजाओं को उपदेश दिया कि इसी के द्वारा तुम नये-नये पदार्थों को उत्पन्न करते रहोगे और यही तुम्हारी समस्त कामनाओं को पूर्ण करेगा।

उपर्युक्त यज्ञ-प्रकारों के वर्णन से निष्कर्ष यह आया कि अग्नि के संस्कार को यज्ञ कहते हैं। अग्नि के वैदिक, दैविक और भौतिक रूप से तीन भेद अबतक देखे गये। इन अग्नित्रय का संस्कार करना ही यज्ञ है। वैदिक अग्नि को 'यजुः' कहा जाता है। इस यजुः अग्नि के रस से ही समस्त वस्तुओं का स्वरूप सुरक्षित है। आगे वह यजुः, ऋक् होता हुआ उत्क्रान्त होता है। वह फिर सोम के द्वारा साम-रूप से आता है तथा पुनः अग्नि के रूप में परिणत होकर यजुः बन जाता है। यही वैदिक अग्नि का संस्कार है। दूसरा वैदिक अग्नि वह है, जिसका विस्तृत स्वरूप वसु, रुद्र और आदित्य के तारतम्य से बनता है। इसमें तैंतीस देवता सन्निविष्ट रहते हैं। उनके अन्न, अर्क तथा प्राण के परस्पर परिग्रह द्वारा यज्ञ का स्वरूप निष्पन्न होता है। तृतीय अग्नि भौतिक अग्नि है, उसमें हवन हुआ करता है। इस आहुति से अग्नि का स्वरूप निष्पन्न होकर फिर सोम बन जाता है। अग्नि में अग्नि और सोम दो पदार्थों की आहुति होना इसकी विशेषता है।

अग्नि-चयन-यज्ञ उसे कहा जाता है, जब अग्नि के संस्कार के लिए अग्नि की ही

आहुति दी जाय। सोम-यज्ञ उसे कहा जायगा, जब अग्नि-संस्कार के लिए सोम की आहुति दी जायगी। उस अग्नि के ११ भेद हैं। १. पृथ्वी से सम्बद्ध गार्हपत्याग्नि, २. सूर्य से सम्बन्ध रखनेवाली आहवनीयाग्नि और ३. अग्नि से सम्बन्ध रखनेवाली आठ प्रकार की धिष्ण्याग्नि तथा अन्तिम नैर्ऋत्याग्नि। इनमें अग्नि या सोम की आहुति देना ही सोम-यज्ञ है। चित्य और चितेनिधेय यह दो प्रकार की अग्नि अग्नि-चयन-यज्ञ का आधार है। जब अग्नि में अग्नि की आहुति से अग्नि का चयन किया जाता है, तब अग्नि के बलवान् होने से आत्मा भी प्रबल हो जाता है। इसीलिए, भूतों का सम्बन्ध उसमें निर्बल होकर टहनी से सूखे हुए पत्तों के अनुसार झड़कर अलग हो जाता है। अतः, आत्मा, भूमि और चन्द्रमा दोनों को छोड़कर शुद्ध निराले अग्नि-रूप से सूर्य में चला जाता है। परन्तु, अग्नि में यदि सोम की आहुति दी जाय, तो आत्मा का सूर्याभिमुख गमन नहीं होता, किन्तु स्वर्ग का सुख उसको अवश्य होता है। जिस प्रकार सूर्य का संवत्सर सम्पूर्ण देवों से बना हुआ होता है, उसी प्रकार जीव के शरीर में स्थित वैश्वानर अग्नि भी सम्पूर्ण देवताओं से बना हुआ है। अतः, अग्नि में सोम की आहुति देना सम्पूर्ण देवताओं की ही आहुति देना है।

इस प्रकार, यज्ञ-विज्ञान का संक्षिप्त वर्णन किया गया। इसका सारांश यही है कि लोक-व्यवहार में अग्नि पर सोम की आहुति देने को ही हम यज्ञ कहा करते हैं। किन्तु, ये अग्नि और सोम भी यज्ञ द्वारा ही उत्पादित हैं। जब अग्नि और सोम नहीं थे, तब भी यज्ञ होता था और उससे नये-नये तत्त्वों का आविर्भाव होता रहता था। उस समय के यज्ञ-पुरुष के अवयवों का ही परस्पर सम्मिश्रण-रूप यज्ञ है। जैसा कि पुरुषसूक्त में बताया गया है कि—'देवा यद्यज्ञं तन्वाना आबध्नन् पुरुषं पशुम्', अर्थात् आरम्भ में यज्ञ करते हुए देवताओं ने पुरुष को ही पशु बनाया। जैसा पहले कहा जा चुका है, इस यज्ञ का वर्णन पुरुषसूक्त में कई मन्त्रों में है कि वसन्त ही वहाँ आज्य (घृत) था, ग्रीष्म ईन्धन था, शरद् हवि था। इस प्रकार, ऋतुओं से वह यज्ञ चला था। अर्थात्, काल के अवयव और पुरुष के अवयव उस यज्ञ का सम्पादन करते थे। इसी यज्ञ से ऋग्यजुःसाम की भी उत्पत्ति बताई गई है। अर्थात्, प्रकाश फैलना और मूर्त्ति बनना आदि जो ऋक्, साम और यजुः के स्वरूप पहले दिखाये जा चुके हैं, वे भी यज्ञ-क्रिया से ही सम्पन्न होते हैं। अस्तु; प्रकृत में वक्तव्य यह था कि निर्गुण, निष्क्रिय, निस्संग एक व्यापक तत्त्व से सृष्टि कैसे हुई, इसकी उपपत्ति के लिए माया या प्रकृति नाम के मूल तत्त्व की एक शक्ति माननी पड़ी। किन्तु, आगे अक्षर-पुरुष तक केवल प्राण-व्यापार ही चलता रहा, प्राण भी रूप, रसादि गुणों से रहित है और स्थानावरोधक नहीं है, अर्थात् भूतों का यह स्वभाव है कि जहाँ एक वस्तु रहे, वहाँ दूसरी नहीं आ सकती है। एक भित्ति में एक छोटी-सी कील भी यदि गाड़ी जायगी, तो पहले उस भित्ति से उतना अंश हट जायगा, तब उस छोटी-सी कील का समावेश वहाँ हो सकेगा। एक बिन्दु पर दो भूतों का समावेश नहीं हो सकता। किन्तु, प्राण में यह बात नहीं है। वह स्थान रोकनेवाली वस्तु नहीं, इसलिए एक बिन्दु पर भी बहुत-से प्राणों का समावेश हो सकता है। तब पुनः प्रश्न उठता है कि ऐसे विलक्षण धर्मवाले भूतों की उत्पत्ति हो कैसे गई, जहाँ रूप, रसादि बिलकुल नहीं थे, वहाँ रूप, रसादि कैसे उत्पन्न हो गये। या जो तत्त्व स्थानावरोधक

नहीं था, उसमें स्थानावरोध की शक्ति कैसे आ गई। इस प्रश्न का समाधान कर सृष्टि-प्रक्रिया को बुद्धि में ठीक-ठीक बैठा देने के लिए पुरुष और प्रकृति के अतिरिक्त एक 'शुक्र' नाम का तत्त्व और मान लेना पड़ता है। यह स्थानावरोधक हो जाता है और रूप, रसादि की भी पूर्वावस्था इसमें प्रकट होने लगती है।

इस शुक्र की उत्पत्ति भी यज्ञ-प्रक्रिया से ही हुई।

शुक्र की उत्पत्ति

क्षरपुरुष की मूलभूत जो पाँच कलाएँ बताई गईं, उनमें प्रथम कला प्राण है और उसके द्वारा ही ऋक्, यजुः और साम नाम के तीन वैज्ञानिक वेदों का प्रादुर्भाव होता है, यह वेद-शब्दार्थ-निरूपण में कहा जा चुका है। इन वेदों के यातायात-रूप परस्पर संघर्ष से एक नई वस्तु उत्पन्न हो जाती है, जिसको 'सुवेद' अथवा 'स्वेद' कहा जाता है। हमारे शरीर में ही यह अनुभवसिद्ध है कि जब कोई आकस्मिक विचार मन पर आकर आवेश उत्पन्न करता है और उसका धक्का जब प्राण पर भी लगता है, तब ललाट आदि शरीर के अवयवों से प्रस्वेद चू पड़ता है। इसी दृष्टान्त से विद्वान् समझ सकते हैं कि वेदों की संघर्ष-रूप क्रिया से भी एक स्वेद उत्पन्न हो गया। एक नई वस्तु होने के कारण 'सु' विशेषण लगाकर 'वेद' नाम ही इसको दिया गया। किन्तु, भाषा-नियम के अनुसार 'सुवेद' शब्द क्रमशः 'स्वेद' के रूप में चला आया। यहीं चतुर्थ वेद 'अथर्ववेद' नाम का है। अथर्ववेद के गोपथब्राह्मण में यह सब प्रक्रिया स्पष्टतया आम्नात हुई है।

पहले केवल ब्रह्म (वेद) ही था। उसने विचार किया कि कोई नई वस्तु उत्पन्न की जाय, जिससे मैं एकाकी न रहूँ। इस इच्छा से उसने तप और श्रम किया, (स्मरण रहे कि ब्राह्मणों में जहाँ किसी नवीन वस्तु के उत्पादन का प्रसंग आता है, वहाँ सर्वत्र 'स ऐक्षत', 'स तपोऽतप्यत', 'सोऽश्राम्यत', ये तीनों वाक्य प्रायः अवश्य लिखे जाते हैं। इन वाक्यों से इच्छा, तप और श्रम नाम की तीन वृत्तियाँ बताई जाती हैं। कहा जा चुका है कि मन, प्राण और वाक् नाम के तीन तत्त्व सबमें अनुप्रविष्ट हैं। उनमें मन की वृत्ति का नाम 'तप', और वाक् की वृत्ति नाम 'श्रम' है। इन तीनों वृत्तियों को दिखाकर यहँ स्पष्ट कर दिया जाता है कि किसी भी नई वस्तु का उद्भव आत्मा से ही होता है और आत्मा के सब अंश अपनी-अपनी वृत्ति धारण कर नई वस्तु के प्रादुर्भाव में लगते हैं। वही क्रम यहाँ भी बताया गया है।) इस तप और श्रम से उसके ललाट में स्वेद हुआ। यही प्राण से आप् की उत्पत्ति का प्रकार है। इसके अनेक धर्मों और कई नामों का भी ब्राह्मण-श्रुति में वर्णन है।[1] अथर्व-वेद का दूसरा नाम भृग्वंगिरोवेद या अथर्वांगिरस भी प्राप्त होता है। उसका आशय है कि

---

१ ब्रह्म ह वा इदमग्र आसीत्। स्वयं त्सु एकमेव। तदैक्षत, महद्वै यक्षम् तदेकमेवास्मि। हन्ता हं मदेव मन्मात्रं द्वितोयं देवं निर्मम इति। तदभ्यश्राम्यत् अभ्यतपत् समतपत्। तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य सन्तप्तस्य स्नेहो यदार्द्र्यमजायत तेनानन्दत्। तमब्रवीत् महद्वै यक्षं सुवेदमविदामह इति। तद्यद-ब्रवीत् महद्वै यक्षं सुवेदमविदामह इति तस्मात् सुवेदोऽभवत्। तं वा एतं सुवेदं सन्तं स्वेद इत्या-चक्षते परोक्षेण। परोक्ष प्रिया इव हि देवा भवन्ति प्रत्यक्षद्विषः।

इस स्वेद-रूप चतुर्थ वेद में भृगु और अंगिरा नाम के दो ऋषि प्राण हैं। प्राण मूलतः ऋषि-रूप ही होता है। आगे पितृदेव आदि का प्रादुर्भाव होता है, यह उन प्रसंगों में स्पष्ट करेंगे। भृगु और अंगिरा मूलभूत ऋषि प्राण हैं, जो 'अप्' तत्त्व में व्याप्त रहते हैं। एक मूल प्राण तत्त्व से उत्पन्न होने पर भी इनमें थोड़ी विलक्षणता आती है। भृगु संश्लेष या माधुर्य की प्रधानता रखता है और अंगिरा क्षार-रस या रूक्षता की। संश्लेष या मधुरता का विकास ही आगे सोम-तत्त्व में होता है और क्षार या रूक्षता का विकास अग्नि-तत्त्व में। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि ये भृगु और अंगिरा सोम और अग्नि की पूर्वावस्थाएँ हैं। इनका परिचय श्रुति ने बहुत स्पष्ट रूप से दिया है कि :

अर्चिषि भृगुः संबभूव अङ्गारेष्वङ्गिराः।

अर्थात्, ईन्धन को जलाने पर जो अग्नि की ज्वाला निकलती है, उसमें भृगु है। और ज्वाला हट जाने पर जो जाज्वल्यमान अंगार बच जाते हैं, उनमें अंगिरा है। आशय स्पष्ट है कि सोम-तत्त्व के कारण ही ज्वाला होती है। लोक में भी जब राल को ऊपर उछालते हैं, तब ज्वाला प्रतीत होने लगती है। वह सोम की प्रधानता का ही परिणाम है। कपूर आदि जिन वस्तुओं में सोम की बहुलता है, उनमें ज्वाला बहुत शीघ्र उठ जाती है। इससे ज्वाला में भृगु बताने से उसका सोम-तत्त्व से सम्बन्ध सिद्ध हुआ और अंगार क्षारताप्रधान रूक्ष रहते हैं, उनमें अंगिरा की स्थिति बतलाई गई। अस्तु; आगे उत्पन्न होनेवाली अवस्थाओं को ध्यान में रखकर हम कह सकते हैं कि अंगिरा अग्नि है और भृगु सोम। इनमें भृगु की क्रमशः स्थूलता होने पर तीन अवस्थाएँ होती हैं। प्रथम सबसे सूक्ष्म सोम, उसके आगे उससे किंचित् स्थूल दूसरी अवस्था वायु और तीसरी घनावस्था 'अप्' या जल। इनमें वायु क्रियाशील है, वही सबको चलाता है। उस वायु की प्रेरणा से अंगिरा-रूप सोम की पूर्ण आहुति हो जाती है। इसी से शुक्र की उत्पत्ति होती है। इसका संकेत यजुःसंहिता के अन्तिम अध्याय-रूप ईशावास्योपनिषद् में किया गया है :

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत् तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥

(यजुः, ४०।४)

इस मन्त्र के पूर्वार्ध में उस 'यज्जूः' नामक अग्नि का संकेत है, जिसका विवरण पहले वेद-शब्दार्थ-निरूपण में किया जा चुका है। यत् और जूः नाम से गतिशील और स्थितिशील दो तत्त्वों का सम्मिश्रण इसमें है। यही यजुः अग्नि यहाँ अंगिरा रूप से परिणत हुआ है।

स भूयोऽश्राम्यत्, भूयोऽतप्यत्, भूय आत्मानं समतपत्। अस्य श्रान्तस्य तप्तस्य सन्तप्तस्य सर्वेभ्यो रोमगर्तेभ्यः पृथक् स्वेदधाराः प्रास्यन्दत। तादिरनन्दत्। तदब्रवीत् आभिर्वा अहमिदं सर्वं धारयिष्यामि यदिदं किञ्च इति। तस्माद्धारा अभवंस्तद्धाराणां धारात्वम्। यच्चासु ध्रियते। तस्माज्जातया अभवंस्तज्जायानां जायात्वम्। यच्चासु पुरुषो जायते। यच्च पुत्रः पुन्नाम नरकमेकशततारं तस्मात्त्रति पुत्रस्तत्पुत्रस्य पुत्रत्वम्। तस्मादापो अभवंस्तपागप्त्वम्। आप्नोति ह वै सर्वान् कामान् यान् कामयते इति।—गोपथब्राह्मण, पूर्वभाग, प्रपाठक १, ब्राह्मण १-२।

इसलिए कार्यकारण का अभेद मानकर उसी यजुः अग्नि में यहाँ हवन बताया गया है। मन्त्र का अर्थ है कि 'जो बिलकुल नहीं चलता और मन से भी अधिक वेग रखता है?' यह संकेत किसी स्थिति-गतिशील तत्त्व का है। देवता भी इसे प्राप्त नहीं कर सकते; क्योंकि वह उनसे भी पहले पहुँच जाता है। वह ठहरा हुआ भी अन्य दौड़नेवालों से आगे रहता है, इसीमें मातरिश्वा नाम का वायु अप्-तत्त्व को (यहाँ अन्तिम अप् का नाम देकर सम्पूर्ण भृगु-तत्त्व का संकेत कर दिया गया है) इसमें डाल देता है, अर्थात् उसका हवन कर देता है। कहा जा चुका है कि गतिशील होने के कारण वायु को यहाँ भृगु के अंगिरा में हवन करने का कर्त्ता माना गया है। इसके अग्रिम मन्त्र में :

तदेजति तन्नैजति।

इत्यादि मन्त्र में वही स्थिति-गतिशीलता का विवरण किया है और उसके आगे के मन्त्र में इसकी आत्मरूपता का पुनः स्मरण कराया गया है। पुनः उसके आगे के मन्त्र में शुक्र का निरूपण स्फुट रूप से है :

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणं अस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्
व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥
(यजुः, ४०।८)

अर्थात्, मातरिश्वा वायु अंगिरा में भृगु का आधान कर उससे उत्पन्न होनेवाले शुक्र को चारों ओर से घेर लेता है। उस शुक्र का स्वरूप इस मन्त्र में बताया गया है कि वह अकाय है, अर्थात् चयन होकर स्थूलरूपता को अभी प्राप्त नहीं हुआ है—और 'व्रण', अर्थात् मध्यविच्छेद और 'स्नायु', अर्थात् ग्रन्थिरूपता से भी रहित है। शुद्ध एक तत्त्व रूप है और 'पाप', अर्थात् किसी दोष से अनुविद्ध नहीं है। उत्तरार्ध में वायु के विशेषण दिये गये हैं कि वह 'कवि', अर्थात् सर्वकार्यकुशल है, 'मनीषी', अर्थात् मन का भाग भी उसमें है, सबको व्याप्त करके रहने का उसका स्वभाव है और वह 'स्वयं भू' अर्थात् मूलतत्त्व का ही एक रूपान्तर है। वही आगे बहुत काल तक स्थिर रहनेवाले तत्त्वों को उत्पन्न करता रहता है। ब्राह्मणों में भी इस शुक्र की उत्पत्ति का अनेक स्थानों पर विवरणपूर्ण संकेत मिलता है। आगे अक्षरपुरुष क्षर कलाओं के परिणाम-रूप इस शुक्र से सम्पूर्ण जगत् की रचना करता है। इस शुक्र में भी अवान्तर तीन भेद हैं, जिनके नाम हैं—वाक्, अप् और अग्नि। स्मरण रहे कि वैदिक विज्ञान के प्रकट करने में यह भी एक बहुत बड़ी कठिनता है कि यहाँ एक ही शब्द भिन्न-भिन्न तत्त्वों में प्रयुक्त हो जाता है। जैसे इस 'वाक्' शब्द को ही लीजिए। अव्यय-पुरुष की कलाओं में भी सबकी मूलभूत एक वाक् कही गई है। क्षरपुरुष की कलाओं में तीसरी कला 'वाक्' है। और, यहाँ शुक्र-रूप भी एक 'वाक्' है। अवश्य ही इन सबका परस्पर सम्बन्ध बताने के लिए ही श्रुति एक शब्द से इनका निर्देश करती है। अव्ययपुरुष की कलारूपा वाक् ही स्थूलता प्राप्त कर क्षरपुरुष की कला-रूप में और शुक्र-रूप में विकसित होती। इस सम्बन्ध को सदा ध्यान में रखा जाय, इस विचार से श्रुति एक ही शब्द का इन अर्थों में प्रयोग करती है। किन्तु,

किंचित् अवधान हट जाने से अन्वेषक को इनमें बहुत धोखा हो सकता है। कहीं-कहीं विशेषणों द्वारा इनके पार्थक्य की सूचना दे दी जाती है। जैसे : 'आम्भृणी वाक्', 'वेकुरा वाक्' इत्यादि विशेषण वाक् की परस्पर व्यावृत्ति के लिए लगाये जाते हैं। परन्तु वे विशेषण सर्वत्र प्रयुक्त नहीं होते और अवधान न रहने से भ्रम होना बहुत सम्भव रहता है। इसी प्रकार, 'अग्नि' शब्द भी कई अर्थों में प्रयुक्त है। स्वयं भूमण्डल में प्रादुर्भूत यजुः नाम की एक अग्नि है, जो सबकी मूलभूत है। अक्षरपुरुष की कलाओं में भी एक अग्नि नाम आया है। क्षरपुरुष की कलाओं में 'अन्नाद' नाम से इसी अग्नि को बताया गया है। और, यहाँ शुक्र-रूप भी एक अग्नि है। इन सबके अतिरिक्त ताप और दाह की शक्ति रखनेवाली एक प्रसिद्ध अग्नि है, जिसका सभी को अग्नि शब्द से परिचय है। इसकी भी भिन्नता बतलाने के लिए 'ब्रह्माग्नि', 'देवाग्नि', 'भूताग्नि' या 'वासवाग्नि' इत्यादि विशेषणों का उल्लेख है, किन्तु वही कठिनता है कि विशेषण सर्वत्र प्रयुक्त नहीं होते और अन्वेषक को भ्रम हो जाने का भय बना रहता है। इसके प्रतीकार के लिए वैज्ञानिक प्रणाली की उत्तम व्याख्या की बड़ी आवश्यकता है। अस्तु; यह सब तो प्रासंगिक बात है। प्रचलित प्रकरण यह है कि अक्षरपुरुष कर्त्ता या निमित्तकारण है। अस्तु; यह सब तो प्रासंगिक बात है। प्रचलित यह है कि अक्षर पुरुष कर्त्ता या निमित्त कारण है और क्षरपुरुष की कलाएँ शुक्र का उत्पादन कर जगत् का उपादान कारण बनती हैं। मूल कलाएँ, जो प्राण, अप्, वाक्, अन्नाद और अन्न नाम से पहले बतलाई जा चुकी हैं, वे एक दूसरी में मिलकर परस्पर संघट्टित रूप धारण करती हैं, जिसे 'पुरंजन' रूप कहते हैं। वेदान्त-दर्शन में जिस प्रकार पाँचों भूतों का पंचीकरण विस्तार बताया जाता है कि समस्त भूत परस्पर मिलकर पंचीकृत भूत-रूप में आते हैं, तब उनसे जगत् का निर्माण होता है। पंचीकृत रूप में आधा भाग अपना-अपना रहता है और आधे में शेष चारों भूतों के अंश सम्मिलित होते हैं। यही प्रक्रिया इन क्षर-पुरुष की कलाओं में भी जान लेनी चाहिए। वेदान्त-दर्शन में इस प्रक्रिया का नाम 'पंचीकरण' प्रसिद्ध है और वैदिक विज्ञान में इसे 'सर्वहुत यज्ञ' के नाम से कहा जाता है। इस 'सर्व-हुत यज्ञ' से ही आगे सबकी उत्पत्ति बताई जाती है, जैसा कि—'तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे' इत्यादि प्रमाण पूर्व उद्धृत हो चुके हैं। यहाँ भी जान लेना आवश्यक है कि शुक्र के जो तीन भेद हम कह चुके हैं, उनको ही 'ब्रह्मवीर्य', 'क्षत्रवीर्य' और 'विड्वीर्य' नाम से भी कहा जाता है। 'वाक्' 'ब्रह्मवीर्य' है, ब्रह्मवीर्य की प्रधानता रखनेवाले 'ब्राह्मण' का वाक् ही मुख्य शस्त्र है—'वाग्वज्रं विससर्ज ह (भागवत, स्कन्ध १)। अग्नि 'क्षत्रवीर्य' है, उसमें तीक्ष्णता बहुत रहती है और शान्त रहनेवाला 'आप्' तत्त्व 'विड्वीर्य या 'वैश्यवीर्य' कहलाता है। उसमें उग्रता नहीं, वह शमप्रधान है। इस प्रकार, भारतीय संस्कृति की वर्ण-व्यवस्था का मूल वैदिक विज्ञान सृष्टि के आरम्भ में ही मान लेता है। इनका विवरण बृहदारण्यक उपनिषद् में (शतपथब्राह्मण के चौदहवें काण्ड में अ०३, ब्रा० ४, क० ११) है। वहाँ इन वीर्यों के उत्पादक देवताओं का भी निर्देश है और उन देवताओं के अनुप्रवेश से मनुष्यों में वर्ण-विभाग होता है, यह भी स्पष्ट किया है। साथ ही, यह भी बताया है कि एक-एक वर्ण संसार के व्यवहार का निर्माण करने में समर्थ नहीं होता। सब परस्पर

मिलकर ही जगच्चक्र को चला सकते है।[1] आगे आधिदैविक कलाओं की सहायता से मुख्य कलाओं द्वारा क्षरपुरुष की आधिभौतिक कलाएँ उत्पन्न होती हैं।

आधिभौतिक कलाएँ

जिसपर हम निवास करते हैं, वह एक पृथ्वी-मण्डल है, जिसको 'भू:' कहा जाता है। यह पूर्ण रूप से सूर्य-मण्डल से सम्बद्ध है और उसीके आकर्षण में रहती और चलती है। सूर्य-मण्डल स्वर्ग या 'स्वः' कहा जाता है। इन दोनों के मध्य में जो अवकाश है, उसे अन्तरिक्ष या 'भुवः' कहते हैं। इस प्रकार भूः, भुवः, स्वः ये तीन मिलकर एक त्रिलोकी बनती है। इस त्रिलोकी को श्रुतियों में 'रोदसी' इस द्विवचनान्त शब्द से उल्लिखित किया है। इसमें दो मण्डल हैं: पृथ्वी और सूर्य, इसलिए द्विवचनान्त शब्द का प्रयोग है। अब आगे जिस प्रकार यह पृथ्वी सूर्य से सम्बद्ध है, उसी प्रकार सूर्य-मण्डल भी एक-दूसरे प्रधान मण्डल मे बँधा हुआ है। उस मण्डल का नाम परमेष्ठिमण्डल और उस लोक का नाम 'जन-लोक' या 'जनः है। इन दोनों के मध्य अन्तरिक्ष 'महः' नाम से कहा जाता है। इस प्रकार 'स्वः', 'महः', 'जनः' इन तीनों की दूसरी त्रिलोकी हुई। इस त्रिलोकी को 'क्रन्दसी' इस द्विवचनान्त शब्द से श्रुतियों में कहा गया है। सूर्य और परमेष्ठी दो मण्डल रहने के कारण भी द्विवचनान्त शब्द हैं। वह परमेष्ठिमण्डल भी किसी उच्च मण्डल से पूर्णतया सम्बद्ध है। उस मण्डल का नाम 'स्वयम्भू-मण्डल' है, और उस लोक को 'सत्य' लोक या 'सत्यम्' नाम से कहा जाता है। परमेष्ठी और स्वयम्भू के मध्य का अन्तरिक्ष 'तपः' नाम से श्रुतियों में कहा गया है। इस प्रकार, 'जनः', 'तप', 'सत्यम्' की एक तीसरी त्रिलोकी हुई, जिसका व्यवहार 'संयती' इस द्विवचानन्त शब्द से श्रुतियों में है। इस प्रकार, ये सात लोक बनते हैं। दो लोकों का दो बार नाम आ जाने से तीन त्रिलोकी की गणना बताई है। इन सातों का स्मरण वेदानुयायी द्विज प्रतिदिन अपने सन्ध्योपासन में सात व्याहृतियों के रूप में करते हैं: भूः, भुवः स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्। इनमें चार मण्डल और तीन मध्य के अन्तरिक्ष हैं, जैसा कह चुके हैं। किन्तु, इस पृथ्वी और सूर्य के मध्य के अन्तरिक्ष में एक मण्डल है, जिसे 'सोम-मण्डल' या 'चन्द्र-मण्डल' नाम से कहा जाता है, उससे इस पृथ्वी का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। उसीके सम्बन्ध से पृथ्वी पर ऋतु अदि का परिवर्त्तन होता है। इसलिए, इस पृथ्वी के निवासी हमलोग उसे भी मण्डल के रूप में ही गिनते हैं। इस प्रकार, सात

---

१. ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव: तदेकं सन्नव्यभवत् तच्छ्रे्योरूपमत्यसृजत क्षत्रं यान्येतानि देवता क्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान इति तस्मात् क्षत्रात् परं नास्ति तस्माद् ब्राह्मणः क्षत्रियमधस्तादुपास्ते राजसूये एव तद्यशो सैषा क्षत्रस्य योनिर्यद् ब्रह्म तस्माद्यद्यपि राजा परमतां गच्छति ब्रह्मैवान्तत उव निश्रयति स्वां योनिं य उ एवं हिनस्ति स्वां स योनिं गच्छति, स पापीयान् भवति. यथा श्रेयांसं हिंसित्वा ॥ ११ ॥ स नैव व्यमवत् स विशमसृजत् यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति। स नैव अमवत स शौद्रं वर्णमसृजत, पूषणमियं वैपूषेयं हीदं सर्वं पुष्यति यदिदं किञ्च स नैव व्यमवत् तच्छ्रे्योरूपमत्यसृजद्धर्मम्।

में पाँच मण्डल और 'महः', 'तपः' नाम के दो अन्तरिक्ष रह जाते हैं। यद्यपि उन अन्तरिक्षों में भी वरुण, बृहस्पति आदि बहुत बड़े-बड़े मण्डल हैं, किन्तु उनसे पृथ्वी का साक्षात् सम्बन्ध नहीं। सूर्य-मण्डल द्वारा ही उनसे सम्बन्ध है। इसलिए, उन्हें मण्डलों की गणना में नहीं लिया जाता। तीनों त्रिलोकियों की तीन पृथ्वी और तीन द्युलोकों का वर्णन ऋग्वेद-संहिता के अनेक मन्त्रों[1] में आया है। उन मन्त्रों में सूर्य को सम्पूर्ण भूमि और समस्त स्वर्गों का धारण करनेवाला बताया गया है।

ये सातों लोक परस्पर अधरोत्तर हैं, अर्थात् पृथ्वी से यदि गणना करने लगें, तो पूर्व-पूर्व लोक से उत्तरोत्तर का लोक बड़ा होता जायगा। 'दहर' (अधर) शब्द का अर्थ छोटा और 'उत्तर' शब्द का अर्थ बड़ा है। मण्डलों में भी केवल चन्द्र और पृथ्वी के सम्बन्ध में भेद पड़ता है, किन्तु आगे के सारे मण्डल पूर्व-पूर्व से उत्तरोत्तर के बड़े हैं और उत्तरोत्तर मण्डल की व्याप्ति में, अर्थात् उसके साम-मण्डल में पूर्व-पूर्व मण्डल की व्याप्ति का समावेश होता जाता है। जैसा कि स्वयम्भू-मण्डल सबसे बड़ा है। उसकी व्याप्ति में उसके लोक में उसके साम में हमारा एक ब्रह्माण्ड सम्पूर्ण रूप से आ जाता है। उसके बाहिर हमारे ब्रह्माण्ड का कोई अंश नहीं जा सकता। उससे अल्प व्याप्ति रखनेवाला दूसरा परमेष्ठिमण्डल है। उसकी व्याप्ति में पाँच लोक (भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः) आ जाते हैं। इसके अनन्तर तीसरा सूर्य-मण्डल है, उसकी व्याप्ति में (भूः भुवः, स्वः) तीन लोक हैं। चौथा चन्द्र-मण्डल है, जिसका अधिष्ठान अन्तरिक्ष या भुवः है, उस लोक में हमारी पृथ्वी अन्तर्ग्रस्त हो जाती है। इन्हीं पाँच मण्डलों का एक ब्रह्माण्ड बनता है। अनन्त आकाश में ऐसे अनन्त ब्रह्माण्ड हो सकते हैं। उनका आभासमात्र हमारे श्रुति, पुराणादि में दिया जाता है; किन्तु उनका कोई निरूपण नहीं किया जाता; क्योंकि उनसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं। हमारा ब्रह्माण्ड पाँच मण्डलों में ही परिपूर्ण है।

यद्यपि सभी लोकों में पाँचों अव्यय-कलाएँ, पाँचों अक्षर-कलाएँ और पाँचों क्षर-कलाएँ व्याप्त हैं। इसलिए सभी षोडशी प्रजापति के रूप हैं और तीनों ही शुक्रों के संयोग से सब मण्डल बनते हैं, किन्तु फिर भी एक-एक मण्डल में एक-एक अक्षर-कला, एक-एक क्षर-कला और एक-एक शुक्र की प्रधानता है। स्वयम्भू-मण्डल में ब्रह्मा अक्षरपुरुष, प्राण क्षरपुरुष और वाक् शुक्रप्रधान हैं। दूसरे परमेष्ठिमण्डल में विष्णु अक्षरपुरुष, आप् क्षरपुरुष और अप् शुक्र की ही प्रधानता रहती है। तीसरे सूर्य-मण्डल में इन्द्र अक्षरपुरुष, वाक् क्षरपुरुष और अग्नि शुक्रप्रधान है। अग्नि-शुक्रप्रधान होने के कारण ही वह मण्डल अत्यन्त तेजस्वी और अत्यन्त प्रदीप्त है। यहाँ से आगे शुक्रों का क्रम बदल जाता है। पहिला क्रम था—वाक्, अप्, अग्नि। अब बदलकर क्रम चलता है—अग्नि, अप्, वाक् और सूर्य-मण्डल से ही पुनः

---

१. तिस्रो मातृस्त्रीन् पितॄन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेममवग्लापयन्ति।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविदं वाचमविश्वमिन्वाम्। (ऋक् १।१६४।१०)
तिस्रो भूमी धारयन् त्रीरुतद्यून् त्रीणिव्रता विदथे अन्तरेषाम्।
ऋतेनादित्या महि वो महित्वं तदर्यमन् वरुण मित्र चारु। (ऋक्० २।२७।८)

आरम्भ होता है। अतः, अग्नि-शुक्र से तो सूर्यमण्डल बन ही गया। अब आगे चन्द्र-मण्डल में सोम अक्षरपुरुष, अन्न क्षरपुरुष और अप् शुक्रप्रधान रहते हैं। अन्न की प्रधानता रहने के कारण ही 'सोमो राजा अन्नम्, सोमं राजानं देवा भक्षयन्ति' इत्यादि आशय के वाक्य श्रुतियों में बार-बार आते हैं। आगे पृथ्वी-पिण्ड में अग्नि नाम का अक्षरपुरुष, अन्नाद नाम का क्षर-पुरुष और वाक् नाम का शुक्रप्रधान बनता है। यह स्मरण रहे कि अन्तरिक्ष की व्याप्ति अधिक होने के कारण हमने चन्द्र-मण्डल को चतुर्थ मण्डल में गिन दिया है, किन्तु वास्तविक क्रम में चन्द्रमा की गणना पृथ्वी के अनन्तर पाँचवें मण्डल के रूप में उचित है; क्योंकि चन्द्र-मण्डल की व्याप्ति पृथ्वी की व्याप्ति के अन्तर्गत रहती है। और ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि और सोम यह पाँचों कलाओं का क्रम भी चन्द्रमा को पाँचवाँ मण्डल मानने पर ही ठीक बैठता है एवं क्षर की पाँच कलाओं का क्रम भी प्राण, आप्, वाक्, अन्नाद और अन्न नाम से इसी क्रम में उपयुक्त होगा। अस्तु; क्रम तो विवक्षाधीन हुआ करता है। किसी क्रम से समझ लीजिए, जिस-जिस तत्त्व की जहाँ-जहाँ प्रधानता है, वह स्पष्ट कर दिया गया। पाँचों भूतों का क्रम भी पाँचों मण्डलों के क्रम के अनुसार ही हमारे शास्त्रों में नियत है। स्वयम्भू-मण्डल का व्याप्ति-प्रदेश आकाश कहलाता है। स्वयम्भू-मण्डल में वाक् शुक्र होने के कारण आकाश का गुण शब्द माना गया है। वेद भी वाक् के ही रूप हैं। इसलिए, ब्रह्मा नाम के स्वयम्भू-मण्डल को 'ब्रह्मा वेदमयः' कहा जाता है। यहाँ से ऋग्यजुःसाम नाम के तीनों वेद सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में विस्तृत होते हैं। वेद-शब्दार्थ-निरूपण-प्रकरण में कह चुके हैं कि ये अनादि वेद या ब्रह्म निःश्वसित वेद कहे जाते हैं। आगे ब्रह्माण्ड में जितने भी पदार्थ उत्पन्न हुए, उन सबमें ऋग्यजुःसाम अवश्य रहते हैं। यदि ये वेद न रहें, तो उस वस्तु का ज्ञान ही हमें न हो सके। यह सब पहले स्पष्ट कर चुके हैं। दूसरे परमेष्ठिमण्डल की व्याप्ति जहाँतक है, वह पंचभूत-क्रम में वायु कहा जाता है। इसीलिए, वायु आकाशस्थित है, यह हमारे शास्त्रों में अनेकत्र आता है।[1] और आकाश से ही वायु की उत्पत्ति मानी जाती है।[2] कहा जा चुका है कि सोम, वायु और आप् ये तीनों एक ही तत्त्व की सूक्ष्मतम, सूक्ष्म और स्थूल अवस्थाएँ हैं। इसलिए परमेष्ठिमण्डल को सोममय मण्डल या आपोमय मण्डल भी कहते हैं। यहाँ से तीन प्राण भृगु, अंगिरा और अत्रि सर्वत्र ब्रह्माण्ड में फैलते हैं। भृगु से सोम, वायु और आप् तीनों का ग्रहण होता है और अंगिरा से अग्नि, यम और आदित्य तीनों लिये जाते हैं। इसी मण्डल का सोम-तत्त्व सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में भरा हुआ है, उससे कोई भी स्थान खाली नहीं। यह हम 'त्वमाततन्थोर्वन्तरिक्षम्' इस मन्त्रांश की व्याख्या में पहले स्पष्ट कर चुके हैं। सूर्य-किरणों से आकृष्ट होकर यह सोम निरन्तर सूर्य-मण्डल में गिरता रहता है। इसी के कारण सूर्य प्रज्वलित रहता है। सोम प्रकाशमय या चमकदार नहीं है। जहाँतक सूर्य-किरणों का सम्बन्ध है, वहीं तक उसमें चमक आती है, आगे वह नहीं चमकता। श्याम स्तर-सा प्रतीत होता है। हमलोग जब ऊपर की ओर दृष्टि फेंकते हैं, तब एक श्याम

---

१. यथाकाशगतो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।—गीता।

२. तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः आकाशाद्वायुः।—तैत्तिरीयोपनिषद्।

धरातल-सा प्रतीत होता है। उसका कारण यही है कि जैसे एक घने वन में कोई दीपक या विद्युत्-यन्त्र जला दिया जाय, तो जितनी दूरतक उसके प्रकाश की व्याप्ति होगी, उससे बाहर घना अन्धकार रहेगा। हम अपनी दृष्टि उस ओर फेंकें, तो वह दृष्टि यही दृश्य देखेगी कि अनन्त अन्धकार के बीच में थोड़ा-सा प्रकाश व्याप्त है। प्रकाश के चारों ओर के अन्धकार का भी हमारी दृष्टि में भान होगा। जो परिस्थिति घने वन में उस टिमटिमाते दीपक की है, वही परिस्थिति अनन्त आकाश में हमारे इस सूर्य-मण्डल की है। वह चाहे करोड़ों कोसों तक अपना प्रकाश फेंकता हो, किन्तु है आखिर वह भी सीमाबद्ध। उस प्रकाश के बाहर तो चारों ओर श्याम-ही-श्याम भरा है। हमारी दृष्टि प्रकाश-मण्डल को चीरती हुई उस चारों तरफ भरे हुए श्याम स्तर का भी स्पर्श कर लेती है। वही श्याम धरातल के रूप में हमें दिखाई देता है। वायु का रूप श्याम दिखाई देता है। यह वैज्ञानिकों की कल्पना निःसार है। बिना घनाभाव के वायु में रूप-प्रतीति नहीं हो सकती। अस्तु; तीसरा मण्डल यह सूर्य-मण्डल ही हुआ। पंचभूत-क्रम में इसकी व्याप्ति को तेज नाम दिया जाता है। शास्त्रोक्त तेज के सब लक्षण इसमें घटित हैं। यह सूर्य-मण्डल ही हमारी त्रिलोकी का सर्वस्व है। हमारे वेद-ग्रन्थों में 'इन्द्र' नाम से, 'आदित्य' नाम से, बारह आदित्यों के भिन्न-भिन्न नामों से या 'सूर्य' नाम से सबसे अधिक इसी का वर्णन है। इस त्रिलोकी का अधिष्ठाता ईश्वर-रूप सूर्य को ही माना जाता है। इस मण्डल से तीन तत्त्व समस्त ब्रह्माण्ड में फैलते हैं—ज्योतिः, गौः, आयुः। ज्योति शब्द से प्रकाश और रूप दोनों लिये जाते हैं। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के प्रकाश का केन्द्र यही सूर्य-मण्डल है और रूप भी सबमें यहीं से उत्पन्न होते हैं। आधुनिक विज्ञान भी सब रूप सूर्य-किरणों में ही मानता है। सब रूप का उद्भव सूर्य-किरणों को कहने में वैदिक विज्ञान भी सहमत है। श्रुतियों में बार-बार आया है कि :

इन्द्रो रूपाणि कनिक्रदचरत्।

अर्थात्, सूर्य-मण्डलस्थित इन्द्रप्राण समस्त रूपों का निर्माण करता हुआ विचरण कर रहा है। 'रूपं रूपं मघवा बोभवीति' इत्यादि मन्त्र भी इसका संकेत करते हैं। किन्तु, आधुनिक विज्ञान का जो यह मन्तव्य है कि सूर्य-किरणों में ही रूप है और पदार्थों में रूप है ही नहीं, इसको वैदिक विज्ञान स्वीकार नहीं करता। सूर्य-किरणें अवश्य ही रूपों की निर्मात्री हैं, यह ठीक है। किन्तु, उनके निर्मित रूप पार्थिव या जलीय समस्त तत्त्वों में व्याप्त हैं। जैसा कि वेदार्थ-प्रकरण में स्पष्ट हो चुका है। दर्शनशास्त्रों में भी रूप को तेज का गुण माना है, किन्तु पञ्चीकरण-प्रक्रिया के अनुसार वह रूप जल तथा पृथ्वी में भी आ जाता है। अस्तु; सूर्य-मण्डल से दूसरा तत्त्व प्रवाहित होता है—'आयु'। जड-चेतनात्मक प्रत्येक वस्तु में वह आत्मा-रूप से स्थित है और वह कितने काल तक स्थित रहेगा, इन सबका नियमन सूर्य-मण्डल से ही होता है, इसलिए श्रुति इसे सम्पूर्ण जगत् का प्राण कहती है—'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः'। सूक्ष्म प्रपंच के नेता देवगण भी सूर्य-मण्डल में ही संसक्त रहते हैं, इसीलिए सूर्य को देवताओं की सेना बताया गया है—'चित्रं देवानामुदगादनीकम्।' तीसरा तत्त्व सूर्य-मण्डल से निकलता है—'गौ'। इस गो-तत्त्व के कारण ही सूर्य-किरणों का नाम

'गौ' पड़ गया है। यह गौ ही समस्त रसों की जननी है। इससे यह सिद्ध हुआ कि भिन्न प्रकार के जो रस हैं, उनका उद्भव भी सूर्य-किरणों से ही होता है। इसका प्रत्यक्ष अनुभव भी हमको होता है कि भिन्न-भिन्न धान्यों में या घास आदि में सूर्य-किरणों के परिपाक से ही भिन्न-भिन्न रस उत्पन्न होते हैं। धान के पत्तों में कोई रस नहीं मिलता। पके हुए चावलों में ही रस प्राप्त होता है। उन चावलों को किसने पकाया ? सूर्य-किरणों ने। तब रस किसने दिया ? उन्हीं सूर्य-किरणों ने। दुग्ध, दधि आदि में जो रसों का अनुभव आपको होता है, वह भी तो घास आदि के द्वारा सूर्य-किरणों का ही परिणाम है और वे ही गौ नाम की सूर्य-किरणें हमारे गौ नाम के प्राणी में प्रधान रूप से अवस्थित रहती हैं। इसी की वैज्ञानिक परीक्षा कर ऋषियों ने इस पशु का भी नाम गौ रखा है। इसके शरीर में व्याप्त वे ही किरणें दुग्धादि में रस को अभिव्यक्त करती हैं और उस रस के द्वारा हमें जीवन देती हैं। इसीलिए, हम जननी-रूप से इस पशु का आदर करते हैं।

इस प्रकार, सूर्य-मण्डल से सम्पूर्ण प्रजाओं को प्राण-तत्त्व मिलते हैं, यह वैदिक विज्ञान का जागरित सिद्धान्त है।

भूत-क्रम में चौथा मण्डल चन्द्रमा को मानना चाहिए। इसकी गणना चतुर्थ या पंचम मण्डल के रूप में दोनों प्रकार से की जाती है। इसकी व्याप्ति अन्तरिक्ष में है और वहीं सूक्ष्म जल का स्थान माना गया है। वैदिक विज्ञान में समुद्र दो प्रकार के हैं। एक पृथ्वी पर प्रान्त भागों में जो बहुत बड़े जलाशय हैं, उन्हें समुद्र कहा जाता है और दूसरा अन्तरिक्ष का भी समुद्र नाम से वेदों में व्यवहार उपलब्ध है :

स उत्तरस्मादधरं समुद्रम्। (ऋ० सं०)

ऋग्वेद-संहिता के इस मन्त्रांश में दोनों समुद्रों का स्पष्ट संकेत है। यहाँ उत्तर समुद्र शब्द से अन्तरिक्ष लिया गया है और अधर समुद्र पद से पार्थिव समुद्र। उत्तर का अर्थ यहाँ होगा ऊपर या ऊँचा तथा अधर का अर्थ होगा नीचा। जल-तत्त्व सोम की ही स्थूल अवस्था है। अतः, चन्द्रमा को सोम या सोममय पिण्ड नाम से भी कहते हैं।[1] इस भूमि में ऋतु-परिवर्त्तनादि में इस चन्द्रमा की बहुत बड़ी सहायता है। यज्ञ-प्रक्रिया में चन्द्रमा का अत्यन्त उपयोग है। यह भी स्मरण रहे कि वैदिक परिभाषा में चन्द्र शब्द से दोनों मण्डलों का व्यवहार है। पूर्वोक्त परमेष्ठिमण्डल भी सोमप्रधान होने के कारण चन्द्र कहलाता है और यह चन्द्रमा भी। यही कारण है कि कहीं-कहीं श्रुतियों में और विशेषतया आगम-शास्त्र तथा पुराणों में चन्द्रमा को सूर्य-मण्डल से ऊपर बताया गया है।[2] वहाँ परमेष्ठिमण्डल से अभिप्राय है, यह समझ लेना चाहिए। पंचम मण्डल पृथ्वी प्रसिद्ध ही है। इसे श्रुतियों में कहा गया है 'अग्निगर्भा', अर्थात् पृथ्वी के गर्भ में अग्नि नाम का प्राण व्याप्त है। यह अग्नि अक्षरपुरुष की कला-रूप अग्नि है। क्षरपुरुष की अवस्था में उसी का

१. चन्द्र-मण्डल में सोम नाम की अक्षरपुरुष-कला, अन्न नाम की क्षरपुरुष-कला और अप् नाम का शुक्र प्रधान रूपेण व्यवस्थित हैं।

२. आदित्याच्चन्द्रमसम्।—छान्दोग्योपनिषद्, खण्ड १०, प्रपा० ५।

नाम अन्नाद पड़ जाता है। वह पृथ्वी में व्याप्त है। चन्द्रमा के सोम-रूप अन्न का यह पृथ्वी भक्षण किया करती है, जैसे परमेष्ठिमण्डल के सोम से सूर्य का जीवन चलता है, उसी प्रकार चन्द्र-मण्डल मे निकले हुए सोम में पृथ्वी की ओषधि, वनस्पति आदि सबका जीवन रहता है और पृथ्वी में परिव्याप्त अग्नि भी इसी चन्द्रमण्डल के सोम का भक्षण कर जीवित रहती है। इस अभिप्राय से पृथ्वी-स्थित प्राण को अन्नाद और चन्द्र-मण्डल के प्राण को अन्न कहा जाता है। जिस प्रकार ऊपर के लोकों से पृथ्वी को भिन्न-भिन्न तत्त्वों की उपलब्धि होती है, वैसे पृथ्वी भी अपने प्राणभूत अग्नि के द्वारा अपने तत्त्वों को ऊर्ध्वलोकों में प्रेषित करती है। इनके नाम हैं—वाक्, गौः, द्यौः। पिण्ड बनाने के लिए ठोसपन सब जगह पृथ्वी से ही पहुँचता है। गौ नाम का सूर्य-प्राण भी है, उससे मिलकर यह पृथ्वी-प्राण गौ आस्वाद-योग्य रस बनाता है। इसी प्रकार, द्युलोक-पर्यन्त इसका रूप जाता है। यह पृथ्वी पंचम और अन्तिम भूत है। इस प्रकार, पाँचों मण्डलों की व्याप्ति को ही वैदिक परिभाषा में 'पंचभूत' संज्ञा दी गई है।

पंचभूत-सिद्धान्त

साइन्स वैदिक पंचमहाभूत-सिद्धान्त पर सदा से आक्रमण करता रहा है। पाश्चात्य साइण्टिस्ट विद्वानों का कथन है कि भारतीय शास्त्रों में जिनको पंचमहाभूत कहा गया है, वे कोई मौलिक तत्त्व नहीं, केवल योगज या अवस्थाविशेष-मात्र हैं। मौलिक तत्त्व तो इनके उत्पादक हाइड्रोजन, ऑक्सीजन आदि हैं, जिनकी संख्या ६५, ९३ या इससे भी अधिक है, जिसको भारतीय पृथ्वी-तत्त्व कहते हैं। वह १०० पदार्थों की समष्टिमात्र है। इसी प्रकार, जल भी हाइड्रोजन और ऑक्सीजन की नियत मात्रा के संयोग से उत्पन्न एक योगज वस्तु है। तीसरा महाभूत जो तेज कहा जाता है, वह तेज नाम यदि उष्णता का हो, तो कहना होगा कि उष्णता एक योगज अवस्थामात्र है, वह कोई मौलिक तत्त्व नहीं। यदि प्रकाश या ज्वाला को तेज माना जाता है, तो वह अंगार नाम के कार्बन-तत्त्व से भूमि के वायु में स्थित ऑक्सीजन का संयोग होने पर बनता है। इसी प्रकार, चौथा महाभूत जो वायु नाम से प्रसिद्ध है, वह भी ऑक्सीजन तथा नाइट्रोजन के संयोग से उत्पन्न है। इसी तरह आकाश नाम का पंचम महाभूत तो कोई वस्तु है ही नहीं। वह तो सारी वस्तुओं के रहने के लिए जो एक अवकाश चाहिए, उसी का नाम है। इस प्रकार, पंचमहाभूत-सिद्धान्त का आमूल खण्डन कर भारतीय दर्शन और विज्ञान की जड़ ही उखाड़ने का प्रयत्न है। किन्तु, आश्चर्य है कि इस प्रकार के आक्षेप करनेवाले विद्वानों ने वैदिक विज्ञान की गम्भीरता में प्रवेश करने का कुछ भी प्रयत्न नहीं किया। इन पाँचों को मौलिक तत्त्व भारतीय शास्त्रों में कहीं नहीं माना गया है, जिसकी कि वे आलोचना करते हैं। केवल वैशेषिक दर्शन में परमाणुवाद का आश्रयण कर, परमाणु-रूप में वायु आदि चारों को नित्य मान लिया गया है और आकाश को स्वरूपतः ही नित्य मान लिया गया है। किन्तु, वह तो शिक्षा की एक श्रेणी है। दर्शन-मार्ग में जो प्रविष्ट हो, उसको सीधा सूक्ष्म तत्त्व में पहुँचाकर हताश नहीं कर देना चाहिए; क्योंकि सीधा सूक्ष्म तत्त्व का वह ग्रहण न कर सकेगा और इससे हताश होकर इस मार्ग से ही मुँह

मोड़ लेगा। इस प्रक्रिया को भारतीयों ने उचित नहीं समझा। उन्होंने क्रमशः सूक्ष्म तत्त्व का दिग्दर्शन कराया। उसी में एक श्रेणी यह भी आती है कि परमाणुओं से ही सम्पूर्ण जगत् का निर्माण हुआ है। यह Atoms theory के नाम से पाश्चात्य देशों में बहुत समय तक चलती रही है। आगे की श्रेणियों में जाकर इसका निराकरण हो जाता है। जैसे कि हमारे यहाँ न्याय के अनन्तर सांख्य-शास्त्र की श्रेणी आ जाती है तथा पाश्चात्यों में Atoms theory को काटकर Evolution theory प्रतिष्ठित हुई है। सांख्य-शास्त्र ने परिणामवाद स्वीकार करते हुए परमाणुओं की नित्यता को सर्वथा अस्वीकार कर दिया है और उन्होंने भूतों में प्रत्येक की पाँच-पाँच अवस्थाएँ स्वीकार कर ली हैं। जिनके नाम योग-दर्शन के व्यास-भाष्य में स्पष्ट मिलते हैं—गुण, अणु, रेणु, स्कन्ध और सत्त्व। महाभूतों की पहली शुद्ध अवस्था गुण है, जिनको तन्मात्रा शब्द से सांख्य और योग-दर्शनों में कहा गया है। वे तन्मात्राएँ भी पाँच हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध। ये महाभूतों के शुद्ध रूप हैं। यहाँ भी यह स्मरण रखना आवश्यक है कि जो शब्द, स्पर्श, रूप आदि हमें प्रतीत होते हैं, वे शब्द-तन्मात्रा स्पर्श-तन्मात्रा आदि नहीं हैं। वे तो महाभूत-निर्माण के अनन्तर इन्द्रिय-संयोग से प्रतीत होते हैं। जैसा कि श्रीभगवद्गीता में कहा गया है :

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
ये च संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।।

—इत्यादि वाक्यों का अभिप्राय है कि जिन शब्द, स्पर्शादि का हमारी इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण होता है, वे तो इन्द्रिय और विषयों के सम्बन्ध से प्रकट होते हैं। वे स्पर्शज या संयोगज हैं। तन्मात्राओं का तो इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण नहीं हो सकता, यह सांख्य और योग-दर्शनों में ही स्पष्ट कर दिया गया है। उन तन्मात्राओं को ही सांख्य की परिभाषा में गुण कहते हैं। वे भूतों के अमिश्रित शुद्ध रूप हैं। यह स्वीकार कर लेने पर केवल नाममात्र का विवाद रह जाता है। हम जिसको रस-तन्मात्रा कहते हैं, उसे साइण्टिस्ट अपनी भाषा में Hydrozen कह लेते हैं, जिसको हम रूप-तन्मात्रा कहते हैं, उसे वे अपनी भाषा में Oxigen कह लेते हैं, इन तन्मात्राओं के स्वरूप की न कभी परीक्षा हुई और न उसके सत्य-असत्य का निर्णय हुआ। आगे चलकर ये तन्मात्राएँ सब आपस में मिलती हैं, जिसे पंचीकरण कहा जाता है। उस सम्मिश्रण से भूतों के अणुओं की उत्पत्ति होती है। अणुओं के परस्पर सम्बन्ध से फिर रेणु बनता है और उसके भी सम्बन्ध से स्कन्ध। फिर, शरीर आदि रूप में उनका परिणाम होने पर सत्त्व बनते हैं। आगम-शास्त्र में इन्हीं का नाम कला-तत्त्व और भुवन है। कलाएँ विशुद्ध तत्त्व हैं, उनके संयोग से उत्पन्न होनेवाले अणु तत्त्व कहलाते हैं और उनके भी परस्पर संयोग से बननेवाले रेणु या त्रसरेणु भुवन कहे जाते हैं। उनसे फिर आगे के स्कन्ध आदि बनते हैं। यह नाम रखने की अपने-अपने शास्त्र की परिभाषा-मात्र है। इससे ज्ञातव्य अंश में कोई भेद नहीं पड़ता।

सारांश यह कि जिनको पंचभूत समझकर साइंस ने योगज सिद्ध किया, उन्हें तो हमारे शास्त्र भी योगज ही मानते हैं। उनको मौलिक तत्त्व मानने की भूल हमारे शास्त्रों में

नहीं की गई। इन्द्रियों से गृहीत होनेवाले पृथ्वी, जल, तेज आदि पंचीकृत रूप हैं। इनमें सब तन्मात्राओं के अंश मिले हुए हैं, इसलिए इनकी योगजता स्पष्ट ही है। फिर, किस बात का खण्डन साइण्टिस्ट विद्वानों द्वारा हुआ और किस विज्ञान की जड़ उखाड़ी गई!

यह हुई दर्शन-शास्त्रों की बात। हमारा प्रकृत विषय तो वैदिक विज्ञान है। वैदिक विज्ञान में तो मौलिक तत्त्व केवल रस और बल हैं। आगे के सब योगज हैं। इसी बात को स्पष्ट करने के हेतु हमने आरम्भ से सृष्टि-प्रक्रिया का दिग्दर्शन कराया है। जिस मौलिक तत्त्व की खोज वैदिक विज्ञान ने की है, उसका तो स्वप्न भी पाश्चात्य विज्ञान को कितने समय बाद होगा, यह अभी नहीं कहा जा सकता। पंचमहाभूत-सिद्धान्त के आधार तो हमारे ये ही हैं कि हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच हैं—श्रोत्र, त्वक्, चक्षु रसना और घ्राण। इनसे गृहीत होनेवाले विषय भी पाँच हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। कर्मेन्द्रियाँ भी पाँच हैं, जो इन भूतों पर कार्य करती हैं—वाक्, पाद, पाणि, पायु, उपस्थ। जगत् का चक्र चलानेवाले मण्डल भी पाँच हैं, जिनका दिग्दर्शन इसी प्रकरण में कराया जा चुका है। तब इनकी व्याप्ति के लोक भी पाँच हैं, जिनको पंच महाभूत के नाम से कहा जाता है। प्रत्येक भूत की अनेक अवस्थाओं का वर्णन वेदों में प्राप्त होता हैं, जिसका दिग्दर्शन संक्षेप में स्थान-स्थान पर किया गया है। जितना विश्लेषण वैदिक विज्ञान ने किया है, उतना तो अभी पाश्चात्य साइंस कर भी न सका। जैसा कि श्रुति और पुराणों में वायु को मरुत् नाम से ४९ प्रकार का बताया गया है। इनके सम्बन्ध से अग्नि के भी ४९ भेद किये गये हैं। इन ४९ अग्नि और ४९ वायु के पृथक्-पृथक् नाम और कार्य भी पुराणों में वर्णित हैं। यह प्रत्येक तत्त्व के अवस्था-भेद का विश्लेषण ही है। इन अवस्थाओं में आदि की अवस्था, मध्य की अवस्था और वर्त्तमान में प्राप्त होनेवाली अवस्थाएँ सभी अन्तर्गत हो जाती हैं। अग्नि कितने प्रकार की होती है, यह तो हम अनेक बार स्पष्ट करते आये हैं। आरम्भ से ही हमने बतलाया है कि मुख्य रूप से अग्नि प्राण-तत्त्व का नाम है, जिसमें रूप, रस, गन्धादि कुछ नहीं होते। रूप, रसादि आगे चलकर इसकी अवस्थाएँ बनती हैं। फिर, वर्त्तमान साइंस यदि ताप को एक अवस्था-विशेष कहता है, तो नई बात कोई नहीं है। हाँ, किसकी अवस्था वह है, इसका स्पष्ट पता भी वैदिक विज्ञान देता है। अवस्था किसी तत्त्व की होती है। इसलिए, केवल अवस्था कहकर तत्त्व का खण्डन कर देना भारी भूल है।

जल की तो ४ अवस्थाएँ स्पष्ट अक्षरों में वेदों में वर्णित हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में बताया गया है कि आत्मा-रूप मूल तत्त्व ने जिस जल को (अप्-तत्त्व को) उत्पन्न किया, वह चार अवस्थाओं में चार नामों से चार लोकों में व्याप्त है। उनके नाम हैं—अम्भ, मरीचि, मर् और आप्।[१] अम्भः इनमें वह है, जो सूर्य-मण्डल से (द्युलोक से) भी ऊर्ध्व-प्रदेश में

---

१. आत्मा वा इदमेक एवाग्र-आसीन्नान्यत्किञ्चन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति। स इमांल्लोकानसृजत अम्भो मरीचिर्मर आपः। अदोऽम्भः परेण दिवम् द्यौः प्रतिष्ठाः अन्तरिक्षं मरीचयः, पृथिवी मरः, या अधस्तात्ता आपः। स ईक्षतेमे नु लोका लोकपालान्नु सृजा इति। सोऽद्भ्य एव पुरुषं समुद्धृत्यामूर्च्छयत्। (ऐ० उ०, ४।१)

महः, जनः आदि लोकों में व्याप्त है। अन्तरिक्ष में जो जल व्याप्त है, वह मरीचि-रूप है। एवं पृथ्वी के उत्पादन में जो जल अग्रसर होता है (जैसा कि आगे स्पष्ट होगा), वह भर है और पृथ्वी पर प्रवाहित होनेवाला या पृथ्वी को खोदने पर निकलनेवाला 'आपः' नाम से ही प्रसिद्ध है। इनमें सर्वप्रथम जो अम्भः नाम कहा गया है, वह मौलिक जल-तत्त्व है, वही पंचीकृत होकर अन्य तत्त्वों के सम्मिश्रण से स्थूल अवस्था में आकर जल-रूप में परिणत हुआ, जिसे हम देखते हैं, वा जिसे पीकर अपनी प्यास बुझाते हैं तथा अन्य काम लेते हैं। इस स्थूल जल का सम्मिश्रित रूप होना अनेक मन्त्रों में स्पष्ट रूप से वर्णित है: 'अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा अग्निं च विश्वशंभुवम्', अर्थात् जल के भीतर विराजमान जो सोम तत्त्व है, वह हमें बताता है कि जल के भीतर समस्त ओषधियाँ हैं; क्योंकि सोम में ही सूक्ष्म रूप से सारी ओषधियाँ रहती हैं। इससे सोम के होने पर उनका होना भी सिद्ध हो जाता है और विश्व को शान्ति देनेवाला अग्नि-तत्त्व भी उसमें है, यह भी सोम बतला देता है; क्योंकि अग्नि के विना सोम की सत्ता सम्भव नहीं। सोम के सम्बन्ध से अग्निशान्त-रूप बन जाती है। इस प्रकार, जब जल के भीतर दो तत्त्वों को वैदिक विज्ञान ने भी स्पष्टतया स्वीकार किया, तब नाममात्र के भेद से वैज्ञानिकों के खण्डन का कोलाहल क्या विशेषता रखता है!

गंगा-तत्त्व

इस प्रकार, जल की अनेक अवस्थाएँ मन्त्र-ब्राह्मणों में विस्तार से वर्णित हैं। कर्मकाण्ड के सुप्रसिद्ध एक मन्त्र को ही लीजिए :

ॐ या दिव्या आपः पयसा सम्बभूवु—
र्या आन्तरिक्षा उत पार्थिवीर्याः।
हिरण्यवर्णा यज्ञियास्ता न आपः
शिवाः शंस्योनाः सुध्वा भवन्तु॥

अर्थात्, जो दिव्य जल अपने सारभूत रस से सम्मिलित है और जो अन्तरिक्ष का और भूमि का जल है, हिरण्य-सुवर्ण के समान वर्णवाला, यज्ञ के उपयुक्त वह जल हमारे लिए कल्याण और सुख का देनेवाला यज्ञ का सम्यक् प्रकार साधन हो।

इस मन्त्र में तीन प्रकार के जल का वर्णन हुआ है। एक दिव्य, अर्थात् द्युलोक (सूर्यलोक) का, दूसरा अन्तरिक्ष का और तीसरा भूमि का। अथर्ववेद[१] के राज्याभिषेक-प्रकरण के एक मन्त्र में भी इन तीन ही प्रकार के जलों का उल्लेख है और ऋग्वेद[२] के एक मन्त्र में पार्थिव (भूमि-सम्बन्धी) जल के तीन विभाग और किये हैं। एक जल नदी आदि में बहनेवाला, दूसरा गढ़ा खोदने से निकलनेवाला और तीसरा अपने-आप भूमि से निकलनेवाला,

१. या आपो दिव्या पयसा मदन्त्यन्तरिक्ष उत वा पृथिव्याम्।
तासां त्वा सर्वासामपामभिषिञ्चामि वर्चसा। —अथर्वश्रुति, ४।८।५।

२. या आपो दिव्या उत वा स्रवन्ति खनित्रिमा उत वा याः स्वयं जाः।
समुद्रार्था याः शुचयः पावकास्ता आपो देवीरिह मामवन्तु। —ऋक्, ७।४९।२।

जैसा कि पर्वत में कई जगह देखा जाता है। ये भूमिस्थ जल के ही अवान्तर विभाग हैं। अस्तु; अब विचारणीय विषय यह है कि दिव्य और आन्तरिक्ष जल कौन-से हैं। निःसन्देह, स्थूल दृष्टि से इनका पता लगना कठिन है, किन्तु विचारपूर्वक वेद, पुराणों का मनन करने पर इनका स्पष्टीकरण दुर्लभ नहीं।

ब्राह्मण, उपनिषद्, मनुस्मृति, पुराण आदि में सर्वत्र सृष्टि के आरम्भ में अप् की उत्पत्ति कही गई है। अप् नाम यद्यपि जल का ही प्रसिद्ध है, किन्तु इस स्थूल जल से वहाँ तात्पर्य नहीं, रस-रूप द्रव पदार्थ वहाँ अप् या अम्भः शब्द का अर्थ है। स्थूलभूत होने पर वही जल बन जाता है। वही अप् या अम्भः दिव्य जल कहने योग्य है। यद्यपि दोनों एक ही तत्त्व से प्रादुर्भूत हैं, किन्तु अवस्थाओं में एक दूसरे से विरोध हो जाता है।

वह ब्रह्माण्ड में सर्वत्र व्यापक है—'सर्वमापोमयं जगत्'। वेद-मन्त्रों[1] में कहा है कि चन्द्रमा अप् के भीतर होकर दौड़ता है। सूर्य[2] के समीप और सूर्य के साथ अप् वर्त्तमान है। सूर्य और अग्नि अप् में ही पैदा होते हैं[3] इत्यादि। भगवान् सूर्य जब उदयाचल पर आते हैं, तब उनकी किरणों के संघर्ष से वह अप् अपना स्थान छोड़कर दूर हटता जाता है। रस-रूप होने के कारण तेज के साथ इस अप् का स्वाभाविक विरोध है। अतएव, जहाँतक सूर्य की किरणें प्रखरता से फैलती हैं, वहाँ से उतने प्रदेश के अप् को दूर हटाती जाती हैं। ध्रुव-प्रदेश में जहाँ सूर्य-किरण अति मन्द हो जाती है, वहाँ वह अप् इकट्ठा हो जाता है। बहुत इकट्ठा हो जाने के कारण वहाँ वह घनीभूत होकर स्थूल जल के रूप में आ जाता है और गुरुत्व के कारण वायु में नहीं ठहर सकता, अतः सुमेरु के शिखर पर गिर पड़ता है। उसे ही कहते हैं—गंगा।

पुराण, इतिहासों में सर्वत्र ध्रुव के ऊपर से सुमेरु पर गंगा के जल का गिरना वर्णित है। ध्रुवस्थान ही हमारे इस ब्रह्माण्ड की परिधि है। यह कहा जा चुका कि ब्रह्माण्ड वेद में एक पारिभाषिक शब्द है। आकाश अनन्त है, उसका जितना भाग एक सूर्य से पकाशित हो, उसे एक ब्रह्माण्ड कहेंगे। अनन्त आकाश में संख्यातीत सूर्य और उतने ही ब्रह्माण्ड हैं। पूर्वोक्त अप्-तत्त्व फैला हुआ है। हमारे ब्रह्माण्ड की परिधि से दूसरे ब्रह्माण्डों की परिधि भी मिल जाती है। अर्थात्, ऐसा भी आकाश का प्रदेश है, जहाँ एक सूर्य का प्रकाश समाप्त होकर दूसरे सूर्य के प्रकाश का प्रारम्भ होता है। यही कारण है कि दूसरे ब्रह्माण्डों का अप्-तत्त्व भी जो कि दूसरे सूर्यों की किरणों के संघर्ष से परिधि तक घनीभूत हो गया है, हमारे ब्रह्माण्ड के अप् के साथ मिलकर वह गंगा-रूप में आ जाता है। अतएव, पुराणों में गंगा नदी को अपर ब्रह्माण्ड की जलधारा भी कहते हैं। यह भी पुराणों में उपर्वणित है कि वामनावतार में चरण-प्रहार होने पर नखाग्र से ब्रह्माण्ड का जो ऊपरी गोल टूटा, वहाँ से यह जलधारा भीतर प्रविष्ट होती है। इस घटना का अभिप्राय स्पष्ट

१. चन्द्रमा अप्स्वन्तरा सुपर्णो धावते दिवि।

२. असूर्या उपसूर्ये याभिर्वा सूर्यः यह तानो हिन्वन्त्वध्वरम्। (ऋग्वेद, १।२३।१७)

३. हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका यह सुजातः सविता या स्वातिः। (अथ०, १।६।३३।१)

रूप में यह है कि आधिदैविक भाव में प्रातःकाल का सूर्य ही वामन कहा जाता है, उसके नख, अर्थात् किरणों के अग्रभाग ने जहाँ विवर बनाया है, वहीं से यह जलधारा गिरती है। सप्तर्षि-प्रदेश ही 'विष्णुपद' भी कहा जाता है, अतः उस प्रदेश-स्थित गंगा को विष्णुपदी कहते हैं। और, अष्टमूर्त्ति भगवान् शंकर का केश-कलाप यह आकाश है, जिससे 'व्योमकेश' नाम शंकर का प्रसिद्ध है, उस आकाश में व्यापक रहने के कारण गंगा हर-जटाजूटवासिनी कहलाती है। वैज्ञानिक लोग जानते हैं कि तत्त्वों का परिवर्त्तन एक दिन में नहीं हुआ करता। सैकड़ों हजारों वर्षों में एक तत्त्व प्रकृति के नियमानुसार दूसरे रूप में जाता है। अतएव, अप् भी अपनी सूक्ष्म अवस्था में हजारों वर्ष रहकर जल के रूप में आया करता है। अतः, पुराणों में हजारों वर्ष तक इसका विष्णु-पद, शिवजटा आदि में रहना लिखा है। पूर्वोक्त सब अर्थों के पोषक पुराण-वचन निम्नांकित हैं :

वामपादाम्बुजाङ्गुष्ठनखस्रोतविनिर्गताम् ।
विष्णोः बिभर्त्ति यां भक्त्या शिरसाहर्निशं ध्रुवः ॥ १०९ ॥
ततः सप्तर्षयो यस्याः प्राणायामपरायणाः ।
तिष्ठन्ति वीचिमालाभिः सह्यमानजटाजले ॥ ११० ॥

(विष्णुपु०, अं० २, अध्याय ८)

तस्य शैलस्य शिखरात् क्षीरधारा नरेश्वर ।
विश्वरूपाऽपरिमिता भीमनिर्घातनिःस्वना ।
पुण्यापुण्यतमैर्जुष्टा गङ्गा भागीरथी शुभा ।
प्लवन्तीव प्रवेगेन ह्रदे चन्द्रमसः शुभे ।
तथा ह्युत्पादितः पुण्यः स ह्रदः सागरोपमः ।
तां धारयामास तदा दुर्धरां पर्वतैरपि ।
शतं वर्षसहस्राणां शिरसैव महेश्वरः ॥

(महा० भा०, भीष्म०, जम्बूखण्ड-निर्माण, अ० ६)

तत्र भगवतः साक्षाद्यज्ञलिङ्गस्य विष्णोर्विक्रमतो वामपादाङ्गुष्ठनखनिर्भिन्नोर्ध्वाण्ड-कटाहविवरेणान्तःप्रविष्टा या बाह्यजलधारा तच्चरणपङ्कजावनेजनारुणकिञ्जल्कोपरञ्जिता-खिलजगदघमला पदोपस्पर्शनामलासाक्षाद्भगवत्पदीत्यनुपलक्षितवचोऽभिधीयमानातिमहता कालेन युगसहस्रोपलक्षणेन दिवो मूर्धन्यवततार। यत्तद् विष्णुपदमाहुः। यत्र....वीरव्रत औत्तानपादिः शिरसा बिभर्त्ति।.......ततो......ब्रह्मसदने निपतति। तत्र चतुर्धा भिद्यमाना सीतालकनन्दा चक्षुर्भद्रा......तथैवालकनन्दा दक्षिणेन ब्रह्मसदनाद्बहूनि गिरिकूटान्यतिक्रम्य हेमकूटाद्धैमकूटानि अतिरभसतररंहसा लुण्ठयन्ती भारतमभिवर्षं दक्षिणस्यां दिशि जलधिमभिप्रविशति। यस्यां स्नानार्थं चागच्छतः पुंसः पदे पदेऽश्वमेधराजसूयादीनां फलं न दुर्लभमिति।

(श्रीभागवत, स्क० ५, अ० १७)

पूर्वोक्त वैदिक मन्त्रों से इन पौराणिक वर्णनों का सम्बन्ध लगाने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि हमारे पूर्वज महर्षियों की खोज कितनी गहरी थी। वे गंगाजल के असाधारण गुण देखते हुए भी बर्फ का जल या हिमालय की ओषधियों का क्षालन (धोवन) कहकर सन्तोष नहीं कर लेते थे। हमारे पूर्वजों ने इस गंगाजल की असलियत खोज निकाली थी और इसे अलौकिक दिव्य जल माना था। तभी पूर्वोक्त श्रीभागवत के वचन में इसमें स्नान करनेवाले को पद-पद में अश्वमेध, राजसूय आदि का फल बताया गया है। और, सभी शास्त्रों ने इस श्रीजल के द्वारा सब पापों का क्षय माना है। और, शास्त्र ही क्यों, वेद-मन्त्र में भी मन, वाणी और शरीर के पापों का क्षय करने की इस दिव्य जल से स्पष्ट प्रार्थना है :

इदमापः प्रवहत यत्किञ्च दुरितं मयि।
यद्वाहमभि दुद्रोह यद्वा शेप उतानृतम्॥
(ऋ०, १।२३।२२)

साक्षात् ब्रह्म का प्रथम विवर्त्त ब्रह्मद्रव वह दिव्य जल क्या नहीं कर सकता ? वाल्मीकि के गंगा-स्तोत्र में एक ही श्लोक के द्वारा पूर्वोक्त गंगा का तत्त्व स्फुट किया गया है :

ब्रह्माण्डं खण्डयन्ती हरशिरसि जटावल्लिमुल्लासयन्ती
स्वर्लोकादापतन्ती कनकगिरिगुहागण्डशैलात्स्खलन्ती
क्षोणीपृष्ठे लुठन्ति दुरितचयचमू निर्भरं भर्त्सयन्ती
पाथोधिं पूरयन्ती सुरनगरसरित् पावनी नः पुनातु॥

ब्रह्माण्ड को तोड़कर आती हुई, महादेव के जटाजूट को सुशोभित करती हुई, स्वर्गलोक से गिरती हुई, सुमेरु पर्वत के समीप पाषाणों में टकराती हुई, पृथ्वी पर बहती हुई, पापों की प्रबल सेना को नितान्त त्रास देती हुई, समुद्र को पूर्ण करती हुई, यह दिव्य नदी हम सबको पवित्र करे।

यह दिव्य जल का संक्षेपतः वर्णन हुआ। अब आन्तरिक्ष जल के सम्बन्ध में भी परिचय देना आवश्यक है। कह चुके हैं कि सूर्य की किरणों में भी एक प्रकार का अप्-तत्त्व व्याप्त है, जो ऐतरेय ब्राह्मण में, 'मारीचि' नाम से कहा गया है। पूर्वोक्त ऐतरेय ब्राह्मण-श्रुति में जो जल की दूसरी अवस्था मारीचि नाम से बताई गई और जिसे पूर्ण आन्तरिक्ष में व्यापक कहा है, वही आन्तरिक्ष अप् है। आकाश के किसी प्रदेश-विशेष में सूर्य की किरणों की परस्पर रगड़ से जो प्रादुर्भूत हो जाया करती है, वह है—यमुना। अतएव, यमुना को सूर्यपुत्री कहते हैं। सूर्य-किरणों से वह उत्पन्न होती है।

भौम जल की अपेक्षा आन्तरिक्ष यमुना-जल अति श्रेष्ठ है, अतएव वेद सब नदियों में गंगा और यमुना का ही पहले कीर्त्तन करता है :

इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि
स्तोमं सचता परुष्ण्या असिक्न्या मरुद्वृधे
वितस्तयार्जीकीये शृणुह्या सुषोमया।

इसमें उक्त अन्य समस्त नदियाँ पार्थिव जल के अन्तर्गत हैं। और गंगा तथा यमुना दिव्य और आन्तरिक्ष जल हैं। यह सारा वर्णन प्रसंगागत हुआ। मुख्य विषय यह था कि दृश्य जल को वैदिक विज्ञान भी यौगिक ही कहते हैं और उसमें रस या सोम नाम से एक तत्त्व मानते हैं, जिसे आधुनिक वैज्ञानिक अपनी भाषा में Hydrozen कह लेते हैं। 'यो वः शिवतमो रसः' इत्यादि शतशः मन्त्रों में जल के भीतर रस का वर्णन है और दार्शनिक प्रक्रिया में कहा जा चुका है कि रस-तन्मात्रा ही हाइड्रोजन है एवं अग्नि-तत्त्व जो दूसरा दृश्य जल में बताया जाता है, वही वैज्ञानिकों की भाषा में Oxigen हो सकता है। इसलिए, यह सब केवल शब्दमात्र का भेद या विवाद रह जाता है।

पृथ्वी-तत्त्व

अब पृथ्वी-तत्त्व के विषय में विचार किया जाय। पृथ्वी की उत्पत्ति शतपथ आदि ब्राह्मणों में इस प्रकार बताई गई है कि जल के ऊपर वायु भ्रमण करता रहता है। जब किसी अवसर में जल के स्तर को ऊँचा उठाकर वायु उसके भीतर प्रविष्ट हो जाता है, तब बुद्बुद बन जाया करता है। वायु जब निकल गया, तब बुद्बुद समाप्त हुआ तथा जल में जल मिल गया। ऐसी घटनाएँ जलाशयों में सैकड़ों बार हुआ करती हैं। किन्तु, जब कभी ऐसा अवसर आता है कि जल का स्तर घनीभूत हो जाय और वह वायु को निकलने न दे, तब वायु की रूक्षता और जल की स्निग्धता इन दोनों विरुद्ध धर्मों का परस्पर संघर्ष होने से दोनों तत्त्व तिरोहित हो जाते हैं और एक तीसरी वस्तु बन जाती है, जिसको फेन कहते हैं। इसको युद्ध-धर्म से सृष्टि होना कहा जाता है। दो धर्मों के परस्पर सम्बन्ध से तीसरी वस्तु का उत्पन्न होना मैथुन-धर्म की सृष्टि है, जैसा कि अंकुरादि के विषय में कहा जा चुका है। किन्तु, परस्पर संघर्ष से दोनों तत्त्व मरकर या तिरोहित होकर जहाँ नई वस्तु उत्पन्न करें, उसे युद्ध-धर्म की सृष्टि कहते हैं। यह फेन-रूप दूसरी अवस्था हुई। इसपर सूर्य-रश्मियों का प्रतपन होता रहता है और वायु में संक्रान्त चिक्कण-तत्त्व भी उसमें प्रविष्ट होता रहता है। इस प्रकार की आवागमन-रूप यज्ञ-प्रक्रिया से तीसरी अवस्था 'मृत्स्ना' नाम की बन जाती है, जिसे लौकिक भाषा में 'पाँक' कहा करते हैं। इसपर पुनः वायु और सूर्य-किरणों के संघर्ष से क्रम से चौथी अवस्था बन जाती है, जिसे सिकता (नदियों के किनारे की मृत्तिका) कहा जाता है। यही सिकता सूर्य-किरणों की प्रखरता का अधिक प्रवेश होने पर शर्करा (कठोर मृत्तिका) बनती है और आगे वही पत्थर के रूप में परिणत हो जाती है। पत्थर से लोहा बनता है और आगे भिन्न-भिन्न धातु बनते हुए, अन्त में सुवर्ण तैयार हो जाता है, जो सब धातुओं से गुरुभूत है। धातु सूर्य-किरणों के अधिक प्रवेश से बनते हैं, अतः इन्हें 'तैजस' कहा जाता है। सुवर्ण को तो अग्नि का रेत (वीर्य) ही कहते हैं। पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने पृथ्वी में जो अन्यान्य तत्त्व बताये हैं, वह इन्हीं की अवस्थाविशेष हैं। ब्राह्मणों में आठ अवस्थाओं के संघात को ही पृथ्वी कहा गया है।[१] जल से उत्पन्न होने के कारण पृथ्वी को वहाँ पुष्करपर्ण कहा है।

---

१. सोऽकामयत। भूय एव स्यात्प्रजायेतेति, सोऽश्राम्यत् स तपोऽतप्यत्, स श्रान्तस्तेपानः फेन-

ये आठों प्रकार के तत्त्व जल समुद्र में यत्र-तत्र प्लावित रहते हैं। जब ईश्वरेच्छा से एक विशेष प्रकार की वायु चलती है, जो चारों दिशाओं में अपना वेग रखती हो, उससे ये सब तत्त्व एकत्रित हो जाते हैं। उसी वायु के दबाव से घनीभूत होकर वे तत्त्व विशीर्ण नहीं होने पाते। उसी वायु का नाम श्रुतियों में 'वराह' रखा गया है। वराह शब्द 'वृ' और 'अह' दो धातुओं से बनाया गया है। वह चारों ओर की वायु सब ओर से पृथ्वी-पिण्ड को आवृत कर लेती है, अर्थात् घेर लेती है और संघात-रूप बना देती है, इसलिए उसका नाम वराह रखा गया है।[1] पौराणिक कथाएँ इसी वैज्ञानिक अंश का रोचक वर्णन करती हैं कि वराह ने जल के भीतर घुसकर पृथ्वी को निकाला और यह पृथ्वी-पिण्ड वराह की दंष्ट्रा पर ठहरा हुआ है इत्यादि।

आकाश-तत्त्व

आकाश को निरा शून्य भी वैदिक विज्ञान नहीं मानता। वैदिक प्रकिया के अनुसार, सम्पूर्ण स्थानों में सोम-तत्त्व और इन्द्र-तत्त्व भरे हुए हैं। उनसे विरहित कोई स्थान नहीं है। इन्द्र का ही एक परिणाम (वाक्) तत्त्व कहा जाता है। वह भी सर्वत्र व्यापक है। जिसके कई प्रमाण वेद-शब्दार्थ-निरूपण में आ चुके हैं। दार्शनिक प्रक्रिया में भी शब्द-तन्मात्रा से आकाश-महाभूत का प्रादुर्भाव माना गया है। इसका तात्पर्य यह है कि जैसे पाश्चात्य विद्वान् दो प्रकार की वायु मानते हैं—एक Air, जो सब जगह जमी है, दूसरी Wind, जो एक प्रकार की लहर है और शरीर पर धक्का देती है। इसी प्रकार, वैदिक विज्ञान के अनुयायी भारतीय दार्शनिकों ने शब्द भी दो प्रकार का माना है। एक शब्द वह, जो सर्वत्र व्यापक है, उससे रहित कोई प्रदेश नहीं, वह विभु और नित्य माना जाता है। किन्तु, उसी में जब संयोग, विभाग आदि के द्वारा एक लहर उठती है, तब वह हमारी श्रोत्रेन्द्रिय से गृहीत हो जाता है। निष्कर्षतः, व्यापक शब्द घन आकाश है और उसकी लहर शब्द-रूप उसका गुण है। कुछ समय पहले तक वैज्ञानिक शब्द को वायु का गुण कहते थे, किन्तु जबसे रेडियो का अविष्कार हुआ और इंगलैण्ड तथा अमेरिका का शब्द कुछ क्षणों में ही यहाँ सुनाई देने लगा, तबसे वायु का गुण मानने का सिद्धान्त परिवर्त्तित हो गया; क्योंकि वैज्ञानिकों ने परीक्षा करके देख लिया कि वायु में इतनी तीव्र गति नहीं है कि क्षणमात्र में ही हजारों मील पहुँच जाय! अबतक भी पश्चात्य वैज्ञानिकों में मतभेद ही चल रहा है। कुछ विद्वान् 'ईथर' नाम का एक तत्त्व मानते हैं और शब्द को उसी का गुण कहते हैं। दूसरे विद्वान् 'ईथर' का खण्डन करते हैं और शब्द को 'स्पेस' का ही गुण मान लेते हैं। हमारा तो विश्वास है कि समय के अनुसार ईथर का सिद्धान्त ही स्थिर होगा; क्योंकि वही हमारा वैदिक विज्ञान का

मसृजत। सोऽवेदन्यद्वा एतद्रूपम्। भूयो वै भवनि श्राम्याण्येवेति। स श्रान्तस्तेपानो मृदं शुष्कापमूष सिकतं शर्करामश्मानमयो हिरण्यमोषधिवनस्पत्यसृजत् तेनेमां पृथिवीं प्राच्छादयत्।
— शतपथ, काण्ड ६, अध्याय १, ब्रह्मण १, कण्डिका १३।

[1] इयत्यग्र आसीद्‌द्वितीयंतेंर्वो इयमग्रे पृथिव्यास प्रादेशमात्री। तामेमूष इति वराह उज्जघान। इत्यादि। —शतपथ, १४।१२।११।

आकाश-तत्त्व है और शब्द उसी का गुण है। सम्भव है, ईथर शब्द का सम्बन्ध इन्द्र शब्द से सिद्ध हो जाय और ऐन्द्री वाक् कहकर शब्द का इन्द्र से सम्बन्ध बतानेवाली श्रुति का आदर आधुनिक वैज्ञानिकों को भी करना पड़े। अस्तु; यह समय की बात है। समय ही इसका निर्णय करेगा। अभी तक हमारे वक्तव्य का सारांश यही है कि भारतीयों का वेदों के आधार पर स्थित पंचमहाभूत-सिद्धान्त, बहुत गम्भीर है और वह बातों में उड़ाया नहीं जा सकता।

इस प्रकार, क्षरपुरुष की पाँचों कलाओं का आधिदैविक तथा आधिभौतिक रूप में विवरण किया गया। आधिभौतिक रूप के ये पाँचों मण्डल एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं और परस्पर एक-दूसरे के उपकारक हैं, जो पार्थिव पदार्थ हमको प्राप्त होते हैं, उनमें पाँचों मण्डलों का अंश सम्मिलित है। दृष्टान्त के लिए एक जलाने की लकड़ी को ही देखिए। उसका ऊपर का भाग तो पृथ्वी से बना हुआ ही है। इसमें यदि हम अग्नि लगा दें, तो अग्नि का कार्य है कि वह भिन्न-भिन्न तत्त्वों के पारस्परिक सम्बन्ध को विघटित कर दे। तब पहले ही पृथ्वी का अंश, ठोसपन और कठिनता तो अलग होकर जाती रहेगी। आगे चन्द्र-मण्डल से आया हुआ सोम-भाग द्रुत होकर टपक जायगा और सूर्य-मण्डल से किरणों के द्वारा जो रूप उसमें प्राप्त हुए हैं, वे भी बन्धन से विमुक्त होकर सूर्य-मण्डल में परावर्त्तित हो जायेंगे। अब तो कोयलों में श्याम (काला) रूप दिखाई देगा, वह परमेष्ठिमण्डल का सोम है, जो घनता में आकर श्यामरूप दिखाई दे रहा है, और अग्नि का प्रयोग कर यदि उसे भी निकाल दिया जाय, तो स्वच्छवर्ण का भस्म शेष रहेगा, जो स्वयम्भू-मण्डल की स्वच्छता को अभिव्यक्त करेगा। इसी प्रकार, प्रत्येक पदार्थ में सबके अंश देखे जा सकते हैं।

षोडशी प्रजापति

तीनों पुरुषों की उक्त सोलह कलाओं को मिलाकर एक षोडशी प्रजापति का स्वरूप बनता है। वह प्रजापति दो प्रकार का है—एक अनिरुक्त प्रजापति, दूसरा सर्व प्रजापति।

अनिरुक्त प्रजापति का वर्णन निम्नांकित मन्त्रों में स्पष्ट है :

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥

(यजु०, ३१।१९)

इस मन्त्र का तीन प्रकार से अर्थ हो सकता है। भाष्यकारों ने इसका अर्थ यों किया है कि :

(प्रजापतिः) सम्पूर्ण प्रजाओं का स्वामी परमात्मा, (अजायमानः) नित्य होने के कारण वस्तुतः उत्पन्न न होता हुआ भी (गर्भे अन्तः चरति) जरायुज, अण्डज आदि चारों प्रकार के भूतों के गर्भ में जीव-रूप से प्रविष्ट होकर विचरता है, और (बहुधा विजायते) अनेक प्रकार से सन्तान उत्पन्न करता है, वा उत्पन्न होता है। अर्थात्, स्वयं परमात्मा नित्य, निर्विकार है, वह उत्पन्न नहीं होता। किन्तु, स्वप्रेरित माया द्वारा स्वयं ही कार्य-कारणात्मक जगत्-रूप बनता है। इससे वही गर्भ में प्रविष्ट होनेवाला,

गर्भों को उत्पन्न करनेवाला वा नाना रूप से उत्पन्न होनेवाला है। (धीराः) विद्वान् पुरुष, (तस्य) उस परमात्मा के (योनि) स्थान, अर्थात् स्वरूप को (परिपश्यन्ति) स्वात्मा-भेद-रूप से सर्वत्र देखते हैं। (विश्वा भुवनानि) सम्पूर्ण लोक (तस्मिन् ह तस्थुः) उसी परमात्मा के आधार पर रहते हैं। जैसे, घट मृत्तिका के आधार पर अथवा पट तन्तुओं के आधार पर है। इसी प्रकार, कार्य-कारणात्मक सम्पूर्ण जगत् परमकारण-रूप परमात्मा के आधार पर अवस्थित है। इस अर्थ से ईश्वर की जगत्कारणता और जगत् का ईश्वर से अभेद सिद्ध होता है। दूसरा अर्थ है कि :

प्रजाओं का स्वामी परमात्मा-स्वरूप से नित्य होने के कारण उत्पन्न न होता हुआ भी जगत् के उपकार और भक्तों पर अनुग्रह के कारण (गर्भे अन्तः चरति) गर्भ में प्रवेश करता है और (बहुधा विजायते) मत्स्य, कूर्म, वराह, मनुष्य आदि नाना प्रकार की योनियों में जन्म ग्रहण करता है, अर्थात् अनेक अवतार लेता है। विद्वान् लोग (तस्य योनिं) उसकी उत्पत्ति के स्थान को (कहाँ किस कारण अवतार हुआ, इस रहस्य को) (परिपश्यन्ति) जानते हैं और उसी अवतारधारी परमात्मा के आश्रय से (विश्वा भुवनानि तस्थुः) सम्पूर्ण लोक स्थिर रहते हैं। अर्थात्, लोक-मर्यादा की स्थिरता ही परमात्मा के अवतार का मुख्य हेतु होता है।

इस दूसरे अर्थ में अवतार-विज्ञान स्पष्ट होता है। सनातन-धर्म के उपदेष्टाओं में यह अर्थ सुप्रसिद्ध है :

(प्रजापतिः) तेंतीस देवताओं में व्याप्त रहनेवाला प्रजापति नाम का देवता (गर्भे अन्तः चरित) प्रत्येक पदार्थ के ठीक मध्य (केन्द्र) में विचरता है। वह स्वयम् (अजायमानः) शक्ति रूप से नित्य है, और (बहुधा विजायते) अनेक रूप से वस्तुओं का विस्तार करता रहता है। (धीराः) धैर्यवान् विद्वान् ही (तस्य योनिम्) उस प्रजापति के ठीक स्थान को (परिपश्यन्ति) पहचान सकते हैं, (विश्वा भुवनानि) सम्पूर्ण भुवन के पदार्थ (तस्मिन् ह तस्थुः) उसी प्रजापति के आधार पर बद्ध रहते हैं।

यह प्रकृत मन्त्र का वैज्ञानिक अर्थ है। इससे केन्द्र-शक्ति का विज्ञान प्रकट होता है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार भी प्रत्येक पदार्थ के केन्द्र में एक शक्ति मानी जाती है, जिसके आकर्षण पर सब पदार्थ स्थिर रहते हैं। उस शक्ति का आधार वेदोक्त आधिदैविक विज्ञान में प्रजापति देवता माना गया है। इस प्रजापति का वर्णन 'अनिरुक्तो वै प्रजापतिः' आदि वाक्यों से अन्यत्रान्यत्र भी श्रुतियों में बहुत है। यह केन्द्र-शक्ति निरवयव है, उसके भाग नहीं, अतएव उसे अनिरुक्त कहा करते हैं। वह प्रजापति देवता सब पदार्थों के केन्द्र में निवास करता है और केन्द्र से ही विविध प्रकार की किरणें हरएक पदार्थ में से निकलती हैं। वृक्ष, प्राणी आदि पदार्थ केन्द्र-शक्ति के आश्रय से ही बढ़ते हैं, अतः प्रजापति देवता ही विविध रूप से उत्पन्न हो रहा है। यद्यपि गोल पदार्थ के केन्द्र का परिज्ञान साधारणतः हो जाता है, तथापि दूसरे प्रकार से लम्बे, चिपटे आदि पदार्थों के केन्द्र का विज्ञान सरल नहीं, उसके लिए बड़े गम्भीर गणित की आवश्यकता है। अतएव, श्रुति ने कहा कि प्रजापति के स्थान को

विद्वान् ही जान सकते हैं। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि प्रजापति के आधार से ही सब लोक ठहरे हुए हैं। यदि किसी बहुत भारी पदार्थ के भी ठीक केन्द्र-स्थान का पता हम लगा सकें, तो उस स्थान पर एक अंगुली-मात्र लगाकर भी अनायास उसका धारण कर सकते हैं। केन्द्र-स्थान पर हाथ की अंगुली का कोई भार नहीं प्रतीत होता। केन्द्र के आधार पर भारी-से-भारी वस्तु भी अनायास ठहर जाती है—यह आशय भी इन वाक्यों से अभिव्यक्त हो जाता है। जिस प्रकार एक व्यष्टि (भिन्न-भिन्न पदार्थ) में प्रजापति है, इसी प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का भी प्रजापति है, जो कि हिरण्यगर्भ, सूत्रात्मा आदि नामों से शास्त्रों में वर्णित है। वह ब्रह्माण्ड के केन्द्र में रहता है।

उक्त मन्त्र में केन्द्रस्थ शक्ति-रूप अनिरुक्त मूल प्रजापति का वर्णन हुआ। प्रजासहित सर्व प्रजापति का वर्णन इस मन्त्र में है :

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥

इसका अर्थ है कि 'हे प्रजापति !' तुमसे अतिरिक्त और कोई नहीं है, जो इन सब उत्पन्न होनेवाले पदार्थों को अभिव्याप्त कर उनके चारों ओर रहता हो। (आप ही सब उत्पन्न होनेवाले पदार्थों को घेरकर उनकी चारों ओर मर्यादाबद्ध रहते हैं) हमलोग जिस कामना से आपके लिए आहुति देते हैं (यज्ञ करते हैं), वे हमारी कामनाएँ पूर्ण हों। (सर्व प्रजापति ही सब यज्ञों का भोक्ता है, उसका ही स्वरूप-संघटन यज्ञ से होता है, इसलिए यज्ञ की सफलता उसी से माँगी जाती है। हम सब सम्पत्तियों के स्वामी बनें।) वही सर्व प्रजापति सम्पत्ति-रूप या सम्पत्ति का अधिष्ठाता है। पिण्ड-रूप से उसे सम्पत्ति कह सकते हैं, और तत्तत्पदार्थ के अभिमानी चैतन्य के रूप में सम्पत्ति का अधिष्ठाता। स्तुति के मन्त्रों में अभिमानी चैतन्य की ओर ही लक्ष्य रहता है, इसलिए उससे ही सम्पत्ति-प्राप्ति की प्रार्थना की गई है।

यह शक्ति प्रत्येक पदार्थ में व्यापक रूप से रहती है, या यों कहें कि मन, प्राण, और वाक्-रूप यह प्रजापति ही सत्ता-रूप से सब पदार्थों में अनुप्रविष्ट है, यहीं पदार्थों की सत्ता है। वैदिक विज्ञान कहता है कि केन्द्र-शक्ति और यह प्रत्येक पदार्थ में व्याप्त रहनेवाली शक्ति एक ही हैं। केन्द्र-शक्ति का विश्वास-रूप ही यह व्यापक शक्ति है, अतएव दोनों का एक प्रजापति शब्द से ही व्यवहार वेद में किया गया है। प्रजापति का वर्णन वेद में बहुत है। जिस-जिस पिण्ड आदि के जो देवता अधिष्ठाता हैं—वे सब भी उस वस्तु के लिए प्रजापति-रूप से वर्णित होते हैं।

प्रजापति दोनों ही कहलाते हैं—एक, ईश्वर-प्रजापति और दूसरा, जीव-प्रजापति। ईश्वर-प्रजापति आधिदैविक है और अधिभूत उसकी प्रजा है, एवं जीव-प्रजापति आध्यात्मिक है, शरीर आदि उसकी प्रजा हैं। दोनों ही अपनी-अपनी प्रजाओं के स्वामी हैं। एक समष्टि-रूप है, दूसरा व्यष्टि-रूप।

ईश्वर और जीव

अबतक जिन सोलह कलाओं का हमने वर्णन किया है, वह समष्टि-रूप ईश्वर-कलाओं का वर्णन है। उनके अंशों से जीव की कलाएँ बनती हैं, जो व्यष्टि कही जाती हैं। उपनिषदों की मीमांसा-रूप ब्रह्मसूत्रों में ईश्वर और जीव का तीन प्रकार का सम्बन्ध बताया गया है :

१. ईश्वर का अंश जीव है। २. ईश्वर बिम्बस्थानीय है और जीव उसका प्रतिबिम्ब है। जैसे, सूर्य का प्रतिबिम्ब जल या दर्पण हुआ करता है और वह भी अपना केन्द्र बनाकर अपनी चमक फैलाया करता है। ३. जीव ईश्वर से पृथक् कोई वस्तु नहीं, ईश्वर ही छोटी उपाधि के घेरे में आकर परिच्छिन्न हो गया है।

यह स्मरण रखना चाहिए कि दृष्टान्त के पूरे धर्म दार्ष्टान्त में कहीं नहीं मिलते हैं। दृष्टान्त किसी बात को केवल समझाने के लिए होता है। उनकी विलक्षणता को विभिन्न युक्तियों से शास्त्रकार मन:स्थित कर दिया करते हैं। जैसे, प्रथम अंशांशिभाव को ही लीजिए। संसार में अंश या अवयव से अंशी या अवयवी बना करता है। न्याय-दर्शन भी इसी प्रक्रिया को स्वीकार करता है कि अवयव से अवयवी की निष्पत्ति होती है। छोटे-छोटे धागों को मिलाकर एक बड़ा कपड़ा बन जाता है। एक-एक वृक्ष को मिलाकर बड़ा वन बन जाता है अथवा एक-एक पुरुष को मिलाकर समाज या राष्ट्र या बड़ी सेना बन जाती है। इस प्रकार, अंश से अंशी की सर्वत्र निष्पत्ति होती है। पहले अंश, उसके उपरान्त अंशी। किन्तु यहाँ बात बिलकुल उलटी है। यहाँ पहले ईश्वर है और उसके अनन्तर प्रादुर्भूत होते हैं उसके अंश जीव। इसका भी दृष्टान्त उपनिषदों में इस प्रकार दिया गया है कि जिस प्रकार अग्नि का एक बहुत बड़ा ढेर जल रहा है। उसमें से उछट-उछटकर एक-एक स्फुलिंग अलग जा गिरते हैं और वे भी अपना केन्द्र बनाकर छोटे-छोटे आयतन में जलने लगते हैं।[१] यही स्थिति ईश्वर और जीव की है। जलती हुई अग्नि के ढेर के स्थान में ईश्वर को समझ लीजिए और उछटती हुई चिनगारियों के स्थान में जीवों को। किन्तु फिर भी, दृष्टान्त में इतनी विषमता अवश्य रहेगी कि चिनगारियाँ उछटते-उछटते अग्नि का ढेर न्यून होता जाता है, अधिक समय तक ऐसी चिनगारियाँ उछटते रहने से वह ढेर समाप्त भी हो सकता है। किन्तु, ईश्वर में जीवों के पृथक्-पृथक् हो जाने पर भी कोई न्यूनता नहीं आती। इसी बात को श्रुति ने स्पष्ट किया है कि :

> पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
> पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

अर्थात्, ईश्वर का स्वरूप भी पूर्ण है, और उससे निकले हुए जीव भी अपने स्वरूप में पूर्ण हैं। पूर्ण से ही पूर्ण की निष्पत्ति होती है, किन्तु पूर्ण से पूर्ण निकाल लेने पर भी पूर्ण ही शेष रहता है। यह आध्यात्मिक विषय है। लौकिक दृष्टि से ठीक समझ में नहीं आ सकता।

---

१. तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिङ्गा सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः। तथाऽक्षराद्विविधाः सोम्यभावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति। —मण्डकोपनिषद्, मुण्डक २, ख० १, मन्त्र १।

इतना ही समझा जा सकता है कि अनन्त से यदि अनन्त घटाते चले जायँ, तो भी वह अनन्त ही रहता है। अन्तवान् पदार्थ घटकर छोटा होता है। अनन्त में कभी न्यूनता नहीं आती है। अस्तु;

दूसरे प्रतिबिम्बवाद के दृष्टान्त जल, दर्पण आदि कहे गये हैं। किन्तु, उनमें भी यह विषमता है कि एक तो प्रतिबिम्ब रूपवान् पदार्थ का ही होता है। ईश्वर जो सर्वथा नीरूप, निराकार है, उसका प्रतिबिम्ब कैसे सिद्ध हो। इसका उत्तर भी इस प्रकार दिया जाता है कि रात्रि के समय हम किसी स्वच्छ सरोवर में आकाश-स्थित तारा-मण्डल का प्रतिबिम्ब जब देखें, तब जलाशय में भिन्न-भिन्न तारे भी दिखाई देंगे और उनके मध्य का अन्तर या अवकाश भी दिखाई देगा। इससे सिद्ध हुआ कि मध्य के अवकाश या आकाश का भी प्रतिबिम्ब हुआ है। आकाश तो नीरूप है, उसका प्रतिबिम्ब कैसे हुआ। इसी प्रकार ईश्वर का भी प्रतिबिम्ब समझ लिया जाय। किन्तु, फिर भी इतनी विषमता रहेगी कि दृष्टान्त में स्वतन्त्र आकाश का प्रतिबिम्ब नहीं, ताराओं के साथ उनके मध्य का आकाश भी प्रतिबिम्बित हो गया है। किन्तु, यहाँ तो साथवाली कोई वस्तु नहीं। स्वतन्त्र ईश्वर का ही प्रतिबिम्ब मानना पड़ेगा। इसलिए, यह कहना ही होगा कि दृष्टान्त केवल समझ लेने के लिए होता है। दृष्टान्त के सारे धर्म दार्ष्टान्ति में नहीं आ सकते। प्रतिबिम्बवाद का आशय केवल इतना ही है कि मुख्य शक्ति बिम्ब में ही होती है। प्रतिबिम्ब में तो केवल उसका आभास होता है। इसी प्रकार सर्वशक्तिमान् परमात्मा ही है, जीवों में तो उसकी शक्तियों का आभास-मात्र है।

तीसरे अवच्छेदवाद को भी गृह, वृक्ष और आकाश के दृष्टान्त से समझाया जाता है कि जैसे आकाश स्वरूपतः अनन्त है, परन्तु एक घर बनाकर उसके बीच में घेरा डाल देने से उतनी दूर में आया हुआ आकाश महाकाश से अलग-सा हो गया और घर बनानेवाले का काम उससे निकलने लगा। इसी प्रकार, उपाधि के घेरे में आकर ईश्वर का ही जीव-भाव हो जाता है। किन्तु, इस दृष्टान्त में भी इतनी विषमता रहती है कि घर के घेरे में आ जाने पर भी आकाश निर्लिप्त है। उसमें किसी रूप, रस, गन्ध आदि का अनुभव नहीं होता। किन्तु, जीव में सुख, दुःखादि का अनुभव होता है, जो ईश्वर में नहीं था, इसलिए दृष्टान्त का पूरा समन्वय यहाँ भी नहीं बैठता। क्या किया जाय। अलौकिक ईश्वर का लोक में पूरा दृष्टान्त मिल नहीं सकता। किसी प्रकार दृष्टान्तों से उतने अंश को समझकर बात को चित्त में बैठा लेना है। समझना इतना ही है कि ईश्वर समष्टि-रूप है और जीव व्यष्टि-रूप। यह भी स्मरण रहे कि जीव नाम से हम यहाँ प्रत्येक जड-चेतन पदार्थ को कह रहे हैं। जड-चेतन का मौलिक भेद वैदिक विज्ञान में नहीं माना जाता, यह स्पष्ट किया जा चुका है। ये तो अवस्थामात्र हैं। इससे प्रत्येक पदार्थ व्यष्टि और ईश्वर समष्टि है, यही हमारा आशय है। स्थूल प्रपंच या क्षरपुरुष की अवस्था में ईश्वर को विराट् कहा जाता है और जीव को विश्व। महाविराट् और क्षुद्रविराट् नाम से भी इन्हें कहा जाता है। प्रत्येक छोटा या बड़ा पदार्थ एक-एक क्षुद्रविराट् है और ईश्वर महाविराट् एवं सूक्ष्म प्रपंच या अक्षरपुरुष की

स्थिति में ईश्वर को हिरण्यगर्भ कहा जाता है और जीव को तैजस[१] एवं उससे भी उच्च केवल कारण-रूप प्रपंच की या अव्यय पुरुष की स्थिति में ईश्वर को सर्वज्ञ कहा जाता है और जीव को प्राज्ञ।[२]

इस प्रकार के समष्टि-रूप ईश्वर में किसी निरीश्वरवादी को भी सन्देह का स्थान नहीं रह सकता; क्योंकि समष्टि-रूप मण्डल प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं और व्यष्टियों से उनका सम्बन्ध भी तर्क से स्पष्ट हो जाता है। सम्पूर्ण विश्व को एक मूर्त्ति के रूप में कल्पना कर भिन्न-भिन्न मण्डलों को उसके भिन्न-भिन्न शरीरावयव मानना, जो विराट् पुरुष के वर्णन में भागवत और उपनिषदों में भी आता है, उस विराट्-स्वरूप ईश्वर में सन्देह का कोई स्थान नहीं। केवल उस समष्टि की चेतनता पर निरीश्वरवादी सन्देह उठा सकते हैं। उसका उत्तर वैदिक विज्ञान की दृष्टि से कई बार हो चुका है कि वेद की दृष्टि में जडता अवथा चैतन्य एक अवस्थामात्र है, उसमें कोई मौलिक भेद नहीं। जड का चेतन में और चेतन का जड-रूप में बराबर परिणाम देखा जाता है, जैसा स्पष्ट किया जा चुका है।

इसलिए, जैसे हमारे शरीर का अभिमानी एक जीव है, वैसे ही सम्पूर्ण विश्व को अपना शरीर माननेवाला एक अभिमानी आत्मा ईश्वर है, और अनन्त ब्रह्माण्डों को अपना शरीर माननेवाला एक अपरिच्छिन्न परमेश्वर है, इसमें तर्क, वितर्कादि का कोई विपरीत स्थान नहीं।

दूसरी युक्ति वैदिक विज्ञान यह भी देता है कि जीवात्मा के पास उसकी इन्द्रियाँ मन आदि जितनी व्यष्टि-सामग्री है, उस सबकी समष्टि का प्रत्यक्ष और तर्क से हमें पूरा पता लगता है। जैसा हम अभी क्षरपुरुष की आध्यात्मिक कलाओं के निरूपण में स्पष्ट करनेवाले हैं। तब फिर जीव में जो चैतन्य है, जिसका प्रतिक्षण अनुभव होता है, उसकी भी तो समष्टि चाहिए। यदि उसकी समष्टि नहीं है, तो यह व्यष्टि कहाँ से आ गई। उसकी जो समष्टि है वही 'सत्यम्, ज्ञानम्, आनन्दम् ब्रह्म' है। वही ईश्वर या परमेश्वर नाम से कहा जाता है। अतः, उसमें भी कोई सन्देह नहीं होना चाहिए।

ज्ञान की नित्यता

वदिक विज्ञान में सबके मूल तत्त्व परब्रह्म को ज्ञान-रूप कहा जाता है। इसका आशय है कि ज्ञान एक व्यापक और नित्य तत्त्व है, उसकी उत्पत्ति नहीं होती। यद्यपि हमारे अनुभव में ऐसा आता है कि ज्ञान परिवर्त्तनशील और क्षणिक है। कभी किसी वस्तु का ज्ञान होता है, तो दूसरे क्षण में दूसरी ही वस्तु का। वे क्षण-क्षण में परिवर्त्तित होनेवाले ज्ञान भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं, किन्तु गम्भीर दृष्टि से विचार किया जाय, तो प्रतीत होगा कि

---

१. हिरण्यगर्भःसमवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
सदाधार पृथ्वीं द्यामुते मां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

२. यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः।

हम जिसे ज्ञान कहते हैं, उसमें दो अंश हैं—एक प्रकाश और एक प्रकाश्य। प्रकाश्य वस्तुएँ बदलती रहती हैं, किन्तु उनके प्रकाशांश में कोई परिवर्त्तन नहीं होता। इसी बात को शास्त्रीय शब्दों में यों कहते हैं कि विषय का परिवर्त्तन होता है, ज्ञान का नहीं। ज्ञान नाम यथार्थ में प्रकाशांश का है। प्रकाश्य उसके साथ बँधे हुए आ जाते हैं। वह प्रकाश नित्य और विभु है। हम लोग जो जानने के लिए यत्न करते हैं और फिर किसी वस्तु को जान पाते हैं, वह प्रयत्न केवल अज्ञान की निवृत्ति के लिए है। प्रकरण के आरम्भ में हमने बताया है कि रस और बल दो मूल तत्त्व हैं। उनमें रस ज्ञान-रूप है और बल उसका आवरण करनेवाला होने के कारण उसका विरोधी, अतएव अज्ञान शब्द से कहा जाता है। उस अज्ञान को मिटाने के लिए ही हमारा सब प्रयास होता है। अज्ञान-रूप आवरण के हट जाने पर ज्ञान का तो स्वयं प्रकाश हो जाता है। जैसे, सूर्य और हमारी दृष्टि के बीच में बादल एक आवरण होकर आ जाता है। बादल के हटते ही सूर्य अपने-आप चमक उठता है। उसे चमक कहीं से उधार नहीं लानी पड़ती। यही स्थिति ज्ञान की है। व्यापक और नित्य ज्ञान पर जो एक स्वाभाविक आवरण है, उसे हटा देने पर ज्ञान अपने-आप प्रकाशित हो जाता है। ज्ञान को उत्पन्न करने की कोई सामग्री नहीं चाहिए। ज्ञान ही सबका जनक है, उसका जनक कोई दूसरा नहीं हो सकता।

हमारे यहाँ का चार्वाक-दर्शन और आधुनिक साइंस यह नहीं मानते। वर्त्तमान युग में उनके बहुत अनुयायी हैं, वे भी नित्य ज्ञान की सत्ता स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि नित्य ज्ञान-रूप ईश्वर या जीव कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं। ज्ञान तो केवल संयोगजन्य है। जैसे, बबूल की छाल, गुड़ आदि वस्तुओं में, भिन्न-भिन्न रहने पर, किसी मादक शक्ति का अनुभव नहीं होता, किन्तु उन वस्तुओं के संयोग से जो मद्य मनाया जाता है, उसमें मादक शक्ति आ जाती है। या यों समझिए कि गाड़ी के भिन्न-भिन्न अवयव पहिये आदि में किसी वस्तु या मनुष्य को उठा ले जाने की शक्ति नहीं है, किन्तु उन सबको जोड़कर जो गाड़ी बनाई जाती है, वह बहुत-से सामान और बहुत-से मनुष्यों को दूर तक ले जा सकती है। यह नई शक्ति परस्पर संयोग से ही उत्पन्न होती है। इसी प्रकार ज्ञान भी एक संयोजक पदार्थ है। जड़-चेतन की एकता बताने के लिए यहाँ जो दृष्टान्त दिये गये हैं कि गोमय में चैतन्य नहीं होता, किन्तु उसके सड़ जाने पर एक चेतन बिच्छू, उसमें उत्पन्न हो जाता है, अचेतन फलों में भी सड़ने पर कीड़े-ही-कीड़े हो जाते हैं। इन दृष्टान्तों से भी हमारा ही मत सिद्ध होता है कि ज्ञान केवल संयोगजन्य है, वह स्थिर रहनेवाली वस्तु नहीं। उक्त दृष्टान्त के अनुसार ही माता और पिता के रज और शुक्र मिलकर कुछ काल तक गर्भाशय की ग्रन्थि में निरुद्ध होने के कारण सड़ जाते हैं, तो उनमें भी फलों की तरह कृमि पैदा हो जाते हैं। और, उनमें एक दूसरे को खाने लगता है। खाते-खाते जो एक बड़ा कृमि तैयार हो जाता है—वह मनुष्य, पशु आदि के रूप में दिखाई देता और सब काम करने लगता है। इसमें कोई अतिरिक्त आत्मा मानने की या ज्ञान को नित्य मानने की आवश्यकता नहीं। जब एक-एक आत्मा ही सिद्ध नहीं होता, तब सर्वव्यापक ईश्वर के सिद्ध होने की तो कथा ही क्या ? इसलिए, वैदिक सिद्धान्त में आत्मा या ईश्वर को मानना युक्ति-प्रमाण से विरुद्ध है।

वैदिक विज्ञान, इसका उत्तर देता है कि ज्ञान से अर्थ उत्पन्न होते हैं, इसके दृष्टान्त बहुत-से मिल रहे हैं :

१. हमारे सामने कई वस्तुएँ रखी हों, उनमें एक-दो आदि गिनती करके उन्हें चार-पाँच या दस हम कह दिया करते हैं—यह संख्या कहाँ से आई ? वस्तु के साथ यदि संख्या पैदा हुई होती, तो वह वस्तु जहाँ भी रहती, वहीं चार-पाँच या दस कहलाती, किन्तु ऐसा तो नहीं है, जहाँ औरों के साथ वह मिले, वहीं चार-पाँच या दस कहलायगी। एक-एक वस्तु को पृथक्-पृथक् देखने पर कोई संख्या का भाव उदित नहीं होता, इससे मानना पड़ेगा कि यह चार, पाँच या दस संख्या हमारे ज्ञान ने ही बनाई है। हम औरों के साथ मिलाकर उस वस्तु को देखते हैं, इसलिए वह हमारा देखना ही उन संख्याओं को पैदा कर देता है।

२ दो डण्डे हमारे सामने रखे हों, उनमें हम एक को लम्बा और दूसरे को छोटा कह दिया करते हैं, किन्तु वही लम्बा डण्डा किसी दूसरे अधिक लम्बे डण्डे के पास रखा जाय, तो वह छोटा कह दिया जाता है और जिसे पहले छोटा कहा था, वह यदि उससे भी अधिक छोटे के पास रखा जाय, तो उसे लम्बा कह दिया जायगा। तब सोचिए कि यह लम्बाई, छोटापन या मोटापन केवल हमारे ज्ञान की करतूत है। हमारा ज्ञान ही औरों के साथ तुलना कर उन्हें छोटा या बड़ा बता देता है। वस्तु में छोटापन या बड़ापन कोई विशेष धर्म नहीं, इसलिए छोटापन, बड़ापन, मोटापन आदि परिमाण का भी जनक हमारा ज्ञान ही है।

३. जब हम किसी कारीगर से कोई विशेष प्रकार की कुर्सी, मेज आदि बनाने को कहते हैं, तब पहले वह हमारी बताई हुई वस्तु को अपने ज्ञान में लेता है, यदि वैसी वस्तु उसने न देखी वा न जानी हो, तो इनकार कर देता है कि मैं नहीं समझा, नहीं बना सकूँगा। इससे भी यही सिद्ध होता है कि कारीगर के ज्ञान में जो गुण वा आकार पहले से रहते हैं, उन्हें ही वह बाहर वस्तु के रूप में प्रकाशित कर देता है, जो वस्तुओं के ज्ञान में नहीं, वह बाहर भी प्रकाशित नहीं की जा सकती, तब बाह्य वस्तुओं का जनक ज्ञान ही तो हुआ।

४. जहाँ कोई विज्ञानवेत्ता किसी नये तत्त्व या कई वस्तुओं का आविष्कार करता है, वहाँ भी उसे उस वस्तु के गुण-धर्मों को पहले अपने मन में लाना ही पड़ता है। फोटोग्राफ, फोनोग्राफ या रेडियो के यन्त्र का आविष्कार करनेवाला, यदि पहले अपनी बुद्धि में इन वस्तुओं का आकार-प्रकार न जमा ले, तो कुछ-का-कुछ बना डालेगा और आविष्कार में उसे सफलता नहीं मिलेगी। पहले बुद्धि में ठीक जमाकर जो वस्तु बनायगा, वह ठीक उतरेगी, इसलिए नये आविष्कारों का जनक भी ज्ञान ही सिद्ध होता है।

५. बिलकुल एकान्त में जहाँ सामने कुछ भी न हो, वहाँ बैठकर भी मनुष्य कल्पना के महल वा हवाई किले बनाया करता है, जिसे संस्कृत भाषा में 'मनोराज्य' और आजकल की बोलचाल की भाषा में 'खयाली पोलाव' कहा करते हैं। वे सब वस्तुएँ ज्ञान की ही उपज हैं। ज्ञान ही, उन्हें बनाकर, उनके विचारों का आनन्द लूटा करता है, इससे भी ज्ञान की विषयजनकता सिद्ध होती है।

६. स्वप्न में तो जो कुछ हम देखते या सुनते हैं, वह सब तो हमारे ज्ञान का ही बनाया हुआ है। बाह्य वस्तु तो वहाँ कुछ भी नहीं।

इस प्रकार, ज्ञान से वस्तुओं का पैदा होना बहुत-से दृष्टान्तों से सिद्ध होता है। किन्तु, ज्ञान किसी दूसरे से पैदा होता हो, इसका कोई दृष्टान्त नहीं है। बिच्छू वा कृमि आदि के जो दृष्टान्त पहले दिये गये हैं, उनमें भी बिच्छू वा कृमि का शरीर ही तो गोमय वा फलों से बना है। ज्ञान तो गोमय वा फलों ने नहीं बनाया। वहाँ वैदिक विज्ञान के अनुसार यही प्रक्रिया है कि फल आदि में जो सोमरस है, वही जब इन्द्रियों के रूप में परिणत हो जाता है, तब उन इन्द्रियों का विषयों के साथ सम्बन्ध होने पर ज्ञान का आवरण हट जाता है और स्वतःप्रकाश ज्ञान प्रकट हो जाता है, इसलिए ज्ञान के उत्पन्न होने को कोई दृष्टान्त सिद्ध नहीं होता। कदाचित् यह हठ किया जाय कि आप ज्ञान की अभिव्यक्ति, अर्थात् प्रकट होना कहते हैं, हम उस स्थान पर उत्पत्ति ही मानते हैं, तो उत्पत्तिवाद को छोड़कर अभिव्यक्तिवाद मानने में भी तो आपके पास कोई दृढ प्रमाण नहीं है, फिर उत्पत्तिवाद ही क्यों न मान लिया जाय। तो हम कहेंगे कि, अच्छा, युक्ति से विचार कीजिए कि ज्ञान की उत्पत्ति मानना ठीक है या अभिव्यक्ति। उत्पत्तिवाद में यह प्रश्न होगा कि मद्य में कई पदार्थों के संयोग से जो मादक शक्ति पैदा हुई, वह तो मद्य के प्रत्येक अंश में पैदा हुई। मद्य के एक बिन्दु में भी मादकता-शक्ति है और बहुत ढेर मद्य में भी। यह दूसरी बात है कि अधिक परिमाण होने पर शक्ति अपना प्रभाव अधिक दिखाती है, अल्प परिमाण में अल्प ही दिखाती है, किन्तु अल्प या अधिक मात्रा में मादकता-शक्ति प्रत्येक अवयव में है, यह तो अनुभवसिद्ध है। इसी प्रकार, यदि शरीर के प्रत्येक अवयव में चैतन्य-शक्ति उत्पन्न हुई है, तो कहना होगा कि शरीर सैकड़ों चेतन पदार्थों का एक समूह है। उसका हाथ भी चेतन है, पैर भी चेतन है, धड़ भी चेतन है इत्यादि। संसार में देखा जाता है कि बहुत-से चेतन सदा अनुकूल ही रहे, ऐसा नहीं होता। दस-बीस मनुष्य किसी काम में लगें, तो उनमें कभी कहीं मतभेद होकर फूट भी पड़ जायगी और वे परस्पर-विरुद्ध होकर कभी काम बिगाड़ भी देते हैं, यह भी देखा जाता है। तब चेतन-रूप शरीर के सब अवयव सदा अनुकूल ही रहें, कभी उनमें झगड़ा न हो, यह कैसे सम्भव होगा; किन्तु देखते इसके विपरीत हैं कि शरीर के सब अवयव सदा ही परस्पर अनुकूल ही रहते हैं। आँख की देखने की इच्छा को पूर्ण करने के लिए भिन्न-भिन्न स्थानों में उसे पहुँचा देने के लिए सदा पैर तैयार रहते हैं। पैरों में कोई काँटा या आघात न लगे, इसलिए उन्हें मार्ग बताने को आँख सदा तैयार रहती है। पेट में भोजन पहुँचाने को हाथ सदा काम करते रहते हैं और हाथों में काम करने की शक्ति हृदय द्वारा पहुँचती रहती है। इस घटनाओं से तो यही सिद्ध होता है कि शरीर के प्रत्येक अवयव स्वतन्त्र चेतन नहीं है, किन्तु कोई एक चेतन है, उसे प्रसन्न करने को सब अवयव एक दूसरे की सहायता से सदा काम में लगे रहते हैं, तब तो शरीर के अवयवों वा शरीर में चैतन्य सिद्ध नहीं हुआ, किन्तु इन दृश्य अवयवों के अतिरिक्त चैतन्य कोई पृथक् है, यही सिद्ध हुआ है। उसे ही हम आत्मा कहते हैं। कदाचित् यह कहा जाय कि अतिरिक्त कुछ नहीं, शरीर में ही चैतन्य-शक्ति है, वह संयोग से ही उत्पन्न हुई है, किन्तु वह एक ही सब शरीर में व्याप्त है, पृथक्-

पृथक् अवयवों में पृथक्-पृथक् चेतनता नहीं। तब प्रश्न यह होगा कि यदि सब शरीर में व्याप्त एक ही चैतन्य-शक्ति उत्पन्न हुई, तो फिर अंगों में प्रतिनियत शक्ति क्यों है; अर्थात् आँख देख ही सकती है, सुन नहीं सकती। कान सुन ही सकते हैं, हाथ उठा ही सकते हैं, पैर चल ही सकते हैं, ऐसा नियम किस आधार पर हुआ। सब शरीर में व्याप्त एक ही चैतन्य-शक्ति उत्पन्न हुई, तो उस शक्ति के अनुसार सभी अवयवों को सभी काम करने चाहिए थे। यदि अवयवों में पृथक्-पृथक् कार्य करने की पृथक्-पृथक् शक्तियाँ भी उत्पन्न हुईं, यह भी मान लिया जाय, तो फिर जो अवयव नष्ट हो गया, उसके कार्यों का आगे स्मरण नहीं होना चाहिए। तब अन्धे को पूर्वदृष्ट रूपों का स्मरण नहीं वन सकेगा और वधिर को पूर्वश्रुत शब्दों की याद नहीं हो सकेगी; क्योंकि जहाँ-जहाँ जिस-जिस कार्य के करने की शक्ति थी, वहीं वह कार्य होता था और वहीं उसका संस्कार भी उत्पन्न होता होगा। उस अवयव के नाश के साथ ही वे संस्कार भी नष्ट हो गये, तव फिर स्मरण कैसा? इसके अतिरिक्त शरीर-विज्ञानवेत्ता डॉक्टर लोग यह मान चुके हैं कि कुछ नियत काल में शरीर के सब अवयव बदल जाते हैं। बहुत समय बाद पुराना रुधिर, मांस, अस्थि आदि कुछ नहीं रहते, तब पूर्व अवयवों के द्वारा देखे-सुने गये रूप, शब्दादि का स्मरण किस आधार पर बनेगा। इसलिए मांस, रुधिर, हड्डी आदि के बने हुए इस शरीर के अतिरिक्त चेतन आत्मा कोई दूसरा ही है, जो बदलता नहीं, नित्य है, यही मानने पर सब बातों की उपपत्ति हो सकती है कि उसी की प्रेरणा से और उसी की प्रसन्नता के लिए सभी अवयव अपना-अपना काम कर रहे हैं और इन सभी का संस्कार उसी नित्य चेतन पर होता है। इसके अतिरिक्त और किसी प्रकार से संगति बैठ नहीं सकती।

आधुनिक वैज्ञानिक यह मानते हैं कि मस्तिष्क में हजारों जुदे-जुदे कण हैं, इन्द्रियों और विषयों का परस्पर सम्बन्ध होने पर उनमें से कोई एक कण प्रज्वलित हो उठता है, उसे ही एक ज्ञान कहते हैं। ऐसे सैकड़ों, हजारों ज्ञान हमें अपनी आयु में होते रहते हैं। उन सबका अधिष्ठाता कोई एक नहीं, जिसे आत्मा कहा जाय। मस्तिष्क में सहस्रदल कमल तो हमारे यहाँ भी माना जाता है। हम उन्हें पृथक्-पृथक् दल कहते हैं। वे कण कह लेते हैं, इसमें तो विवाद का कोई स्थान नहीं। किन्तु, सबका अधिष्ठाता एक आत्मा माने विना संगति नहीं बैठ सकती। प्रत्येक कण के अभिज्वलन से भिन्न-भिन्न ज्ञान उत्पन्न होते गये और नष्ट होते गये, तो एक ज्ञान दूसरे ज्ञान के सम्बन्ध में कुछ नहीं जानता, यह मानना पड़ेगा। तब एक ज्ञान की दूसरे ज्ञान के साथ तुलना करनेवाला कौन है? हमें अनुभव होता है कि 'पहले हम ऐसा समझते थे, किन्तु आज समझ गये हैं कि हमारी वह समझ गलत थी, आज हमने ठीक समझा है।' इस प्रकार, पहले और इस समय के ज्ञानों की तुलना करनेवाला कौन है? 'तुलना करनेवाला भी एक स्वतन्त्र ज्ञान है', ऐसा यदि कहें, तो प्रश्न होगा कि यह नया ज्ञान उन पुराने ज्ञानों के सम्बन्ध में कुछ जानता ही नहीं, तब तुलना कैसे करता है? संसार में जसा कार्य-कारण भाव देखते हैं, उसी के अनुसार कल्पना की जाय, तब तो वह कल्पना ठीक कहला सकती है और जैसा कहीं देखा

ही नहीं, वैसी कल्पना करने का कोई मूल्य नहीं होता। सबका अनुभव है कि हम अपने ज्ञानों की तुलना कर सकते हैं, दूसरे के ज्ञानों की नहीं कर सकते, तब यही कल्पना उचित हो सकती है कि 'हम' नाम का कोई एक स्वतन्त्र आत्मा है, उसी में सभी ज्ञान पैदा होते हैं और उसी में अपना-अपना संस्कार छोड़ जाते हैं। उन संस्कारों के आधार पर वह उन ज्ञानों की तुलना कर लिया करता है। दूसरे आत्मा का ज्ञान हममें संस्कार नहीं छोड़ सकते, इसलिए उनकी तुलना भी नहीं कर सकते। इन सब बातों पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर वैदिक-विज्ञान-सम्मत एक नित्य ज्ञान-रूप आत्मा अवश्य ही मान लेना पड़ता है।

जब हम देखते हैं कि एक ही श्रेणी में एक ही गुरु के पास नियत समय तक पढ़नेवाले और समान परिश्रम करनेवाले छात्रों में भी एक प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होता है, और दूसरा तृतीय होता है या अनुत्तीर्ण ही हो जाता है, तो इसका कोई कारण भी तो बताना पड़ेगा। आप कहें कि जिसकी बुद्धि तीव्र थी, वह प्रथम श्रेणी में हो गया, मन्द बुद्धिवाला रह गया, तो यह बुद्धि की तीव्रता और मन्दता क्यों हुई, यह भी तो प्रश्न होगा। खान-पान, रहन-सहन के सम्बन्ध से हुई, यह भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि बहुत अच्छे खान-पान और रहन-सहनवाले कई छात्र मन्दबुद्धि देखे जाते हैं और जिनको साधारण भोजन भी कठिनता से मिलता है, वे तीव्रबुद्धि देखे जाते हैं। जिनके पिता-माता बहुत बुद्धिमान् थे, वे कई एक अल्पबुद्धि होते हैं और अल्पबुद्धि माता-पिताओं की सन्तान तीव्रबुद्धि देखे जाते हैं। इसलिए, माता-पिता के अनुसार बुद्धि तीव्र और मन्द होने की कल्पना भी नहीं हो सकती। आकस्मिक या 'बाइ चान्स' कह देना तो उचित न्याय नहीं। संसार में आकस्मिक या 'बाइ चान्स' कुछ है ही नहीं। जिसका कार्य-कारण हम न समझें, उसे ही हम आकस्मिक या 'बाइ चान्स' कह दिया करते हैं। सब बातों में उचित उपपत्ति ढूँढना चाहिए और वह यही हो सकती है कि ज्ञान-रूप आत्मा नित्य है और वह कर्मानुसार भिन्न-भिन्न शरीरों में आता रहता है और पूर्वजन्म के संस्कार उसके साथ रहते हैं और उन्हीं के अनुसार बुद्धि की तीव्रता या मन्दता हुआ करती है। हमारा यह अभिप्राय नहीं कि हमारे यहाँ के खान-पान, रहन-सहन का कोई प्रभाव ही नहीं पड़ता। उसका भी प्रभाव अवश्य पड़ता है। अल्प बुद्धिवाले भी अपने आचारों से बुद्धि बढ़ा सकते हैं, किन्तु हमारा कहना इतना ही है कि बिना नित्य ज्ञान-रूप आत्मा के स्वीकार किये, केवल रहन-सहन आचार से काम नहीं चल सकता। इसलिए, जब व्यष्टि-रूप एक-एक नित्य आत्मा प्रति शरीर में मान लिया गया, तो उन सबका समष्टि-रूप एक महान् आत्मा भी मान लेना आवश्यक होगा। जहाँ से इन सबका उद्भव होता है और अन्त में उसी में लय होता है। वही परमात्मा परब्रह्म या परमेश्वर नाम से वैदिक सिद्धान्त में माना गया है।

आध्यात्मिक क्षर कलाएँ
(व्यावहारिक जीवात्मा)

महाचैतन्य की व्यष्टि-रूप एक-एक जीवात्मा के साथ पूर्वोक्त क्षर पुरुष की कलाओं का भी एक-एक अंश रहता है। वे आध्यात्मिक कलाएँ कही जाती हैं। जैसे, हमारा आत्मा

एक महान् आत्मा का अंश है, वैसे ही वे हमारी आध्यात्मिक कलाएँ भी, आधिदैविक और आधिभौतिक कलाओं के अंश हैं। इन अंशों के सम्बन्ध से एक ही मुख्य जीवात्मा के व्यावहारिक रूप अनेक आत्मा प्रादुर्भूत हो जाते हैं। क्षरपुरुष की आध्यात्मिक कलाओं के नाम बीजचिति, देवचिति, भूतचिति, प्रजा और वित्त हैं। और, इन कलाओं के सम्बन्ध से जो व्यावहारिक आत्माओं के भिन्न-भिन्न रूप बनते हैं, उनके नाम हैं : शान्तात्मा, महानात्मा, विज्ञानात्मा, प्रज्ञानात्मा और प्राणात्मा। ये पाँचों जीव के तन्त्र का परिचालन करते हैं। इन्द्रियों को शक्ति देकर उनका परिचालन करनेवाला प्राण है। उस प्राण से परिच्छिन्न चैतन्य को प्राणात्मा कहते हैं, इसी प्रकार मन से परिच्छिन्न चैतन्य या मन-सहित चैतन्य को प्रज्ञानात्मा और बुद्धि-गर्भित या बुद्धि-सहित चैतन्य को विज्ञानात्मा। उससे भी पर उसके नियामक महत्त्व से परिच्छिन्न चैतन्य को महान् आत्मा और इन सबमें अनुप्रविष्ट होकर इनको एक सूत्र में बाँधनेवाले अन्तर्यामी-रूप चैतन्य को शान्तात्मा कहा जाता है, इनका क्रम से निरूपण कठोपनिषद् में स्पष्ट है :

> इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
> मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥
> महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
> पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः॥

[इन्द्रियाँ पर, अर्थात् उत्कृष्ट हैं, उनसे पर मन है, मन से पर बुद्धि, बुद्धि से पर महान् आत्मा, महान् आत्मा से पर अव्यक्त आत्मा और अव्यक्त आत्मा से पर पुरुष कहा जाता है। पुरुष से पर और कोई दूसरा नहीं। वहाँ प्रकर्ष की समाप्ति हो जाती है, वही परमगति है।]

यहाँ इन्द्रियों को शरीरात्मा की अपेक्षा 'पर' कहा गया है, जिसका निरूपण आगे किया जायगा और शान्तात्मा को अव्यक्त नाम से कहा गया है। आगे :

> यच्छेत् वाङ्मनसि प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
> ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत् तद्यच्छेच्छान्तात्मनि॥

इस श्रुति में शान्तात्मा का नाम स्पष्ट है। इनमें इन्द्रिय, मन और बुद्धि तो प्रसिद्ध ही है। महान् आत्मा का आजकल के प्रसिद्ध दर्शनशास्त्रों में यद्यपि विवरण नहीं हुआ है, तथापि भगवद्गीता में उसे स्पष्ट किया गया है :

> मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
> सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥
> सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्त्तयः सम्भवन्ति याः।
> तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥

(अध्याय १४, श्लो० ३-४)

इन पद्यों का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक प्राणी के शरीर का जो आकार बनता है, उस आकार का सम्पादक महान् आत्मा है और महान् आत्मा में बीज-रूप से अनुप्रविष्ट होनेवाला रस तो अव्ययपुरुष है ही। इस आकार बनानेवाली चैतन्य-सत्ता को 'आकृति महान्' कहते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक प्राणी की जो एक प्रकृति, अर्थात् स्वभाव (आदत) बनती है, उसका सम्पादक भी यही महान् आत्मा है, जो 'प्रकृति महान्' शब्द से व्यवहृत हुआ है। और, सब आयतनों में अहं-भाव का प्रसार करनेवाला 'अहंकृति महान्' कहलाता है। आगे का अव्यक्तात्मा, शान्तात्मा सूत्र-रूप है, जो आत्मा के सब आयतनों को ग्रथित करता है। सूत्रात्मा भी उसे कहते हैं। ये पाँच प्रकार के आत्मा या पुरुषपदवाच्य मुख्य आत्मा के आयतन देव-परिस्थिति के अन्तर्गत हैं।

भूतों से उत्पन्न होनेवाला भूतात्मा या शरीरात्मा कहलाता है। यद्यपि शरीर पंच-महाभूतों के अंश से ही बना है, यह सभी जानते हैं। किन्तु, महाभूतों के अंशों से बननेवाले घट, पट, ईंट, पत्थर आदि की अपेक्षा शरीर में विलक्षणता अवश्य देखी जाती है। इसके अवयवों का एक उचित सन्निवेश और घटना-बढ़ना-रूप विलक्षणता प्रत्यक्ष सिद्ध है। इसी प्रकार, खाये हुए अन्न का रस, रुधिर, मांस मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र के रूप में क्रम से परिवर्त्तन होते रहना भी इस शरीर की ही विलक्षणता है। इसलिए, मानना पड़ता है कि शरीराकार से परिणत होनेवाले भूतों में भी चैतन्य-शक्ति अनुस्यूत होकर काम करती रहती है। उसे भूतात्मा या शरीरात्मा के नाम से कहना उचित होगा। यही शरीरात्मा शुभ वा अशुभ कर्म करता है और जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति नाम की तीन अवस्थाएँ इसी की होती हैं। संक्षेप में, मनुस्मृति के १२वें अध्याय में इन आत्माओं का निर्देश किया गया है :

> योऽस्यात्मनः कारयिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते।
> यः करोति तु कर्माणि स भूतात्मोच्यते बुधैः॥
> जीवसंज्ञोऽन्तरात्मान्यः सहजः सर्वदेहिनाम्।
> येन वेदयते सर्वं सुखं दुःखं च जन्मसु॥
> तावुभौ भूतसम्पृक्तौ महान् क्षेत्रज्ञ एव च।
> उच्चावचेषु भूतेषु स्थितं तं व्याप्य तिष्ठतः॥

अर्थात्, जो शरीर से काम करानेवाला है, उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं, इसी का नाम हमने पहले विज्ञानात्मा दिया है, जो काम करनेवाला है, वह भूतात्मा कहा जाता है। इन दोनों का अन्तरात्मा जीवात्मा है, जिससे सुख और दुःख का ज्ञान हुआ करता है। महान् और क्षेत्रज्ञ ये दोनों भूतात्मा से सदा मिलते रहते हैं। चाहे किसी भूत शरीर में, अंशतः किसी भी योनि में आत्मा रहे, ये उसके साथ ही व्याप्त होकर रहा करते हैं।

यहाँ भूतात्मा विज्ञानात्मा दो का उल्लेख प्रथम श्लोक में है और महान् आत्मा भी अन्तिम श्लोक में कहा गया है। सब में चैतन्य देनेवाला जीवात्मा बताया है। प्रज्ञान और प्राण को पृथक् न कहकर भूतात्मा में ही समाविष्ट कर दिया है और शान्तात्मा को भी महान् आत्मा से पृथक् नहीं कहा, यह संक्षिप्त प्रक्रिया है। अस्तु; कर्म करनेवाला भूतात्मा

और भोक्ता, विज्ञानात्मा या जीवात्मा है, यह मनुस्मृति के वचनों से सिद्ध हो जाता है। व्याकरण-महाभाष्य में भी ऐसा प्रसंग आया है कि भूतात्मा के किये हुए कर्मों का फल जीवात्मा को भोगना पड़ता है। अन्य के लिए कर्म का फल अन्य कैसे भोग सकता है, यह शंका यहाँ नहीं करनी चाहिए। क्योंकि; भूतात्मा में भी चैतन्य मुख्य जीवात्मा से ही प्राप्त है। इसलिए, कर्त्तृत्व जीवात्मा पर भी चला ही जाता है।

भूतों का परिणाम जिस प्रकार शरीर है, उसी प्रकार भूतों में अनुस्यूत प्राणशक्ति-रूप अग्नि का अंश यह भूतात्मा है। इसके पुनः अवान्तर तीन भेद हो जाते हैं : वैश्वानर, तैजस और प्राज्ञ। इनमें वैश्वानर का कार्य है, शरीर के अवयवों का यथास्थान संगठन और उनका रक्षण। यह वैश्वानर आत्मा जड, चेतन सब प्रकार के पार्थिव पदार्थों में व्याप्त है, अतएव अवयवों का संगठन सर्वत्र लोष्ठ, प्रस्तरादि में भी साधारण रूप से दिखाई देता है। दूसरे, तैजस आत्मा का कार्य है, शरीर को क्रम से बढ़ाना, यह वृक्ष-पर्यन्त प्राणियों में रहता है। जहाँ-जहाँ क्रमिक वृद्धि दिखाई दे, वहाँ इसकी सत्ता का अनुमान हो जाता है। तीसरा, प्राज्ञ आत्मा वह है, जो ज्ञान, इच्छा, सुख, दुःखादिक का आश्रय बनता है। इनके आयतन-क्रम से अग्नि, वायु और सूर्य के अंश हैं, यह श्रुति में माना गया है। अब प्राज्ञ आत्मा पुनः कार्यभेद से तीन प्रकार का माना जाता है : कर्मात्मा, चिदाभास और चिदात्मा। शुभ या अशुभ कर्मों में शरीर को प्रवृत्त करनेवाला चैतन्यांश कर्मात्मा कहा जायगा। कर्मजनित संस्कार भी इसी कर्मात्मा में रहते हैं, जिन्हें मीमांसा में अपूर्व पद से कहा जाता है, न्याय में धर्म-अधर्म पद से और लौकिक भाषा में पुण्य-पाप जिन्हें कहते हैं। किन्तु, पहले कह चुके हैं कि यह कर्मात्मा भूतात्मा की ही एक अवस्था है, और भूतात्मा भूतों में अनुस्यूत अग्नि का परिणाम है। तब ऐसी स्थिति में प्रश्न यह उत्पन्न होगा कि इसमें चैतन्य कहाँ से आया ? क्योंकि, इसके उत्पादक भूत वा भूतों में अनुस्यूत अग्नि तो जड है। उसका परिणाम चेतन किस प्रकार हो सकता है। इसका उत्तर वेदानुगामी हमारे दर्शन-शास्त्र यह देते हैं कि अत्यन्त स्वच्छता के कारण इसमें चिदात्मा का चैतन्य प्रतिबिम्बित हो जाता है, जिसके कारण यह भी उसी प्रकार चेतन के समान कार्य करने लगता है, जिस प्रकार सूर्य-प्रतिबिम्ब से आक्रान्त सरोवर आदि का जल अपनी चमक दूर तक फेंकने लगता है। उस चिदात्मा के प्रतिबिम्ब को चिदाभास नाम से वेदान्तादि दर्शनों ने बताया है, और व्यावहारिक जीव इसी को माना है; क्योंकि शरीर, मन, बुद्धि आदि में चैतन्य का संचार ही चिदाभास है। इस चिदाभास का मुख्य उत्पादक बिम्ब, जो चिदात्मा नामसे प्रसिद्ध है, ईश्वर का अंश है। यह पहले कहा जा चुका है। इसे दर्शनों में प्रत्यगात्मा कहा जाता है। ईश्वर सब भूतों के हृदय में विराजमान है। यह यन्त्रारूढ प्राणियों की तरह अपनी माया से सबको घुमाता है। उक्त भगवद्गीत की उक्ति में भी यही चिदात्मा विवक्षित है। उपनिषद् में अन्तर्यामी रूप से सबमें व्याप्ता रहकर सबका नियमन करनेवाला इसे ही बताया गया है। यह भी तीन रूपों में, मनुष्य आदि प्राणियों में व्यवस्थित है। जो रूप, विभूति, श्री और ऊर्ज्ज के नाम से कहे जाते हैं।

ईश्वर द्वारा उत्पादित और प्राणियों में व्याप्त तीन प्रकार के बल हैं : ब्रह्मबल, क्षत्रबल, और विड्बल। इनमें ब्रह्मबल का नाम विभूति, क्षत्रबल का ऊर्ज्ज और विड्बल का नाम श्री है। इन बलों की विशेष अधिकता जहाँ देखी जाती है, उसे ही ईश्वरावतार माना जाता है :

यद्यद् विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंशसम्भवम्॥

इस भगवद्गीता के पद्य में उक्त तीन बलों के कारण ही ईश्वरांश या ईश्वरावतार मानना बताया गया है। अस्तु; इस अप्रस्तुत विषय का विस्तार करना हम यहाँ नहीं चाहते। उक्त प्रकरण का सारांश यह है कि शरीरात्मा, वैश्वानर, तैजस, कर्मात्मा, चिदाभास, विभूति, ऊर्ज्ज और श्री नाम से भूतात्मा के आठ भेदों का निरूपण हमने यहाँ किया है, जिनका संकेत मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदों में स्थान-स्थान पर मिलता है। इनके अतिरिक्त भूतात्मा का सहचारी एक और हंसात्मा श्रुतियों है बताया गया है :

स्वप्नेन शारीरमसि प्रहृत्यासुप्तः सुप्तानभिचाकशीति।
शुक्रमादाय पुनरेति स्थानं हिरण्मयः पौरुष एष हंसः॥
प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं बहिःकुलायादमृतश्चरित्वा।
स ईयते अमृतो यत्र कामं हिरण्मयः पौरुष एष हंसः॥

तात्पर्य यह है कि पंचीकृत वायु के आधार पर सूर्य-मण्डल से प्राप्त ज्योति के द्वारा विज्ञान-सम्पन्न और चक्र-ज्योति के द्वारा प्रज्ञान-सम्पन्न होकर यह हंसात्मा भूतात्मा के साथ शरीर में रहता है, किन्तु शरीर के अवयव मांस, रुधिर, अस्थि, मज्जा आदि से इसका कोई सम्बन्ध नहीं और कर्मजनित संस्कार भी इसपर नहीं जाते। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति ये अवस्थाएँ इसकी नहीं होतीं। जब भूतात्मा सुषुप्ति-दशा में रहता है, तब भी यह जागता रहता है और सुप्त पुरुषों के शरीर की चौकसी करता है। यह देखा जाता है कि कोई सर्प, वृश्चिक आदि जन्तु आक्रमण करने लगते हैं, तब सोया हुआ मनुष्य एकदम जग पड़ता है अथवा उठने के समय का अवधान करके यदि कोई मनुष्य सोवे, तो नियत समय के आसपास उसे अवश्य चेत हो जाता है। ये सब कार्य इसी हंसात्मा के हैं। सूर्य के प्रकाश से चैतन्य लेने के कारण उक्त श्रुतियों में इसे हिरण्मय कहा गया है—यह शरीर से बाहर निकलकर चन्द्र-मण्डल-पर्यन्त भ्रमण की शक्ति रखता है। यही बात उक्त श्रुतियों में बताई गई है कि यह अपने कुलाय (घोंसले), अर्थात् शरीर से बाहर विचरकर फिर अपने कुलाय में आ जाता है और उसकी रक्षा करता रहता है। बाहर विचरता हुआ भी अपने इष्ट कर्त्तव्यों का पालन करता है। यह उक्त श्रुति में कहा है कि शुक्र का ग्रहण करके यह फिर अपने स्थान में आ जाता है। अपना कार्य-सम्पादन ही शुक्र-ग्रहण है। बहुत लोगों का विचार है कि आजकल टेबिल आदि से जो आत्माओं के आवाहन की प्रक्रिया भारत में और अन्य देशों में भी चल रही है, उसमें यह हंसात्मा ही आता है और अपने स्मरण के अनुसार सन्देश देता है। शरीर के नष्ट हो जाने के अनन्तर भी यह वायु-रूप शरीर में विचरता

रहता है और रूप-ग्रहण का सामर्थ्य भी इसमें होता है। इसके कई एक निदर्शन पुराणादि में प्राप्त हैं। अस्तु; पूर्वोक्त भूतात्मा के आठ भेदों के साथ इसकी भी गणना कर लेने पर नौ भेद भूत-परिस्थति के हो जाते हैं। पाँच देव-परिस्थिति पहले कह चुके हैं और ब्रह्म-परिस्थिति के पूर्वोक्त परात्पर, अव्यय, अक्षर और क्षर इन चारों भेदों को, जो कि सर्वत्र व्याप्त हैं, इसके साथ जोड़ लेने पर जीवात्मा के अठारह आयतन बन जाते हैं। इस प्रकार, आयतन-भेद से ईश्वर और जीव दोनों के अठारह-अठारह भेद का श्रुतियों में विभिन्न स्थानों में विभिन्न प्रकार से उल्लेख प्राप्त होता है, जिसे श्रुतियों का सावधान मनन करने-वाले विद्वान् ठीक ध्यान में ले सकते हैं। क्षरपुरुष की जो पाँच आध्यात्मिक कलाएँ अभी पूर्व बताई गई हैं, उनमें शान्तात्मा का आयतन बीज-चिति से बना है। महान् आत्मा, विज्ञान आत्मा, प्रज्ञान आत्मा और प्राण आत्मा देव-चिति के आधार पर अवस्थित रहते हैं। भूतात्मा भूत-चिति सें सम्बद्ध है। प्रजा और वित्त ये दोनों भूतात्मा के परिग्रह हैं, जो शरीर से बाहर रहते हैं। प्रजा नाम सन्तति का है, और वित्त सम्पत्ति को कहते हैं। वहाँ तक हमारे आत्मा की व्याप्ति है। अतएव, प्रजा और सम्पत्ति की प्राप्ति पर भूतात्मा में विकास और इनकी क्षति पर संकोच होता है, जिसे सुख और दुःख कहते हैं।

इस प्रकार, पुरुषत्रय का संक्षिप्त निरूपण किया गया। यह भी कहा गया कि क्षर-पुरुष का विकास ही यह सम्पूर्ण प्रपंच है। वह विकास किस प्रकार होता है, इसका भी दिग्-दर्शन आवश्यक है।

सूक्ष्म प्रपंच की उत्पत्ति

क्षरपुरुष की सबसे प्रथम कला 'प्राण' नाम की बताई गई है। वह अति सूक्ष्म कला है और अन्य कलाओं की जननी है।

सूक्ष्म कला से सूक्ष्म जगत् बनता है और स्थूल कलाओं से स्थूल। सूक्ष्म जगत् के मुख्य तत्त्व ऋषि, पितृ, देव, असुर और गन्धर्व हैं। 'प्राण' से ही सूक्ष्म जगत् के ऋषि आदि की उत्पत्ति होती है। स्मरण रहे कि ऋषि, पितृ, देव आदि शब्द श्रुति में कई अर्थों में व्यवहृत होते हैं। जगत् के मूल तत्त्व भी ऋषि, पितृ, देव आदि कहलाते हैं, जैसा कि भगवान् मनु ने मनुस्मृति के तृतीय पाद में बताया है :

> ऋषिभ्यः पितरो जाताः पितृभ्यो देवदानवाः।
> देवेभ्यश्च जगत् सर्वं चरस्थाण्वनुपूर्वशः॥

ऋषियों से पितर उत्पन्न हुए, पितरों से देवता और असुर, देवता और असुरों से स्थावर-जंगमात्मक सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ है। यह मनु का कथन श्रुतिमूलक है। शतपथब्राह्मण के षष्ठ काण्ड के आरम्भ में ही कहा गया है कि यह सम्पूर्ण जगत् पहले असत् था, अर्थात् इस रूप में नहीं था। जिज्ञासा होगी कि फिर किस रूप में था? तो इसका उत्तर :

> ऋषयो वाव तेऽग्रे असदासीत्।
>
> (शत० ६।१)

अर्थात्, इस जगत् की पूर्वावस्था में ऋषि थे, उन्हें ही असत् नाम से यहाँ कहा गया है। पुनः जिज्ञासा होती है कि वे ऋषि क्या थे? जो कि सम्पूर्ण जगत् के प्रारम्भ में थे। क्योंकि, मनुष्य-रूप ऋषि तो प्रारम्भ में कैसे हो सकते हैं। तब इस जिज्ञासा का उत्तर वहीं दिया गया है कि 'प्राणा वा ऋषयः', अर्थात् वे ऋषि प्राण-स्वरूप थे। आगे उनके कई विभाग इस प्रकरण में लिखे गये हैं और उनमें देवताओं की उत्पत्ति का भी संकेत है। अस्तु; यहाँ ऋषियों की प्राणरूपता स्पष्ट बताई गई है और उनको ही जगत् के मूलतत्त्व माना है। 'ऋतवः पितरः' इत्यादि श्रुति में ऋतुओं के उत्पादक प्राणतत्त्वों को पितृ कहा गया है, और देवों की प्राणरूपता भी शतपथब्राह्मण में, चौदहवें काण्ड में, जनक के यज्ञ के प्रकरण में, याज्ञवल्क्य और शाकल्य के शास्त्रार्थ में स्पष्ट हो जाती है। शाकल्य ने जब प्रश्न किया कि देवता कितने हैं? तब याज्ञवल्क्य ने अनेक प्रकार से इस प्रश्न का उत्तर[1] दिया—एक, डेढ़, तीन, छह, तैंतीस और तैंतीस सहस्र, तैंतीस लक्ष आदि देवताओं की संख्या बतलाई। पुनः उसका स्पष्टीकरण पूछने पर याज्ञवल्क्य ने विवरण किया कि एक देवता, जो प्राण-स्वरूप है, उसी का आगे विस्तार होता है। प्राण से ही रयि (मैटर) उत्पन्न होती है। इसलिए रयि को प्राण का अर्धभाग मान लें, तो डेढ़ देव हो जाते हैं। पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यु ये तीन देव हैं। इनके अधिष्ठाता अग्नि, वायु और सूर्य को इनके साथ पृथक् गिन दिया जाय, तो लोक और लोकाधिष्ठाता मिलाकर छह देव हो जाते हैं। इनमें अग्नि के आठ भेद हैं, जिन्हें आठ वसु कहा जाता है। वायु के ग्यारह भेद हैं, जो ग्यारह रुद्र कहे जाते हैं। आदित्य के १२ भेद हैं, जो द्वादश आदित्य नाम से प्रसिद्ध हैं। ये सब ३१ हुए, और इनके साथ प्रजापति और इन्द्र नाम की केन्द्र-शक्ति मिला दिये जायँ, तो ३३ देव हो जाते हैं (कहीं प्रजापति और वषट्कार बतलाये गये हैं, वह नाम-भेदमात्र है), इनमें एक-एक के अनन्त कार्य हैं। उस कार्यरूप उपाधि के भेद से इनकी पृथक् गणना की जाय, तो ३३ हजार ३३ लाख वा ३३ कोटि कुछ भी कह सकते हैं। इस प्रकरण से देवों की प्राणरूपता और सर्वजगत् की उत्पादकता स्पष्ट हो जाती है। इसी प्रकार असुर, गन्धर्व की प्राणरूपता भी भिन्न-भिन्न प्रकरणों से सिद्ध होती है। अब, इन तत्त्वों की जिन प्राणियों में प्रधानता है, वे लोकान्तरों के (पृथ्वी से ऊपर के स्वर्ग आदि लोकों के) प्राणी भी इन्हीं नामों से कहे जाते हैं, और तारामण्डलों में जहाँ-जहाँ ये तत्त्व प्रधान रूप से मिलते हैं, उन ताराओं को भी ऋषिदेव आदि नामों से, और उनके अवान्तर भृगु, वसिष्ठ, इन्द्र, वरुण आदि नामों से भी कहा जाता है, एवं इन तत्त्वों के आविष्कारक मन्त्रद्रष्टा मनुष्यविशेष भी ऋषि और देव कहे जाते हैं। इस प्रकार, इनकी अनेक-

---

१. अथ हैनं विदग्धः शाकल्यः पप्रच्छ कति देवा याज्ञवल्क्येति। स हैतयैव निविदा प्रतिपेदे यावन्तो वैश्वदेवस्य निविद्युच्यन्ते त्रयश्च त्री च शता, त्रयश्च त्री च सहस्रेत्योमिति होवाच। कत्येव देवा याज्ञवल्क्य, त्रयस्त्रिंशदित्योमिति होवाच। कत्येव देवा याज्ञवल्क्य, षडित्योमिति होवाच। कत्येव देवा याज्ञवल्क्य, त्रय इत्योमिति होवाच। कत्येव देवा याज्ञवल्क्य, द्वावित्योमिति होवाच, एक इत्योमिति होवाच, अध्यर्ध इत्योमिति होवाच इत्यादि।

—बृहदारण्यक-उपनिषद् : अध्याय ५, ब्राह्मण ९, कण्डिका १।

रूपता श्रुतियों से और स्मृति-पुराणों से सिद्ध है। मुख्य ऋषि, पितृ, देव आदि प्राण-रूप ही हैं। उनके सम्बन्ध से ही इन नामों का अन्यत्र भी व्यवहार हुआ है। इनमें ऋषि ७, पितृ ६, देव ३३, असुर ९९ और गन्धर्व २७ हैं। ये पूर्ण प्रजापति के रूप हैं। अतएव, इनका आयतन पूर्णवृत्त-मण्डल (गोलाकार)-रूप होता है। अक्षरपुरुष के निरूपण में बताई गई प्रक्रिया के अनुसार जब इन्द्र अक्षरपुरुष के द्वारा चारों ओर प्राण प्रसारित किये जाते हैं, तब एक तरफ जानेवाले प्राणों का समूह, एक मनु नाम का प्राण पृथक् बन जाता है। वह वृत्ताकार नहीं होता। एक तरफ जानेवाला अर्द्ध वृत्ताकार प्रलम्ब-रूप में बनता है, इसे अर्द्धेन्दु कहते हैं। इसके भी दो भेद होते हैं: एक आग्नेय प्राण और दूसरा सौम्य प्राण। आग्नेय प्राण पुरुष कहे जाते हैं, और सौम्य प्राण स्त्री। इन्हीं की प्रधानता से प्राणियों में पुरुष और स्त्री ये दो भेद हो जाते हैं। इसी आशय को श्रुति ने बताया है: "प्रजापति ने अपने शरीर को दो भागों में विभक्त किया। वे दोनों पति-पत्नी-रूप हुए। इसीलिए, पुरुष और स्त्री एक चने की दो दाल की तरह आधे-आधे हैं। इनमें प्रत्येक पृथक् सृष्टि करने में असमर्थ है। विवाह द्वारा जब दोनों संयोजित किये जाते हैं, तब उस पुरुष के अर्द्धभाग को स्त्री पूर्ण कर देती है, और वे दोनों मिलकर यज्ञ के अधिकारी और सृष्टि में समर्थ हो जाते हैं।"[1] इसीलिए, प्राणियों की सृष्टि मैथुनी सृष्टि कहलाती है। मिथुन नाम दो का है। दो के योग से जो सृष्टि हो, वह मैथुनी सृष्टि हुई।

इस मनु-प्राण के भी पाँच भेद हैं: पुरुष (मनुष्य), अश्व, गो, अज और अवि, जैसा कि क्षरपुरुष विराट्की सृष्टि बताते हुए पुरुषसूक्त में आनात है:

तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः॥

(ऋ०, १०।९०।१०)

इसका पूर्वोक्त ही आशय है कि विराट् से अश्व, दोनों तरफ दाँतवाले (मनुष्यादि), गो, अज और अवि उत्पन्न हुए। आजकल के कई विद्वान् इससे यह कल्पना करते हैं कि वैदिक काल में आर्यों को चार ही पशुओं (अश्व, गो, बकरा और भेड़) का परिचय था। अन्य पशुओं को वे नहीं जानते थे। अतएव, मन्त्र में चार का ही नाम लिया है। किन्तु, वैदिक परिभाषा को जो समझते हैं, उनकी दृष्टि में यह कल्पना निरी उपहासास्पद है। वेद ने तो प्राणों के विस्तार के प्रसंग में पाँच नाम लिये हैं, जिसका यह आशय है कि मनु-प्राण पाँच प्रकार का ही होता है। उनके ही परस्पर-सम्बन्ध और तारतम्य से अनन्त प्राणी बन जाते हैं। इसीलिए, इनके ही सम्बन्ध से रासभ आदि का नाम भी शतपथ आदि ब्राह्मणों में स्पष्ट लिया गया है। मन्त्र-संहिताओं में भी ग्राम और आरण्यक पशुओं के नाम बहुधा प्राप्त होते हैं:

---

१. स वै नैव रेमे, तस्मादेकाकी न रमते। स द्वितीयमैच्छत्। स हैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ। स इममेवात्मानं द्वेधाऽपातयत्ततः पतिश्च पत्नी चाऽभवतां, तस्मादिदमर्द्धवृगलमिव स्व इति ह स्माह याज्ञवल्क्यः, तस्मादयमाकाशः स्त्रिया पूर्यते।

—बृहदारण्यकोपनिषद्, अध्याय ३, ब्राह्मण ४, कण्डिका ३।

महिषासो मायिनश्चित्रभानवो गिरयो न स्वतवसो रघुष्यदः ।
मृगा इव हस्तिनः खादथा वना यदारुणीषु तविषीरयुग्ध्वम् ॥

(ऋ०, १।६४।७)

इस एक मन्त्र में महिष, मृग, हस्ती आदि कई पशुओं के नाम आये हैं :

प्रहित्वा पूषन्नजिरं न यामनि स्तोमेभिः कृण्व ऋणवो यथा
मृध उष्ट्रो न पीपरो मृधः । (ऋ० १।१३८।२),
उदानट् ककुहो दिवमुष्ट्रान् चतुर्युजो ददत् ।
श्रवसा याद्वं जनम् । (ऋ० ८।६।४८)
इत्यादि में उष्ट्र का नाम बहुधा आया है ।
या व्याघ्रं विषूचिकोभौ वृकञ्च रक्षति ।
श्येनं पतत्त्रिणं सिंहम् । (यजुः, १९।१०)
इसमें व्याघ्र, वृक, सिंह आदि के भी नाम स्पष्ट हैं

इससे यह सिद्ध नहीं होता कि चार या पाँच पशुओं का परिचय ऋषियों को था । वेद की परिभाषा न जानने के कारण ही वेद के सम्बन्ध में ऐसी ऊटपटाँग कल्पनाएँ बहुत चल रही हैं । अस्तु; अपने प्रसंग पर आइए । अब हम ऋषि, पितृ और देव का संक्षिप्त विवरण उदाहरण-रूप में कर देते हैं ।

ऋषि

कहा जा चुका है कि क्षरपुरुष की जो प्रथम कला प्राण नाम से कही गई है, उसका प्रथम रूप ऋषि ही है । इसमें शतपथब्राह्मण का प्रमाण भी पूर्व उद्धृत कर चुके हैं । इन ऋषियों के सम्बन्ध में शतपथब्राह्मण के षष्ठ काण्ड के आरम्भ[1] में ही बताया गया है कि ये सात रूप में विभक्त होकर रहते हैं । इनमें दो-दो मिलकर चार मध्य में रहा करते हैं और दो उनके पक्ष-रूप से बाहर निकले रहते हैं ।[2] मन्त्र में भी इन सातों की स्थिति का संकेत है। यही पक्षियों में पक्ष पैदा कर देते हैं, इसलिए सामान्यतः इन दो को पक्ष ही कहा जाता है और एक पुच्छ-रूप से अकेला नीचे को लटक जाता है और इन सातों का सार भाग श्री-रूप से ऊपर निकलकर शिर के रूप में बन जाता है । वह सबकी श्री है, इसीलिए उसका नाम शिर हुआ है । इसका निदर्शन अपने-अपने शरीर में देखिए । मनुष्य के शरीर में चार पृथक्-पृथक्

---

१. स योऽयं मध्ये प्राणः एष एवेन्द्रस्तानेष प्राणान्मध्यत इन्द्रियेणैन्ध, यदैन्ध, तस्मादिन्ध, इन्धो ह वै तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षं, परोक्षं कामा हि देवास्त इद्धा सप्त नाना पुरुषानसृजन्त । तेऽब्रुवन् न वा इत्थं सन्तः शक्ष्यामः प्रजनयितुमिमान्त्सप्त पुरुषानेकं पुरुषं करवामेति, त एतान्त्सप्त पुरुषानेकं पुरुषमकरोत् ।

—शतपथ०, काण्ड ६, अध्याय १, ब्राह्मण १ ।

२. साकञ्जानां सप्तथमाहुरेकजं षडिद्यमा ऋषयो देवजा इति ।
तेषामिष्टानि विहितानि धामशः स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः ॥

—ऋग्वेद-संहिता, १।१६४।१५ ।

विभाग हैं, जो चार गुहा नाम से कहे जाते हैं। सबसे ऊपर शिरोगुहा, दूसरी उरोगुहा, तीसरी उदर-गुहा और चौथी पाद-गुहा। इन चारों गुहाओं में उक्त प्रकार से सात-सात प्राणों की स्थिति है और उनकी श्री के रूप में एक ऊपर निकला हुआ है। शिरोगुहा में दो आँख, दो नासिका के छिद्र, ये चार आत्मा-स्थान में हैं। दो कान पक्षरूप से बाहर निकले हुए हैं और एक मुख पुच्छ के स्थान में नीचे चला गया है। इन सातों की श्री से सबका सार भाग ब्रह्मरन्ध्र है, जिसका सूर्य-प्राण से निरन्तर आवागमन-सम्बन्ध है और जिसपर ध्वजा-रूप शिखा हम लोग रखा करते हैं। वही इन सातों का सार है और सबको बल देता है। ये शरीर के जो अवयव यहाँ बताये गये, वे उन आठ प्राणों के आयतन, अर्थात् स्थान हैं। इनमें बैठकर काम करनेवाली शक्तियाँ प्राण के भेद हैं। इसी प्रकार आगे की गुहाओं में भी स्थानों का निर्देश किया जायगा। उनसे उनमें रहनेवाली प्राण-शक्तियाँ समझ लेना उचित होगा। दूसरी उरोगुहा में दो फुपफुस (फेफड़े), दो स्तन ये चार आत्म-स्थानीय हैं। पक्ष-रूप दो हाथ बाहर निकले हुए हैं। पुच्छ-रूप हृदय नीचे की ओर लटक गया है और सातों की श्री कण्ठ-कूप है। वहाँ भी एक प्राण प्रतिष्ठित रहता है, वही मुख्य है। उसपर आघात लगते ही मनुष्य की शीघ्र मृत्यु हो जाती है। यहाँ पुच्छ कहने से उस प्राण की अवज्ञा न समझी जाय। श्रुति ने पुच्छ को प्रतिष्ठा-रूप कहा है। उसके ही आधार से स्थिति होती है। विना उसपर अवलम्ब दिये, कोई प्राणी बैठ नहीं सकता। तीसरी, उदर-गुहा में दो क्लोम, दो यकृत् और प्लीहा आत्मस्थानीय हैं, दो पार्श्व पक्ष-रूप से कुछ बाहर की ओर निकले हैं। सातवीं नाभि पुच्छ-रूप से नीचे को लटकी है। इन सातों की श्री हृदय ही है, जो कि पूर्वगुहा के पुच्छ के साथ मिल गया है। चौथी, पादगुहा में मूत्रेन्द्रिय एवं दो अण्डकोश ये चार आत्मस्थानीय हैं, पक्ष के स्थान में दो पैर बाहर निकल गये हैं और पुच्छ-रूप में सातवीं प्रतिष्ठा-रूप मलत्यागेन्द्रिय है। सातों की श्री के रूप में मस्तकस्थानीय वही नाभि है, जो पूर्वगुहा के पुच्छ के साथ सम्मिलित हो गई है। यह पुरुष-शरीर की स्थिति एक दृष्टान्त-रूप है। इसी प्रकार, समस्त पदार्थों में ऋषि-प्राणों की स्थिति है और इसका ज्ञान प्राप्त कर लेनेवाले उन सारे पदार्थों से आध्यात्मिक भाग में बहुत-कुछ सहायता ले सकते हैं। ये ही क्रम से देवता-रूप में परिणत हो जाते हैं, जैसा कि आत्मस्थानीय प्राणों को इन्द्र कहा जाता है, अर्थात् वे इन्द्र देवता के आविर्भावक हैं और पुच्छस्थानीय प्राण को वाक् या अग्नि कहते हैं, वही अग्नि देवता की आविर्भावक है।

यह प्राण-रूप ऋषियों का विवरण हुआ। तारा-मण्डल में ध्रुव के चारों ओर घूमनेवाले जो सप्तर्षि नाम के सात बड़े-बड़े तारे दिखाई देते हैं, उनकी भी स्थिति इसी प्रकार है। उनमें चार एक चतुष्कोण बनाकर आत्मा-रूप से अवस्थित हैं। दो पक्ष-रूप से अलग बाहर निकले हैं और एक पुच्छ-रूप में नीचे को झुका है। पूर्वोक्त ऋषि-प्राणों की इन ताराओं में बहुलता है, यही परीक्षा करके इन्हें सप्तर्षि-नाम दिया गया है। इनके नाम पूर्व दिशा से आरम्भ कर क्रमशः १ मरीचि, २ वसिष्ठ, ३ अंगिरा (ये ३ त्रिकोण में) ४ अत्रि, ५ पुलस्त्य, ६ पुलह, ७ क्रतु (चतुष्कोण में), ये शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं। इन्हीं नामों के मनुष्य-

विशेष भी ऋषि कहलाये हैं, जो इन तत्त्वों के आविष्कारक थे। इनके अतिरिक्त आकाश-मण्डल के मध्य में विषुवत् वृत्त के समीप भी मत्स्य, वसिष्ठ और अगस्त्य नाम के तारे ऋषि कहलाते हैं। अगस्त्य दक्षिण में अधिष्ठित माने जाते हैं, वसिष्ठ उत्तर में और मत्स्य मध्य में। यही अगस्त्य ऋषि समुद्र का पान करनेवाले पुराणों में बताये गये हैं। इस कथा का आशय यही है कि वर्षाकाल का अन्त समीप होने पर इस अगस्त्य तारा का दर्शन होता है और उदित होते ही अन्तरिक्ष में जो सूक्ष्म जल भरा रहता है, उसे यह सोख लेता है, और शीघ्र ही वर्षा बन्द हो जाती है। अन्तरिक्ष का भी नाम वैदिक परिभाषा में समुद्र है, उसी समुद्र का शोषण इस तारा से होता है। इसलिए, अगस्त्य ने समुद्र-पान किया, यह कथा अवश्य सुसंगत है। किन्तु, कोई मनुष्याकारधारी अगस्त्य नाम का व्यक्ति इस पार्थिव समुद्र को अपने चुल्लू से पी गया, ऐसा समझना भ्रान्ति कही जायगी। इन तारा-मण्डलों के अतिरिक्त मनुष्यों से भी ऋषि तीन प्रकार के कहलाते हैं: सृष्टि-प्रवर्त्तक, गोत्र-प्रवर्त्तक और मन्त्र-प्रवक्ता। इनका भिन्न-भिन्न वर्णन धर्मशास्त्र और पुराणों में विस्तार से है, और गोत्रप्रवर्त्तक ऋषियों के नाम से ही आज भी द्विजातियों के गोत्र चलते हैं।

पितृ-विचार

जैसा कि पहले भृगु और अंगिरा के निरूपण में स्पष्ट कर चुके हैं, ऋषि-प्राण से आगे दो विभाग हो जाते हैं। एक सौम्य प्राण, दूसरा आग्नेय प्राण। यद्यपि दोनों में दोनों अंश सम्मिलित हैं, परन्तु प्रधानता से व्यवहार हुआ करता है। इसलिए, सोम-तत्त्व की जिनमें प्रधानता है, वे सौम्य-प्राण कहलाते हैं, और अग्नि-तत्त्व की प्रधानतावाले आग्नेय-प्राण कहलाते हैं। अग्नि और सोम अक्षरपुरुष की कलाएँ हैं, इन्हीं की प्रधानता से क्षरपुरुष में आग्नेय प्राण और सौम्य प्राण विभक्त होते हैं और आगे यही अग्नि और सोम के जनक होते हैं। इन अग्नि और सोम को क्षरपुरुष की कलाओं में अन्नाद और अन्न नाम से कह चुके हैं। इनमें सौम्य-प्राण पितृ-प्राण कहलाते हैं और आग्नेय-प्राण देव। सोम-प्रधान वस्तुओं में इन सौम्य-प्राणों का अधिक सम्बन्ध रहता है और अग्नि का प्रज्वलन भी सोम की आहुति से ही होता है। इन सब विषयों का संकेत करने के लिए आठ प्रकार के पितृ-गण में अग्निष्वात्ता, बर्हिषद्, आज्यपा, सोमपा, ऊष्मपा आदि नाम-निर्देश हैं। जो अग्नि में गृहीत होकर अग्नि के प्रज्वलन का कार्य करते हैं, वे अग्निष्वात्ता कहे जाते हैं। उनका वर्णन श्रुतियों में किया गया है कि 'यानग्निरेव दहन् स्वदयति', अर्थात् अग्नि जिनका दाह करता हुआ स्वाद लेता है, वे अग्निष्वात्ता हैं। बर्हि, अर्थात् कुशाओं में अनुप्रविष्ट पितृ-प्राण बर्हिषद् कहलाते हैं। घृत में रहनेवाले आज्यपा, सोम में रहनेवाले सोमपा, अन्न की उष्णता को जो पी जाते हैं, अर्थात् समाप्त कर देते हैं, वे ऊष्मपा इत्यादि हैं। इन सौम्य-प्राणों के सम्बन्ध से ही ऋतुओं में परिवर्तन होता है, इसलिए 'ऋतवः पितरः' (ऋतु ही पितर हैं), यह भी श्रुतियों में कहा गया है, और उनमें भी सोम-तत्त्व प्रबल होकर अग्नि-तत्त्व को जिन ऋतुओं में दबा देता है, वे शरत्, हेमन्त, शिशिर ऋतुएँ विशेष कर पितृ-सम्बन्धी ऋतुएँ मानी जाती हैं। इसी कारण से शरद् ऋतु के आरम्भ में हमारे यहाँ पितृ-पक्ष माना जाता है और पितरों की तृप्ति के लिए उस समय श्राद्ध किये जाते हैं। उसी समय से पितृ-

सम्बन्धी ऋतुओं का आरम्भ होता है। यह ऋतुओं का वर्णन हम आगे देव-निरूपण में करेंगे। इसी प्रकार, मनुष्य के शरीर में अन्न का रस, रुधिर, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा-रूप में होकर सातवाँ परिणाम शुक्र होता है, इसमें भी सौम्य प्राण की प्रधानता है। अतः, वह भी पितृ-नाम से कहा जायगा; क्योंकि वही भाग तो पुत्रादि के नये शरीर का उत्पादक बनता है।

पूर्वोक्त ऋषि आदि की तरह पितरों और उनके विशेष नामों में भी भिन्न-भिन्न प्रक्रियाएँ हैं। अभी हमने जिन पितरों का विवरण किया, वे प्राण-रूप पितर हैं। इन प्राणों की जिनमें प्रधानता है, वे चन्द्रलोक आदि के प्राणी भी पितर कहे जाते हैं। कह चुके हैं कि सोमतत्त्व की प्रधानतावाला पिण्ड चन्द्रमा ही है, अतः सौम्य प्राण जिनमें प्रधान है, वे प्राणी चन्द्र-मण्डल या उसके आसपास के लोकों में ही रहते हैं। उनमें भी फिर दो प्रकार के भेद हो जाते हैं, जिन्हें दिव्य पितर और प्रेत पितर नाम से संकेतित किया गया है। जो चन्द्र-मण्डल या उसके आसपास के लोकों में सृष्टि के आदि से रहते हैं, वे दिव्य पितर कहे जाते हैं और मनुष्य-लोक से मरकर जो पितर उन लोकों में पहुँचते हैं, उन्हें प्रेत-पितर नाम से सम्बोधित किया जाता है। वे वहाँ स्थायी नहीं रहते। आवागमन के चक्र में रहते हैं, जैसा कि अभी आगे निरूपण करेंगे। इनके अतिरिक्त विशेष विद्वत्ता के कारण मनुष्य-वर्ग में भी पितर माने गये हैं।

स्मृति और पुराणों में पितरों की उत्पत्ति की तीन प्रकार की प्रक्रियाएँ मिलती हैं। मनुस्मृति में कहा गया है कि 'ऋषियों से पितर होते हैं और पितरों से देव और असुर।' याज्ञवल्क्य-स्मृति में कहा है कि :

वसुरुद्रादितिसुताः 'पितरः' श्राद्धदेवताः।

इसका आशय है कि वसु, रुद्र और आदित्य नाम के जो देवता हैं, वे ही पितर हैं और हरिवंश के पितृ-कल्प के आरम्भ में एक कथा है कि किसी समय देवता लोग वेद भूल गये। उन्होंने जब प्रजापति से निवेदन किया कि हम लोगों को वेद विस्मृत हो गया, तब प्रजापति ने उन्हें आदेश दिया कि तुम अपने पुत्रों से पढ़ लो। उनके पुत्र वेदों के विद्वान् थे। उनसे पिताओं ने पढ़ा। पुत्रों ने उन्हें पढ़ाकर उनसे कहा कि 'पुत्रो! जाओ, अब तुम विद्वान् हो गये।' तब उन्हें चित्त में खेद और क्रोध हुआ, वे फिर प्रजापति के पास गये और उनसे कहा कि हमारे पुत्रों ने हमें पुत्र कहा—ऐसा विपरीत भाव का अनर्थ क्यों? इस-पर प्रजापति ने उन्हें समझाया कि जो तुम्हारे पुत्रों ने कहा, वह ठीक ही है; क्योंकि ज्ञान-प्रदाता पिता होता है, और उससे सीखनेवाला पुत्र। जब तुमने उनसे विद्या प्राप्त की, तो वे पिता हो गये। अब वे लोग पितृ-नाम से ही प्रसिद्ध होंगे और तुमलोग देव-नाम से कहे जाओगे। इस कथा का संकेत मनुस्मृति में भी है।[1]

---

१. अध्यापयामास पितॄन् शिशुराङ्गिरसः पुरा।
पुत्रका इति होवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान्॥
ते तमर्थमपृच्छन्त देवानागतमन्यवः।
देवाश्च तान् समेत्योचुर्न्याय्यं वः शिशुरुक्तवान्॥ इत्यादि। —मनु०, अ० २।

इन निरूपणों में परस्पर विरोध प्रतीत होता है । मनु के पूर्वकथन के अनुसार पितर देवों के उत्पादक हैं । याज्ञवल्क्य की उक्ति के अनुसार पितर और देवता एक हैं एवं हरिवंश की कथा के अनुसार पितर देवताओं से उत्पन्न हुए हैं । ऐसी बातों का समाधान भगवान् यास्क ने किया है कि प्राण-रूप देवता आदि में एक दूसरे के जनक और कहीं उससे उत्पन्न हुआ करते हैं । क्रमिक धारा में एक से दूसरे की उत्पत्ति होती रहती है, इसमें सन्देह नहीं । तत्त्वों में ऐसी बात प्रत्यक्ष भी देखी जाती है । अग्नि से जल उत्पन्न होता है—प्रचण्ड ग्रीष्म में अग्नि की अधिकता होने पर वह जल-रूप में परिणत हो नीचे गिर जाता है, जिसे वर्षा कहते हैं और वही जल फिर बाष्प-रूप होकर उड़ जाता है, तो अग्नि जल का उत्पादक भी हुआ और उससे उत्पन्न होनेवाला भी । इसी प्रकार, कहीं वायु से जल बनता है, कहीं जल फिर वायु-रूप हो जाता है । इस प्रकार, भौतिक तत्त्वों में परस्पर जन्य-जनक-भाव प्रत्यक्ष देखा जाता है । इसी प्रकार, प्राण-रूप देव, पितृ आदि में परस्पर जन्य-जनक-भाव हुआ करता है । पितृ-प्राण से जब देव-प्राण बन गये, तब वे पितृ-प्राण देव-प्राण में ही अनुप्रविष्ट हो गये । इसलिए, भगवान् याज्ञवल्क्य ने देवों को ही पितर कहा, तो इसमें कोई विरोध नहीं हो सकता; क्योंकि देव-प्राण में अनुप्रविष्ट होने के कारण पितृ-प्राण इस समय देव ही कहे जा सकते हैं । आगे यदि कोई वैज्ञानिक प्रक्रिया से पितृ-प्राणों को पृथक् निकालना चाहे, तो वह देव-प्राणों में से ही निकालेगा । जैसे, जल आदि तत्त्व विद्युत् से ही बने हैं, किन्तु जब हमें विद्युत् की आवश्यकता होती है, तब जल में से ही निकालते हैं । इसलिए, अब उसे जल से उत्पन्न भी कह सकते हैं । यों, तत्त्वों में परस्पर जन्य-जनक-भाव होता रहता है, इसमें सन्देह का कोई स्थान नहीं ।

कई विद्वान् पूर्वोक्त शंका का समाधान इस प्रकार भी करते हैं कि प्राण-रूप पितृ और देवों में मनु का क्रमस मझना चाहिए । अर्थात्, पितृ-प्राण से ही देव-प्राण उत्पन्न होता है और श्राद्ध-कर्म की प्रक्रिया में देवता ही पितृ-रूप हैं; क्योंकि वे ही अपने अन्तर्गत प्रेत-पितरों का पालन किया करते हैं और मनुष्य-रूप पितरों में जो अधिक विद्वान् हैं, वे ही अपने से बड़ों के भी पितर कहलाते हैं । इस प्रकार, विषय-भेद से परस्पर विरोध नहीं है । अस्तु ।

प्रेत-पितृ-निरूपण

(मृत्यु के अनन्तर की दशा)

मृत्यु के अनन्तर इस लोक से पितृलोक में मनुष्य किस प्रकार जाते हैं, फिर वहाँ से कैसे लौटते हैं, इस आवागमन-प्रक्रिया का पूर्ण विवरण सामवेद के ताण्ड्यमहाब्राह्मण के छान्दोग्य-उपनिषद्-भाग में स्पष्ट (पंचम प्रपाठक, तृतीय खण्ड से दशम खण्ड तक) किया गया है, वहाँ मृत्यु के अनन्तर तीन प्रकार की गति बतलाई गई है : अर्चिर्मार्ग, धूममार्ग और दोनों से अतिरिक्त तीसरी उत्पत्ति-विनाश-मार्ग । पूर्व के दो मार्गों को ही देवयान और पितृयान-मार्ग कहा जाता है । आत्मनिरूपण में हमने स्पष्ट किया है कि शरीर से निकलकर जानेवाली देवचिति-रूप क्षरपुरुष की कला है, जिसमें प्राणात्मा, प्रज्ञानात्मा, विज्ञानात्मा और महानात्मा सम्मिलित रहते हैं । दार्शनिक भाषा में इस देव-चिति का सूक्ष्मशरीर

नाम से निर्देश किया जाता है। मुख्य नित्य विभु आत्मा जिसे कहते हैं, वह तो व्यापक है। वह कहीं जा-आ नहीं सकता और स्थूल शरीर की यही प्रत्यक्ष तीन गतियाँ देखी जाती हैं, जिन्हें कृमि-कीट और भस्म नाम से वैराग्यशास्त्रवाले कहा करते हैं, अर्थात् यदि अग्नि में स्थूल शरीर जला दिया गया, तो भस्म-रूप हो जाता है। यदि कोई मांसाशी जन्तु उसे खा गया, तो विष्ठा-रूप होकर उसके उदर से निकलेगा। और, यदि कोई स्थूल शरीर पड़ा ही रह गया, या भूमि में गाड़ दिया गया, तो वह कृमि (कीड़ों) के रूप में परिणत हो जाता है, अर्थात् उसमें हजारों कीड़े-ही-कीड़े पड़ जाते हैं। अस्तु; कहना यही है कि न स्थूल शरीर कहीं जाता-आता है और न मुख्य विभु आत्मा; क्योंकि व्यापक में गति हो ही नहीं सकती। तब शरीर से निकलकर लोकान्तर वा जन्मान्तर में जानेवाला सूक्ष्म शरीर ही है, जिसमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण, मन और बुद्धि यह १७ तत्त्व सम्मिलित हैं। इन्हीं में रहनेवाले चैतन्य का प्राणात्मा, प्रज्ञानात्मा आदि नामों से हमने पूर्व में निरूपण किया है। अब वैज्ञानिक प्रक्रिया से विचारना चाहिए कि यह सूक्ष्म शरीर कहाँ जायगा? वैज्ञानिकों की प्रक्रिया कई बार हम बता आये हैं कि विज्ञान में सजातीय आकर्षण-सिद्धान्त मुख्य माना जाता है। प्रत्येक वस्तु अपने सजातीय घन की ओर स्वभावतः जाती है। व्यष्टि समष्टि की ओर जाया करती है। जैसे, मिट्टी का ढेला पृथ्वी की ओर आता है। उक्त १७ तत्त्वों में मन प्रधान है, और वह चन्द्रमा का अंश है, इसलिए चन्द्रमा के आकर्षण में बँधकर वह चन्द्रलोक में ही पहुँचेगा, वही दिव्य पितरों का निवास है, वही मुख्य पितृलोक है, इसलिए स्वभावतः मृत पुरुषों की पितृलोक-गति सिद्ध हुई। किन्तु, यदि मन की प्रधानता न रहे और सूक्ष्म शरीर का कोई और ही भाग प्रधान बन जाय, तो फिर उसके अनुसार गति होगी। मन के अनुसार चन्द्रलोक-गति नहीं बनेगी। मन की प्रधानता दो प्रकार से दबती है। जो तपस्वी, योगी या प्रबल उपासक होते हैं, वे विज्ञानात्मा या बुद्धि-शक्ति को प्रबलकर मन को दबा देते हैं। विज्ञानात्मा या बुद्धि-तत्त्व सूर्य का अंश है, इसलिए वैज्ञानिक प्रक्रिया के अनुसार बुद्धि-प्रधान होने के कारण उनपर सूर्य का आकर्षण हो जाता है और वे सूर्य-मण्डल की ओर चल पड़ते हैं। सूर्य-मण्डल देवप्राणों की समष्टि है, और स्वयं प्रकाशमान है, इसलिए इस मार्ग को देवयान-मार्ग या अर्चिमार्ग भी कहा गया है। तीसरी गति जघन्य है। पृथ्वी के पदार्थ धन, पशु, गृह आदि में ही जिसका मन अधिक फँस गया, वहाँ पृथ्वी का आवरण मन पर चढ़ जाता है और जैसे तुम्बे में तैरने की शक्ति होने पर भी यदि उसे मिट्टी से खूब लपेट दिया जाय, तो जल के ऊपर आने की शक्ति उसकी दब जाती है। वह जल में डूब जाता है। इसी प्रकार, पार्थिव वस्तुओं की वासना प्रबल होने पर मन की शक्ति दब जाती है, और चन्द्रलोक-गति उसकी नहीं बनती। भूमि के पदार्थों की वासना प्रबल होने के कारण भूमि का ही आकर्षण उस सूक्ष्म शरीर पर पड़ता है, और वह भूमि में बार-बार उत्पन्न होनेवाले और दिन में सैकड़ों बार मर जानेवाले कीट-पतंगों के प्रवाह में पड़ जाता है, इसे ही श्रुति में 'जायस्व म्रियस्व' कहकर तीसरी गति बताई गई है। जिसका अर्थ है कि बार-बार पैदा होना और मरते जाना। श्रुति और शास्त्रों ने इस गति को बहुत ही बुरी गति माना है। इससे उद्धार पाना बहुत ही कठिन है। यहाँ जीव अपने-आप

कुछ कर नहीं सकता। चौरासी के चक्र में पड़ा रहता है, प्रकृति-माता की ही जब कभी कृपा हो, तब वह क्रम से निकलता-निकलता कालान्तर में मनुष्य-योनि तक आ पाता है। इसीलिए, भारतीय संस्कृति में सब लोग कहा करते हैं कि मृत्यु के समय भूमि के पदार्थों में मोह करानेवाली बातें उस मुमूर्षु के समीप नहीं करनी चाहिए। उसे मोह से छुड़ाने के लिए जहाँतक बने, भगवान् का स्मरण ही कराना चाहिए।

इसी विषय को वैदिक परिभाषा में इस प्रकार कह सकते हैं कि विद्या और कर्म ये दोनों आत्मा के साथ रहते हैं : "तं 'विद्याकर्माणी' समन्वारभेते 'पूर्वप्रज्ञा' च" (श्रुति)। अर्थात्, विद्या और कर्म एवं पूर्वसंस्कार आत्मा के साथ चलते हैं। बुद्धि के दो भेद शास्त्रों में माने गये हैं : सत्त्वप्रधान, और तमःप्रधान। सत्त्वप्रधान बुद्धि के चार रूप होते हैं। ज्ञान (विद्या) वैराग्य, ऐश्वर्य और धर्म एवं तमःप्रधान बुद्धि के भी इनके विपरीत चार रूप होते हैं : अविद्या (अज्ञान), अवैराग्य (राग और द्वेष), अनैश्वर्य (अस्मिता) और अधर्म (अभिनिवेश)। इनमें सामान्य रूप से सात्त्विक रूपों को विद्या और तामस रूपों को अविद्या कहा जाता है। अविद्या का ही कर्म नाम से भी श्रुतियों में व्यवहार है; क्योंकि आत्मा को कर्म में प्रवृत्त करने के कारण वे अविद्या के ही चार रूप होते हैं, वे कर्म के कारण होने से कर्म शब्द से कहे जाते हैं। विद्या और कर्म इन दोनों धर्मों का इस गति से अधिक सम्बन्ध है। विशेषतः, इस आत्मा में जितना कर्म का कषाय बढ़ता जाता है, उतना ही आत्मा कषाय के परतन्त्र होकर उसीके अनुसार न्यूनाधिक ऊपर-नीचे गति पाता है। किन्तु, विद्या या ज्ञान की वृद्धि से वह कषाय निवृत्त होकर आत्मा को विशुद्ध बनाता है, तो उस समय आत्मा का निज-स्वरूप जो विद्या है, वह प्रबल हो जाती है, जिससे आत्मा व्यापक बन जाती है और आत्मा का गति-क्रम भी जाता रहता है। तात्पर्य यह है कि जबतक आत्मा में विद्या और कर्म इन दोनों का न्यूनाधिकता से समुच्चय रहता है, तबतक आत्मा की गति होती है, जिसमें विद्या की अधिकता से ब्रह्मगति या स्वर्ग-गति और कर्म की अधिकता से पितृगति या नरक-गति होती है। इन दोनों दशाओं में आत्मा विद्या और कर्म से युक्त रहता है। किन्तु, यदि इस प्राणी के बहुत छोटे निकृष्ट कर्मों की इतनी प्रबलता हो जाय कि जिसे आत्मा की विद्या का अत्यन्त न्यून आभास होता हो अथवा सर्वथा नष्ट हो गया हो, तो इन दोनों दशाओं में आत्मा अत्यन्त दुर्बल और कर्म के कषाय का भार अत्यन्त प्रबल हो जाने से भी आत्मा की ऊर्ध्वगति वा अधोगति दोनों बन्द हो जाती है। इन दोनों में विद्या का आभास रहने की दशा में नीचे के वे क्षुद्र जीव उत्पन्न होते हैं, जिनमें अस्थि नहीं होती। जैसे : दंश (डाँस), मशक (मच्छर), यूक (जूँ), लिक्ष (लीख), मत्कुण (उटकन, खटमल) आदि और दूसरे, जिनमें विद्या का कुछ भी आभास नहीं है, कर्म के दबाव से सर्वथा विद्या का आवरण रहता है, वह सूनी हुई आत्मा ओषधि या वनस्पति-रूप में चली जाती है। जिनका पौधा फल देकर नष्ट हो जाता हो, वे चावल, गेहूँ, जव आदि ओषधि कहलाते हैं और जिनका वृक्ष तो चिरस्थायी रहे, किन्तु फल नष्ट हो जाते हों, वे (आम, अमरूद, केला आदि) वनस्पति कहलाते हैं। ये भी जीव की योनियाँ हैं, किन्तु इनमें चैतन्य अत्यन्त ही दबा

हुआ है। इन दोनों प्रकार के जीवों की अगति होती है। अर्थात्, ये जीव इस पृथ्वी में जनमते-मरते योनि बदलते रहते हैं। किन्तु, पृथ्वी को छोड़कर ऊपर को सबसे समीप चन्द्रमा में भी नहीं जाते और न कहीं नीचे के लोकों में जाते हैं। यदि ये अगतिवाले जीव भी दैवयोग से ऐसा सुयोग प्राप्त करें कि धीरे-धीरे ऊँचे वृक्ष, गूलर इत्यादि उत्पन्न होकर कुछ-कुछ अंशों में कृमि, कीट बन जायँ और फिर उसी सुयोग कर्म से अस्थिवाले जीव की दशा में आ जायँ, तो फिर गति के मार्ग में ऊपर या नीचे जाने योग्य हो जाते हैं। किन्तु, जबतक वृक्ष की या अनस्थि की दशा में रहते हैं, तबतक उनकी गति को अगति ही कहते हैं।

विद्या और कर्म में इतना विशेष है कि विद्या आत्मा का स्वरूप है। यद्यपि यहाँ विद्या शब्द से बुद्धि की सात्त्विक वृत्तियाँ ली जाती हैं—यह कह चुके हैं, किन्तु सत्त्व के अति निर्मल होने के कारण उनमें चिदात्मा का पूर्ण प्रकाश रहता है। अतः, उन्हें आत्मा का स्वरूप ही कह सकते हैं। तामस रूपों में मलिन होने के कारण आत्मा का प्रतिबिम्ब नहीं होता, इसलिए वे आत्मविरोधी धर्म पर-सम्बन्ध से आये हुए आगन्तुक कहे जाते हैं। विद्या की विरोधी जो अविद्या अनिर्वचनीय रूप से आत्मा में अकस्मात् उत्पन्न होती है और जो आत्मा से भिन्न-भिन्न है, उसी के द्वारा आत्मा में क्लेश, कर्म, विपाक और आशय उत्पन्न हो जाते हैं। ये ही सब उस अविद्या के मुख्य स्वरूप हैं। इसीलिए, विद्या इनका विरोध करती है। जितनी ही विद्या बढ़ती है, उतना ही कर्म का बल घटता रहता है। यदि विद्या का प्रभाव आत्यन्तिक पराकाष्ठा को पहुँच जाय, तो सब कर्म निःशेष विलुप्त हो जाते हैं और आत्मा विशुद्ध हो जाता है। किन्तु इसके विपरीत कर्म कितना भी बढ़ जाय विद्या का नाश नहीं होता, केवल कर्मजन्य कषाय में उसका आवरण होता है। आवरण की मात्रा बढ़ते-बढ़ते सम्भव है कि विद्या पूर्ण आवृत होकर विलुप्तिप्राय हो जाय, ऐसी अवस्था में यद्यपि उसमें किसी प्रकार का ज्ञान अणुमात्र भी नहीं होता, तथापि वह दूसरे के ज्ञान का प्रमेय अवश्य रहता है। ज्ञान का विषय होकर विद्या से विषय-सम्बन्ध अवश्य रहता है, किन्तु उसमें स्वयं बुद्धि न होने से विद्या का लोप कह सकते हैं। इस प्रकार, इस आत्मा की तीन अवस्थाएँ सिद्ध होती हैं। एक वह, जिसमें कर्म ही कर्म हैं, कर्म के आवरण से विद्या लुप्तवत् हो गई है। दूसरी अवस्था वह है, जिसमें विद्या और कर्म दोनों तारतम्य से विद्यमान दीखते हैं। तीसरी अवस्था वह है, जिसमें कर्म सर्वथा लुप्त होने से आत्मा विशुद्ध विद्यारूप रह जाता है। इन तीनों में दूसरी जो मध्यम अवस्था है, जिसमें विद्या और कर्म इन दोनों का समुच्चय है, केवल उसी अवस्था में आत्मा की गति होती है। इस मध्यम अवस्था को छोड़कर शेष दोनों में आत्मा गतिशून्य हो जाता है। कर्म की अधिकता में कषाय के भार से आत्मा इतना भारी हो जाता है कि उसमें स्तम्भन (ठहराव) होने से गति लक्षित हो जाती है, उसको भी उपर्युक्त रीति से अगति ही कहते हैं। किन्तु जब कर्म का सर्वथा लोप होकर आत्मा विशुद्ध हो जाता है, तब उस व्यापक आत्मा को सीमाबद्ध परिच्छिन्न बनानेवाला कोई नहीं रहता, इसलिए कर्म-आवरण के क्षय होने से जीवात्मा अपने स्वरूप से व्यापक हो जाता है। जैसे, आकाश जो एक घड़े में घिरा हुआ है, वह घड़ा फूटने पर महाकाश में ही मिल जाया

करता है। तब व्यापक की गति होना असम्भव है, इसलिए उसकी गति नहीं होती। इसी अभिप्राय से उस निष्कर्म आत्मा के लिए वेद कहता है :

न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रैव समवनीयन्ते।

(बृ० उप०)

अर्थात्, 'उस आत्मा का उत्क्रमण नहीं होता, यहाँ ही वह आत्मा परमात्मा में मिल जाता है।' इस प्रकार, स्वर्ग वा नरक किसी भी लोक में ऊपर या नीचे कहीं न जाकर परिच्छिन्न क्षुद्र यह जो जीवात्मा अपने ही स्थान में सर्वजगत्-व्यापकता को पा जाता है, उसको समवलय गति कहते हैं : (सम् = अच्छी तरह, अव = वहाँ का वहाँ, लय = लीन होना)। इसी का नाम परम-मुक्ति वा विदेह-मुक्ति है। यह दो प्रकार की अगति का विवरण हुआ।

अब फिर गति की ओर आइए। कह चुके हैं कि विद्या की प्रधानता में सूर्याभिमुख गति होती है और विद्या के अविद्या द्वारा दबा दिये जाने पर चन्द्राभिमुख गति। अर्चिमार्ग को शुक्लमार्ग और धूममार्ग को कृष्णमार्ग कहा जाता है। यही अर्चिमार्ग और धूममार्ग है।

आत्मा मन, प्राण, वाक् इन तीनों से त्रिधातु है। इनमें मन ज्योति-स्वरूप है, किन्तु शेष अज्योति है। यह सम्पूर्ण जगत् ज्ञान, क्रिया, अर्थात् इन तीन स्वरूपों में बँटा हुआ है, और ये तीनों ही मन, प्राण, वाक् से उत्पन्न होते हैं, इनमें ज्ञान का भाग प्रकाश-स्वरूप होने से शुक्ल कहा जाता है, और अर्थ अज्योति होने से कृष्ण कहलाता है। किन्तु, प्राण दो प्रकार का है—जो मन के भावों को पुष्ट करता है, वह 'अच्छ' है, वाक् की पुष्टि करनेवाला 'अनच्छ' है। इसी कारण प्राणजन्य धर्म भी दो प्रकार के हुए। ज्ञान को उत्पन्न करनेवाले अथवा ज्ञान के सहकारी कर्मों को पुण्य कहते हैं, और आत्मविरोधी धर्मों को उत्पन्न करनेवाले अथवा ज्ञान का नाश करनेवाले कर्मों को पाप कहते हैं। पुण्य शुक्ल और पाप कृष्ण है। काम और शुक्र और भूतों के पाँच गुण ये तीनों ही वाक् के विकार हैं, इसलिए पाप होने पर भी ज्ञान के सम्बन्ध होने, न होने से इनमें भी तारतम्य है। अर्थात्, काम 'अच्छ' है, भूत-गुण 'अनच्छ' है, किन्तु पुण्य-कर्मों का शुक्र 'अच्छ' और पाप-कर्मों का शुक्र 'अनच्छ' है।

प्रत्येक जीवात्मा अपने इन्द्रिय और शरीर के कारण कुछ-न-कुछ कर्म सदा करता ही रहता है। प्रत्येक कर्म करने के पश्चात् उस कर्म से उस आत्मा पर कुछ-न-कुछ प्रभाव पहुँचता है और उसी प्रभाव को संस्कार कहते हैं। यह संस्कार यदि देव-प्राणों का संग्रह करनेवाला है, तो उस कर्म को पुण्य-कर्म कहेंगे। किन्तु यदि वह संस्कार आसुर प्राण से बना हुआ है, तो उससे आत्मा कृष्ण हो जाता है, इसलिए उस कर्म को पाप कहते हैं। पुण्य के बल से आत्मा हल्का होता है और वह देवता की ओर जाना चाहता है। किन्तु, पाप-कर्म से आत्मा भारी होता है, और वह ऊपर न जाकर पृथ्वी की ओर नीचे ही गिरना चाहता है, इसीलिए पाप को पातक, अर्थात् गिरानेवाला कहते हैं। यदि आत्मा में पुण्य-कर्मों का संस्कार है, तो वह शुक्ल-मार्ग से जायगा और पाप-कर्मों के संस्कारवाला आत्मा कृष्ण-मार्ग से जायगा।

इन कर्मों में ज्ञानपूर्वक यज्ञ, तप, दान, योग, उपासना आदि—ये ही पाँच कर्म ऐसे हैं, जिनमें आत्मा शुक्लमार्ग से चलकर देवलोक में जाता है। किन्तु, इष्ट (स्मार्त्तयज्ञ), आपूर्त

(वापी-कूपादि बनाना), दत्त (भूखों को अन्नादि बाँटना) ये तीनों कर्म भी उत्तम कर्म माने जाते हैं, किन्तु इनसे कृष्णमार्ग में प्रवृत्त आत्मा नरक जाने की अपेक्षा पितृलोक में जाता है। इन दोनों प्रकार के कर्मों के अतिरिक्त जो कर्म हैं, उनको पाप कहते हैं। इनके करने से आत्मा में आसुर प्राण का संस्कार होकर भारीपन आ जाता है। वह ऊपर सूर्य की ओर न जाकर पृथ्वी से नीचे गिरता है और यही अधोगति कहलाती है। यह मुख्य कृष्ण-मार्ग है। इस प्रकार, कर्म से शुक्लमार्ग और कृष्णमार्ग का भेद जानना चाहिए। पातकों में भी अतिपातक, महापातक आदि प्रबल पातक-कर्मों से नरक-गति होती है। इसी प्रकार, शुक्लमार्ग में भी दो गतियाँ हैं—एक, ब्रह्मलोक-पर्यन्त गति और दूसरी, देवलोक-गति। ब्रह्मलोक-गति सर्वोत्तम गति होती है। वहाँ पहुँचकर फिर पृथ्वी-लोक में कोई जीवात्मा नहीं आ सकता; क्योंकि वह पृथ्वी के आकर्षण से बाहर निकल गया। अब पृथ्वी से उसका फिर सम्बन्ध नहीं जुड़ सकता। किन्तु, जो ब्रह्मलोक तक नहीं पहुँचते, उससे नीचे देवलोक में रह जाते हैं। वे पुण्यक्षीण होने पर फिर भी पृथ्वी-मण्डल पर आ सकते हैं। ब्रह्मलोक की गति उग्र तप, योग या प्रबल उपासना द्वारा ही प्राप्त होती है। इसे वेदान्तादि शास्त्रों में 'क्रम-मुक्ति' नाम से भी कहा जाता है।

इस प्रकार, सब मिलाकर आत्मा का आठ प्रकार का परिणाम सिद्ध हुआ : चार गति और चार अगति। गति में प्रथमतः शुक्लमार्ग या देवयान और कृष्णमार्ग या पितृयान, ये दो भेद होते हैं। शुक्लमार्ग में ब्रह्मलोक-गति और देवलोक-गति ये दो अवान्तर भेद हैं। कृष्णमार्ग में भी पितृलोक-गति और नरक-गति ये दो अवान्तर भेद हैं। अगति भी प्रथमतः दो प्रकार की है : जघन्यरूपा 'जायस्व म्रियस्व' गति और कैवल्य या मुक्ति। इनमें प्रथम जघन्य गति दो प्रकार की है : अस्थिरहित कीट, वृक्षादि रूप में जन्म और अस्थिवाले पशु आदि में जन्म। मुक्ति में भी प्रकार-भेद है : क्षीणोदर्क और भूमोदर्क। कुटुम्ब, शरीर, मन, प्राण इन्द्रिय आदि सबको आत्मा की व्याप्ति से निकालकर निर्गुण निराकार-रूप आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने के बाद जो मुक्ति होती है, वह क्षीणेदर्क-रूप मुक्ति है। और, कुटुम्ब में, ग्राम में, नगर में, देश में वा सम्पूर्ण भू-मण्डल में आत्मबुद्धि का आत्मा के विस्तार से जो मुक्ति प्राप्त की जाती है, वह भूमोदर्क नाम की मुक्ति है। जैसा गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा है :

सियाराममय सब जग जानी, करौं प्रनाम जोरि जुग पानी।

सम्पूर्ण जगत् में ईश्वर-भावना या आत्मा की भावना करना भूमोदर्क हुआ। मुक्ति के कैवल्य-रूप में कोई भेद नहीं, किन्तु साधना में भेद होने के कारण भेद-व्यवहार किया जाता है।

इन आगे के आठ परिणामों के पूर्व वर्त्तमान शरीर से जीवात्मा या सूक्ष्म शरीर का उत्क्रमण कैसे होता है, उसका भी संक्षिप्त विवरण आगे किया जा रहा है।

उत्क्रमण या शरीर-त्याग

सूर्य का रस-रूप विज्ञानात्मा यद्यपि असंग है, तथापि उसका मृत्युभाग, जो आसक्ति-मान् है, उसमें प्राज्ञ आत्मा परिष्वक्त (पकड़ा हुआ), अर्थात् आलिंगित रहता है, उसीके

कारण यह विज्ञान आत्मा भी शरीर के भीतर प्रवेश करके शरीर बनता है और शरीर में रहने के कारण कितने ही पाप्मा (मलिन), अर्थात् ज्ञान-विरोधी जड-धर्म, अर्थात् जिसके संसर्ग से ज्ञान कलुषित होकर मलिन हो जाय, ऐसे धर्मों से संसृष्ट, हो जाता है। जबतक प्राणी का जीवन रहे, तबतक यह (मिला हुआ) विज्ञान आत्मा इसी प्रकार कलुषित होकर अल्पज्ञ रहता है। किन्तु, मृत्यु के समय जिस प्रकार फल अपने बन्धनों से मुक्त हो जाता है, उसी प्रकार यह विज्ञान आत्मा भी जो प्रत्येक अंगों से बँधा हुआ था, सबमें बन्धन तोड़कर संकुचित होकर प्राज्ञ आत्मा-सहित सब इन्द्रियों को साथ लिये हुए केवल एक हृदय के अग्र-भाग में आ ठहरता है। उस समय शरीर के किसी अंग में यदि स्पर्श करे, तो बोध नहीं होता, न बोलता है, न देखता है, न सुनता है, किन्तु केवल उसका हृदय छूने से धड़कने का आभास होता है। अर्थात्, उस समय सब प्राणों को साथ लिये हुए विज्ञानमय मुख्य प्राण केवल हृदय में अपना व्यापार करता है। मुमूर्षु (मरनेवाला) के मरण से कुछ पूर्व तक हृदयमात्र में अन्तर्बोध रहता है। उसी ज्ञान-प्रकाश के साथ सब इन्द्रियाँ प्राणों को लिये हुए मुख्य प्राण ब्रह्मरन्ध्र के छिद्र से निकलती हैं। यदि उस विज्ञान से मिले हुए प्रज्ञात्मा में पापरूपी दुर्वासनाएँ भरी हों, तो उसी दुर्वासना की मात्रा के अनुसार भारी होकर वह विज्ञानमय प्राण नीचे की ओर झुक जाता है। इसलिए, ब्रह्मरन्ध्र के द्वार से न निकलकर कदाचित् चक्षु से वा और किसी शरीर के भाग से निकलता हुआ देखा गया है। मृत्यु के समय जिस अंग से आत्मा निकलता है, उस अंग में कुछ-न-कुछ विकार अवश्य हो जाता है। जो आत्मा निकल जाता है, उसमें सब ज्ञानेन्द्रिय, सब कर्मेन्द्रिय, मुख्य प्राण, विज्ञान आत्मा और प्रज्ञान आत्मा और भूतों का अनुशय इतने साथ होकर सम्मिलित रूप में उत्क्रमण करते हैं। स्वप्न-काल में जिस प्रकार का वा जितना बोध प्राणी का रहता है, उसी प्रकार का उतना ही बोध उत्क्रमण के पीछे भी रहता है। यह इतनी आत्मा की मात्रा सूर्य, चन्द्रमा और चिदात्मा के रसों से बनी हुई होती है, वह अत्यन्त मंगल और अत्यन्त पवित्र है। जबतक वह आत्मा शरीर में रहता है, तबतक शरीर के अपवित्र भागों को भी पवित्र रखता है। नख, केश, मांस, शोणित आदि सब शुद्ध रूप में ज्ञात होते हैं। किन्तु ये सब जीवित शरीर से भी अलग करने पर अपवित्र हो जाते हैं, और शरीर से आत्मा के उत्क्रमण होने से मृत्यु होने पर इस शरीर के सभी अंग-प्रत्यंग उसी समय सड़ने लगते हैं। थोड़े ही समय में अत्यन्त दुर्गन्ध निकलकर बाहर के वायु तक को गन्दा कर देती है। यह सड़ना या दुर्गन्ध होने की क्रिया जीवित दशा में भी अवश्य ही जारी रहती होगी। किन्तु, इसी पवित्र आत्मा के कारण ये सब दोष दूर होकर यह शरीर अत्यन्त सुन्दर निर्मल और पवित्र बना रहता है। इसी शरीर की पवित्रता से उस आत्मा की पवित्रता सिद्ध होती है।

इस प्रकार, शरीर को छोड़कर निकला हुआ व्यावहारिक आत्माओं का समूह जिन शुक्ल-कृष्ण नाम के दो मार्गों से जाता है, उनमें शुक्लमार्ग का वर्णन छान्दोग्य में इस प्रकार किया गया है कि पहले वह अर्चि, अर्थात् प्रकाश में जाता है। उसके अनन्तर अहः, अर्थात् दिन-भाग में और दिन-भाग से शुक्लपक्ष के भाग में फिर उत्तरायण के छह मासों में, उनके अनन्तर संवत्सराग्नि में, संवत्सराग्नि से सूर्य-मण्डल में, सूर्य-मण्डल से

चन्द्रमा में और चन्द्रमा से विद्युत् में जाता है। वहाँ विद्युत् में मानस-पुरुष आकर इस मार्ग के प्राणियों को ब्रह्मलोक में पहुँचा देता है।[1]

ब्रह्मलोक से पुनरावृत्ति नहीं होती। यह सर्वोत्तम गति वा क्रम-मुक्ति है। यहाँ जो दिन, मास, पक्ष आदि नाम आये हैं, वे कालविशेष के वाचक नहीं, किन्तु आतिवाहिक, अर्थात् मृतात्मा को ले जानेवाले देवताओं के नाम हैं। यह वेदान्त-सूत्रों में निर्णय किया गया है। इन प्राण-रूप देवताओं का स्वरूप जानना आवश्यक होगा।

संवत्सराग्नि

वेदों में संवत्सर नाम बार-बार आता है। वहाँ वह संवत्सर शब्द केवल कालवाचक नहीं होता। किन्तु, सूर्य-मण्डल से जो अग्नि पृथ्वी पर निरन्तर आता रहता है, उसी को वैश्वानर और संवत्सराग्नि शब्दों से कहा गया है। एक वर्ष में जितनी मात्रा सौर अग्नि की आई, वह एक संवत्सराग्नि हुआ। आगे दूसरे वर्ष में उसकी दूसरी मात्रा आयगी। हमारे शरीर में जो वैश्वानराग्नि काम करती है, वह उसी सौर अग्नि का एक अंश है, यह वैदिक विज्ञान का सिद्धान्त है। यज्ञ के द्वारा यजमान के शरीर में स्थित वैश्वानराग्नि को संस्कृत कर सूर्य-मण्डल की पृथ्वी-व्याप्त संवत्सराग्नि के साथ मिला देना ही यज्ञ का उद्देश्य होता है, जिससे कि वह उस अग्नि के उद्भव-स्थान सूर्य-मण्डल वा स्वर्ग-लोक में जा सके। संवत्सर को यदि सबसे छोटे रूप में देखना चाहें, तो संवत्सर का वह सबसे छोटा विभाग वैदिक परिभाषा और लौकिक व्यवहार में भी 'अहोरात्र' कहलाता है। पूरे संवत्सर में ३६० अहोरात्र होते हैं। इनमें भी दो-दो अंश होंगे : एक अहः, दूसरा रात्रि। एक दिन में सूर्य जितना प्रकाश देता है, वह एक अहः का शुक्ल-चक्र हो गया। उसके अनन्तर प्रकाश नहीं आता, तम आता है, वह कृष्णवर्ण का रात्रि-चक्र हो गया। यों, एक-एक के क्रम से ३६० शुक्लचक्र और ३६० कृष्णचक्र हुए। सब मिलाकर ७२० का पूरा संवत्सर हो गया। इनमें शुक्लचक्रों मे सूर्य-मण्डल से आई हुई प्राण-रूप अग्नि व्याप्त है। वही गति-प्रक्रिया में अहः शब्द से लिया गया है और कृष्णचक्रों में व्याप्त प्राण रात्रि शब्द से। यद्यपि यह प्रश्न होगा कि रात्रि-चक्रों में तो सौर प्राण नहीं है, फिर रात्रि शब्द किस प्राण का ग्रहण करेगा? किन्तु, यह प्रश्न नहीं बनता; क्योंकि प्रकाश की तरह छायांश में भी उसका विरोधी पार्थिव प्राण रहता है, जिसे पितृप्राण वा असुर-प्राण कहते हैं। वही गति-प्रक्रिया में रात्रि शब्द से लिया जाता है। काले और श्वेत अंशों के इस एकोत्तर क्रम पर भू-भ्रमण-वादियों की ओर से एक शंका उठाई जाती है कि संवत्सर का सबसे छोटा जो विभाग अहोरात्र के नाम से वैदिक परिभाषा तथा अन्य शास्त्रों में व्यवहृत हुआ है, वह सूर्य के

---

१. तद्य इत्थं विदुर्ये चे मेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तदर्चिषमभिसम्भवन्ति। अर्चिषोऽह्न, अह्न आपूर्यमाणपक्षम्, आपूर्यमाणपक्षात् यान् षड्डदङ्ङेति मासांस्तान्, मासेभ्यः संवत्सरम्, संवत्सरादादित्यम्, आदित्याच्चन्द्रमसम्, चन्द्रमसो विद्युतम्, तत्पुरुषो मानवः, स एतान् ब्रह्म गमयति, अयं देवयानः पन्था इति। —छान्दोग्य उ०, प्रपा० ५, खण्ड १० कण्डिका १, २।

कारण नहीं है, वह होता है पृथ्वी के कारण। तात्पर्य यह है कि इस अहोरात्र की निर्मित पृथ्वी के परिभ्रमण का ही परिणाम है, न कि सूर्य के प्रभाव का। आकाश के जिस विभाग में पृथ्वी का यह गोला स्थित है, वहाँ निश्चित ही पृथ्वी का सूर्योन्मुख आधा विभाग शुक्ल या सुफेद और पीछे का विभाग कृष्ण या काला रहेगा। अर्थात्, उस विभाग में काली छाया रहेगी। पृथ्वी-पिण्ड वर्ष-भर में आकाश के चाहे किसी भी प्रदेश में रहे, वहाँ उसके सूर्य के सम्मुखवाले विभाग में सफेद और पीछेवाले विभाग में काली छाया रहेगी। इस प्रकार, पृथ्वी जिस स्थान पर स्थित है, उसके स्थान पर पृथ्वी के एक पृष्ठ पर एक ही काली छाया रहेगी। उसके पहले जो काले विभाग रहेंगे, वे सब सूर्य के सामने होते ही लुप्त हो जायेंगे, अतः संवत्सर के पूर्ण क्रम में जो एकान्तर से काला और सफेद का विभाग दिखाया गया है, वह ठीक नहीं उतरता। इस प्रश्न का समाधान यह है कि संवत्सर के अहो-रात्रात्मक ये ७२० विभाग दर्शक यज्ञकर्त्ता मानवों की दृष्टि से है। हमारे अनुभव में प्रति २४ घण्टे में यह बात आती है कि जब हम सूर्य के सामने रहते हैं, तब प्रकाश का अनुभव करते हैं। पृथ्वी जितना सूर्याभिमुख दिशा की ओर अग्रसर होती है, उतने की उज्ज्वल वा श्वेत-कल्पना की जाती है। इस प्रकार, दर्शक के दूसरी दिशा में होने पर वह पृथ्वी जितने आकाश-प्रदेश में अग्रसर होती है, उतने प्रदेश को हम काला कहते हैं। पृथ्वी का गतिक्रम २४ घण्टे में गुणना करके जो निकलता है, वही एक अंश कहलाता है। तब एक अंश की गतिवाले आकाश में उज्ज्वल और तम या शुक्ल-कृष्ण दो भाग हमारी दृष्टि से माने जा सकते हैं। प्रत्येक अंश के शुक्ल-कृष्ण-भेद से दो भाग होने पर तीन सौ सात अंशोंवाले संवत्सर के ७२० भाग हो जाते हैं। इन्ही अंशों को अहोरात्र-विभाग कहते हैं। यह प्रथम प्रकार अहोरात्र-क्रम दिखाया गया।

२. संवत्सर के स्वरूपों में पहला विभाग ऊपर दिखाया गया—अहोरात्र-विभाग। दूसरा विभाग महीने का होगा। इसकी उपपत्ति चन्द्रमा से सम्बन्ध रखती है। चन्द्रमा आकाश में पृथ्वी के चारों ओर घूमता है। जब वह चन्द्रमा सूर्य और पृथ्वी के मध्य में पहुँचकर अदृश्य हो जाता है, उसके दूसरे दिन पृथ्वी और चन्द्रमा दोनों के गतिक्रम से जब पृथ्वी के दूसरे छोर पर चन्द्रमा आ जाता है और सूर्य तथा चन्द्रमा के मध्य में पृथ्वी आ जाती है, तब इतने समय में १५ दिन हो जाते हैं। इस प्रकार, समय के इस अन्तराल में पृथ्वी का गतिक्रम जब पूर्वाभिमुख होता है, तब शुक्लपक्ष होता है। यह शुक्लपक्ष उतने आकाश की संज्ञा है। इसी प्रकार, चन्द्रमा गतिक्रम से १५ दिन में सूर्य और पृथ्वी के मध्य में आ जाता है, इस समय में पृथ्वी जितना पूर्व की ओर आगे बढ़ती है, उसे कृष्णपक्ष की संज्ञा दी जाती है। इस प्रकार, शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष के क्रम से पन्द्रह-पन्द्रह दिन का एक-एक भाग बनता है, तब एक वर्ष में २४ भाग बन जाते हैं। इनमें बारह शुक्ल और बारह ही कृष्णपक्ष एक के बाद एक के क्रम से रहते हैं। सूर्य और चन्द्रमा के योग होने से पृथ्वी आकाश के जिस बिन्दु पर होती है, वहाँ से आरम्भ करके फिर सूर्य और चन्द्र के दूसरे योग तक पृथ्वी जहाँ चली जाती है, उस बिन्दु तक संवत्सर का बारहवाँ भाग होता है। इसको

मास अथवा महीना कहा जाता है। इनमें परिव्याप्त सूर्य-प्राण और पृथ्वी-प्राण गति-क्रम में शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष नाम से कहे गये हैं। उस एक मास में शुक्ल और कृष्ण दो-दो भाग होने से संवत्सर के २४ विभाग बन जाते हैं। यही संवत्सर का दूसरा विभाग है।

३. ऋतु-क्रम से संवत्सर का तीसरा विभाग होता है। तीन ऋतुएँ प्रधानतया होती हैं—ग्रीष्म, वर्षा और शीत। प्रत्येक ऋतु चार-चार महीनों की होती है। इसलिए, ऋतु-क्रम से संवत्सर के तीन भाग हो जाते हैं।

४. अयन के क्रम से संवत्सर का चतुर्थ भाग हो जाता है। प्रत्येक संवत्सर में छह महीनों तक सूर्य विषुवद्-वृत्त से उत्तर की ओर रहता है। इसमें ऐसी प्रतीति होती है कि पृथ्वी नीचे की ओर है और सूर्य ऊपर को। परन्तु, दूसरे छह महीनों में सूर्य विषुवद्-वृत्त से दक्षिण की ओर रहता है। सूर्य या पृथ्वी की इसी गति के कारण पूरे संवत्सर के दक्षिणायन, उत्तरायण भेद से दो विभाग हो जाते हैं। सूर्य की उत्तरायण-गति को शुक्ल तथा दक्षिणायन-गति को कृष्ण कहा जाता है। इनमें परिव्याप्त प्राण अयन शब्द से गति-प्रक्रिया में कहे गये हैं।

५. संवत्सर का जो पाँचवाँ विभाग है, वह पूर्ण है, अर्थात् एक है।

संवत्सर के इन पाँच प्रकार के विभागों में भिन्न-भिन्न रूपों की पाँच प्रकार की अग्नि है। भिन्न-भिन्न अग्नियों में भिन्न-भिन्न प्रकार से ही आहुतियाँ देकर सोमयज्ञ सम्पन्न किये जाते हैं। यह सोमयाग चार प्रकार का होता है—एकाह, अहीन, रात्रि-सत्र और अयन-सत्र। एकाह वह है, जो यज्ञ एक ही अहोरात्र में पूर्ण हो जाता है। दस अहोरात्रों में पूर्ण होनेवाले यज्ञ को अहीन कहा जाता है, दशाह भी उसका एक नाम है। शत अहोरात्रों में पूर्ण होनेवाले यज्ञ को रात्रि-सत्र की संज्ञा दी जाती है तथा एक सहस्र अहोरात्र में पूर्णता को प्राप्त करनेवाला सत्र अयन-सत्र नाम से सम्बोधित है। इन सारे यज्ञों का तात्पर्य संवत्सर के छोटे और बड़े भागों के संस्कार या उनकी शुद्धि है। इन यज्ञों से किसी-न-किसी प्रकार संवत्सर का ही संस्कार होता है। संवत्सर के संस्कार करने की योग्यता प्राप्त करने के लिए ही छोटे-छोटे यज्ञ किये जाते हैं। इनको १. अग्निहोत्र, २. दर्शपूर्णमास, ३. चातुर्मास्य और ४. पशुबन्ध कहते हैं। इनमें अग्निहोत्र नाम के यज्ञ से संवत्सर के अहोरात्र-विभाग का संस्कार होता है, दर्शपूर्णमास से पक्ष या मासों का संस्कार सम्पन्न होता है, चातुर्मास्य से ऋतु-विभाग का तथा पशुबन्ध से अयन का संस्कार होता है। तदनन्तर, फिर सोम-यागानुष्ठान से पूर्ण संवत्सर का संस्कार होता है। ये ही यज्ञ हैं। इनके अतिरिक्त जितने प्रकार के अन्य यज्ञ शास्त्रों में आते हैं, वे सब इन्हीं यज्ञों के रूपान्तर हैं। यज्ञों से स्वर्ग-कामना की सिद्धिवाली जो बात है, उसका तात्पर्य यह है कि इन यज्ञों के अनुष्ठान से सूर्य-संवत्सर के अनुसार यजमान के शरीरस्थ वैश्वानराग्नि भी संस्कारयुक्त हो जाती है और शरीर छोड़ने के बाद वह वैश्वानर सूर्य-संवत्सर में सम्मिलित हो जाता है। इसी सम्मिलन से स्वर्गसुख सम्भव है। यह संवत्सराग्नि का विवरण हुआ।

इस संवत्सराग्नि के शुक्ल भाग में ही जिनकी क्रमिक गति होती है, उनका विवरण पूर्वोक्त उपनिषद् में किया गया। यहाँ सूर्य-मण्डल से ऊपर जो चन्द्रमा बताया है, वह परमेष्ठी-मण्डल है। सोमप्रधान होने के कारण उसे भी चन्द्रमा कहा जाता है। उसके आगे विद्युत् की प्राप्ति कही गई है। विद्युत् तपः वा तपोलोक नाम से जो छठाँ लोक हमने सात लोकों के प्रकरण में (क्षरपुरुष की आधिभौतिक कलाओं में) बताया है, वह यहाँ विद्युत् नाम से कहा गया है। क्योंकि, उसी लोक में सबसे प्रथम विद्युत् का प्रादुर्भाव होता है। यह सौम्य विद्युत् है, जिसका निरूपण आगे देव-प्रकरण में किया जायगा। मानस-पुरुष स्वयम्भू-मण्डल का अधिष्ठाता है।

पितलोक-गति

अब कृष्ण-मार्ग की गति का विवरण छान्दोग्य-उपनिषद् में इस प्रकार है कि जो विद्यारहित इष्टापूर्त्तादि उत्तम कर्मों[1] का ही अनुष्ठान अपने जन्म में करते रहते हैं, वे आत्मा शरीर से निकलकर प्रथमतः धूम में जाते हैं। इसका आशय कुछ विद्वान् यों लगाते हैं कि मृत शरीर का जब दाह किया जाता है, तब शरीर को छोड़कर भी उसपर मड़राता हुआ जो सूक्ष्म शरीर अग्नि की ज्वाला में होकर निकलता है, वह तो शुक्लमार्ग का पथिक हुआ और जो धुँआ में होकर निकलता है, वह कृष्णमार्ग का पथिक बनता है। जघन्य तृतीय गति में जानेवाला दोनों ही से नहीं निकलता, किन्तु भस्म में अनुप्रविष्ट रहकर पृथ्वी में ही रह जाता है। इससे यह भी श्रुति का आशय सिद्ध होता है कि शुक्ल-कृष्ण-गति उन्हीं की बनती है, जिनका शरीर जलाया जाता है। कुछ विद्वान् अर्चि और धूम का अर्थ केवल प्रकाश और तम ही करते हैं। उनकी व्याख्या के अनुसार अग्नि में दाह न होने पर भी कर्मानुसार ये गतियाँ हो जाती हैं। अस्तु; कृष्णमार्ग वा धूममार्ग का क्रम इस प्रकार है कि धूम से रात्रि में, रात्रि से कृष्णपक्ष मे, कृष्णपक्ष से दक्षिणायन के मासों में गति होती है। संवत्सराग्नि में अभिव्याप्त रूप से ये आत्मा नहीं जा सकते, कृष्णभाग में ही रहते हैं। दक्षिणायन के मासों से पितृलोक में, पितृलोकों से चन्द्र-मण्डल के समीपवर्त्ती लोकों में चले जाते हैं। वहाँ से आकाश में होकर चन्द्र-मण्डल में पहुँच जाते हैं, चन्द्र-मण्डल में पहुँच वहाँ के सोम के साथ मिल जाते हैं और अपने पुण्य के अनुसार वहाँ भोगकर फिर पृथ्वी पर लौट आते हैं। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि अपने किये कर्मों का भोग जब चन्द्र-मण्डल में समाप्त हो गया, तब फिर भूमि में कौन-से कर्मों के भोग के लिए जन्म लेगा। वैदिक सिद्धान्त में विना कर्मफल के तो कोई जन्म होता ही नहीं। कर्माधीन ही सब जन्म हैं, तब कर्मफल भोगने के अनन्तर फिर जन्म कैसे ? इसका उत्तर शास्त्रों में दिया गया है कि कर्म विभिन्न प्रकार के होते हैं। कितने कर्म ऐसे होते हैं, जिनका फल परलोक में ही भोगना

---

१. अथ य इमे ग्रामे इष्टापूर्त्ते दत्तिमित्युपासते ते धूममभिसम्भवन्ति। धूमाद्रात्रिम्, रात्रेरपरपक्षम्, अपरपक्षात् यान् षड् दक्षिण इति मासांस्तान, नैते संवत्सरमभिव्याप्नुवन्ति मासेभ्यः पितृलोकम् पितृलोकादाकाशम्, आकाशाच्चन्द्रमसम्, एष सोमो राजा।

—छान्दोग्य उप०, प्रपा० ५, खण्ड १०, कण्डिका ३, ४।

होता है, और कोई कर्म ऐसे भी हैं, जिनका फल इसी भू-लोक में भोगना आवश्यक होता है। मन का कर्म में जैसा अभिनिवेश हो और कर्म जितना और जिस प्रकार का हुआ हो, उसकी परिस्थिति के अनुसार ही उसका भोग भी परलोक में वा इस लोक में हुआ करता है। तब परलोक के भोग्य जो कर्म थे, उनका भोग पितृलोक वा देवलोक में हो जाता है। किन्तु जिनका फल इसी लोक में भोगना हो, वे कर्म तो बचे ही रहते हैं। संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण आदि भेदों से भी कर्मों के बहुत प्रकार हैं। अनादि काल से जो कर्म अभी तक भोग देने का अवसर ही न पा सकें, वे संचित कर्म कहलाते हैं। एक शरीर से भोगने के लिए जो कर्म नियत होते हैं, वे प्रारब्ध कर्म कहे जाते हैं, अर्थात् वे फल देने का प्रारम्भ कर चुके और फिर उस शरीर से जो कर्म होंगे, वे क्रियमाण हैं, वे भी आगे संचित और प्रारब्ध कर्मों में मिलते जायेंगे। इस प्रकार, कर्म की गति बड़ी गहन है : 'गहना कर्मणो गतिः।' अस्तु।

इस मार्ग में भी पूर्ववत् रात्रि, कृष्णपक्ष आदि नाम कालविशेष के नहीं, किन्तु आतिवाहिक देवताओं के ही हैं। संवत्सराग्नि के जो अवयव बताये जा चुके हैं, वे ही प्राण-रूप देवता हैं। जो इन मृतात्माओं को आगे बढ़ाते हैं, आगे बढ़ने का कारण आकर्षण है—यह हम आरम्भ में ही बता चुके हैं। मुख्य पितृलोक चन्द्रलोक है, किन्तु उसके आसपास के प्रदेश भी पितृलोक कहे जाते हैं, जैसे शुक्लमार्ग में तारतम्य बताया गया है कि जिनके कर्म जितने प्रबल हों, उतनी ही उच्च गति उनकी होती है। इसी प्रकार, इस मार्ग में भी तारतम्य है कि जितने उच्च कर्म हों, उतनी ही उच्च गति मिलती है। सामान्य कर्मोंवाले पूर्ण उच्चता नहीं पा सकते। चन्द्र-मण्डल के इर्द-गिर्द ही रह जाते हैं, इसलिए इर्द-गिर्द के साथ ही पितृलोक कहलाते हैं। जिनके पुण्य की अपेक्षा पाप-कर्म अधिक हैं, वे तो पितृलोकों को भी प्राप्त नहीं कर सकते। दक्षिणायन मासों से ही शनिग्रह के मण्डल की ओर झुक जाते हैं। शनि-मण्डल के आसपास के लोक नरक कहलाते हैं। उसी मार्ग में वैतरणी नदी भी है। वहाँ जाकर पापियों को अपने पापों का फल भोगना पड़ता है।

आकाश के कौन-कौन से प्रदेश देवयान और कौन-कौन से पितृयान कहलाते हैं, इनका भी विवरण शास्त्रों में स्पष्ट मिलता है।

आकाश-प्रदेश का विवरण

इस पृथ्वी के पूर्वापर-वृत्त के द्वारा पाँच भाग किये जाते हैं। सम्पूर्ण खगोल के मध्य का पूर्वापर-वृत्त विषुवत्-वृत्त कहलाता है। विषुवत्-वृत्त के दोनों ओर चौबीस-चौबीस अंश पर दक्षिण और उत्तर में जो कर्क और मकर-वृत्त हैं, उन दोनों के बीच में उष्ण कटिबन्ध है, उसमें ग्रहों का संचार होने के कारण सूर्य की किरणों का दबाव अधिक रहता है, इसलिए उस मार्ग में होकर आत्मा को जाने में बाधा होती है। इसी प्रकार, दोनों ध्रुवों से चौबीस-चौबीस अंश तक शीत कटिबन्ध है, वहाँतक वक्र मार्ग होने के कारण आत्मा नहीं पहुँच सकता। अगत्या उष्ण-कटिबन्ध और शीत-कटिबन्ध के बीच में, अर्थात् मध्य-कटिबन्ध में होकर ही आत्मा जा सकता है। वे मध्य-कटिबन्ध दो हैं—उत्तर और

दक्षिण। शुक्ल मार्ग का आत्मा उत्तर मार्ग से जाता है, और कृष्ण मार्ग का आत्मा दक्षिण मार्ग से। यही दिक् का नियम है। इन दोनों मार्गों का निर्देश पुराणों में इस प्रकार है :

नागवीथ्युत्तरं यच्च सप्तर्षिभ्यश्च दक्षिणम्।
उत्तरः सवितुः पन्था देवयान इति स्मृतः ॥१॥
उत्तरं यदगस्त्यस्य अजवीथ्याश्च दक्षिणम्।
पितृयानः स वै पन्था वैश्वानर पथाद् बहिः ॥२॥

अर्थात्, नागवीथी से उत्तर और सप्तर्षि से दक्षिण सूर्य का जो उत्तर की तरफ मार्ग है, उसे देवयान कहते हैं। अगस्त्य के तारे से जो उत्तर और अजवीथी दक्षिण है, वह वैश्वानर-मार्ग से बाहर पितृयान का मार्ग है।

विषुवत्-वृत्त के दोनों तरफ चौबीस-चौबीस अंश तक जितना प्रकाश-मण्डल है, उन्हीं में सब नक्षत्र-मण्डल वा ग्रह-मण्डल विद्यमान हैं। नक्षत्र २७ हैं। उनमें नौ-नौ नक्षत्र के हिसाब से ४८ अंश का पूर्वोक्त आकाश-मण्डल तीन भागों में बाँटा जाता है। उत्तरवाले तृतीयांश को 'ऐरावत-मार्ग' और मध्यवाले तृतीयांश को 'जरद्गव-मार्ग' और दक्षिण तृतीयांश को 'वैश्वानर-मार्ग' कहते हैं। इन तीनों मार्गों में से हर एक तीन-तीन भाग में बँटा हुआ है। उन भागों को 'वीथी' (गली) कहते हैं। इस प्रकार, तीन मार्ग और नौ वीथियाँ हैं। जिनमें 'ऐरावत-मार्ग' में उत्तर से दक्षिण की ओर क्रम से 'नाग-वीथी', 'गज-वीथी' और 'ऐरावत-वीथी' हैं और मध्य के 'जरद्गव-मार्ग' में 'ऋषभ-वीथी' 'गो-वीथी' और 'जरद्गव-वीथी' हैं एवं वैश्वानर-मार्ग में 'अज-वीथी' है।

इस प्रकार, सबसे उत्तर नाग-वीथी है, जिसके उत्तर देवयान है और मध्याकाश में सबसे दक्षिण वैश्वानर-मार्गवाली अज-वीथी है, उससे भी दक्षिण पितृयान है।

इसका स्पष्टीकरण यों है कि आकाश में सूर्य जहाँ स्थिर है, वहाँ से वह चारों ओर किरणों को फेंकता हुआ प्रकाश का एक महाविशाल मण्डल बनाता है। पुराणों में इसीको ब्रह्माण्ड कहते हैं। इस ब्रह्माण्ड का सिर सूर्य है, किन्तु यह प्रकाश-मण्डल चारों ओर जहाँ समाप्त होता है, उस सीमा को लोकालोक (प्रकाश-अप्रकाश) कहते हैं। यही लोक-अलोक ब्रह्माण्ड का 'पाँव' है। सूर्य से लोकालोक तक जो आकाश है, उसीके भीतर कहीं यह हमारी पृथ्वी है। इस पृथ्वी के कारण उस आकाश के दो भाग होते हैं। एक पृथ्वी से सूर्य तक, जो कि सिर की ओर होने के कारण ऊँचा कहलाता है, और दूसरा पृथ्वी से लोकालोक तक, जिसे पाँव की ओर होने के कारण नीचा कहते हैं। ऊँचा आकाश उत्तर-मार्ग है, वही देवयान है और नीचा आकाश दक्षिण-मार्ग है, वही पितृयान है। इस पृथ्वी से जब कोई आत्मा उत्क्रमण करेगा, तब उसके लिए आकाश के दो ही मार्ग हो सकते हैं—उत्तर, अर्थात् सूर्य की ओर अथवा दक्षिण, अर्थात् लोकालोक की ओर। सूर्य की ओर जाने को उत्तम मार्ग और ऊर्ध्वगति कहते हैं, किन्तु उसके विरुद्ध जाने को अधम मार्ग या अधोगति कहते हैं। इसीलिए, वेद में लिखा है :

द्वे सती अशृणवं, पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत् समेति यदन्तरा पितरं मातरं च ॥

अर्थात्, जो सूर्य पिता और पृथ्वी माता के बीच में जहाँ जो कुछ है, वह सारा विश्व पृथ्वी को छोड़कर यदि जाय, तो उसके लिए मैंने दो ही मार्ग सुने हैं। एक पितरों का और दूसरा देवों का, अर्थात् पितृयान और देवयान ये दो ही मार्ग मरणधर्मा जीवों के लिए निश्चित हैं।

इस प्रकार, लोकान्तर-गति का स्पष्ट विवरण वैदिक विज्ञान में प्राप्त होता है, जो अन्यत्र कहीं नहीं मिल सकता।

लोकान्तर जानेवाला शरीर

अब प्रश्न यह है कि सूक्ष्म शरीर वा प्राणात्मा, विज्ञानात्मा आदि केवल शक्ति-विशेष हैं। वे विना भूतों के कैसे रह सकते हैं, और कैसे लोकान्तर वा स्थानान्तर में जा सकते हैं? इसका उत्तर श्रुति के आधार पर विचार कर वेदान्त-दर्शन के ब्रह्मसूत्रों[1] में इस प्रकार किया गया है कि जिन पदार्थों का परस्पर साथ रहता है, वे यदि अलग भी किये जायँ, तो एक का अनुशय-रूप कुछ अंश दूसरे के साथ देर तक बना रहता है। जैसे, एक लोटे में यदि हम घी भर दें, तो घी के निकाल लेने पर भी लोटे में चिकनाई वहुत देर तक बनी रहेगी। वह घृत का अनुशय वा अंश है और पुष्पों के पास होकर निकलनेवाला वायु पुष्पों के कुछ अंश को अपने साथ ले जाया करता है। जिसके कारण हमें वायु में सुगन्ध प्रतीत होने लगती है। इसी प्रकार, चिरकाल तक जिस स्थूल शरीर में सूक्ष्म शरीर ने वास किया है, उसके कुछ अंश को वह साथ लेकर ही निकलता है। उसी सूक्ष्म अंश का नाम श्रुतियों ने अनुशय वा श्रद्धा[2] रखा है। इसको श्रुति-स्मृतियों में अंगुष्ठ-परिमित बताया है, अर्थात् इस सम्पूर्ण शरीर के फैले हुए अनुशय को यदि इकट्ठा किया जाय, जिस शरीर से यह निकला है, उसके हाथ के अँगूठे के बराबर इसका परिमाण होगा। इसका स्पष्टीकरण यों है कि पहले आत्मनिरूपण-प्रकरण में भूतात्मा के जो तीन भेद बताये जा चुके हैं, वैश्वानर तैजस और प्राज्ञ, उनमें वैश्वानर प्राण और प्राज्ञ ये दोनों साथ ही शरीर में प्रवेश करते हैं, साथ ही रहते हैं और साथ ही शरीर से बाहर जाते हैं, ऐसा ही कौषीतकि उपनिषद् में निरूपण किया गया है। उसमें प्रज्ञा से चेतना बनी रहती है, और वैश्वानर-अग्नि के सम्बन्ध से पाँचों भूतों का अनुशय साथ रहता है। क्योंकि, वैश्वानर का भूतों से ही विशेष सम्बन्ध है। इसी अनुशय के साथ आकाश में जाते समय वायु के द्वारा पाँचों भूतों के कुछ-कुछ अंश अपने-आप उस अनुशय में आ लगते हैं, सम्बद्ध हो जाते हैं। जिस प्रकार वायु द्वारा आकर वस्त्र पर या घर में गर्द जम जाती है, उसी प्रकार पंचभूतों का एक स्तर जम जाने से वही उस वैश्वानर या प्रज्ञात्मा का शरीर बन जाता है। इस शरीर को यातना-शरीर वा भोग-शरीर कहते हैं। जबतक दूसरे लोक में वहाँ के तत्त्वों को लेकर आत्मा नया शरीर ग्रहण न करे, तबतक यह भोग-शरीर नहीं मिटता, किन्तु नरक-लोक में जाने पर यह नया शरीर नहीं छूटता, इसी भोग-शरीर से नरक का भोग पाता है, इसीलिए इस

१. तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्।

२. तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धाञ्जुह्वति। —छान्दोग्य-उपनिषद्, प्रपाठ ५, खण्ड ४।

भोग-शरीर को विशेष रूप से यातना-शरीर कहते हैं। इसी प्रकार सूर्य, चन्द्र आदि लोकों से प्रत्यावर्त्तन के समय जब यह आत्मा पृथ्वी की ओर आता है, तब फिर वायु द्वारा पूर्ववत् नया भोग-शरीर उत्पन्न हो जाता है। कुछ विद्वानों का मत है कि यह वायु पृथ्वी से ऊपर बहुत ही थोड़ी दूर है, चन्द्रमा में वायु सर्वथा नहीं है, परन्तु यह मत विशेष आदरणीय नहीं है। वैदिक सिद्धान्त है कि आकाश का तिलमात्र प्रदेश भी कहीं वायु से शून्य नहीं है। पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य आदि घन-पिण्डों के चारों ओर वह वायु-स्तर कुछ स्थूल हो जाता है, किन्तु शेष स्थानों में अति सूक्ष्म रूप से स्तब्ध रहता है। इसी कारण, आधुनिक यन्त्रों में वायु का संचार स्पष्ट रूप से नहीं मालूम होता है, यह सम्भव है। पर्वतों के उच्च शिखर पर जाने से श्वास में बाधा पड़ती है, वह ऑक्सीजन की कमी के कारण है, न कि सर्वथा वायु के अभाव से। चन्द्रमा में भी वायु है और वहाँ भी जीव है। विष्णुपुराण में लिखा है :

> अङ्गुलस्याष्टभागोऽपि न सोऽस्ति मुनिसत्तम।
> न सन्ति प्राणिनो यत्र कर्मबन्धनिबन्धनाः॥ १॥
> स्थूलैः सूक्ष्मैस्तथा सूक्ष्मैः सूक्ष्मैः सूक्ष्मतरैरपि।
> स्थूलैः स्थूलतरैश्चैतत् सर्वं प्राणिभिरावृतम्॥ २॥

इस सिद्धान्त के अनुसार पृथ्वी से चन्द्रमा तक जाने में अथवा चन्द्रमा से पृथ्वी तक आने में पंचभूत के संयोग से एक कल्पित शरीर हो जाता है। किन्तु, उस शरीर में विशेषता यह है कि पृथ्वी पर जन्म लेने के पश्चात् यह भौतिक शरीर जिस प्रकार जीवन-काल में बढ़ता-घटता रहता है, उस प्रकार यह भौतिक शरीर नहीं बढ़ता है। पाषाण-खण्ड की तरह तेरह मास तक समान भाव से रहता है, अर्थात् इसमें बाल्य, युवा आदि अवस्था का परिवर्त्तन नहीं होता। जिस अवस्था का आत्मा प्रेत होता है, उसी अवस्था में रहता है, इसका कारण यह है कि इस भूतात्मा में जिस प्रकार वैश्वानर और प्राज्ञ आत्मा बने रहते हैं, उस प्रकार तैजस आत्मा नहीं रहता। तैजस आत्मा सूर्य, चन्द्र और विद्युत् से बना हुआ है। तैजस आत्मा में सूर्य-चन्द्र का भाग अलग होकर केवल विद्युत् का भाग ही साथ रहता है। किन्तु, बढ़ने-घटने की शक्ति वृक्ष या प्राणियों का ऊपर की ओर उठान या शरीर का फैलाव इस विद्युत् में सूर्य-चन्द्र के रस के याज्ञिक संयोग से होता है। प्रेतात्मा में सूर्य-चन्द्र के रस नष्ट होने से उसके ऊपर जाने की शक्ति जाती रहती है। इसलिए, यह यातना-शरीर ज्यों-का-त्यों समान भाव से बना रहता है। इस सम्बन्ध में यातना-शरीर की उत्पत्ति या परिवर्त्तन का क्रम मनुस्मृति के १२वें अध्याय में १६ से २२ श्लोक तक विशद रूप से निरूपित किया गया है। यह मार्ग के शरीर की स्थिति हुई। लोकान्तरों में उनके अनुकूल ही शरीर बनता है। जब-तक पितृलोक और देवलोक में रहे, तबतक वह शरीर रहता है। कर्म ही उन लोकों की स्थिति के कारण है। जैसे, पृथ्वी पर आने के बाद भौतिक अनुशय ही पृथ्वी से पंचभूतों को ग्रहण करके नया शरीर बनाता है और इस प्रकार शरीर संयुक्त होने को ही पृथ्वी पर जन्म कहते हैं। किन्तु, पृथ्वी से दूसरे लोकों में जाने के समय पृथ्वी का भौतिक शरीर पृथ्वी पर ही रह जाता है। केवल अनुशय लेकर चन्द्रमा में जाता है, वहाँ भी चन्द्रमा का रस सोम-

भाग इससे सम्मिलित होकर एक सौमिक शरीर बनाता है। उसी शरीर से चन्द्रमा में कुछ समय तक जीवन-निर्वाह करता है, वह शरीर भी चन्द्रमा से अन्यत्र नहीं जा सकता। इसी कारण, चन्द्रलोक से दूसरे लोक में जाते समय उस शरीर को छोड़कर केवल अनुशय को लेकर सूर्य या पृथ्वी में जाता है। सूर्य में भी वहाँ के अनुशय के कारण सूर्य का रस मिश्रित होकर सौर शरीर बनाता है, और उसी शरीर से कुछ समय तक सूर्य में स्थिति रहती है। किन्तु, सूर्य से दूसरे लोक में जाते समय उस सौर शरीर को वहीं छोड़कर केवल वहाँ के अनुशय को लेकर जाता है और यही कर्म-बन्धन-चक्र में परिभ्रमण का क्रम है, भिन्न-भिन्न तीन शरीर इन तीनों लोकों में जीवन के लिए स्थिति के कारण हैं।

पृथ्वी पर लौटने का मार्ग

चन्द्रलोक से लौटकर वह सूक्ष्म शरीर फिर किस मार्ग से पृथ्वी पर आता है और कैसे जन्म लेता है, यह मार्ग भी छान्दोग्य-उपनिषद्[1] के पूर्वोक्त प्रकरण में बताया गया है कि चन्द्रलोक में अपने उत्तम कर्मों का फल भोगकर फिर जीवात्मा उसी मार्ग से लौटता है। वह चन्द्र-मण्डल से आकाश में, आकाश से वायु में, वायु से विरल बाष्प-रूप में और फिर बाष्पघन-रूप में होकर मेघ-मण्डल में आ जाता है और मेघ के जल के साथ भूमि पर गिरकर अन्न, फल, घास आदि के रूप में प्रविष्ट हो जाता है। यह प्रक्रिया भी विज्ञानसिद्ध है। मेघ-मण्डल सोम से ही बनता है, इसलिए उसके उत्पादन में सोम घन चन्द्रमा का बहुत अंश लगता है। तब चन्द्र-मण्डल में रहनेवाला मनःप्रधान सूक्ष्म शरीर उस सोम के साथ मेघ-मण्डल में चला आये, यह युक्तिसिद्ध ही है और मेघ के जल के द्वारा जो अन्न, तृण वा फल उत्पन्न होते हैं, उनमें उसका प्रवेश भी युक्तिसिद्ध है। अब आगे फिर कर्म की महिमा चलती है। अपने कर्मानुसार जिस योनि में जिस व्यक्ति के यहाँ उसे जन्म लेना है, वही व्यक्ति उस अन्न, फल वा तृण को खायगा। यदि मनुष्य-योनि में जाना है, तो अन्न में प्रविष्ट होकर वह सूक्ष्म शरीर मनुष्य-रूप पिता के स्थूल शरीर में पहुँच जायगा, यदि पशु-योनि में जाना है, तो तृण आदि के द्वारा उसी पशु के स्थूल शरीर में पहुँच जायगा, जिसके यहाँ कर्मानुसार जन्म लेना है। इसी प्रकार, फलादि के रूप में पक्षी-शरीर में भी जा सकता है। वर्षा से ही सब वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, और वर्षा के जल के साथ आये हुए सूक्ष्म शरीर का उन अन्नादि के द्वारा मनुष्यादि के शरीर में प्रविष्ट हो जाना स्वाभाविक है। इसी आशय से श्रुति कहती है कि .

पुरुषे ह वा अमादितो गर्भो भवति।

(ऐ० उप० ५।१)

---

१. तस्मिन् यावत्सम्पातमुषित्वा अथैनमध्वानं पुनर्निवर्त्तन्ते, यथेतम्, आकाशम्, आकाशाद्वायुम्, वायुर्भूत्वा धूमो भवति। धूमो भूत्वाऽभ्रं भवति। अभ्रं भूत्वा मेघो भवति। मेघो भूत्वा वर्षति त इह व्रीहियवा, ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते। अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरम्, यो यो ह्यन्नमत्ति, यो रेतः सिञ्चति तद् भूय एव भवति। तद्य इह रमणीयचरणा इत्यादि।

—छान्दोग्य, प्रपा० ५, खं १०, कण्डिका, ५, ६, ७।

अर्थात्, 'पहले पुरुष गर्भ धारण करता है।' जब से सूक्ष्म शरीर का पुरुष के स्थूल शरीर में प्रवेश हो गया, तभी से पुरुष को गर्भ धारण हो गया। अब आयुर्वेद की प्रक्रिया के अनुसार उस अन्नादि से क्रमशः सात धातु बनेंगे। अन्न से रस, रस से रुधिर, रुधिर से मांस, मांस से मेदा, मेदा से अस्थि, अस्थि से मज्जा (ताँत =अस्थि का बन्धन करनेवाला कठिन भाग) और मज्जा से भी आगे शुक्र। अन्न-परिपाक से शुक्र बनने तक वह पिता के शरीर में घूमता रहता है। फिर, पिता के द्वारा माता के गर्भाशय में पहुँच जाता है और वहाँ कलिल, बुद्बुद आदि के क्रम से स्थूल शरीर धारण कर लेता है। जहाँ जन्म लेना है, वहीं पहुँचा देना कर्म की विचित्र महिमा है। शास्त्र में इसका दृष्टान्त दिया जाता है कि जिस प्रकार एक वत्स हजारों गौओं में भी अपनी माता को ढूँढ़ लेता है, उसी प्रकार कर्म अपने उपयुक्त स्थान को ढूँढ़कर वहाँ सूक्ष्म शरीर को पहुँचा देता है। इस प्रक्रिया को उपनिषदों में पंचाग्नि-विद्या नाम से उपदेश किया गया है। सोम-रूप सूक्ष्म शरीर जिन-जिन स्थानों में जाता है, उनको ही अग्नि नाम से और इस सूक्ष्म शरीर की गति को आहुति नाम से उपनिषदें कहती हैं। इसके अनुसार पहली अग्नि चन्द्रमा है, जिसमें श्रद्धा-रूप भूतानुशय के साथ सूक्ष्म शरीर की आहुति हुई। दूसरी अग्नि मेघ-मण्डल, तीसरी पृथ्वी, चौथी पुरुष का शरीर और पाँचवीं माता का गर्भाशय है। वहाँ आकर पुनः पुरुषाकार बन जाता है। यही श्रुति ने कहा कि पाँचवीं आहुति में पुनः पुरुषरूपता हो जाती है।

श्राद्ध की उपपत्ति

भारतीय संस्कृति में जो श्राद्ध-प्रक्रिया चलती है, उसका मुख्य रूप से वैज्ञानिक सम्बन्ध इस चन्द्रलोक-गति के साथ ही है। क्योंकि, श्राद्ध के भोक्ता पितर हैं और वे चन्द्र-मण्डल में ही रहते हैं। उक्त प्रक्रिया में जो श्रद्धा-रूप भूतों का अनुशय हम बता आये हैं, उसके पोषण के लिए ही यह श्राद्ध कर्म किया जाता है। मृत्यु के अनन्तर दाह होकर सबसे पहले दस दिनों में दशगात्र-पिण्ड दिये जाते हैं। गात्रपिण्ड शब्द का अर्थ है, गात्र = अर्थात् शरीर के बनानेवाले पिण्ड। कह चुके हैं कि सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर का अंगुष्ठ-मात्र भाग अनुशय-रूप से लेकर चला है। यज्ञ-प्रक्रिया में यह भी बताया जा चुका है कि प्रत्येक वस्तु में निर्गमन के द्वारा क्षीणता होती है। उसकी पूर्त्ति का भी आयोजन होना चाहिए। अपने शरीर को ही देखिए, मध्याह्न में पेट भरकर भोजन कर लिया, किन्तु रात्रि को फिर भूख लग जाती है और फिर भोजन की आवश्यकता आ पड़ती है। इसका कारण यही तो है कि प्रकृति के नियमानुसार जो अन्न हमने खाया था; वह रूपान्तर में चला गया और शरीर में पुनः क्षीणता आ गई। इसी प्रकार, एक वृक्ष में प्रातःकाल खूब जल दे दिया, किन्तु सायंकाल फिर जल-सेचन की आवश्यकता हो जाती है। तात्पर्य यह है कि प्रकृति के नियमानुसार आवागमन-प्रक्रिया से क्षीणता प्रत्येक पदार्थ में आती रहती है। हम समर्थ हैं। हमारे हाथ-पैर काम देते हैं, इसलिए अपनी क्षीणता की पूर्त्ति अपने उद्योग से आहार द्वारा कर लेते हैं। किन्तु, जो मृतात्मा लोकान्तर में जा रहे हैं, उनमें वाहिक शरीर में जो प्रकृति-नियमानुसार क्षीणता आयगी, उसकी पूर्त्ति करने की शक्ति नहीं। कदाचित् कहा जाय कि

प्रकृति-नियमानुसार ही क्षीणता की पूर्त्ति भी होती रहेगी, जैसा पूर्व बताया जा चुका है कि प्राकृत वायु-मण्डल उनसे चिपककर उनमें भूतों का संश्लेष कराता रहता है। ठीक है, किन्तु इसमें बड़ी हानि यह है कि यदि वायु-मण्डल की मात्रा ही उनमें बढ़ जायगी और सूर्य-चन्द्र के अंश बुद्धि वा मन वायु से आक्रान्त होकर दब जायेंगे, तो सूर्य-चन्द्र का आकर्षण उनपर न रहने से उनकी सूर्याभिमुख वा चन्द्राभिमुख गति रुक जायगी। विज्ञान के नियमानुसार सजातीय पर ही आकर्षण होता है। मन और बुद्धि चन्द्रमा और सूर्य के अंश हैं, अतः इन पर चन्द्रमा और सूर्य का आकर्षण हो सकता है। वायु पर उनका कोई आकर्षण नहीं हो सकता। यदि सूर्याभिमुख वा चन्द्राभिमुख उन आत्माओं की गति रुक गई, तो वे उन लोकों में न जाकर वायु में ही इतस्ततः भ्रमण करते रहेंगे। वायवीय शरीर प्रेत-पिशाचादि का होता है, अतः वे भी प्रेत-पिशाच-योनि में ही माने जायेंगे। इसी कारण, सनातन धर्म के अनुयायियों में प्रसिद्धि है कि अमुक व्यक्ति का श्राद्ध नहीं हुआ, वह तो वायु में उड़ता-फिरता है। इसी आपत्ति से, पिता-माता के सूक्ष्म शरीरों को बचाने के लिए वेद भगवान् पुत्रों को सम्बोधित करता है कि स्मरण करो, जिस समय तुम शरीर-विरहित थे, उस समय पिता-माता ने ही अपने अंशों से तुम्हारा शरीर बनाया था। आज वे पिता-माता शरीर-रहित होते जा रहे हैं, तो इस समय तुम्हारा काम है कि उनका शरीर बनाओ। इसी वेद की आज्ञा के अनुसार चावल आदि के पिण्डों में से सोम-भाग पहुँचाकर श्रद्धा-रूप अनुशय भाग की पुष्टि करना ही गात्र-पिण्डों का उद्देश्य है, जिससे उनका सोम-भाग परिपूर्ण होता रहे, और चन्द्र-मण्डल का आकर्षण उनपर पड़ता रहे। इसका संकेत वेद-मन्त्र में भी स्पष्ट है :

> यद् वो अग्निरजहादेकमङ्गं पितृभ्यो गमयन् जातवेदाः।
> तद् व एतत् पुनरप्याययामि साङ्गा पितरः स्वर्गे मादयध्वम् ॥
>
> (अथर्व०, १८।४।४)

'हे पितृलोक के पथिको ! अग्नि ने तुम्हारा एक शरीर जलाकर तुमसे छीन लिया है और सूक्ष्म शरीर से तुम्हें पितृलोक में भेजा है। उस तुम्हारे छीने हुए शरीर को मैं पुनः पुष्ट कर देता हूँ। तुम सांग बनकर स्वर्ग में आनन्द करो।' यह पिण्ड देनेवाला पुत्र कहता है।

तपस्वी, संन्यासी आदि जो देवयान से जा रहे हैं, उन्हें सोम द्वारा इस शरीर-पुष्टि की आवश्यकता नहीं होती। वे स्वयं अग्नि-रूप हैं। उनपर सूर्य के आकर्षण को कोई भूत रोक नहीं सकता। इसलिए, संन्यासियों के गात्र-पिण्ड नहीं किये जाते। भू-वायु का प्रभाव जहाँतक है, वहाँतक वायु का प्रभाव बचाने को सोम की पुष्टि अत्यावश्यक होती है, इसलिए दस दिन तक प्रतिदिन पिण्ड दिया जाता है। आगे जब वे भू-वायु के दबाव से निकलकर पितृलोक के पथ पर लग गये, तब प्रतिदिन आवश्यकता नहीं, प्रतिमास श्राद्ध किया जाता है। प्रतिदिन भी कुछ अन्न और जल-घट के दान का विधान है, जिससे यदि कुछ न्यूनता हो, तो पुष्टि होती रहे।

यह भी विचारने की बात है कि श्राद्ध में उन्हीं वस्तुओं को प्रशस्त माना गया है, जिनमें सोम की प्रधानता है। चावल आदि ओषधियों में सोम अधिक है और गोदुग्ध में बहुत ही अधिक है। इसलिए इन वस्तुओं को श्राद्ध में अति प्रशस्त माना जाता है; क्योंकि शरीर-पोषण के लिए सोम के ही पहुँचाने की आवश्यकता है और सोमप्रधान अन्न दुग्धादि से ही सोम जा सकता है। यदि यह प्रश्न हो कि हमारे दिये अन्न आदि में सोम की प्रधानता रहे, किन्तु उनके उस सोमांश को ऊपर पहुँचानेवाला कौन होगा, तो इसका उत्तर है कि जिन चन्द्र-सूर्य की किरणों की सहायता से मृत व्यक्ति के शरीरों का आकर्षण हुआ था, वे ही किरणें इन पदार्थों से भी सोम अंश को ले जायेंगी और उन शरीरों से मिला देंगी। सूर्य या चन्द्र की किरणों के साथ यहाँ के पदार्थों का सम्बन्ध जोड़नेवाली अग्नि है। उसका भी सम्बन्ध श्राद्ध-प्रक्रिया में रहता है। अन्ततः, एक प्रज्वलित दीपक तो श्राद्ध में अत्यावश्यक माना जाता है। वह दीपकादि की अग्नि अन्न के अंश का सम्बन्ध किरणों से जोड़ देती है। इस पर कई सज्जन ऐसा कुतर्क उठाते हैं कि यदि हमारे दिये हुए पिण्ड आदि का कुछ अंश किरणों के आकर्षण से ऊपर चला गया, तो उनमें न्यूनता प्रतीत होनी चाहिए। यदि सूक्ष्मता के कारण उस न्यूनता का आँख से ग्रहण न भी हो सके, तो यन्त्र से तौलकर देखिए, परिणाम में तो कुछ न्यूनता होनी चाहिए। किन्तु, पिण्ड तो जिस आकार का और जितनी तौल का रखा जाता है, वैसा ही बना रहता है, कोई न्यूनता उसमें नहीं आती। तब कैसे मान लिया जाय कि इसमें से अंश सूर्य-चन्द्र की किरण ले गये। इसका उत्तर वेदानुयायी विद्वान् यह देते हैं कि भ्रमर वा मधुमक्खी पुष्प आदि पर बैठकर उसका रस ले लेते हैं, यह तो सभी को मानना पड़ेगा। क्योंकि, वे उसे इकट्ठा कर मधु का एक छत्ता तक बना देते हैं, जिसमें से बहुत-सा मधु प्राप्त कर लिया जाता है। तब भ्रमरादि के बैठने से पहले और उसके पीछे क्या पुष्प आदि में आपको कुछ न्यूनता प्रतीत होती है ? वा किसी यन्त्र से तौलकर भी आप उस न्यूनता के परिमाण का पता लगा सकते हैं ? इसपर यही कहना पड़ेगा कि युक्ति द्वारा न्यूनता होना तो सिद्ध है, किन्तु अति सूक्ष्म न्यूनता को तौलने का अभी तक कोई यन्त्र निकला नहीं। बस, जब आप भ्रमर, मधुमक्खी आदि के द्वारा की गई पुष्प, रस आदि की न्यूनता को भी तौलने में असमर्थ हैं, तो सूर्य-चन्द्र की किरणों द्वारा होनेवाली उस अति सूक्ष्म न्यूनता को तौलने का कैसे साहस कर सकते हैं। पुराने चार्वाक आदि नास्तिकों ने श्राद्ध पर जो यह प्रश्न उठाया था कि :

मृतानामिह जन्तूनां श्राद्धं चेत् तृप्तिकारणम्।
प्रस्थितानां हि जन्तूनां वृथा पाथेयकल्पनम्॥

इसका आशय है कि मृत पुरुषों की तृप्ति यदि श्राद्ध में दिये अन्न के द्वारा हो जाती है, तो जो मनष्य विदेश जाते हों, वे अपने साथ भोजनादि ले जाने का कष्ट न करें, घर के लोगों को कह जाया करें कि हमारा श्राद्ध कर देना। यदि विदेश में जानेवालों को श्राद्ध का अन्न नहीं पहुँच सकता, तो लोकान्तर्गत मृतात्माओं को पहुँचेगा, यह केवल आडम्बर-मात्र है। यह उनका कुतर्क भी व्यर्थ है। क्योंकि, सूर्यचन्द्रादि की किरणों द्वारा अति सूक्ष्म अन्नादि का

अंश सूक्ष्म शरीरों को पहुँचा दिया जाता है। वे इतने से ही तृप्त हो जाते हैं। किन्तु, विदेश जानेवालों को तो स्थूल शरीर को तृप्त करने के लिए प्रचुर स्थूल अन्न की आवश्यकता है। वह किरणों द्वारा कैसे पहुँचाया जा सकता है।

पुनः प्रश्न उठता है कि पितृलोक के मार्ग में शतशः-सहस्रशः सूक्ष्म शरीर जा रहे होंगे, और पितृलोक में भी हजारों निवास कर रहे होंगे, तब एक व्यक्ति का दिया हुआ अन्न-पानादि उसके पिता-माता को ही प्राप्त हो, यह नियम किस आधार पर होगा। इसका वैज्ञानिक उत्तर है कि पिता-माता का सूत्र पुत्र आदि के साथ बँधा हुआ है। वह सूत्र ही उस अन्न-पानादि को इसके माता-पिता के पास ही पहुँचा देता है। इसका विवरण इस प्रकार है कि प्रत्येक मनुष्य का, सन्तानोत्पादन की शक्ति रखनेवाला जो शुक्र है, उसमें चौरासी अंश होते हैं, जिन्हें वैदिक विज्ञान में 'सहः' नाम से कहा जाता है। इनमें छप्पन अंश पूर्वपुरुषों से प्राप्त हुए हैं और २८ अंश इसके अपने अन्नपानादि द्वारा उपार्जित हैं। ५६ अंश जो पूर्वपुरुषों के बताये गये, उनमें से २१ इसके पिता के, १५ पितामह के, १० प्रपितामह के, ६ चतुर्थ पुरुष के, ३ पंचम पुरुष के और १ छठे पूर्वपुरुष का है। इन चौरासी अंशों में से यह भी सन्तानोत्पादन के लिए ५६ अंश का शुक्र-निर्वाप करेगा, जिनमें २१ अंश इसके अपने उपार्जित २८ में से जायेंगे और ३५ पूर्व पुरुषों के ५६ में से जायेंगे। उनमें भी १५ इस पिता के अपने पिता के होंगे। १० पितामह के, ६ प्रपितामह के, ३ चतुर्थ पुरुष के और एक अपने से पूर्व के पंचम पुरुष का होगा। अपने से पूर्व के षष्ठ पुरुष का जो एकमात्र अंश इस व्यक्ति में था, वह सूक्ष्म होने के कारण इसकी सन्तान में नहीं जायगा। यही क्रम आगे पौत्रादि में भी चलेगा, अर्थात् इस व्यक्ति के पौत्र में इसके १५ अंश, प्रपौत्र में १० अंश, चतुर्थ सन्तति में ६ अंश, पंचम सन्तान में ३ अंश और षष्ठ सन्तान में एक अंश पहुँचेगा। इसी सूत्र के कारण शास्त्रों में एक व्यक्ति को मध्य में रखकर उसका ६ पूर्व-पुरुषों से और ६ आगे की सन्तति से सापिण्ड्य माना जाता है। अपने-आप १ और आगे के ६ सन्तान यों सात पुरुष तक सापिण्ड्य चलता है—'सापिण्ड्यं साप्तपौरुषम्'। अपने से अष्टम पुरुष में जाकर सापिण्ड्य निवृत्त हो जाता है; क्योंकि वहाँ इसका कोई अंश नहीं पहुँचता। इनमें भी १० या इससे अधिक अंश जिसमें गये हैं या जिन पूर्वपुरुषों के अपने-आप में है, वे ऊपर और नीचे के तीन-तीन पुरुष मुख्य सपिण्ड हैं, अर्थात् १० तक अंश का घनीभूत होने के कारण पिण्ड नाम पड़ जाता है। इसलिए, श्राद्ध में पिण्ड तीन ही पुरुषों को दिया जाता है। आगे के ६, ३ और १ अंशवाले केवल लेपभाक्, अर्थात् लेपमात्र से तृप्त होनेवाले कहे जाते हैं :

> लेपभाजश्चतुर्थाद्याः पित्राद्याः पिण्डभागिनः।
> सप्तमः पिण्डदश तेषां सापिण्ड्यं साप्तपौरुषम् ॥

इसका अर्थ ऊपर किया जा चुका है। यही सापिण्ड्य-सूत्र का वर्णन है। भारतीय संस्कृति में विवाह श्राद्ध और अशौच के विचार में इसी सापिण्ड्य को देखना पड़ता है। जिस कन्या के साथ सात पुरुष तक अपना सम्बन्ध मिलता हो, उसके साथ विवाह करना

भारतीय संस्कृति में निषिद्ध माना गया है; क्योंकि एक ही पुरुष के अंश का सम्बन्ध वर-कन्या दोनों में रहने के कारण—ये दोनों भ्राता और भगिनी कहलाने के अधिकारी हैं। विवाह-सम्बन्ध इनका नहीं हो सकता। इसी प्रकार, सात पुरुषों तक जिनका परस्पर सम्बन्ध है, उनके यहाँ मृत्यु वा बालक के जन्म होने पर सात पुरुषों के वंश के सब अशुचि हो जाते हैं। सूत्र-सम्बन्ध से एक का अशौच, अर्थात् अपवित्रता सबमें पहुँच जाती है और पिण्डदान भी इसी सापिण्ड्य के अनुसार होता है। यह विवाहादि का वर्णन प्रसंगागत किया गया, प्रकृत विषय में यही वक्तव्य है कि पिता-माता आदि तीन पुरुषों के साथ अपना सम्बन्ध-सूत्र घनिष्ठ रूप से बँधा हुआ है और सामान्य सम्बन्ध-सूत्र सात पुरुषों तक है, वही सम्बन्ध-सूत्र हमारे दिये अन्नपानादि को हमारे ही पूर्वपुरुषों में पहुँचाता है। और, सम्बन्ध-सूत्र के आधार पर श्राद्ध-प्रक्रिया की सपिण्डन-विधि भी चलती है। अर्थात्, मासिक श्राद्धों का भोग करता हुआ सूक्ष्म शरीर-रूप प्रेतात्मा एक वर्ष में चन्द्र-मण्डल तक पहुँच जाता है। तब वहाँ जो इसके पूर्वपुरुष पहले से विद्यमान हैं, उनके साथ इसका सम्बन्ध जोड़कर इसे भी पितृ-श्रेणी में मिला देने का नाम सपिण्डीकरण है। जिस सप्तम पुरुष का अब कोई अंश पृथ्वी में नहीं रहा, वह इस लोक से मुक्ति पा जाता है। कर्मानुसार ऊपर चला जाता है या पृथ्वी पर लौट आता है। यह चक्र बराबर चलता रहता है। यह भी स्मरण रहे कि श्राद्ध-प्रक्रिया में सौर तिथि वा दूसरे समाजों की तारीख नहीं ली जाती, किन्तु चन्द्र-तिथि ही ली गई है। अर्थात्, श्रावण शुक्ल पंचमी को जिसका देहावसान हुआ, उसका श्राद्ध एक वर्ष तक प्रतिमास की शुक्ल-पंचमी को और आगे प्रति वर्ष श्रावण शुक्ल-पंचमी को ही होगा। यदि देहान्त के दिन मान लें कि १७ जुलाई थी या कर्क-संक्रान्ति का १० दिवस था, तो आगे श्राद्ध में कर्क के दस अंश वा १७ जुलाई से कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा। क्योंकि, चन्द्रमा और पृथ्वी का जैसा सम्बन्ध इस वर्ष की श्रावण शुक्ल-पंचमी को है, वैसा सम्बन्ध फिर अगली श्रावण शुक्ल-पंचमी को ही होगा और इसीलिए चन्द्र-मण्डल का मृत सूक्ष्म शरीर को ले जाते समय जैसा आकर्षण था, वैसा आकर्षण श्राद्धान्न के सोम-रस पर उसी दिन पड़ सकेगा, जिससे वह श्राद्धान्न का सोम चन्द्र-मण्डल में पहुँचकर श्राद्धकर्त्ता के पितरों का तृप्तिकारक होगा। इस अन्न-जल का पितरों से सम्बन्ध कराने का वर्णन अनेक वेद के मन्त्रों में है।[1] और, ब्राह्मण-भाग में भी दिव्य पितर और प्रेत पितरों के अन्नादि-प्राप्ति का स्थान-स्थान में उल्लेख है।

---

१. स्वधा पितृभ्यः पृथिवीषद्भ्यः। स्वधापितृभ्य अन्तरिक्ष सद्भ्यः।
स्वधा पितृभ्यः दिविषद्भ्यः। —अथ०, का० १८, अनु० ४, मं० ७८—८०।
ये च जीवा ये च मृता ये जाता ये च यज्ञियाः।
तेभ्यो घृतस्य कुल्यैतु मधुधारा व्युन्दती। —अथ०, का० १८, अनु० २, मं० ३५।
ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः।
सर्वांस्तानग्न आवह पितॄन् हविषे अत्तवे। —अथ०, का० १८, अनु० २, मं० ३४।
आयन्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः—
अस्मिन्यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधिब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्। —यजु०, १९।५८।

अमावस्या भी श्राद्ध का एक विशेष दिन माना गया है। इसका कारण है कि अमावस्या पितरों का मध्याह्न है और मध्याह्न ही भोजन का समय होता है। इसलिए, भोजन के समय पर भोजन पहुँचाना उचित है।

हम लोगों का एक मास पितृलोक का एक अहोरात्र कहा जाता है। दिन और रात्रि की परिभाषा यही है कि जिसको जितने काल तक सूर्य का दर्शन होना रहे, उतने काल तक उसके लिए दिन है और जितने काल तक सूर्य का दर्शन न हो, वही उसके लिए रात्रि है। हम लोगों के दिन-रात इसी आधार पर होते हैं--यह सभी जानते हैं। चन्द्र-मण्डल के ऊपरी भाग में (हमारी दृष्टि के विपरीत भाग में) रहनेवाले पितरों को १५ दिन बराबर सूर्य-दर्शन होता रहता है, और १५ दिन नहीं होता। सूर्य का भ्रमण माननेवाले वक्रता के कारण इसका उपपादन कर देते हैं कि अर्द्धाकाश दृश्याकाश है, उस भाग में जबतक सूर्य और चन्द्रमा दोनों रहें, तबतक चन्द्र-मण्डल-स्थित प्राणियों को सूर्य का दर्शन होता रहता है और दूसरे गोलार्द्ध में चले जाने पर वक्रता के कारण वे सूर्य को नहीं देख सकते। कृष्ण-पक्ष की अष्टमी से शुक्लपक्ष की अष्टमी तक उन्हें सूर्य-दर्शन होता है; क्योंकि उतने समय सूर्य और चन्द्रमा एक गोलार्द्ध में रहते हैं। शुक्लपक्ष की अष्टमी से कृष्णपक्ष की अष्टमी तक भिन्न गोलार्द्ध में रहने के कारण चन्द्र-मण्डल-स्थित प्राणी सूर्य को नहीं देख सकते, अतः उनकी यह रात्रि है। अमावस्या के दिन सूर्य और चन्द्रमा का एक साथ उदय होता है। चन्द्रमा के ठीक मस्तक पर उस दिन सूर्य रहता है। इसलिए, चन्द्र-मण्डल के ऊर्ध्व भाग में रहनेवालों के लिए वह मध्याह्न है और चन्द्रमा का हमारी ओर का भाग सूर्य का प्रकाश न पड़ने से उस दिन अप्रकाशित रहता है, इसलिए अमावस्या को हम चन्द्रमा नहीं देख सकते।

भूमि का भ्रमण माननेवाले इस बात को यों कहेंगे कि भूमि सूर्य के चारों ओर घूमती है और चन्द्रमा भूमि के चारों ओर। जबतक चन्द्रमा भूमि और सूर्य के मध्य भाग में कहीं रहता है, तबतक उसमें रहनेवाले प्राणियों को सूर्य-दर्शन होता है और चन्द्रमा के अंशों पर सूर्य का प्रकाश पड़ने के कारण हम भी चन्द्रमा को देखा करते हैं। किन्तु, जब चन्द्रमा घूमता हुआ सूर्य की विपरीत दशा में आ जाता है, अर्थात् सूर्य और चन्द्रमा के बीच में पृथ्वी आ जाती है, तब चन्द्र-मण्डल-स्थित प्राणियों को सूर्य का दर्शन नहीं होता। अमावस्या को चन्द्रमा ठीक सूर्य के सामने रहता है, इसलिए वह पितरों का मध्याह्न है और हमारी ओर के चन्द्रमा के भाग पर सूर्य-किरण न पड़ने से वह अप्रकाशित रहता है, इसलिए हमें अमावस्या को चन्द्र-दर्शन नहीं होता। अस्तु; किसी प्रकार मान लीजिए, अमावस्या को पितरों का मध्याह्न होना दोनों ही मतों में सिद्ध है। इसीलिए, उस दिन श्राद्ध आवश्यक माना गया है। अन्यान्य श्राद्ध के विशेष दिनों की भी उपपत्ति इसी प्रकार विचार करने से हो सकती है। आश्विन मास के कन्यागत श्राद्धों की उपपत्ति पहले बता चुके हैं।

दिन-रात्रि का विवरण

यहाँ प्रसंगागत अन्यान्य अहोरात्रों की संगति भी समझ लेनी चाहिए। देवताओं का अहोरात्र हमारे एक वर्ष का माना जाता है। देवताओं का निवास सुमेरु पर (ध्रुव तारा के

ठीक नीचे) माना गया है। वहाँ के प्राणी जबतक सूर्य उत्तर गोल में रहे, तबतक उसे देख सकते हैं। दक्षिण गोल में सूर्य के चले जाने पर उन्हें सूर्य-दर्शन नहीं हो सकता। क्योंकि, अपनी स्थिति से पूर्व और पश्चिम नब्बे-नब्बे अंश का दृश्य होता है। सूर्य मेष से तुला राशि तक ६ मास उत्तर गोल में रहता है, और तुला से मीन तक ६ मास दक्षिण गोल में, अतः देवताओं का मेष से कन्या के अन्त तक दिन और तुला से मीन तक रात्रि होती है। मकर-संक्रान्ति के दिन, जो देवताओं का दिनोदय माना जाता है, अर्द्ध रात्रि से दिन मान लेने का संकेत है। मकर-संक्रान्ति के दिन सूर्य उत्तर की ओर झुक जाता है, इसलिए उस दिन देवताओं का दिनोदय कह देते हैं, किन्तु वास्तविक दिनोदय मेष-संक्रान्ति को होता है। इसी प्रकार, पितरों का भी दिन कृष्णपक्ष को बताते हैं, किन्तु उनका वास्तविक दिनोदय कृष्णपक्ष की अष्टमी को है। पूर्णिमा को तो उनकी अर्द्ध रात्रि है। जिस प्रकार अन्य प्राणियों के लिए दिन और रात्रि का विभाग शास्त्रों में किया गया है, उसी प्रकार ब्रह्मा के भी दिन और रात्रि का विभाग है। ब्रह्मा की स्थिति स्वयं भूलोक में बता चुके हैं, जिस लोक के पेट में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड है, तब सूर्य कहीं भी रहे, ब्रह्मा के लिए तो अदृश्य हो नहीं सकता। उनके लिए तो उसी दिन अदृश्य होगा, जिस दिन सूर्य न रहेगा। बस इस आधार पर एक सूर्य की स्थिति का काल ही ब्रह्मा का एक दिन है। जिसका परिणाम हमारी एक हजार चतुर्युगी है। सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग और कलियुग, यह एक चतुर्युगी तैंतालीस लाख बीस हजार मानुष वर्षों में पूरी होती है। ऐसी एक हजार चतुर्युगी सूर्य की आयु का ब्रह्मा का एक दिन है, यह हमारे शास्त्र बताते हैं। इतने ही काल तक ब्रह्मा की रात्रि रहती है, अर्थात् सूर्य नहीं रहता, फिर दूसरा सूर्य बन जाने पर उनका दिनोदय हो जाता है। ऐसे तीन सौ साठ दिन-रात्रि व्यतीत होने पर ब्रह्मा का एक वर्ष, ऐसे सौ वर्ष व्यतीत होने पर एक ब्रह्मा की आयु पूर्ण हो जाती है। इसे ही परार्ध संख्या कहते हैं। यह भारतीय शास्त्रों की गणना है। अस्तु; यह प्रसंगागत विषय कहा गया है। प्रस्तुत विषय पितृश्राद्ध का है।

अन्यान्य देवलोकादि जातियों में भी (मुक्ति को छोड़कर) श्राद्ध का फल प्राप्त होना शास्त्रों में माना गया है। सूक्ष्म जगत् के परिचालक देवताओं की व्यवस्था के अनुसार हमारे दिये हुए अन्नपानादि, जिस योनि में हमारे पिता-माता हों, उसी योनि के खाद्य-रूप में परिणत होकर उन्हें प्राप्त हो जाते हैं। ऐसा वैदिक विज्ञान मानता है; किन्तु श्राद्ध का मुख्य वैज्ञानिक सम्बन्ध पितरों से ही है और वे चन्द्र-मण्डल में स्थित हैं, इसलिए उनके सम्बन्ध में उपपत्ति का विशेष विवरण किया गया। दिव्य पितरों के लिए भी श्रौत यागों में पिण्डादि दिये जाते हैं। वे सोमाकर्षण-क्रम से ही उन्हें प्राप्त होते हैं। यह पितरों का संक्षिप्त वर्णन हुआ।

मन्त्र-भाग में गति-विवरण

परलोक-गति का जो विवरण इस प्रकरण में दिया गया है, वह विषय उपनिषदों में विस्तार से निरूपित है। इसे पंचाग्नि-विद्या कहा जाता है। जैविलि क्षत्रिय से गौतम

गोत्र के उद्दालक ऋषि ने यह विद्या प्राप्त की थी—यह छान्दोग्य, बृहदारण्यक आदि उपनिषदों में आख्यात है। वहीं यह भी कहा गया है कि यह विद्या पहले क्षत्रियों के पास ही थी। उपनिषद् के उपाख्यान का वक्ता कहता है कि इसके पहले यह विद्या ब्राह्मण के पास नहीं गई। इसी आधार पर कई पाश्चात्य विद्वानों ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि आत्मगति-विद्या या पंचाग्नि-विद्या का प्रचलन इस देश में क्षत्रियों से ही आरम्भ हुआ। किन्तु, अन्वेषण से विदित हो जाता है कि इस विद्या के सिद्धान्त मन्त्र-भाग में भी स्पष्ट पाये जाते हैं और वे मन्त्र प्रायः ब्राह्मण-ऋषियों के ही दृष्ट हैं। इसके प्रमाण-स्वरूप हम यहाँ ब्राह्मण-ऋषियों के द्वारा दृष्ट कतिपय मन्त्र उपस्थित करते हैं। ऋग्वेद के १०वें मण्डल के १७वें सूक्त का तृतीय मन्त्र है :

पूषात्वेतश्चावयतु प्रविद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः।
सत्त्वैतेभ्यः परिददत् पितृभ्यो अग्निर्देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः॥

इस मन्त्र के ऋषि देवश्रवा हैं। इसमें मृत पुरुषों को उद्देश्य करके कहा जाता है कि सारे पशुओं तथा भुवन का रक्षक पूषा देवता (पृथ्वी का अधिष्ठाता देवता) तुमको इस लोक से प्रच्युत करे और अग्निदेव तुमको शोभन ज्ञान-सम्पन्न देवताओं अथवा पितरों में पहुँचावें।

इससे देवयान और पितृयान दोनों प्रकार के मार्गों का निर्देश हो जाता है। इसी प्रकार ऋग्वेद (मण्डल १०, सूक्त ८८, मन्त्र १५) में देवयान तथा पितृयान का स्पष्ट निर्देश है :

द्वे सृती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत् समेति यदन्तरा पितरं मातरं च॥

अर्थात्, हमने मनुष्यों के दो मार्ग ज्ञात किये हैं, एक देवताओं का, दूसरा पितरों का। इस सम्पूर्ण विश्व के प्राणी जब यहाँ से चलते हैं, तब उन्हीं मार्गों में होकर माता और पिता, अर्थात् पृथ्वी और स्वर्ग के मध्य में अन्तरिक्ष से जाते हैं।

अथर्व०, कां० १८, अध्याय १ का मन्त्र है :

प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिर्यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः।
उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्याति वरुणं च देवम्॥

अर्थात्, जिस मार्ग से हमारे पिता, पितामह आदि गये, उसी मार्ग से तुम भी जाओ। यम तथा वरुण राजा का दर्शन करो। इन मन्त्रों से पितृलोक-गति का विवरण स्पष्ट प्राप्त होता है।

अथर्व, १८।१ का एक और मन्त्र है। यह मन्त्र ऋग्वेद के १०वें मण्डल के १४वें सूक्त में भी है :

संगच्छस्व पितृभिः संयमेनेष्टापूर्त्तेन परमे व्योमन्।
हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि संगच्छस्व तन्वा सुवर्चाः॥

अर्थात्, हे मृत पुरुष ! तुमने समस्त पापों को छोड़कर इष्टापूर्त्त आदि कर्मों का अनुष्ठान किया है, उनके कारण अस्त होने के, अर्थात् मरने के अनन्तर यम और उनके शासित पितरों के साथ तुम्हारा समागम हो और वहाँ के कर्मभोग के अनन्तर फिर तुम तेजस्वी शरीर को प्राप्त करो।

ऋग्वेद, १०।१६।५ का मन्त्र है कि :

अवसृजत्पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधाभिः ।
आयुर्वसान उपवेतु शेषः संगच्छतां तन्वा जातवेदाः ॥

अर्थात्, हे अग्ने ! इस मृत पुरुष को, जिसने कि स्वधा-मन्त्रोच्चारणपूर्वक आदर-सहित तुम्हारी परिचर्या की है, पहले ले जाकर तुम पितरों से मिलाओ और फिर यह शेष कर्मों के साथ इस लोक में सुन्दर शरीर में जन्म धारण करे तथा अपनी आयु का उपभोग करे। इन मन्त्रों में पितृलोक से पुनरावृत्ति होकर पृथ्वी में शरीर ग्रहण का भी स्पष्ट वर्णन है।

अथर्ववेद के काण्ड १८, अध्याय २, मन्त्र ७ में भी मरते हुए पुरुष को उद्देश्य कर कहा गया है कि :

सूर्यं चक्षुषा गच्छ वातमात्मना दिवं च गच्छ पृथिवीं च धर्मभिः ।
अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रतितिष्ठा शरीरैः ॥

(अथर्व०, १८।२।७)

अर्थात्, तुम अपनी नेत्रेन्द्रिय के द्वारा सूर्यलोक में जाओ, अपने धर्माचरण द्वारा स्वर्गलोक या पृथ्वी की गति प्राप्त करो। तदनन्तर, पुनः शरीर की प्राप्ति के लिए (मेघ-स्थित) जल को प्राप्त करो। आगे सूक्ष्म शरीर द्वारा चावल, गेहूँ आदि ओषधियों में स्थित रहो।

इस मन्त्र के पूर्वार्ध में भिन्न-भिन्न लोकों की गति बताई गई है, जैसी पंचाग्नि-विद्या के द्वारा कही गई है। उत्तरार्ध में परलोक से लौटते समय जल और ओषधियों में आने का वर्णन किया है :

द्यौर्नः पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्नो माता पृथिवी महीयम् ।
उत्तानयोश्चम्वोर्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात् ॥

(ऋग्वेद, १।१६४।३३) : (अथ०, कां० ९, अनु० ५, सू० १०।१२)

इस मन्त्र में कहा गया है कि द्यु, अर्थात् स्वर्गलोकस्थ सूर्य-मण्डल हमारा, उत्पन्न करनेवाला पिता है। उससे सम्बद्ध तथा अन्तरिक्ष में विस्तृत किरण हमारे बान्धव हैं। यह पृथ्वी हमारी माता है। ऊर्ध्वमुख इन दोनों लोकों के मध्य में हमारा स्थान है, और यहीं पिता सूर्य ने गर्भाधान किया है। इस मन्त्र से पुनरावर्त्तन का क्रम स्पष्ट होता है :

पुंसि वै रेतो भवति तत्स्त्रियामनुषिच्यते ।
तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत्प्रजापतिरब्रवीत् ॥

(अथ०, ६।११।११।२)

अर्थात्, पहले सूक्ष्म शरीर पुरुष में प्रविष्ट होकर वीर्य-रूप बनता है। वही स्त्री के गर्भाशय में निषिक्त होकर पुत्र की उत्पत्ति का कारण बनता है। इस मन्त्र में पुरुष और स्त्री में होनेवाली दोनों आहुतियों का वर्णन है।

इस प्रकार, पंचाग्नि-विद्या के सिद्धान्त मन्त्र-भाग में भी प्राप्त हो जाते हैं। और, हम मन्त्रों के द्रष्टा ब्राह्मण ही हैं—इससे ब्राह्मण लोग आत्मविद्या वा आत्मगति-विद्या से वंचित थे, यह तो सिद्ध नहीं होता। उपनिषद् में जो कहा गया है कि यह विद्या इसके पूर्व ब्राह्मणों में नहीं थी; यह किसी कालविशेष का ही वर्णन हो सकता है। सम्भव है, कोई समय ऐसा आया हो कि ब्राह्मण इस विद्या के सिद्धान्तों को भूल गये हों, और उस समय जैविलि क्षत्रिय से ही यह विद्या गौतम द्वारा ब्राह्मणों में आई हो। किन्तु, बहुत पूर्वकाल में तो ब्राह्मणों द्वारा ही इस विद्या का भी आविष्कार हुआ था, अथवा यह भी सम्भव है कि मन्त्रों में प्रकीर्ण रूप से प्राप्त इन सिद्धान्तों का संकलन कर क्षत्रियों ने उन्हें एक विद्या का रूप दिया हो—और पंचाग्नि-विद्या इसका नाम क्षत्रियों ने ही रखा हो। विद्या-रूप में संकलित सिद्धान्तों को उद्दालक गौतम ने जैविलि क्षत्रिय से प्राप्त किया हो। इसी प्रकार, अन्यान्य एक-दो विद्याओं में भी ब्राह्मणों का क्षत्रियों से सीखना उपनिषदों में कहा गया है, किन्तु उनके भी मूल सिद्धान्त ब्राह्मण-दृष्ट मन्त्रों में प्राप्त हो जाते हैं। आत्मविद्या वा ईश्वर-विद्या तो मन्त्र-भाग में पूर्ण विस्तार से है, अतः आत्मविद्या से ही ब्राह्मणों को वंचित कहना तो निरा मनगढ़न्त कल्पना है। वस्तुतः, ब्राह्मणों और क्षत्रियों का सदा सहयोग ही वेदों से सिद्ध होता है, परस्पर विद्याओं का आदान-प्रदान भी इनमें सदा से चलता रहा। किन्तु, विद्या के सम्बन्ध में क्षत्रिय सदा ही ब्राह्मणों का आदर करते रहे, यह उक्त प्रकरणों से ही सिद्ध हो जाता है। वहाँ भी जैविलि आदि ने स्पष्ट कहा है कि 'ब्राह्मण क्षत्रिय का शिष्य बनें, यह विपरीत बात है। हम जो जानते हैं, वह निवेदन-रूप में आपके सामने उपस्थित कर देंगे—' इत्यादि। यह प्रसंगागत विषय था। आगे क्रम-प्राप्त देव-निरूपण किया जाता है।

देव-निरूपण

पितृ-प्राण से देव-प्राण का उद्भव होता है। ऋषि और पितृ शब्दों की तरह देव शब्द भी अनेक स्थानों में क्रमशः व्यवहार में आ गया है। मुख्य देव प्राण-रूप हैं, जिसमें शतपथब्राह्मण के चौदववें काण्ड का प्रमाण हम पूर्व उद्धृत कर चुके हैं। वे प्राण जिन प्राणियों में प्रधान रूप से रहते हैं, वे सूर्य-मण्डल और उसके समीपवर्त्ती लोकों के प्राणी भी देव कहलाते हैं। देव-प्राणों की जिनमें विशेषता है, वे तारा-मण्डल भी देव और उनके विशेष वाचक इन्द्र, वरुण आदि शब्दों से कहे जाते हैं एवं इन विद्याओं के पूर्णतया जाननेवाले को भी मनुष्य देव शब्द से ब्राह्मणों में कहा गया है। इनके अतिरिक्त पूर्व युगों में इस हमारी पृथ्वी में ही त्रिलोकी की कल्पना हुई थी। पृथ्वी पर ही स्वर्ग, भूमि, पाताल आदि के प्रदेश बनाये गये थे। शर्यणावत पर्वत से उत्तर के सुमेरु तक का प्रदेश स्वर्ग माना जाता था और उस प्रदेश के निवासी प्राणी देव शब्द और उसके विशेष वाचक इन्द्र, वरुण, यम, कुबेर, अग्नि आदि नामों से व्यहृत होते थे। इनके विरोधी असुर, राक्षसादि शब्दों से कहे जाते थे।

इनके संग्रामों का विस्तृत वर्णन वेदों में है और भारतीय राजा दशरथ, दुष्यन्त, अर्जुन आदि स्वर्ग-लोक में जाकर जिन देवों के सहायक बने, या जिनके पास अध्ययन किया और जिनसे सत्कार पाया, वे देव इसी उत्तर खण्ड के निवासी थे। किन्तु, यह सब विषय ऐतिहासिक है, अतः इस वैज्ञानिक निवन्ध में अप्रस्तुत समझकर हम उसका यहाँ विवरण नहीं करेंगे। उस ऐतिहासक विषय के लिए एक स्वतन्त्र महानिवन्ध की आवश्यकता है। सूर्य-मण्डल के समीपवर्त्ती देवलोक के प्राणियों अष्टसिद्धि जन्म से ही प्राप्त है, अतः वे भी यथेच्छ मनुष्याकार धारण कर पृथ्वीलोक में आते हैं, जिनका विवरण भी श्रुति, पुराणादि में प्राप्त होता है और सांख्यदर्शन में भी उनका विवरण है। किन्तु, वह भी एक प्रकार का ऐतिहासिक विषय है। वैज्ञानिक विषय में हमें प्रधानतयः प्राण-रूप देवताओं का ही विवरण करना है।

प्राण-रूप देवता निरुक्तकार के मतानुसार मुख्यतः तीन हैं—पृथ्वी का देवता अग्नि, अन्तरिक्ष का वायु और स्वर्ग वा द्युलोक का आदित्य। सूर्य-मण्डल के अधिष्ठाता देवता का इन्द्र शब्द से भी व्यवहार बहुधा देखा गया है। अन्य समस्त देवता इनके ही अवान्तर विशेष हैं। इन देवताओं की स्तुति वेद-मन्त्रों में बहुत अधिक प्राप्त है और स्तुति में विशेषणों के द्वारा इन देवताओं का विज्ञान भी संकेत-रूप में प्रकाशित किया गया है। इनके कतिपय उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किये जाते हैं। प्रथमतः, अग्नि-देवता का प्रधान मन्त्र, जो ऋग्वेद-संहिता के आरम्भ में ही आता है, उसी का विवरण देखिए।

अग्निदेव

कहा जा चुका है कि वेद विज्ञान की उच्च पुस्तक है। उसमें बड़े संक्षेप में संकेत-मात्र से बड़े-बड़े विज्ञान बताये गये हैं। देवताओं की स्तुति का भाग ही वेद-संहिताओं में (खासकर ऋग्वेद में) प्रधान है और देवताओं के विशेषणों पर गम्भीर दृष्टि डालने से पता चलता है कि थोड़े अक्षरों में बहुत-सी बातें कही गई हैं। गागर में सागर भरा गया है।

मन्त्र का पाठ यों है :

ॐ अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्॥

यह अग्निदेव की स्तुति है। अग्नि के कई विशेषण इस मन्त्र में हैं। उनमें से विशेषण है, 'पुरोहितम्'। इसका शब्दार्थ है आगे रखा हुआ। पहले कई बार कहा जा चुका है कि 'अग्नि' यह नाम अनेक देवताओं के लिए व्यवहार में आया है। पृथ्वी की अग्नि, अन्तरिक्ष की विद्युद्रूप अग्नि और द्युलोक की सूर्य-रूप अग्नि तीनों अग्नि ही हैं। उनमें से ऋग्वेद इस पार्थिव अग्नि को मुख्य आधार मानकर, इसके सम्बन्ध में सब देवताओं का विज्ञान प्रकट करता है; यजुर्वेद मध्यम अग्नि, वायु वा विद्युत् को मुख्य आधार रखता है और सामवेद सूर्य-रूप अग्नि के सम्बन्ध से सब विज्ञान प्रकट करता है। इसका संकेत तीनों वेदों के आरम्भ में है। ऋग्वेद का भी प्रारम्भ अग्नि पद से है—'अग्निमीले पुरोहितम्'

और सामवेद का भी आरम्भ अग्नि पद से है—'अग्न आयाहि वीतये'। किन्तु, सामवेद में कहा जाता है कि हे अग्ने ! तुम हमारी रक्षा के लिए आओ। इससे ही सिद्ध हो गया कि वह आनेवाले अग्नि से सम्बन्ध रखता है। सूर्याग्नि बाहर से हमारे पास आता है। किन्तु, ऋग्वेद प्रारम्भ में ही कहता है कि 'अग्निमीले पुरोहितम्', अर्थात् मैं अग्नि की स्तुति करता हूँ, जो हमारे आगे विद्यमान है। इससे यह स्पष्ट हो गया कि एक अग्नि सदा हमारे पास है, और एक ऊपर से आनेवाली है। इन दोनों में भी आपस में जन्य-जनक-भाव है, एक दूसरे से पैदा होता है, अतएव मूल में दोनों एक ही हैं। यह दूसरी ऋचाओं में प्रकट किया गया है। किन्तु, कार्य दोनों का भिन्न-भिन्न है, इसलिए यहाँ प्रसिद्ध भेद के ही आधार पर दोनों को पृथक्-पृथक रखा है। अस्तु;

फिर उसी 'पुरोहितम्' विशेषण पर विचार कीजिए। 'अग्नि पुरः—अग्रे, हित—स्थापित है', अतः जो कुछ हमारे सामने है, वह सब अग्नि है। इस पुरोहित विशेषण के साथ भगवान् यास्क की उस उक्ति को मिलाइए 'यत्किञ्चिद्दार्ष्टिविषयकम्, अग्निकर्मैव तत्' (निरु०, अ० ७), अर्थात् जो कुछ दृष्टि में आता है, वह सब अग्निकर्म है। जितने पार्थिव पदार्थ हैं, उन सबमें अग्नि व्यापक है, वा यों कहें कि वे सब अग्नि ही हैं। अग्नि ही भिन्न-भिन्न पदार्थ के रूप में हमारे सामने रखी हुई है। यही मौलिक तत्त्व-रूप अग्नि है, उष्णता या दाह इसी की एक अवस्था है। वही अग्नि-प्राण जब एक गति-विशेष धारण करता है, तब उष्णता प्रकट हो जाती है और जिसमें वह प्रकट होता है, वह सम्पूर्ण वस्तु मौलिक अग्नि के रूप में चली जाती है। यों, 'पुरोहितम्' यह चार अक्षर का विशेषण अग्नि-तत्त्व की व्यापकता का विज्ञान हमें स्पष्ट बता देता है। इस विज्ञान को दूसरे मन्त्रों में इतना स्पष्ट पाते हैं कि इसपर सन्देह करने का कोई अवसर नहीं रहता। यजुर्वेद (अ० १२।३७) में अग्नि की स्तुति का एक मन्त्र है :

गर्भो अस्योषधीनां गर्भो वनस्पतीनाम् ।
गर्भो विश्वस्य भूतस्याग्ने गर्भो अपामसि ॥
(यजु०, १२।३७)

अर्थात्, हे अग्ने, तुम ओषधियों के गर्भ में हो, वनस्पतियों के गर्भ में हो, सब भूतों के गर्भ में हो और जल के भी गर्भ में हो। कितने स्पष्ट अक्षर हैं। ऋग्वेद की एक ऋचा और भी विस्तार से कहती है :

गर्भो यो अपां गर्भो वनानां गर्भश्च स्थातां गर्भश्चरथाम् ।
अद्रौ चिदस्मा अन्तर्दुरोणे विशां न विश्वो अमृतः स्वाधीः ॥
(ऋ०, १।७०।२)

न केवल, व्यापकता, किन्तु वृक्ष, लता का बढ़ना, फैलना इसी मौलिक तत्त्व-रूप अग्नि के कारण होता है। यह भी मन्त्र में स्पष्ट कहा है :

प्रमातुः प्रतरं गुह्यमिच्छन् कुमारो न वीरुधः सर्पदुर्वीः ।
ससं न पक्वमविदच्छुचन्तं रिरिह्वांसं रिप उपस्थे अन्तः ॥
(ऋ०, १०।७९।३)

सायण-भाष्य के अनुसार इस मन्त्र का अर्थ है कि माता पृथ्वी की बहुत-सी लताओं में और उन लताओं के उत्कृष्टतम गुह्यस्थान मूल में इच्छा करती हुई अग्नि, बच्चे की तरह सरकती है, और वह पके हुए अन्न की तरह आकाश का आस्वादन करनेवाले शुद्ध नीरस वृक्ष को पृथ्वी के भीतर के भाग में प्राप्त होती है।

यहाँ विचार करने पर स्पष्ट विदित होता है कि तृतीय और चतुर्थ पाद को मिला देने से अर्थ असमंजस हो गया है। दोनों को पृथक्-पृथक् रखने पर स्पष्ट अर्थ यह होगा कि अग्नि पक्व शुष्क वृक्ष से भी किसी रूप में सम्बन्ध रखती है और जो पृथ्वी के भीतर से रस ले रही है, उस वृक्ष से भी (पूर्वोक्त) प्रकार से सम्बन्ध रखती है।

वृक्ष, लता आदि का बढ़ने का वैज्ञानिक कारण पहले लिख चुके हैं कि जो जल इनकी जड़ में दिया जाता है, उसके रस को स्वाभावतः सूर्य-किरण ऊपर खींचती है। अग्नि से उसका सम्बन्ध हो चुका है, इसलिए पृथ्वी के रस को लिये हुए यह अग्नि भी साथ ही ऊपर को सरकती जाती है। यही ऋचा के पूर्वार्द्ध में गुह्य मूल से अग्नि का सर्पण स्पष्ट अक्षरों में कहा है। फलतः, ऊपर की गर्मी से ऊपर का भाग सूखकर एक पतले तने (टहनी) के रूप में चला जाता है और भीतर से रस चलता ही रहता है। यों ही ज्यों-ज्यों अधिक रस खिंचता जायगा, वृक्ष-लता आदि भी बढ़ते ही जायेंगे तथा पुष्ट भी होते जायेंगे। ऊर्ध्व-प्रसरण से वृद्धि और तिर्यक्-प्रसरण से पुष्टि होती है। रस के तिर्यक् फैलने से ही पत्ते आदि बनते हैं। किन्तु, यह सब मूल स्थान के प्रजापति पर अवलम्बित हैं, जिसे ऋचा में 'प्रतरम्'—उत्कृष्टतर कहा है। उस प्रजापति में जितना और जिस प्रकार का बल होता है, उतना और उसी प्रकार का वृक्ष, लता आदि का प्रसरण होता है। यह भी यज्ञ-प्रक्रिया में कह आये हैं कि पृथ्वी-रस का रूप कृष्ण है, और सूर्य के उत्ताप का परिपक्व रक्त या पीत। जैसे, 'पिशङ्ग द्रापिं प्रतिमुञ्चते कविः' (ऋ०, ४।५३।२) इस ऋचा में स्पष्ट किया गया है। दोनों के मेल से लता-पत्र आदि में हरित रूप होता है। किन्तु, जब कारण पाकर नीचे से पृथ्वी का रस जाना बन्द हो जाता है, तब हरित रूप रह जाता है। केवल उत्ताप का पीत रूप ही भासित होने लगता है। उस समय उस वृक्ष आदि का अन्तःस्थित अग्निमूल पार्थिव अग्नि से सम्बन्ध तोड़ लेता है और वृक्षादि के ऊपर स्वतन्त्र रूप से स्थिर हो जाता है। ये ही अग्नि की दोनों दशाएँ ऋचा के उत्तरार्द्ध में बताई गई हैं।

यह वृक्षादि का विज्ञान ब्राह्मणों में अधिक स्पष्ट रूप से निरूपित है और 'अग्निर्वै शर्माण्यन्नादीनि प्रयच्छति' (ऐतरेय ब्रा०, २।५।९) इत्यादि वाक्यों में अग्नि को स्पष्ट अन्नादि सब पदार्थों को उत्पन्न करनेवाली बताया गया है। जीवधारी मनुष्य, पशु आदि के शरीर की रचना भी गर्भाशय की अग्नि की ही महिमा है। तात्पर्य यह कि पृथ्वी में जो कुछ है, वह अग्नि-कर्म या अग्नि-रूप है। इसलिए, अग्नि ही पुरोहित है।

ऋग्वेद की प्रथम ऋचा में अग्नि का दूसरा विशेषण है 'यज्ञस्य देवम्'—यज्ञ का अधिष्ठाता वा प्रकाशक। यज्ञ का विज्ञान संक्षेप में पूर्व बता चुके हैं। हर एक चेतन या अचेतन जगत् की वस्तु औरों से कुछ लेती है, और औरों को कुछ देती है। हमारी पृथ्वी

अन्तरिक्ष और सूर्य से बहुत-कुछ प्राप्त करती और अपने यहाँ से उन लोगों को बहुत-कुछ देती भी है, यही यज्ञ है। और, यही वेद का मुख्य विज्ञान है। उस यज्ञ का मुख्य आधार अग्नि ही है। अग्नि के द्वारा ही हम दूसरे लोकों के पदार्थों को प्राप्त करते हैं और अग्नि के द्वारा ही वहाँ पहुँचा सकते हैं। मौलिक तत्त्व-रूप अग्नि ताप देनेवाली यौगिक वैश्वानर अग्नि को उत्पन्न करती है, और उस वैश्वानर से सब का प्रकार यज्ञ होता है। ऐतरेय ब्राह्मण में कहा है : 'यदाग्निः प्रवानिव दहति तदस्य वायव्यं रूपम्', (३।१।४), अग्नि गमनशील होकर दाह जिस समय करने लगती है, यह इसका वायु-देवता के सम्बन्ध का रूप है। यों ही भिन्न-भिन्न देवता-सम्बन्ध से भिन्न-भिन्न अग्नि के रूपों का वहाँ वर्णन है। अस्तु; यह 'यज्ञस्य देवम्' विशेषण बहुत गम्भीर और वैदिक विज्ञान का सार है।

आगे अग्नि का तीसरा विशेषण है 'ऋत्विजम्', इसका अर्थ है 'ऋतुभिर्यजति', ऋतुओं से मिली हुई अथवा ऋतुओं—अब फिर 'वसन्त' में दूसरी संवत्सराग्नि उत्पन्न होने लगी। विज्ञ पाठक समझ गये होंगे कि वसन्त आदि नाम मुख्यतः ऋतु-अग्नि के ही हैं। उसके सम्बन्ध से काल (ऋतु) वाचक हो गये हैं। इस अग्नि के द्वारा जिस-जिस समय में जो-जो पदार्थ प्रधानता से इस भू-मण्डल की वस्तुओं में आविर्भूत होते हैं, उनके सम्बन्ध से बारह महीनों के वैदिक नाम हुए हैं। चैत्र आदि मासों के वैदिक नाम क्रमशः इस प्रकार हैं : १. मधु, २. माधव, ३. शुक्र, ४. शुचि, ५. नभ, ६ नभस्य, ७. इष, ८. ऊर्ज, ९. सह, १०. सहस्य, ११. तप और १२. तपस्य। आप चमत्कार के साथ देखेंगे कि दो-दो महीनों के जोड़े का सम्बन्ध नामों से कैसी अच्छी तरह प्रकट होता है।

प्रथम दो महीनों (चैत्र-वैशाख) में सूर्याग्नि के द्वारा मधु विशेषतया आता है, आगे शुक्र और शुचि (ज्येष्ठ-आषाढ) में उष्णता-रूप अग्नि की प्रधानता रहती है। शुचि नाम अग्निविशेष का ही है। फिर, नभ और नभस्य (श्रावण-भाद्रपद) में वही अग्नि जल-रूप होकर सब पदार्थों में रस देती है। आगे इष और ऊर्ज (आश्विन-कार्त्तिक) में जल-रस अन्न के रूप में परिणत होता है और उसके द्वारा बलाधान होने लगता है (इष नाम अन्न का और ऊर्ज नाम बल का है)। आगे मह-सहस्य (मार्गशीर्ष-पौष) में बल की ही प्रधानता रहती है। इन दिनों सौराग्नि के द्वारा हमें बल मिलता है (सह नाम बल का है)। फिर, तप और तपस्य (माघ-फाल्गुन) में ऊष्मा का आरम्भ हो जाता है। अनुभव से और वैद्यक-शास्त्र से इन सब बातों की पुष्टि हो सकती है। अस्तु; इस ऋताग्नि के सम्बन्ध में ही पूर्वार्द्ध मन्त्र बड़ी उत्तम रीति से लग जाता है।

सारांश यह कि सूर्य-मण्डल और पृथ्वी के परिवर्त्तनशील सम्बन्ध के अनुसार भिन्न-भिन्न स्थिति से, सूर्य-मण्डल में उत्पन्न होकर ब्रह्माण्ड के प्रत्येक पदार्थ में प्रविष्ट होनेवाले और सब पदार्थों का धारण करनेवाले सबमें शक्ति प्रदान करनेवाला प्राण-रूप अग्नि का ही नाम ऋताग्नि या संवत्सराग्नि है। एक वर्ष तक एक संवत्सराग्नि की स्थिति है, और इस बीच में वह क्रमशः परिवर्त्तित होता रहता है। इसी के सम्बन्ध से भिन्न-भिन्न समय (मौसम) का नाम ऋतु पड़ता है। साथ ही यह भी कहा जा चुका है कि मकर-संक्रान्ति से कर्क-

संक्रान्ति तक इस अग्नि का उन्नति-काल है, और कर्क से मकर तक क्रमशः ह्रास-काल। इस सम्बन्ध में इतना और ध्यान में रखना होगा कि जब सौर अग्नि का उन्नति-काल होता है, तब पार्थिव अग्नि का ह्रास-काल होता है, और जब सौर अग्नि का ह्रास-काल होता है, तब पार्थिव अग्नि का उन्नति-काल होता है। यह विज्ञान, आयुर्वेद आदि प्रायः सभी शास्त्रों का सिद्धान्त है, और अनुभवसिद्ध भी है; क्योंकि ग्रीष्मकाल में पृथ्वी के भीतरी भाग में ठण्ड और शीत-काल में गरमी रहती है। सौर अग्नि को उन्नति-काल में ऋत शब्द से, और क्षय-काल (ह्रास-काल) में सत्य शब्द से कहते हैं। अथवा, यों कहें कि सौर अग्नि को ऋत से और पर्थिव अग्नि को सत्य शब्द से कहा जाता है; क्योंकि सौर अग्नि की ह्रास-दशा में पार्थिव अग्नि ही उन्नति पर रहती है। उस समय वही सब पदार्थों का प्राण है। अस्तु; किसी भी प्रकार से हो, अग्नि की ये दोनों अवस्थाएँ ऋत और सत्य शब्द से कही गई हैं। ऋत और सत्य अग्निविशेष के ही नाम हैं। यह तैत्तिरीय शाखा में स्पष्ट रूप से निरूपित हुआ है। वस्तुतः, वैदिक परिभाषा में 'ऋत' उसे कहते हैं, जो प्रकीर्ण भाव में रहे, अर्थात् केन्द्र बनाकर न रहे और सत्य उसे कहते हैं, जो केन्द्रबद्ध हो। जल केन्द्र बनाकर नहीं रहता, प्रकीर्णभाव में रहता है, इसलिए वह 'ऋत' है, और पृथ्वी वा पार्थिव पदार्थ सदा केन्द्र बनाकर ही रहते हैं इसलिए वे 'सत्य' शब्द से कहे जाते हैं। पहले जिन पाँच मण्डलों का हम वर्णन कर आये हैं, उनमें एक-एक ऋत और एक-एक सत्य का क्रम है। स्वयम्भू-मण्डल सत्य है और परमेष्ठी सोम प्रधान होने के कारण ऋत है। फिर, सूर्य-मण्डल सत्य और अन्तरिक्ष का वायु ऋत है। आगे पृथ्वी सत्य है। इन दोनों शब्दों से इनका बहुधा वर्णन श्रुति में हुआ है। अस्तु; सूर्य-मण्डल से आई हुई अग्नि प्रकीर्ण भाव में ही रहती है, केन्द्र नहीं बनाती, इसलिए वह ऋत है और पार्थिव अग्नि पृथ्वी-केन्द्र में है, इसलिए वह सत्य है।

यह भी स्पष्ट है कि अग्नि की उन्नति के समय को दिन और ह्रास (अवनति—क्षय) के समय को रात्रि कहते हैं। ये दिन और रात्रि शब्द भी तीन अर्थों में प्रयुक्त होते हैं। एक, हम लोगों के दिन और रात प्रसिद्ध ही हैं। दूसरा, शुक्लपक्ष को दिन और कृष्णपक्ष को रात्रि कहते हैं। यह दिन-रात्रि-विभाग चन्द्रमा या चन्द्रमा से सम्बन्ध रखनेवाले पितरों के सम्बन्ध से है। तीसरा उत्तरायण को दिन और दक्षिणायन को रात्रि कहा जाता है। यह विभाग भगवान् सूर्य या सूर्य से सम्बद्ध देवताओं में होता है। प्रकृत मन्त्र की व्याख्या में सौर अग्नि का सम्बन्ध होने के कारण एक वर्ष के दो विभाग-रूप उत्तरायण और दक्षिणायन को ही मुख्यतया दिन और रात्रि समझना विशेष उपयुक्त होगा। वैदिक भाषा में दिन का नाम 'शब्द' और रात्रि का नाम 'सगरा' है।

वेद के कोष-निघण्टु में अन्तरिक्ष (आकाश) का नाम समुद्र और सागर भी आया है। किन्तु, वैज्ञानिक सूक्ष्म विचार के अनुसार इनमें इतना अन्तर अवश्य है कि अन्तरिक्ष का वह गोलार्द्ध, जिसमें सूर्य-मण्डल की स्थिति हो, समुद्र शब्द से कहा जाना चाहिए, और सूर्यमण्डल-रहित गोलार्द्ध सागर या अर्णव शब्द से। फलतः, जब मकर-वृत्त पर सूर्य हो, तब मकर से कर्क तक का प्रदेश समुद्र कहलायगा, और कर्क से मकर के पूर्व

तक का सागर या अर्णव कहा जायगा। यह विभाग भी उक्त सौर अग्नि के सम्बन्ध से ही होता है। जिस अन्तरिक्ष-विभाग में ऋताग्नि पूर्ण व्याप्त है, वह समुद्र और जिसमें उसका ह्रास है, वह सागर या अर्णव है। इस प्रकार अग्नि, अग्नि-सम्बन्धी काल और उस अग्नि की व्याप्ति का प्रदेश इन तीनों का विवरण उक्त अघमर्षणसूक्त के मन्त्रों में किया गया है।

अब 'ऋतं च' इत्यादि पूर्वलिखित मन्त्रों का अक्षरार्थ स्पष्ट और सरल ही है कि (अभीद्ध) प्रदीप्त, अर्थात् सूर्य-सम्नाक्रान्त (तपसः अधि), अर्थात् माघ मास से आरम्भ कर ऋत और सत्य नाम की अग्नि उत्पन्न होती है। (अभीद्ध) प्रदीप्त विशेषण देने से तात्पर्य यही है कि यथार्थ में सूर्य से ही अग्नि की उत्पत्ति है, माघ मास-रूप काल तो निमित्तमात्र है। (ततः) उसी अग्नि के कारण रात्रि उत्पन्न होती है, अर्थात् दिन और रात्रि का विभाग होता है, जैसा कि पहले कहा गया। अथवा (ततः) उस अग्नि की उत्पत्ति के अनन्तर रात्रि (अजायत) समाप्त हो जाती है, अर्थात् दिन आरम्भ होता है। 'अजायत' भूतकाल का प्रयोग है—इससे उत्पन्न हो चुका, अर्थात् अब नहीं है—इससे समाप्ति व्यंजित होती है। अस्तुः और (ततः) उसी अग्नि के कारण समुद्र और अर्णव ये दोनों अन्तरिक्ष के प्रदेश विभक्त होते हैं। इस प्रकार अग्नि, काल और प्रदेश के दोनों विभागों की पूर्णता के अनन्तर (समुद्रादर्णवादधि) अर्णव और समुद्र की स्थिति पूर्ण होने पर (संवत्सरो अजायत) वर्ष पूर्ण हो जाती है। यों ही इस चेष्टा-युक्त संसार का वशी—स्वामी ईश्वर दिन और रात्रि को उत्पन्न करता हुआ उनके कारणभूत सूर्य और चन्द्रमा को (यथापूर्वमकल्पयत्) फिर पहले के समान चला देता है। जिससे फिर उसी क्रम से दिन और रात्रि का क्रम चलने लगता है। अर्थात्, फिर वही अग्नि की उत्पत्ति, स्थिति आदि होने लगती है। दिव्, पृथ्वी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग आदि सब उसी के शासन में कल्पित हैं।

यह सौर अग्नि, ऋताग्नि या संवत्सराग्नि ही हम लोगों का परम आराध्य है। यही सबका प्राणप्रद है। यह पवित्रों का भी पवित्र है। इसी के सम्बन्ध से सबमें पवित्रता आती है। यह सब पदार्थों के मल का शोधक है। अतएव, इस अग्नि का प्रतिपादक अघमर्षण सूक्त परम पवित्र और सर्वपाप-नाशक माना गया है। अघमर्षणसूक्त के जप की स्मृतियों में बहुत अधिक प्रशंसा है। किन्तु, 'यदेव विद्यया करोति, तदेव वीर्यवत्तरं भवति', ज्ञानपूर्वक कर्माचरण से ही यथार्थ सिद्धि प्राप्त होती है। अतः, यदि इसके तत्त्वज्ञान और मननपूर्वक हम लोग इसका जप करें, तो अवश्य ही परमात्मा की कृपा से परम पवित्रता का लाभ कर सकते हैं।

यह ऋतु-विज्ञान के प्रसंग ने अघमर्षणसूक्त की व्याख्या हो गई। आगे उसी 'ऋत्विजम्' विशेषण पर ध्यान आकृष्ट कीजिए।

यह सिद्ध हुआ कि सूर्याग्नि ऋतुओं का कारण है। सूर्याग्नि एकाकी एकरूप रहती हुई भिन्न-भिन्न ऋतुओं को बना नहीं सकती, जबतक कि उसमें किसी दूसरे पदार्थ का योग न हो। दूसरा पदार्थ है सोम, वह चन्द्रमा से प्राप्त होता है, इसीलिए ऋतु का उत्पादक चन्द्रमा बताया जाता है :

पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परियातो अध्वरम्।
विश्वान्यन्यो भुवनाभिचष्टेऋतूं रन्यो विदधज्जायते पुनः ॥
(ऋ०, १०।८५।१८)

ये दोनों अपनी शक्तियों से बालकों की तरह खेलते हुए आगे-पीछे विचरते हैं और यज्ञ में आते हैं। इनमें एक, अर्थात् सूर्य सब लोकों को प्रकाशित करता है और एक, अर्थात् चन्द्रमा ऋतुओं को उत्पन्न करता हुआ फिर-फिर पैदा होता है। इससे आगे भी 'नवो नवो भवति जायमानः' आदि चन्द्रमा के वर्णन हैं। अस्तु;

चन्द्रमा के सोम की न्यूनाधिकता से सूर्याग्नि द्वारा ऋतुएँ बनती हैं, यह सिद्ध हुआ; किन्तु इन दोनों का पृथ्वी पर जो प्रभाव पड़ता है, पृथ्वी में जो फल, पुष्प, ओषधि आदि इनके कारण उत्पन्न होते हैं, वे विना इस पार्थिव अग्नि के सम्बन्ध के नहीं हो सकते, इसलिए यह अग्नि भी 'ऋत्विज्' है। ऋतु से मिला हुआ है, अथवा ऋतुजन्य फलों का देनेवाला है। सूर्याग्नि और चन्द्रमा का सोम इनपर प्रभाव डालते हैं और वह उनके योग से सब पार्थिव भोगों का उत्पादक होता है। यह विज्ञान 'ऋत्विजम्' विशेषण ने बतलाया।

आगे चौथा विशेषण है—'होतारम्'। इसपर अब अधिक विस्तार नहीं करूँगा। इसका सीधा अर्थ यही है कि 'होम का साधन'—अग्नि में ही हम हवन कर सकते हैं। इसके विना हवन नहीं बनता अथवा यह देवताओं को बुलानेवाला है। होता शब्द 'ह्वाता' से बनता है, यह ब्राह्मणों में स्पष्ट है। अस्तु;

पाँचवाँ विशेषण है—'रत्नधातमम्'। यह स्पष्ट विज्ञान का प्रकाशक है। इसका अर्थ है 'रत्नों का धारण या पोषण करनेवाला' अथवा 'देनेवाला'। जितने सुवर्ण, मणि आदि पदार्थ पृथ्वी में उत्पन्न होते हैं, उनका मूल कारण पार्थिव अग्नि है। यह अर्थ इस विशेषण में साफ झलक रहा है। इसी विज्ञान के आधार पर हमारा न्यायशास्त्र भी सुवर्ण, मणि आदि पदार्थों को तैजस कहता है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में तो सुवर्ण की उत्पत्ति के वैज्ञानिक प्रकार का भी लौकिक भाषा में स्पष्टीकरण किया गया है:

आपो वरुणस्य पत्न्य आसन्, ता अग्निरभ्यध्यायन्।
ताः समभवन् तस्य रेतः परापतत्, तद्धिरण्यमभवत् ॥
(तै० ब्रा०, १।१।३)

रसभाग में अग्नि के वीर्य का सम्बन्ध होने से सुवर्ण की उत्पत्ति होती है, यह इसका अर्थ है, इसीसे संस्कृत में अग्नि का नाम है—हिरण्यरेताः। किन्तु, इन बातों का स्पष्ट अनुभव प्रयोग-परीक्षा-प्रकार (१२×/०एलिमेण्ट) के विना नहीं हो सकता। यों, इस अग्नि की प्रथम ऋचा ने कितने विज्ञान के सूत्र हमें सिखाये, यह आप अनुभव कर सकते हैं और इसीसे वैदिक विज्ञान की गम्भीरता जान सकते हैं।

वायुदेव

इसी प्रकार अब वायुदेवता का यजुर्वेद का प्रारम्भिक मन्त्र देखिए :

इषे त्वोर्जे त्वा वायव:स्थ देवो व: सविता।
प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्वम् ॥—इत्यादि।

पुराने भाष्यों में यज्ञ के कर्त्तव्य-सम्बन्ध में ही इस मन्त्र को लगाया है'। किन्तु, शतपथब्राह्मण के आधार पर इसका वैज्ञानिक भाव यह होता है कि इष नाम अन्न का और अर्क नाम बल का है। वृष्टि के द्वारा वायु अन्न का कारण होता है और सब प्राणियों को बल भी वायु से मिलता है। साथ ही वायु में जो क्रिया है, उसका कारण सूर्य है। सूर्य-किरणों की प्रेरणा से वायु में गति होती है। यह विज्ञान 'दिवो व: सविता प्रार्पयतु' (हे वायु ! सूर्यदेव तुम्हें गतिशील करें), इन पदों से स्पष्ट किया गया है। इसकी व्याख्या में शतपथब्राह्मण लिखता है—'सविता वै देवानां प्रसविता', सूर्य ही सब देवताओं को प्रेरणा देनेवाला है और ऐतरेय में तो बहुत ही स्पष्ट अक्षरों में बताया गया है कि 'सवितृप्रसूतो ह्येष एतत्यवते' (ऐ०, ३।१), अर्थात् सूर्य द्वारा चालित यह वायु चलकर सब जगत् को पवित्र कर रहा है। आगे 'श्रेष्ठतमाय कर्मणे' की व्याख्या में शतपथ में कहा है कि 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म', अर्थात् यज्ञ के लिए वायु के परिपुष्ट रूप में चलने की आवश्यकता है। पूर्वोक्त प्रकृति का यज्ञ वायु के चलने से ही होता है। और, जगत् का आप्यायन करना वायु का काम है। यों वायु वृष्टि का, बल का और जगत् के आप्यायन—पोषण का कारण है, सूर्य-किरणों से इसमें गति होती है। इसके द्वारा आदान-प्रदान-रूप जगत् का यज्ञ सम्पन्न होता है—इत्यादि कई विज्ञानों की शिक्षा इस वायुदेवता के मन्त्र से मिल जाती है।

सूर्य-विज्ञान

सूर्य का विज्ञान वेद-मन्त्रों में बहुत आया है। वेद सूर्य को ही सब चराचर जगत् का उत्पादक कहता है—'नूनं जना: सूर्येण प्रसूता:' और इसको ही 'प्राण: प्रजानाम्' कहा जाता है। बतला चुके हैं कि सूर्य को इन्द्र शब्द से भी वेदों में कहा गया है। उस इन्द्र नाम से ही सूर्य की स्तुति का मन्त्र यहाँ उद्धृत करते हैं :

इन्द्राय गिरो अनिशितसर्गा अप: प्रेरणं सगरस्य बुध्नात्।

यहाँ इन्द्र शब्द सूर्य का बोधक है। इन्द्र शब्द अन्तरिक्ष के देवता विद्युत् के लिए भी प्रयुक्त है और द्युलोक के देवता सूर्य के लिए भी। इन्द्र शब्द का दोनों ही प्रकार का अर्थ सायण-भाष्य में भी प्राप्त होता है। इन्द्र १४ भेद से श्रुति में वर्णित है। उन भेदों का संग्रह 'ब्रह्मविज्ञान' के इस पद्य में किया गया है :

इन्द्राहि वाक्प्राणधियो बलं गति-
विद्युत्-प्रकाशेश्वरता - पराक्रमा: ।
शुक्लादिवर्णा रविचन्द्रपूरुषा-
वुत्साह आत्मेति मताश्चतुर्दश ॥

१. वाक्, २. प्राण, ३. मन, ४. वल, ५. गति, ६. विद्युत्, ७. प्रकाश, ८. ऐश्वर्य, ९. पराक्रम, १०. रूप, ११. सूर्य, १२. चन्द्रमा, १३. उत्साह और १४. आत्मा, इन १४ के लिए इन्द्र शब्द श्रुति में भिन्न-भिन्न स्थानों पर आता है। इन्द्र का विज्ञान श्रुति में सबसे गम्भीर है। अस्तु; दो विशेषण इन्द्र के आते हैं, एक सहस्वान् और एक मरुत्वान् इन्द्र अन्तरिक्षस्थ वायु वा विद्युत्-स्वरूप है और सहस्वान् इन्द्र सूर्य-रूप है। यहाँ भी यह सूक्ष्म विभाग है कि सूर्य-मण्डल को द्युलोक कहा जाता है और उसमें प्रतिष्ठित प्राणशक्ति देवता को इन्द्र कहा जाता है। श्रुति में अति स्पष्ट इसका उल्लेख है : 'यथाग्निगर्भा पृथिवी तथा द्यौरिन्द्रेण अस्तु; गर्भिणी', जैसे पृथिवी के गर्भ में अग्नि है, वैसे द्युलोक (सूर्य-मण्डल) के गर्भ में इन्द्र है। तात्पर्य यह कि पूर्वोक्त मन्त्र में इन्द्र पद का अर्थ सूर्य है। तब मन्त्र का स्पष्टार्थ यह हुआ कि 'यह महान् स्तुति-रूप वाणी इन्द्र के लिए प्रयुक्त है।' इन्द्र अन्तरिक्ष के मध्य से जल को प्रेरित करता है और अपनी शक्तियों से पृथ्वीलोक और द्युलोक दोनों को रोके हुए है, जैसे कि अक्ष रथ के चक्रों को रोके रहता है! विचारिए कि इससे अधिक आकर्षण का स्पष्टीकरण क्या हो सकता है? फिर भी, यहाँ केवल इन्द्र शब्द आने से यदि यह सन्देह रहे कि यहाँ इन्द्र सूर्य का नाम है या वायु का, तो इसी सूक्त का, इससे दो मन्त्र पूर्व का मन्त्र देखिए, जिसमें सूर्य शब्द स्पष्ट है :

स सूर्यः पर्युरू वरांसीन्द्रो ववृत्याद्रथ्येव चक्रा।
अतिष्ठन्तमपस्यं न सर्गं कृष्णा तमांसि त्विष्या जघान॥

(ऋ०, १०।८९।२)

यहाँ श्रीमाधवाचार्य 'वरांसि' का अर्थ तेज बतलाते हैं। उनके मतानुसार, मन्त्र का अर्थ है कि वह सूर्य-रूप इन्द्र बहुत-से तेजों को इस प्रकार घुमाता है, जिस प्रकार सारथी रथ के चक्रों को घुमाता है और यह अपने प्रकाश से कृष्ण वर्ण के अन्धकार पर इस प्रकार आघात करता है, जैसे तेज चलनेवाले घोड़े पर चाबुक का आघात किया जाता है। किन्तु, सत्यव्रत सामश्रमी महाशय यहाँ 'वरांसि' का अर्थ नक्षत्र आदि का मण्डल बताते हैं, जो कि यहाँ सुसंगत है, और तब मन्त्र का अर्थ स्पष्ट रूप से यह हो जाता है कि सूर्य-रूप इन्द्र सब महान् मण्डलों को रथ-चक्र की तरह घुमाता है। इससे आकर्षण का विज्ञान अधिक स्पष्ट हो जाता है और श्रीमाधवाचार्य के अर्थ के अनुसार भी तेजोमण्डल का घुमाना और इन्द्र शब्द का अर्थ सूर्य होना अभिव्यक्त ही है। और भी सन्देह हो, तो सूर्य सबके मध्य में और सबका आकर्षक है, इस विज्ञान को और मन्त्रों में भी स्पष्ट देखिए :

वैश्वानर नाभिरसिक्षितीनाम् विश्वस्य नाभिं चरतो ध्रुवस्य।

(ऋ०, १०।५।३)

दिवो धर्त्ता भुवनस्य प्रजापतिः। (४।५३।२)
यत्रेमा विश्वा भुवनानि तस्थुः। (१।१६४।२)

—इत्यादि बहुत-से मन्त्रों में सूर्य भगवान् का नाभिस्थान पर, अर्थात् मध्य में रहना और सब लोकों का धारण करना स्पष्ट रूप से कहा गया है।

और भी देखिए :

तिस्रो मातॄस्त्रीन् पितॄन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेममवग्लापयन्ति ।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविदं वाचमविश्वमिन्वाम् ।।

(ऋ०, १।१६४।१०)

मातृ शब्द पृथिवी और पितृ शब्द द्यु का वाचक है, जो वेद में बहुधा प्रयुक्त होता है। इस मन्त्र का अर्थ यह है कि एक ही सूर्य तीन पृथिवी और तीन द्युलोकों को धारण करता हुआ, ऊपर स्थित है। इसको कोई भी ग्लानि को प्राप्त नहीं करा सकते, अर्थात् दबा नहीं सकते। उस द्युलोक के पृष्ठ पर सभी देवता संसार के जानने योग्य सर्वत्र व्याप्त न होनेवाली वाक् को परस्पर बोलते हैं।

तिस्रो भूमीर्धारयन् त्रींरुत द्यून् त्रीणि व्रता विदथे अन्तरेषाम् ।
ऋतेनादित्या महि वो महित्वं तदर्यमन् वरुण मित्र चारु ।।

(ऋ०, १।२७।८)

इसका अर्थ यह है कि आदित्य तीन भूमि और तीन द्युलोकों का धारण करते हैं, इन आदित्यों के अन्तर्ज्ञान में वा यज्ञ में तीन प्रकार के व्रत, अर्थात् कर्म हैं। हे अर्यमा, वरुण, मित्र नामक आदित्य-देवताओं ! ऋत से तुम्हारा सुन्दर अतिविशिष्ट महत्त्व है।

इस प्रकार, कई एक मन्त्रों में तीन भूमि, तीन द्युलोकों का धारण सूर्य के द्वारा बताया गया है। सत्यव्रत सामश्रयी महाशय का विचार है कि ये छहों ग्रह यहाँ सूर्य के आकर्षण में स्थित बताये गये हैं। पृथिवी और सूर्य के मध्य में रहनेवाले चन्द्रमा, बुध और शुक्र तीन भूमियों के नाम से कहे गये हैं और सूर्य से ऊपर के मंगल, बृहस्पति और शनि द्यु के नाम से कहे गये हैं। यों, इन सब ग्रहों का धारणाकर्षण सूर्य के द्वारा सिद्ध हो जाता है।

श्रीगुरुजी तीन भूमि, तीन द्युलोक की यह व्याख्या उपयुक्त नहीं मानते; क्योंकि यों विचार करने पर ग्रह-नक्षत्र आदि भूमि बहुत हैं। तीन-तीन का परिच्छेद ठीक नहीं बैठता। यहाँ तीन भूमि और तीन द्युलोक का अभिप्राय दूसरा है। छान्दोग्योपनिषद् में बताये हुए तेज, अप्, अन्न के त्रिवृत्करण के अनुसार प्रत्येक मण्डल में तेज, अप्, अन्न तीनों की स्थिति है, और प्रत्येक मण्डल में पृथिवी, चन्द्रमा और सूर्य यह त्रिलोकी नियत रहती है। इस त्रिलोकी में भी प्रत्येक में तेज, अप्, अन्न तीनों का भाग है। उनमें से अन्न का भाग पृथिवी, अप् का भाग अन्तरिक्ष और तेज का भाग द्यु कहलाता है। तब तीनों मण्डलों में मिलाकर तीन भूमि और तीन द्यु हो जाते हैं। ये तीनों भूत और रवि हैं और इनका धारण करनेवाला प्राण-रूप आदित्य-देवता है, जो 'तथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी' में बताया गया है।

अथवा, दूसरा अभिप्राय यह है कि छान्दोग्योपनिषद् में सत् से जो तेज, अप् और अन्न की सृष्टि बतलाई गई है, उनमें प्रत्येक फिर तीन-तीन प्रकार का होता है। तेज के भी तीन भेद हैं—तेज, अप्, अन्न। अप् के भी तीन भेद हैं—तेज, अप्, अन्न और अन्न के भी

तीन भेद हैं—तेज, अप्, अन्न। इनमें प्रथम वर्ग की अन्न-अवस्था और द्वितीय वर्ग की तेज-अवस्था एकरूप होती है, अर्थात् तेज-वर्ग का अन्न और अप् के वर्ग का तेज एक ही है। यों ही अप् के वर्ग का अन्न और अन्न के वर्ग का तेज एक ही है, तब नौ में से दो घट जाने पर सात रह जाते हैं। ये ही सात व्याहृति या सात लोक प्रसिद्ध हैं—भूः, भुवः, स्वः. महः, जनः, तपः, सत्यम्। वहाँ भूः पृथिवी है। भुवः जल है या जल-प्रधान अन्तरिक्ष है। स्वः तेज वा तेजःप्रधान द्युलोक है। महः वायु वा केवल वायुप्रधान लोक है। जनः आकाश या वायुमण्डल-बहिर्भूत शुद्ध आकाशलोक है। तपः क्रिया वा सफल क्रिया के मूल कारणभूत प्राण-प्रजापति का लोक है। सत्यम् सत् की पहली व्याकृत अवस्था मन वा मनोमय परमेष्ठी का लोक है। अब इनमें भूः भुवः स्वः ये तीनों पृथिवी कहलाते हैं। स्वः महः जनः ये तीनों अन्तरिक्ष कहलाते हैं और जनः तपः सत्यम् ये तीनों द्युः हैं, जिनका धारण पूर्वोक्त मन्त्रों में सूर्य द्वारा बताया गया है। अब चाहे संसार में सैकड़ों-हजारों मण्डल या गोल बन जायँ, अनन्त पृथिवी-गोल हों, किन्तु तत्त्व-विचार से सात व्याहृतियों से बाहर कोई नहीं हो सकता। अतएव, यह व्यापक अर्थ है। श्रीमाधवाचार्य ने भी 'तिस्रो भूमीः' से व्याहृतियाँ ही ली हैं। अस्तु; चाहे कोई भी अर्थ स्वीकार कीजिए, किन्तु सूर्य का धारणाकर्षण-विज्ञान इन मन्त्रों में अवश्य ही मानना पड़ेगा। नौ भूमि या सैकड़ों-हजारों भूमियों का इन्द्र या सूर्य के अधिकार में बद्ध रहना भी मन्त्रों में बताया गया है, और सूर्य का चक्र की तरह सबको घुमाना और स्वयं भी अपनी धुरी पर घूमना पूर्वोक्त मन्त्रों में और 'विवर्त्तते अहनी चक्रियेव' इत्यादि बहुत-से मन्त्रों में स्फुट रूप से कहा गया है।

भूमि के भ्रमण का भी संकेत मन्त्रों में कई जगह प्राप्त होता है। केवल इतना ही नहीं, भूमि अपनी धुरी पर क्यों घूमती है। इसका कारण एक मन्त्र में विलक्षण ढंग से प्रकट किया गया है :

> **यज्ञ इन्द्रमवर्द्धयद्। यद् भूमिं व्यवर्त्तयत्।**
> **कुर्वाण ओपशं दिवि।** (ऋ० म०, ८।१४)

मन्त्र का सीधा अर्थ यह है कि यज्ञ इन्द्र को बढ़ाता है, इन्द्र द्युलोक में ओपश, अर्थात् शृंग बनाता हुआ पृथिवी को विवर्त्तित करता है, अर्थात् घुमाता है। किरण जिस समय किसी मूर्त्त पदार्थ पर आघात करके लौटती है, तब उसका गमन-मार्ग आगमन-मार्ग से कुछ अन्तर पर होता है, उसे ही वैज्ञानिक भाषा में शृंग या ओपश कहते हैं। तब किरणों के आघात से पृथिवी का घूमना इस मन्त्र से प्राप्त होता है। अवश्य ही यह उन्मत्त-प्रलाप नहीं है, किन्तु इसके स्पष्टीकरण के लिए गहरी परीक्षा की आवश्यकता है। सम्भव है कि किसी समय परीक्षा से यह विज्ञान स्फुट हो जाय और कोई बड़ी गम्भीर बात इसमें से प्रकट हो पड़े।

और भी सूर्य का, और सूर्य के रथ और अश्वों का भी वर्णन देखिए :

> **सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।**
> **त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनानि तस्थुः।**
> (ऋ०, १।१६४।२)

एक पहिये के सूर्य के रथ में सात घोड़े जुड़े हुए हैं। वस्तुतः (घोड़े सात नहीं) एक ही सात नाम का या सात जगह नमन करनेवाला घोड़ा इस रथ को चलाता है। इस रथचक्र की तीन नाभि हैं, यह चक्र (पहिया) शिथिल नहीं, अत्यन्त दृढ है, और कभी जीर्ण नहीं होता, इसी के आधार पर सारे लोक स्थिर हैं। यह हुआ सीधा शब्दार्थ। अब इसके विज्ञान पर दृष्टि डाली जाय।

निरुक्तकार यास्क कहते हैं कि देवताओं के रथ, अश्व, आयुध आदि उन देवताओं से अत्यन्त भिन्न नहीं होते, किन्तु परम ऐश्वर्यशाली होने के कारण उनका स्वरूप ही रथ, अश्व, आयुध आदि रूपों से वर्णन किया जाता है। अर्थात्, आवश्यकता होने पर वे अपने स्वरूप से ही रथ, अश्व आदि प्रकट कर लेते हैं, मनुष्यों की तरह काष्ठ आदि के रथादि बनाने की उन्हें आवश्यकता नहीं होती। अतएव श्रुति रथ, अश्व, आयुध आदि रूप से देवताओं की ही स्तुति करती है। अस्तु; इसके अनुसार यहाँ रथ शब्द का सूर्य के ही वर्णन में तात्पर्य है। रथ शब्द की सिद्धि करते हुए निरुक्तकार ने कहा है कि यह स्थिर का विपरीत है, अर्थात् स्थिर शब्द ही वर्ण-विपर्यय होकर रथ शब्द के रूप में आ गया है। अतः, सूर्य की स्थिरता का भी प्रमाण कई विद्वान् इससे निकालते हैं।

रथ और रथी में भेद की ही यदि अपेक्षा हो, तो सौर जगन्मण्डल—सूर्यकिरण-क्रान्त ब्रह्माण्ड—सूर्य का रथ मानना चाहिए। पुराण में सूर्य की गति के प्रदेश क्रान्तिवृत्त को सूर्यरथ बताया गया है :

> त्र्यशीतिमण्डलशतं काष्ठयोरन्तरं द्वयोः।
> आरोहणावरोहाभ्यां भानोरब्देन या गतिः॥
> स रथोऽधिष्ठितो देवैरादित्यैर्ऋषिभिस्तथा।—इत्यादि।

(वि० पु०, अं० २, अध्या० १०)

संवत्सर इस रथ का चक्र (पहिया) माना गया है। वस्तुतः, संवत्सर-रूप काल ही इस सब जगत् को फिरा रहा है, काल के ही कारण जगत् घूम रहा है। परिणाम होना—एक अवस्था से दूसरी अवस्था में चला जाना ही जगत् का जगत्पन है, उसका कारण काल ही है। सुतरां, सौर जगत् का पहिया संवत्सर-रूप काल हुआ। इस संवत्सर-रूप चक्र का मन्त्र के उत्तरार्ध में वर्णन हुआ। तीन इसकी नाभि हैं, एक संवत्सर में तीन बार जगत् की स्थिति बिलकुल पलट जाती है, वे ही तीन ऋतुएँ (शीत, उष्ण, वर्षा) यहाँ चक्र की नाभि बतलाई गई हैं। पाँच या छह ऋतुओं का जो विभाग है, उसके अनुसार अन्यत्र पाँच या छह अरा बताये जाते हैं :

> त्रिनाभिमति पञ्चारे षण्नेमिन्यक्षयात्मके।
> संवत्सरमये कृत्स्नं कालचक्रं प्रतिष्ठितम्॥

(वि० पु०, अं० २, अ० ८)

अथवा तीन—भूत, वर्त्तमान, भविष्यत्—भेद से भिन्न काल इस चक्र की नाभि हैं। जो व्याख्याता चक्र पद से भी सौर जगत् (ब्रह्माण्ड) का ही ग्रहण करते हैं, उनके मत से भूमि, अन्तरिक्ष, दिव् नाम के तीनों लोकों की तीन नाभि हैं।

और, इस चक्र का विशेषण दिया गया है—'अनर्वम्'। इसकी व्याख्या करते हुए निरुक्तकार कहते हैं कि 'अप्रत्यृतमन्यस्मिन्' अर्थात् यह सूर्य-मण्डल किसी दूसरे आधार पर नहीं। और, यह 'अजर' है, अर्थात् जीर्ण नहीं होता और इसी के आधार पर सम्पूर्ण लोक स्थित है। इस व्याख्या के अनुसार सूर्य-मण्डल के आकर्षण से सब लोग बँधे हुए हैं एवं सूर्य अपने ही आधार पर है, वह किसी दूसरे के आकर्षण पर बद्ध नहीं। यह आधुनिक विज्ञान स्फुट हो जाता है। संवत्सर-रूप काल को चक्र मानने के पक्ष में भी इन तीनों विशेषणों की संगति स्पष्ट है। काल के ही आधार पर सब हैं, काल किसी के आधार पर नहीं, और काल कभी जीर्ण भी नहीं होता।

भेद माननेवाले वायु को सूर्य-अश्व कहते हैं, अर्थात् वायुमण्डल के आधार से सूर्य चारों तरफ घूमता है। वह वायु वस्तुत: एक है, किन्तु स्थान-भेद से उसकी आवह-प्रवह आदि ७ संज्ञाएँ हो गईं हैं। अतएव, कहा गया कि 'एक ही सात नाम का या सात स्थानों में नमन करनेवाला अश्व वहन करता है।' किन्तु, निरुक्तकार के मतानुसार अशन, अर्थात् सब स्थानों में व्याप्त होने के कारण सूर्य ही अश्व है। किन्तु, सूर्य-मण्डल हमसे बहुत दूर है, उसे हमारे समीप सूर्य की किरणें पहुँचाती हैं। सूर्य अश्व है, तो किरण वल्गा (लगाम) हैं, जहाँ किरण ले जाती है, वहीं सूर्य को भी जाना पड़ता है। (लगाम और किरण दोनों का नाम संस्कृत में रश्मि है, यह भी ध्यान देने की बात है।) इससे सूर्य के वहन करनेवाली किरणें ही सूर्याश्व हुईं। कई भावों से मन्त्रों का विचार होता है। कहीं सूर्य अश्व तो रश्मि वल्गा, कहीं सूर्य अश्वारोह, तो किरण अश्व आदि। वह किरण भी वस्तुत: एक, अर्थात् एक जाति की है, किन्तु सात भी किरणें कही जा सकती हैं। सात कहने के भी अनेक कारण हैं। किरणों के सात रूप होने के कारण भी उन्हें सात कह सकते हैं। अथवा संसार में वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर ये छह ऋतुएँ होती हैं और सातवीं एक साधारण ऋतु। इन सातों का कारण सूर्य की किरणें ही हैं। सूर्य-किरणों के ही तारतम्य से सब परिवर्त्तन होते हैं। इसलिए, सात प्रकार का परिवर्त्तन करानेवाली सूर्य-किरणों की अवस्था भी सात हुईं। अथवा भूमि, चन्द्रमा, बुध, शुक्र, मंगल, बृहस्पति और शनि इन सातों ग्रहों और लोकों में, या भू: भुव: स्व: आदि सातों भवनों में प्रकाश पहुँचावाले और इन सभी लोकों से रस आदि लेनेवाली सूर्य-किरणें ही हैं। अत:, सात स्थानों के सम्बन्ध से इन्हें सात कहा जाता है, यह बात 'सप्तनाम' पद से और भी स्फुट होती है। सूर्य की किरणें सात स्थानों में नत होती हैं, प्रकारान्तर में यह 'सप्तनामा' पद सूर्य का विशेषण है, अर्थात् सात रश्मि सूर्य से रस प्राप्त करती रहती हैं। सातों लोकों से इसका आहरण सूर्य रश्मि द्वारा होता है, अथवा सातों ऋषि सूर्य की स्तुति करते हैं। यहाँ भी ऋषि से तारा-रूप ग्रह भी लिये जा सकते हैं और वसिष्ठ आदि ऋषि भी। इस प्रकार, मन्त्रार्थ का अधिकतर विस्तार हो जाती है।

अब पाठक देखेंगे कि पुराणों और वृद्ध पुरुषों के मुख से जिन बातों को सुनकर आजकल के विज्ञमानी सज्जनों का हास्य नहीं रुकता, वे ही बातें साक्षात् वेद में भी आ गईं, और उनका तात्पर्य भी ऐसा निकल पड़ा कि बात-की-बात में बहुत-सी विद्या का ज्ञान हो

जाय। क्या अब भी ये हँसी उड़ाने की ही बातें हैं ? क्या पुराणों में भी इनका यही स्पष्ट अभिप्राय उद्घाटित नहीं है ? शोक इसी बात का है कि हम इधर विचार नहीं करते।

अब इन तीनों देवताओं का परस्पर कैसा सम्बन्ध है, इसका प्रतिपादक एक मन्त्र भी यहाँ उद्धृत किया जाता है :

> अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।
> तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्वपतिं सप्तपुत्रम्॥
>
> (ऋ०, म० १, अनु० २२, सू० ८, मं० १)

दीर्घतमा ऋषि के द्वारा प्रकाशित इस मन्त्र का निरुक्तकार ने केवल अधिदैवत (देवता-पक्ष का) अर्थ किया है और भाष्यकार श्रीसायणाचार्य ने अधिदैवत और अध्यात्म दो अर्थ किये हैं। पहला अधिदैवत अर्थ इस प्रकार है कि :

(वामस्य) सबके सेवा करने योग्य, या सबको प्रकाश देनेवाले, (पलितस्य) सम्पूर्ण लोक के पालक (होतुः) स्तुति के द्वारा यज्ञादि में आह्वान करने योग्य, (तस्य अस्य) सुप्रसिद्ध इन प्रत्यक्ष देव सूर्य का (मध्यमः भ्राता) बीच का भाई अन्तरिक्षस्थ वायु अथवा विद्युत्-रूप अग्नि (अश्नः अस्ति) सर्वव्यापक है। (अस्य तृतीयः भ्राता) इन्हीं सूर्यदेव का तीसरा भाई (घृतपृष्ठः) घृत को अपने पृष्ठ पर धारण कनेवाला घृत से प्रदीप्त होनेवाला अग्नि है। (अत्र) इन तीनों में (सप्त पुत्रम्) सर्वत्र फैलनेवाले सात किरण-रूप पुत्रों के साथ सूर्यदेव को ही मैं विश्वपतिम्) सबका स्वामी और सबका पालन करनेवाला (अपश्यम्) जानता हूँ। इस अर्थ से सिद्ध हुआ कि अग्नि, वायु और सूर्य ये तीनों लोकों के तीन मुख्य देवता हैं। इन तीनों में परस्पर सम्बन्ध है, और सूर्य सबमें मुख्य है। इस मन्त्र में विशेषणों के द्वारा कई एक विशेष विज्ञान प्रकट होते हैं, उन्हीं का संक्षेप नीचे लिखा जाता है।

वामस्य—निरुक्तकार वन् धातु से इस शब्द की सिद्धि मानते हैं। धातु का अर्थ है—संभक्ति, अर्थात् सम्यक् भजन या संविभाग—बाँटना। इससे सिद्ध हुआ कि सूर्य सबको अपना प्रकाश और वृष्टि-जल आदि बाँटते रहते हैं। इतर सब सूर्य के अधीन रहते हैं। यज्ञ में भी सूर्य की ही प्रधान स्तुति की जाती है।

पलितस्य—निरुक्तकार इसका पालक अर्थ करते हैं। अर्थात्, सूर्य सबका पालन करनेवाले हैं। किन्तु, पलित शब्द श्वेत केश का भी वाचक है और श्वेत केश के सम्बन्ध से कई जगह वृद्ध का भी वाचक हो जाता है। अतः, इसका यह भी तात्पर्य है कि सूर्य सबसे वृद्ध (प्राचीन) है।

होतुः—यह शब्द वेद में 'हु' धातु और 'ह्वा' धातु दोनों से बनाया जाता है। हु धातु का अर्थ है—दान, अदन और प्रीणन। ह्वा धातु का अर्थ है—स्पर्द्धा, आह्वान और शब्द। अतः, इस विशेषण के अनेक तात्पर्य हो सकते हैं। जैसा कि सूर्य हमें वृष्टि-जल का दान करते हैं, पृथ्वी में से रस का हरण (भोजन) करते हैं और सबको प्रसन्न रखते हैं। सब

ग्रह-उपग्रहों के नाभि-रूप केन्द्र-स्थान में स्थित रहकर मानों उनसे स्पर्द्धा कर रहे हैं। सब ग्रह-उपग्रहों का आह्वान-रूप आकर्षण करते रहते हैं, और ताप के द्वारा वायु में गति उत्पन्न कर उसके द्वारा शब्द भी कराते हैं। चतुर्थ पाद में भी दो सूर्य के विशेषण हैं।

विश्वपतिम्—प्रजाओं को उत्पन्न करनेवाले और उनका पालन करनेवाले। 'नूनं जनाः सूर्येण प्रसूताः' इत्यादि श्रुतियों में स्पष्ट सूर्य को सबका उत्पादक कहा है।

सप्त पुत्रम्—यहाँ पुत्र शब्द का रश्मियों से ही प्रयोजन है। यह सभी का अभिमत है। अतः, इसका तात्पर्य हुआ कि रश्मियाँ (सप्त) बड़े वेग से फैलनेवाली हैं। और उनमें सात भाग हुआ करते हैं सूर्य अदिति के सप्तम पुत्र हैं—यह ऐतिहासिक पक्ष का अर्थ भी यहाँ ध्यान देने योग्य है।

भ्राता—इसका निरुक्तकार अर्थ करते हैं कि भरण करने योग्य अथवा हरण करनेवाला। इससे यह तात्पर्य सिद्ध होता है कि अपनी रश्मियों के द्वारा आकृष्ट रस को सूर्यदेव वायु में समर्पित करते है, वायु को गति आदि भी अपनी किरणों द्वारा देते हैं, अथवा वायु सूर्य से अन्तरिक्षस्थ रस को हरण कर लेता है, मानों तीनों लोकों के स्वामी सूर्यदेव ही थे, उनसे अन्तरिक्ष स्थान वायु ने छीन लिया।

मध्यम—पद से विद्युत् (बिजली की आग) का ग्रहण करने पर भी ये अर्थ इस प्रकार ही ज्ञातव्य हैं। उसकी उत्पत्ति में भी निरुक्तकार सूर्य को कारण मानते हैं। और, वह भी मध्यम स्थान का हरण करता है।

अश्नः—इससे वायु और विद्युत् की व्यापकता सिद्ध होती है। इनके विना कोई स्थान नहीं, सर्वत्र वायु और विद्युत् अनुस्यूत रहते हैं।

भ्राता—इसका अभिप्राय भी पूर्ववत् है। सूर्य अपने प्रकाश द्वारा इसका भरण करते हैं। अर्थात्, अग्नि में तेज़ सूर्य से ही आया है। और, यह भी सूर्य के राज्य में से पृथिवी-रूप स्थान छीन लेता है।

घृतपृष्ठः—घृत से अग्नि की वृद्धि होती है। अथवा घृत शब्द द्रव्य का वाचक होने से सोम का उपलक्षण है। अग्नि सदा सोम के पृष्ठ पर आरूढ रहता है। विना सोम के अग्नि नहीं रह सकती, और विना अग्नि के सोम नहीं मिलती : 'अग्निषोमात्मकं जगत्।'

इस प्रकार, देवताओं के विशेषणों से छोटे-छोटे शब्दों में विज्ञान की बहुत-सी बातें प्रकट होती हैं। देवता-विज्ञान ही श्रुति का मुख्य विज्ञान है। ऐसे मन्त्रों के अर्थ सम्यक् समझकर आधुनिक विज्ञान से उनकी तुलना करने पर हमारे विज्ञान से उक्त आधुनिक विज्ञान का जितने अंश में भेद है, वह भी स्पष्ट हो सकता है। इस प्रकार की चेष्टा से हम भी अपने शास्त्रों का तत्त्व समझ सकेंगे, और आधुनिक विज्ञान का लाभ भी अल्प नहीं होगा; क्योंकि आधुनिक विज्ञान का अभी कोई सिद्धान्त स्थिर नहीं हुआ, सम्भव है, उनको भी इन प्राचीन सिद्धान्तों से बहुत अंश में सहायता मिले। अस्तु; अब संक्षेप में उक्त मन्त्र का आध्यात्मिक अर्थ भी लिखा जाता है।

(वामस्य) सब जगत् को उद्गिरण करनेवाला, अर्थात् अपने शरीर में स्थित जगत् को बाहर प्रकाशित करनेवाला (पलितस्य) सबका पालक, अथवा सबसे प्राचीन (होतुः) सबको फिर अपने में ले लेनेवाला, अर्थात् संहार करनेवाला, सृष्टि, स्थिति, लय के कारण परमात्मा का (भ्राता) भाग हरण करनेवाला, अर्थात् अंश रूप (अश्नः) व्यापनशील (मध्यमः अस्ति) सबके मध्य में रहनेवाला सूत्रात्मा है। और, (अस्य) इसी परमात्मा का (तृतीयः भ्राता) तीसरा भ्राता (घृतपृष्ठः अस्ति) विराट् है। घृतपृष्ठ शब्द जल का भी वाचक है, और जल से उस जल का कार्य स्थूल शरीर लक्षित होता है। उस शरीर का स्पर्श करनेवाला स्थूल शरीराभिमानी विराट् सिद्ध हुआ। (अत्र) इन सबमें (विश्पतिम्) सब प्रजाओं के स्वामी (सप्त पुत्रम्) सातों लोक जिसके पुत्र हैं, ऐसे परमात्मा को (अपश्यम्) जानता हूँ। अर्थात्, उसका जानना परम श्रेयस्कर है। इसका तात्पर्य यही है कि सम्पूर्ण जगत् का स्वाधीन कारण एक परमात्मा है, और सूत्रात्मा एवं विराट्, जो सूक्ष्म दशा और स्थूल दशा के अभिमानी, वेदान्त-दर्शन में, माने गये हैं, दोनों इसी परमात्मा के अंश हैं।

अब आप लोगों ने विचार किया होगा कि वेद में विज्ञान प्रकट करने की शैली कुछ अद्भुत है और ऊपर से देखने पर जो बात हमें मामूली-सी दिखाई देती है, वही विचार करने पर बड़ी गहरी सिद्ध हो जाती है। इसका एक रोचक उदाहरण आपके सामने रखता हूँ। अश्वमेध यज्ञ में मध्य के दिन एक ब्रह्मोद्य का प्रकरण है। एक स्थान पर होता, अध्वर्यु, उद्गाता, ब्रह्मा इन सबका परस्पर प्रश्नोत्तर होता है। इस प्रश्नोत्तर के मन्त्र ऋग्वेदसंहिता और यजुर्वेदसंहिता दोनों में आये हैं। उनमें से एक प्रश्नोत्तर देखिए :

पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः।

(ऋ०, १।१६४।३४; यजु०, २३।६१)

यह यजमान और अध्वर्यु का संवाद का है। यजमान कहता है कि मैं तुमसे पृथिवी का सबसे अन्त का भाग पूछता हूँ और भुवन, अर्थात् उत्पन्न होनेवाले सब पदार्थों की नाभि जहाँ है, वह पूछता हूँ। इनमें दो प्रश्न हुए—एक यह कि पृथिवी की जहाँ समाप्ति होती है, वह अवधि-भाग कौन-सा है, और उत्पन्न होनेवाले सब पदार्थों की नाभि कहाँ है ? अब उत्तर सुनिए। अध्वर्यु कहता है :

इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्याः।
अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः॥

(पूर्व से आगे का मन्त्र)

यज्ञ की वेदी को दिखाकर अध्वर्यु कहता है कि यह वेदी ही पृथिवी का सबसे अन्तिम अवधि-भाग है। और, यह यज्ञ सब भुवनों की नाभि है। स्थूल दृष्टि से कुछ भी समझ में नहीं आता। बात क्या हुई ? भारतवर्ष के हर एक प्रान्त में हर एक देश में यज्ञ होते थे। सभी जगह कहा जाता है कि यह वेदी पृथिवी का अन्त है। भला, सब जगह पृथिवी का अन्त किस तरह आ गया।

यह तो एक विनोद जैसी बात मालूम होती है। दो गाँववाले एक जगह खड़े थे। एक अपनी समझदारी की बड़ी डींग मार रहा था। दूसरे ने उससे पूछा—अच्छा, तू बड़ा समझदार है, तो बता, सब जमीन का बीच कहाँ है? पहला था बड़ा चतुर। उसने झट से अपनी लाठी एक जगह गाड़कर कह दिया—यही कुल जमीन का बीच है। दूसरा पूछने लगा—कैसे? तो पहले ने जवाब दिया कि तू जाकर नाप आ। गलत हो, तो मुझसे कहना, अब वह न नाप सकता था, न पहले की बात झूठी हो सकती थी। वह एक उपहास का गल्प प्रसिद्ध है। तो क्या वेद भी ऐसी ही मजाक की बातें बताता है। नहीं, विचार करने पर आपको प्रतीत होगा कि इन अक्षरों में वेद भगवान् ने बहुत-कुछ कह दिया है। पहले एक मोटी बात लीजिए। आदि, अन्त, समतल, लम्बे, चौकोर प्रभृति रूप पदार्थों के नियत होते हैं। किन्तु, गोल वस्तु का कोई आदि-अन्त या ओर-छोर नियत नहीं होता। जहाँ से भी प्रारम्भ मान लें, उसके समीप ही अन्त आ जायगा। भूमि गोल है, इससे इसका आदि-अन्त नियत नहीं। जहाँ से एक मनुष्य चलना आरम्भ करे, उसके समीप भाग में ही प्राप्त होकर वह अपनी प्रदक्षिणा समाप्त करेगा। ऐसा अवसर नहीं आयगा कि जहाँ जाते-जाते वह रुक जाय और आगे भूमि न रहे। इसमें अध्वर्यु यजमान को बताता है कि भाई! भूमि का अन्त क्या पूछते हो, वह तो गोल है। हर एक जगह उसके आदि-अन्त की कल्पना की जा सकती है। इससे तुम दूर क्यों जाते हो। समझ लो कि तुम्हारी यह वेदी ही पृथिवी का अन्त है। जहाँ आदि कल्पना करोगे, वही पर अन्त ही बन जायगा। इससे वेद भगवान् ने एक रोचक प्रश्नोत्तर के रूप में पृथिवी का गोल होना हमें बता दिया।

अब याज्ञिक प्रसंग में इन मन्त्रों का दूसरा भाव देखिए। यज्ञ के कुण्डों और वेदी का सन्निवेश प्राकृत सन्निवेश के आधार पर कल्पित किया जाता है। सूर्य के सम्बन्ध से पृथिवी पर जो प्राकृत यज्ञ हो रहा है, उसमें एक ओर सूर्य का गोला है, दूसरी ओर पृथिवी है और मध्य में अन्तरिक्ष है। अन्तरिक्ष द्वारा ही सूर्य-किरणों से सब पदार्थ पृथिवी पर आते हैं। इस सन्निवेश के अनुसार यज्ञ में भी ऐसा सन्निवेश बनाया जाता है कि पूर्व में आहवनीय कुण्ड, पश्चिम में गार्हपत्य कुण्ड और दोनों के बीच में वेदी। तब यहाँ आहवनीय कुण्ड सूर्य के स्थान में है, गार्हपत्य पृथिवी के स्थान में और वेदी अन्तरिक्ष के स्थान में। इस विभाग को दृष्टि में रखकर जब यह कहा जाता है कि यह वेदी ही पृथिवी का अन्त है, तब उसका यह अभिप्राय स्पष्ट समझ में आ सकता है कि पृथिवी का अन्त वहीं है, जहाँ से अन्तरिक्ष का प्रारम्भ है। वेदी-रूप अन्तरिक्ष ही पृथिवी का दूसरा अन्त है। इसके अतिरिक्त पृथिवी का और कोई अन्त नहीं हो सकता।

इन मन्त्रों को समझाने का एक तीसरा भी प्रकार है, और वह इन दोनों से गम्भीर है। ऋग्वेद-भाष्य में इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए श्रीमाधवाचार्य ने यह ब्राह्मण की श्रुति उद्धृत की है:

एतावती वै पृथिवी यावती वेदिरिति श्रुतेः।

अर्थात्, जितनी वेदी है, उतनी ही पृथिवी है। इसका तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण पृथिवी-रूप वेदी पर सूर्य्य-किरणों के सम्बन्ध से आदान-प्रदान-रूप यज्ञ बराबर हो रहा है। अग्नि पृथिवी में अभिव्याप्त है, और अग्नि विना आहुति के कभी ठहरता नहीं है। वह अन्नाद है। उसे प्रतिक्षण अन्न की आवश्यकता है। इससे वह स्वयं बाहर से अन्न लेता रहता है और सूर्याग्नि आदि को अन्न देता भी रहता है। जहाँ यह अन्न-अन्नादभाव अथवा आदान-दान की क्रिया न हो, वहाँ पृथिवी रह ही नहीं सकती। उससे स्पष्ट ही सिद्ध है कि जहाँतक प्राकृत यज्ञ की वेदी है, वहाँतक पृथिवी भी है। बस, इसी अभिप्राय को मन्त्र ने भी स्पष्ट किया है कि वेदी ही पृथिवी का अन्त है। अन्त पद आदि का भी उपलक्षण समझना चाहिए। पृथिवी का आदि-अन्त जो कुछ भी है, वह वेदिमय है। यह वेदी जहाँ नहीं, वहाँ पृथिवी भी नहीं।

आजकल का विज्ञान जिसको मुख्य आधार मान रहा है, उस विद्युत् का प्रसंग वेद में किस प्रकार है यह भी देखिए :

अप्स्वग्ने सधिष्टव सौषधीरनुरुध्यसे।
गर्भे सन् जायसे पुनः।
(यजु०, १२।३६)

अर्थात्, हे अग्निदेव ! जल में तुम्हारा स्थान है, तुम ओषधियों में भी व्याप्त रहते हो और गर्भ में रहते हुए भी फिर प्रकट होते हो। ऐसे मन्त्रों में अग्नि सामान्य पद है और उससे पार्थिव अग्नि और वैद्युत अग्नि दोनों का ग्रहण होता है। किन्तु, इससे भी विद्युत् का जल में रहना स्पष्ट न माना जा सके, तो खास विद्युत् के लिए ही यह मन्त्र देखिए :

यो अनिध्मो दीदयदप्स्वन्तर्यं विप्रास ईलत अध्वरेषु।
अपां नपान्मधुमतीरपो दा याभिरिन्द्रो वावृधे वीर्याय॥
(ऋ०, १०।३०।४)

जो विना ईन्धन की अग्नि जल के भीतर दीप्त हो रही है, यज्ञ में मेधावी लोग जिसकी स्तुति करते हैं, वह 'अपां नपात्' मधुयुक्त रस हमें देवें। जिस रस से इन्द्र वृद्धि को प्राप्त होता है और बल के कार्य करता है। इस मन्त्र में विना ईन्धन के जल के भीतर प्रदीप्त होनेवाली जो अग्नि बतलाई गई है, वह विद्युत् के अतिरिक्त कौन-सी हो सकती है, यह आप ही विचार करें। फिर भी, कोई सज्जन यह कहकर टालने का यत्न करें, कि जल में वडवानल रहने का पुराना खयाल है, यही यहाँ कहा गया होगा, तो उन्हें देखना होगा कि इसमें उस अग्नि का 'अपां नपात्' देवता बताया गया है और 'अपां नपात्' निघण्टु में अन्तरिक्ष के देवताओं में ही आता है। तब 'अन्तरिक्ष की अग्नि जल के भीतर प्रज्वलित', इतना कहने पर भी यदि विद्युत् न समझी जा सके, तो फिर समझने का प्रकार कठिनता से मिल सकेगा।

अभिप्रवन्त समनेव योषाः कल्याण्यः स्मयमानासो अग्निम्।
घृतस्य धाराः समिधो नसन्त ताणुषाणो हर्यति जातवेदाः॥
(ऋ०, ४।५८।८)

इस मन्त्र में भी भगवान् यास्क ने विद्युत् का विज्ञान और जल से उसका उद्भव स्पष्ट ही लिखा है। विस्तार की आवश्यकता नहीं। यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि विद्युत् और उसकी उत्पत्ति आदि का परिचय वेद में स्पष्ट है। प्रत्युत, जहाँ आजकल का विज्ञान विद्युत् पर सब कुछ अवलम्बित करता हुआ भी अभी तक यह न जान सका कि विद्युत् वस्तु क्या है? वह 'मैटर' है या नहीं? इसका विवाद अभी निर्णय पर ही नहीं पहुँचा, वहाँ वेद ने इसे 'इन्द्र देवता' का रूप मानते हुए इसका प्राणविशेष 'शक्तिविशेष' (एनर्जी) (अनमेटेरियल) होना स्पष्ट उद्घोषित कर रखा है। (देवता प्राणविशेष है, यह पूर्व कहा जा चुका है) और इसे सूर्य का भ्राता कहते हुए सूर्य से ही उसका उद्भव भी मान रखा है। यों जिन सिद्धान्तों का आविष्कार वैज्ञानिकों के लिए अभी शेष ही है, वे भी वेद में निश्चित रूप से उपलब्ध हो जाते हैं।

रूप के सम्बन्ध में वर्त्तमान विज्ञान का मत है कि जिन वस्तुओं में हम रूप देखते हैं— उनमें रूप नहीं। रूप सूर्य की किरणों में है। वस्तुओं में एक प्रकार की भिन्न-भिन्न शक्ति है, जिनके कारण कोई वस्तु सूर्य-किरण के किसी रूप को उगल देती है, और शेष रूपों को खा जाती है। तात्पर्य यह कि रूपों का आधार—रूपों के बनानेवाली सूर्य-किरणें हैं। आप देखिए—वेद भी रूप-विज्ञान के सम्बन्ध में उपदेश करता है :

शुक्रं ते अन्यद् यजतं ते अन्यद् विषुरूपे अहनी द्यौरिवासि।
विश्वा हि माया अवसि स्वधावो भद्रा ते पूषन्निह रातिरस्तु।
(ऋ०, ६।५८।१)

इस मन्त्र में भाष्यकार श्रीमाधवाचार्य ने भी शुक्र-शुक्ल-रूप और यजत-कृष्ण-रूप यही अर्थ किया है। पूषा देवता की स्तुति है कि रूप तुम्हारे हैं, तुम्हीं इन दोनों के द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार की सब मायाओं को बनाते हो या रक्षा करते हो।

इससे यह भी प्रकट किया गया है कि रूप मुख्यत: दो ही हैं, शुक्ल और कृष्ण। उन्हींके संमिश्रण से सन्धि-स्थान रक्त-रूप और फिर परस्पर मेल से नाना रूप बन जाते हैं। यों, यहाँ 'पूषा' देवता को रूप का कारण माना गया है और :

इन्द्रो रूपाणि कनिक्रदचरत्।

तैत्तिरीय संहिता इत्यादि में इन्द्र को सब रूपों का बनानेवाला कहा गया है। तात्पर्य यही कि सूर्य-किरण-संसक्त देवता ही रूपों के उत्पादक हैं। यह विज्ञान हमें इन मन्त्रों में मिल जाता है। यों, भौतिक विज्ञान का संक्षिप्त वर्णन किया गया। अब मनोविज्ञान का भी निदर्शन देखिए।

मनोविज्ञान

पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने कुछ काल से परचित्त-विज्ञान की प्रक्रिया ढूँढ़ निकाली है। मनुष्य के आन्तरिक विचार जैसे होते हैं, उनके अनुसार उसके वातावरण (वायुमण्डल) में वैसे ही परिवर्त्तन होते रहते हैं। वातावरण की परीक्षा से मनुष्य के विचार मालूम कर कर लिये जाते हैं कि यह क्रोधी है, मानी है, कामी है, या शान्त है इत्यादि।

हमारे यहाँ बहुत पुराने समय से दूसरे के मन की बात जान लेने की विद्या की चर्चा है। किन्तु, हम लोगों का प्रायः यही विश्वास है कि आध्यात्मिक शक्ति से परचित्त-ज्ञान होता था। हमें आश्चर्य होता है, जब कि हम अथर्वसंहिता के एक मन्त्र के आधार पर शतपथब्राह्मण में आधिभौतिक रीति से वैज्ञानिकों के तरीके से ही परचित्त-विज्ञान की बात स्पष्ट पाते हैं। शतपथ के का० ३, अ० ४, प्र० २, कण्डिका ६ में लिखा है :

मनो देवा मनुष्यस्याजानन्तीति, मनसा सङ्कल्पयति तत्प्राणमभिपद्यते, प्राणो वातम्, वातो देवेभ्य आचष्टे, तथा पुरुषस्य मनः। तस्मादेत दृषिणाभ्यनूकम्—

मनसा सङ्कल्पयति तद्वातमपि गच्छति।
वातो देवेभ्य आचष्टे यथा पुरुष ते मनः ॥

इसका स्पष्ट सीधा-सादा अक्षरानुवाद यह है कि देवता लोग मनुष्य के मन को जानते हैं, मनुष्य जो कुछ मन में संकल्प (विचार) करता है, वह उसके प्राण में चला जाता है, और प्राण बाहर के वायु में आता है। वह वायु देवताओं को बता देता है, जैसा कि पुरुष का मन है। इस अर्थ में अथर्वसंहिता का मन्त्र (का० १२।४।४) प्रमाणस्वरूप उपस्थित किया जाता है—'मनसा सङ्कल्पयति' इत्यादि। इसका भी यही अर्थ है कि मन से जो विचार किया जाता है, वह वायु में प्राप्त हो जाता है और वायु देवताओं से कह देता है, जैसा कि पुरुष का मन है।

इन बातों को सुनकर बहुत से सज्जन उपहास करते हैं कि वेद मदारी का थैला है, या भानमती का पिटारा है। जो कुछ बात देखी-सुनी, वह सब वेद में निकल पड़ती है। किन्तु, इस उपहास के भय से स्पष्ट अक्षरार्थ को कैसे छिपाया जाय। कोई सज्जन कृपाकर यह बतावें कि इस श्रुति का अर्थ फिर है क्या ? सिद्धान्त तो सब स्पष्ट ही वेद में हमें प्राप्त होता है। हाँ, प्रयोग (एक्सपेरिमेण्ट) हम नहीं जानते, यह हमारा दोष है, इस कारण जो भी कुछ कहा जाय, वह हमें सुनना होगा।

प्राण-रूप देवताओं का दिग्दर्शन अनेक मन्त्रों द्वारा हमने कराया। अब तारा-रूप देवताओं के विवरण का भी एक मन्त्र उपस्थित कर देते हैं।

तारा-विज्ञान

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

(यजु० सं०, २५।१९)

यह मन्त्र सनातन-धर्मानुयायियों में इतना प्रसिद्ध है कि तिलक आदि करते समय आशीर्वाद के रूप में ब्राह्मण इसी का प्रयोग करते हैं। द्विजों में विशेषतः कर्मकाण्डियों में आबाल-वृद्ध प्रायः सभी इससे परिचित हैं। मन्त्र का सायण आदि भाष्यकारों की रीति से सरल अर्थ यह है कि (वृद्धश्रवाः) बड़ा यशस्वी वा अधिक धनवाला इन्द्रदेव हमारा कल्याण-कारक हो, सबका जाननेवाला वा सर्वधनयुक्त पूषा देवता भी हमारे लिए शुभ करे। (अरिष्टनेमिः) जिसके प्राण, पक्ष आदि कभी नष्ट नहीं होते, ऐसा तार्क्ष्य (गरुड़) हमारे लिए शुभप्रद हो, और बृहस्पति भी हमारे कल्याण को परिपुष्ट करें। बड़े ही सरल अक्षरों में

सीधी-सी बात कही गई हैं। जगच्चक्र के चलानेवाले महाशक्तिशाली देवताओं से मनुष्य अपनी शुभकामना करते हैं और उनकी शुभभावना के अनुसार देवता भी उनके लिए शुभप्रद होते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। किन्तु, वेद सब प्रकार के विज्ञान की निधि है, भिन्न-भिन्न श्रेणी के अधिकारों को अपने-अपने अधिकार के उपयुक्त सब प्रकार की शिक्षा दे देना वेद का ही महत्त्व है। उच्च कक्षा के अधिकारी जब इसका मनन करेंगे और विचारेंगे कि इन्द्र, पूषा, तार्क्ष्य और बृहस्पति इनको साथ-साथ इस मन्त्र में कहने का क्या तात्पर्य है, तब अंगों की सहायता से उन्हें यहाँ उन्हें एक विचित्र ही चमत्कार प्रतीत होगा। मनन से विदित होगा कि इस मन्त्र में तारा-सम्बन्धी विज्ञान है। इसके ठीक समझने के लिए ज्योतिष-विद्या की आवश्यकता है। किन्तु, संक्षेप में यहाँ कुछ लिखा जाता है।

भूगोल की शिक्षा जिस प्रकार भूमि को कई भागों में विभक्त कर सुगमता से दी जाती है, उसी प्रकार मान्य महर्षियों ने शिक्षा की सुगमता के लिए खगोल के भी अनेक भाग कल्पित किये हैं। सम्पूर्ण खगोल के ३६० कल्पित अंश हैं, उनमें से ३०-३० अंश की एक-एक मेष, वृष आदि राशि बनाकर १२ भागों में सम्पूर्ण खगोल बाँटा गया है। दूसरे प्रकार से १३ अंश २० कला का एक भाग मानकर २७ भाग खगोल के किये जाते हैं, जिनको अश्विनी, भरणी आदि नक्षत्र कहते हैं। उक्त अन्तर पर जो बड़े-बड़े तारे हैं, उनकी पहचान के लिए वे उन नामों से पुकारे गये हैं। कहीं समानान्तर पर कोई बड़ा तारा नहीं मिला, तो कुछ न्यूनाधिक अन्तर का तारा भी संकेत के लिए ले लिया गया है। इन २७ भाग-रूप नक्षत्रों में से कुछ कम ७ नक्षत्रों पर खगोल का एक चतुर्थांश (९० अंश का) पूर्ण हो जाता है। इसी प्रकार के ९०-९० अंश के ४ खगोल के भाग इस मन्त्र द्वारा हमें बताये गये हैं।

कई नक्षत्र एक-एक तारा के हैं, और कई दो-दो और बहुत-बहुत ताराओं की समष्टि-रूप हैं। इनमें भी एक प्रधान तारा उन-उन नक्षत्रों का योग-तारा कहलाता है, उन प्रधान ताराओं को वेद में इन्द्र, अग्नि, विष्णु, बृहस्पति आदि देवताओं के नाम से निर्दिष्ट किया गया है। इसका कारण किंचित् गूढ है। इतना अवश्य स्मरण रहे कि ज्योतिःशास्त्र के 'मुहूर्त्तचिन्तामणि' आदि ग्रन्थों में उन-उन नक्षत्रों के वही स्वामी माने गये हैं, जो उनके प्रधान ताराओं के वैदिक देवता-संकेत हैं। इसके अनुसार चित्रा नक्षत्र का स्वामी तैत्तिरीय शाखा में इन्द्र है, वही इस मन्त्र में प्रथम निर्दिष्ट हुआ है। यह चित्रा नक्षत्र २७ नक्षत्रों में से मध्य का नक्षत्र है। मन्त्र में इसका 'वृद्धश्रवाः' विशेषण इसके तारा-संनिवेश-रूप आकार के कारण दिया गया है। 'वृद्धश्रवाः' का अर्थ है लम्बे कानवाला। भारत के और दूसरे देशों के भी पुराने चित्रों में चित्रा नक्षत्र का आकार लम्बे कान के उलूक जैसा बनाया हुआ मिलता है; क्योंकि कौशिक नाम उलूक का भी है। अस्तु; इसके ठीक सम्मुख अर्द्ध समानान्तर पर रेवती नक्षत्र है, जिसका देवता पूषा है। नक्षत्र-विभाग में अन्तिम नक्षत्र होने के कारण इस मन्त्र में 'विश्ववेदाः' (सर्वद्रव्य-युक्त या सर्वज्ञान-युक्त) कहा गया है। मध्य में चित्रा से प्रायः चतुर्थांश (९० अंश) दूरी पर श्रवण नक्षत्र है, जो इस मन्त्र में 'तार्क्ष्य' शब्द से युक्त है। श्रवण नक्षत्र में तीन तारे हैं, तीन ताराओं को संस्कृत में 'तृक्ष' कहते हैं, और तृक्ष का ही स्वार्थिक तद्धित प्रत्यय से 'तार्क्ष्य' रूप बना लिया गया है।

यह भी स्मरण रहे कि इस नक्षत्र का स्वामी विष्णु है, और तार्क्ष्य (गरुड) विष्णु का वाहन है। यह नक्षत्र सूर्य के क्रान्ति-वृत्त की अन्तिम सीमा पर पड़ता है, अतः इसे 'अरिष्ट-नेमि' कहा है। अरिष्ट, अर्थात् सब आपत्तियों के विनाशक सूर्यरथ-चक्र की यह नेमि (परिधि) पर है। इसके अर्द्धान्तर पर रेवती से चतुर्थांश दूरी पर पुष्य नक्षत्र है। जिसका स्वामी बृहस्पति इस मन्त्र के चतुर्थ पाद में निर्दिष्ट हुआ है। इस प्रकार पुष्य, चित्रा, श्रवण, रेवती इन चार समानान्तर विभागों में विभक्त कर सम्पूर्ण खगोल को अपना कल्याणकारक बनाने की मनुष्य-समाज की ईश्वर से प्रार्थना है। हमारा सब शुभ-अशुभ अन्तरिक्षस्थ देवताओं पर अवलम्बित है। सम्पूर्ण आकाश-मण्डल हमारे लिए शुभप्रद रहे, यह गम्भीर भाव की प्रार्थना इस मन्त्र द्वारा प्रकट होती है। इतनी विस्तृत नक्षत्र-विज्ञान की मूलभूत विद्या को बड़े सरल और अल्प अक्षरों में ईश्वर से ऋषिगण द्वारा प्रकट किया गया, यह छोटा मन्त्र कण्ठस्थ रखने पर खगोल के सब विभाग मानों हमारी दृष्टि के सामने रहते हैं।

वेदों में वैज्ञानिक शिल्प

वेदों में विज्ञान के जो सिद्धान्त हैं, उनका दिग्दर्शन संक्षेप में किया गया। अब वेद में जो वैज्ञानिक शिल्प के बहुत-से वर्णन यत्र-तत्र मिलते हैं, उनमें से भी एक उद्धरण यहाँ दिया जाता है :

अनश्वो जातो अनभीशुरुक्थ्यो रथस्त्रिचक्रः परिवर्त्तते रजः।
महत्तद्वो देव्यस्य प्रवाचनं द्यामृभवः पृथिवीं यच्च पुष्यथ ॥

(ऋ०, ४।३६।१)

रथं ये चक्रुः सुवृतं सुचेतसोऽविह्वरन्तं मनसस्परिध्यया।
ताँ ऊन्वस्य सवनस्य पीतये आवो वाजा ऋभवो वेदयामसि ॥

(ऋग्वेद, मण्डल ४, सूक्त २६)

इन मन्त्रों के द्रष्टा वामदेव ऋषि हैं। ये ऋभु देवताओं की स्तुति के मन्त्र हैं। ऋभु देवताओं का इतिहास भी बहुत-कुछ कई मन्त्रों में बताया गया है, और उसके सम्बन्ध में यह भी कहा गया है कि इन्होंने मनुष्य-योनि से देव-भाव प्राप्त किया था :

मर्त्तासः सन्तो अमृतत्वमानशुः।

एवं इनकी मनुष्य-दशा के या देव-भाव के विविध शिल्पों का वर्णन ऋक्-संहिता के बहुत-से सूक्तों में मिलता है। भाष्यकार श्रीमाधवाचार्य के लेखानुसार प्रकृत मन्त्रों का अभिप्राय यह है कि हे ऋभु देवताओ! आपने जो रथ बनाया है, वह घोड़े आदि वाहन की और लगाम आदि उपकरण की कोई अपेक्षा नहीं रखता। अतएव, वह सर्वथा स्तुति के योग्य है। तीन पहिये का वह रथ अन्तरिक्ष-लोक में भ्रमण करता है। यह आपका बड़ा भारी काम, आपके देव-भाव का प्रख्यापक है (अर्थात्, ऐसे ही बहुत-से महत्त्व के कार्यों से आपको देव-भाव प्राप्त हुआ है) और ऐसे कार्यों से आप पृथ्वी और द्यु (स्वर्ग) दोनों को पुष्ट करते हैं।।१।।

हे ऋभुदेवताओ ! बड़े विचारशील जिन आप लोगों ने अपने मन के विचार से विना प्रयत्न ही (अल्प प्रयास से ही) सुन्दर गोल और अकुटिल (सीधा) रथ बनाया है, उसको हम अपने इस यज्ञ में सोमपान करने के लिए निमन्त्रित करते हैं ।।२।।

एक वेद-मन्त्र में ऐसे रथ का भी वर्णन है, जो भूमि, अन्तरिक्ष और जल तीनों में समान गति रखता है। एवं ऋभु-देवताओं ने एक ऐसा चमस बनाया, जो एक रूप भी रहता था और चार रूपों में प्रकट कर दिया जाता था, ऐसा वर्णन भी मन्त्रों में आता है। किन्तु, अब विस्तार बहुत हो चुका, अतः इस विषय को यहीं समाप्त करते हैं।

वेद और विज्ञान इन दोनों शब्दों का अर्थ-निरूपण कर, वेद में जो विज्ञान प्राप्त होते हैं, उनका दिग्दर्शन अबतक कराया गया। वेद तो अनन्त विज्ञानों की निधि है। मनु आदि परमाचार्य कहते आये हैं कि :

भूतं भवद् भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिद्धचति ।

अर्थात्, सब कालों के ज्ञान-विज्ञान वेद से ही सिद्ध होते हैं। उनका विवरण किसी एक व्यक्ति के लिए सर्वथा कर देना कैसे सम्भव है। मैंने तो गुरु-कृपा से जो कुछ इस विषय को प्राप्त किया, उसका कुछ अंश स्थालीपुलाक-न्याय से यहाँ उपस्थित किया।

अब निबन्ध के दूसरे शीर्षक भारतीय संस्कृति का विवरण आरम्भ करते हुए, 'भारत' और 'संस्कृति' शब्दों के अर्थ का विस्तृत अध्ययन करना पहले आवश्यक हो जाता है। इसलिए, प्रथमतः 'भारत' शब्द के अर्थ पर ही विचार किया जाता है।

भारतवर्ष और उसकी प्राचीन सीमा

भारत का विचार करते समय प्राचीन भारत कहाँतक था, उसकी सीमा क्या थी, यह जबतक स्पष्टतया न जान लिया जाय, तबतक भारतीय संस्कृति का विस्पष्ट चित्र सामने आना कठिन है। इसका कारण यह है कि जितने भी भारतीय आचार, व्यवहार, कला, कौशल आदि हैं, वे सब प्राचीन ग्रन्थों में उपनिबद्ध हैं। उन ग्रन्थकर्त्ताओं ने अपने समय के भारत का चित्र अवश्य प्रस्तुत किया है। आज का भारत उसकी अपेक्षा बहुत संकुचित हो गया है। उसे तो जाने दीजिए, भारत का जो भूगोल आज से २० वर्ष पहले था, वह भी आज नहीं है।

प्राचीन वाङ्मय के भारतविषयक अनुशीलन से पता चलता है कि भारत की पूर्वीय और पश्चिमीय सीमाएँ बहुत अधिक विस्तृत थीं। भारत की पूर्वीय सीमा चीनसागर था। इस सीमा के अन्तर्गत ब्रह्मदेश, जिसे आजकल बर्मा कहा जाता है, स्याम, रंगून आदि सम्मिलित थे। भारत की पश्चिमी सीमा लालसागर (भूमध्यसागर) तक चली गई थी। इस सीमा में वर्त्तमान पाकिस्तान, बिलोचिस्तान, ईरान, मेसोपोटामिया और अरब भी सम्मिलित थे। इस प्रकार, पूर्वी चीन-समुद्र से पश्चिम में लालसागर तक भारत कहा जाता था। इस विषय में अनेक प्रमाण हैं, जिनमें से कतिपय प्रमाणों का यहाँ उल्लेख किया जाता है। भारत की दक्षिणोत्तर सीमा तो हिमालय और कन्याकुमारी तक प्रसिद्ध ही है।

१. प्रथम प्रमाण मनु का आर्यावर्त्त-सीमा-निर्देश है :

आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात् ।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्त्तं विदुर्बुधाः ।।

अर्थात्, हिमालय और विन्ध्याचल के मध्य में पूर्व समुद्र से पश्चिम समुद्र तक 'आर्यावर्त्त' कहा जाता है।

यह भारतवर्ष के अन्तर्गत आर्यावर्त्त की सीमा का निर्देश है। यहाँ पूर्व समुद्र और पश्चिम समुद्र शब्द से बंगाल की खाड़ी और अरब सागर अभिप्रेत नहीं हो सकता, अपितु चीनसागर और लालसागर से ही तात्पर्य है। भूगोल के नक्शे में विन्ध्याचल और हिमालय के मध्यभाग से पूर्व और पश्चिम की तरफ सीधी लाइन ले जाइए, तो उपर्युक्त दोनों समुद्र ही दोनों सीमाओं में पहले आयेंगे। बंगाल की खाड़ी और अरबसागर इस लाइन से दक्षिण भाग में रह जायेंगे। मनु का यह साक्ष्य पूर्व और पश्चिम सीमा का विस्तार स्पष्टतया प्रकट करता है।

२. व्याकरण-महाभाष्यकार भगवान् पतंजलि ने भी अपने महाभाष्य में भारतवर्ष की सीमा का निर्देश इस प्रकार किया है :

प्रागादर्शात् प्रत्यक् कालकवनात् दक्षिणेन हिमवन्तमुत्तरेण पारियात्रम्।

अर्थात्, आदर्श से पूर्व, कालकवन से पश्चिम, हिमालय से दक्षिण और पारियात्र से उत्तर भारत कहलाता है।

इसमें आदर्श से तात्पर्य भूमध्यसागर के उत्तर-प्रान्त में स्थित तारस पर्वत से है। अथवा तूरस पर्वत को (जिसका नाम सिनाई पर्वत भी है) आदर्श पर्वत के नाम से गृहीत किया जा सकता है। यह आदर्श पर्वत पश्चिम समुद्र या यहूदी नाम के यवनदेश के समीप है। कुछ विद्वान् महाभाष्य के इस आदर्श शब्द से सिन्धु नदी के दक्षिण में स्थित सुलेमान पर्वत को लेते हैं। परन्तु, यह युक्तियुक्त नहीं; क्योंकि पश्चिम सीमा में जो यवनदेश का और समुद्र का निर्देश किया गया है, वह सुलेमान पर्वत के 'आदर्श' से गृहीत होने पर उत्पन्न नहीं होता। तारस नाम के सिनाई पर्वत का 'आदर्श' नाम से गृहीत होना अक्षर-साम्य भी रखता है।

३. मात्स्य[1], मार्कण्डेय[2] आदि पुराणों में भारतवर्ष के पूर्व में किरात और पश्चिम में यवनों का होना बताया गया है। पुराणादि में यवन शब्द से मुसलमान जाति का ग्रहण करना तो भ्रान्तिमात्र है; क्योंकि यह जाति तो हजरत मुहम्मद का मत स्वीकार करने के कारण बनी है, जिसके जन्म की यह चौदहवीं शताब्दी है। इनका निर्देश पुराणों में सम्भव ही कहाँ है। वहाँ तो यवन शब्द से यवनदेश ही लिया जाता है। यवनदेश भी केवल यूनान या ग्रीस का ही नाम नहीं है, अपि तु भूमध्यसागर के पार्श्ववर्त्ती यहूदी जाति के निवासस्थान यहूदिया और कोण्डिया आदि प्रदेश यवन शब्द से ही कहे जाते थे। इसके अनेक प्रमाण हैं। उनके समीप तक आर्यावर्त्त वा भारतवर्ष की सीमा फैली हुई थी।

---

१. योजनानां सहस्रं वै द्वीपोऽयं दक्षिणोत्तरः।
आयतस्तु कुमारीतो, गङ्गायाः प्रवहावधिः ॥१॥
द्वीपो ह्युपनिविष्टोऽयं म्लेच्छैरन्तेषु सर्वशः।
यवनाश्च किराताश्च तस्यान्ते पूर्वपश्चिमे ॥२॥—मात्स्य, ११४।

२. योजनानां सहस्रं वै द्वीपोऽयं दक्षिणोत्तरम्॥
पूर्वे किराता यस्यान्ते पश्चिमे यवनास्तथा ॥३॥—मार्क० ५५।

पूर्व में जो किरात बताये गये हैं—इनके सम्बन्ध में भी ऐतिहासिकों का यही अनुमान है कि वह चीनसागर के पूर्ववर्त्ती देशों की ही निवासिनी जाति थी। इससे भी भारत की पूर्वोक्त सीमा ही सिद्ध होती है।

४. पद्मपुराण और मत्स्यपुराण में पृथ्वी को चार दल का कमल बतलाया गया है। प्रमाण इस प्रकार है :

पद्मं नाभ्युद्भवं चैकं समुत्पादितवांस्ततः।
सहस्रवर्णं विरजं भास्कराभं हिरण्मयम्॥
पद्मे हिरण्मये तस्मिन्नसृजद् भूरिवर्चसम्।
स्रष्टारं सर्वलोकानां ब्रह्माणं सर्वतोमुखम्॥
तच्च पद्मं पुराभूतं पृथिवीरूपमुत्तमम्।
यत्पद्मं सा रसादेवी पृथिवी परिकथ्यते॥
एवं नारायणस्यार्थे मही पुष्करसम्भवा।
प्रादुर्भावोऽप्ययं तस्मान्नाम्ना पुष्करसंज्ञितः॥

(पद्म पु०, सृ० अ० ४० : मत्स्य० पु०, अ० १६९)

इसका अर्थ है कि नाभि से भगवान् ने एक पद्म को उत्पन्न किया, जो हजारों वर्णों का था, जिसमें रज नहीं था, अर्थात् जो विशुद्ध था, सूर्य के समान उसकी आभा थी, वह हिरण्मय था। उस हिरण्मय पद्म पर महातेजस्वी, सारे संसार के निर्माता, चारों ओर मुख रखनेवाले ब्रह्मा को उत्पन्न किया। वही पद्म आगे चलकर पृथ्वी रूप में परिणत हुआ। वही पद्म रसादेवी, पृथ्वी कहा जाता है।

वह पद्म चार दल (पंखुड़ियों) वाला था, इस विषय में मार्कण्डेयपुराण कहता है :

तदेतत्पार्थिवं पद्मं चतुष्पत्रं मयोदितम्।
भद्राश्वभारताद्यानि पत्राण्यस्य चतुर्दिशाम्॥

अर्थात्, यह जो पृथ्वी-पद्म है, जिसको हमने चतुष्पत्र बतलाया है, उसके भद्राश्व, भारतादि चार पत्ते हैं। यहाँ दो ही पत्रों का नामतः निर्देश है। ब्रह्मपुराण में चारों का निर्देश किया गया है :

भारताः केतुमालाश्च भद्राश्वाः कुरवस्तथा।
पत्राणि लोकपद्मस्य मर्यादा शैलवाह्यतः॥

इसमें भारत, केतुमाल, भद्राश्व और कुरु ये पृथ्वी-पद्म के चार दल कहे गये हैं। दूसरे शब्दों में उस समय सारी पृथ्वी इन्हीं चार भागों में विभक्त थी। यहाँ कुरु शब्द से उत्तर कुरु, अर्थात् सुमेरु-प्रान्त का ग्रहण है। ये चारों परिमाण की दृष्टि से समान थे, जो भूगोल-खगोल के कल्पित ९०-९० अंशों में विभक्त थे। इसका साक्ष्य 'सूर्यसिद्धान्त' के भूगोलाध्याय में इस प्रकार है :

भूवृत्तपादे पूर्वस्यां नवकोटीति विश्रुता।
भद्राश्ववर्षे नगरी स्वर्णप्राकारतोरणा॥
याम्यायां भारते वर्षे लङ्का तद्वन्महापुरी।
पश्चिमे केतुमालाख्ये रोमकाख्या प्रकीर्त्तिता॥

भूवृत्तपादविवरास्ताश्चान्योन्यं प्रतिष्ठिताः ।
तासामुपरिगो याति विषुवस्थो दिवाकरः ।
न तासु विषुवच्छाया नाक्षस्योन्नतिरिष्यते ॥

इसके अनुसार लंका और सुमेरु का स्पर्श करती हुई जो रेखा है, उसको भारतवर्ष की मध्य रेखा कहा गया। अतः, उसके पूर्व के पैंतालीस अंश और पश्चिम के पैंतालीस अंशों से व्याप्त जो भूभाग है, वही भारतवर्ष है—यह सिद्ध हुआ। भारतवर्ष से नव्बे अंश पूर्व में भद्राश्व वर्ष है और भद्राश्व से नव्बे अंश उत्तर की ओर उत्तर कुरु वर्ष है। उसके उतने ही अंश बाद केतुमाल वर्ष आता है। इस प्रकार, भू-पद्म के चार दलों का वर्णन मिलता है। भारतवर्ष की मध्य रेखा उज्जयिनी पर मानी गई है। यह उज्जयिनी २३।९ उत्तर अक्षांश में स्थित है। पाश्चात्य विद्वान् ग्रीनविच् नाम की मध्यरेखा से देशान्तर की गणना किया करते हैं। उज्जयिनी के ऊपर होकर गई हुई भारतीय मध्यरेखा और पाश्चात्य विद्वानों की सम्मत ग्रीनविच मध्यरेखा में ७५।४३ अंशों का अन्तर है। इस प्रकार, भूमध्यरेखा पर स्थित उज्जयिनी से ४५ अंश पश्चिम तक भारत की पश्चिमी सीमा सिद्ध होती है और वह प्रदेश भूमध्यसागर के समीप ही ठहरेगा।

५. भारतवर्ष के ९ उपद्वीप पुराणों में प्रसिद्ध हैं—(१) इन्द्रद्वीप, (२) नागद्वीप, (३) सौम्यद्वीप, (४) गान्धर्व द्वीप, (५) वारुण द्वीप, (६) कशेरुमान्, (७) गभस्तिमान्, (८) ताम्रपर्ण-सिंहल और (९) कुमारिका। इन उपद्वीपों को वर्त्तमान में इन नामों से कहा जाता है—(१) अण्डमन, (२) नीकोबर, (३) यवद्वीप, (४) फिलीपाइन द्वीप-संघ, (५) बोर्नियो, (६) कसेरू, (७) मलूका, (८) सीलोन और (९) कुमारी। इन सब उपद्वीपों का विस्तृत विवरण पुराणों में प्राप्त होता है। जब इतने दूर के देश उपद्वीप माने गये, तब अवश्य ही भारतवर्ष का बहुत विस्तृत होना सिद्ध होता है; क्योंकि सीमा के समीप-वाले मिले हुए देश ही तो उपद्वीप कहला सकते हैं।

६. ऋग्वेद के मण्डल १० के सूक्त ८६ से प्रारम्भ कर आगे के सूक्तों में एक वाक्-कलह का संकेत प्राप्त होता है। ऋश्राश्व ऋषि का दौहित्र एक जरथुस्त्र नाम का व्यक्ति हुआ, उसके हृदय में स्वभावतः उस काल के अन्य ब्राह्मणों से द्वेष था। ब्राह्मण-द्वेष के कारण ही उसने ब्राह्मी लिपि के विरुद्ध उल्टी लिखी जानेवाली खरोष्ठी लिपि का प्रसार किया। उसीके समय वाह्लीक देश में ऋषियों में एक विचार-संघर्ष और वाग्युद्ध उठ खड़ा हुआ। सौत्रामणि इष्टि (यज्ञ) में ऋषि इस विषय पर आपस में झगड़ पड़े कि इन्द्र को प्रधान देवता माना जाय, अथवा वरुण को। जरथुस्त्र ने परम्परा से चले आते हुए इन्द्र के प्राधान्य को अस्वीकार किया और उसके स्थान पर वरुण के प्राधान्य को प्रतिष्ठित किया। इसका संकेत ऋक्-संहिता में 'नेन्द्रं देवममंसत' इस मन्त्रांश में पाया जाता है। उपस्थित ऋषियों में नृमेधा, हिरण्यस्तूप, वामदेव, गार्ग्य आदि ने इन्द्र का पक्ष लिया और सुपर्ण, काण्व, भरद्वाज आदि ने वरुण का पक्ष लिया, वसिष्ठ आदि ऋषियों ने अपने-अपने स्थान पर दोनों को समान माना। इस सम्बन्ध के भिन्न-भिन्न ऋषियों के सूक्त वही हैं और इन्द्राणी का क्रोध एवं इन्द्र-कृत और अन्य ऋषि-कृत उसकी सान्त्वना के मन्त्र भी हैं। यह विरोध बहुत अधिक बढ़ गया, तब मनुष्यावतारधारी ब्रह्मा ने, जो बड़े विद्वान् महाप्रभावशाली और महातेजस्वी थे, भारत के दो

विभाग कर दिये। सिन्धु नदी से पश्चिम का भाग वरुण को प्रधान माननेवालों को दिया तथा पूर्व का भाग इन्द्र को प्रधान माननेवालों को दिया। इस घटना से भी भारतीय सीमा के अति विस्तृत होने का प्रमाण मिलता है; क्योंकि इससे सिद्ध हो जाता है कि सिन्धु नदी भारत के मध्य में है—न कि पश्चिम सीमा पर। सिन्धु को मध्य में मानने पर जितना प्रदेश सिन्धु के पूर्व में है, उतना ही पश्चिम में मानना पड़ेगा और वह भाग भूमध्यसागर तक ही पहुँचेगा।

७. भारत की सीमा प्राचीन काल में अत्यधिक विस्तृत थी, इस विषय में प्राचीन काल और आधुनिक काल में प्रचलित संज्ञा शब्द भी प्रमाण हैं। हम ऊपर लिख आये हैं कि इन्द्र और वरुण को प्रधान मानने के विचार-विरोध में ब्रह्मा ने भारत के दो विभाग कर दिये। एक सिन्धु नदी के उस पार का लालसागर तक का प्रदेश, और दूसरा सिन्धु के पूर्व का प्रदेश। इस प्रकार, विभाग होने के अनन्तर सिन्धु के पारवाले लोग पूर्वीय तटवालों को सिन्धुस्थानीय कहने लगे। इसी शब्द का भाषावैज्ञानिक ढंग से विकृत होनेवाला रूप आज 'हिन्दुस्तानी' हो गया। इसी प्रकार, पूर्वीय तटवाले लोग पश्चिम के निवासियों को पारस्थानीय कहने लगे। यही शब्द विकृति-प्रक्रिया द्वारा आज पारसी रूप में उपस्थित हुआ है। इस प्रकार, प्राचीन वाङमय में प्रयुक्त ये सिन्धुस्थान और पारस्थान शब्द आपेक्षिक हैं, और भारत की पश्चिमी सीमा के विस्तार का निर्देश करते हैं। इसी प्रकार, पूर्वीय भाग के लिए आर्यावर्त्त संज्ञा प्रसिद्ध हुई, और पश्चिम भारत का निर्देश 'आर्यायण' शब्द से हुआ। आवर्त्त और अयन शब्द का एक ही तात्पर्य है। वही आर्यायण शब्द भाषा-नियम से 'ईरान' बन गया। ये दो संज्ञाएँ दोनों भागों में आर्यों की स्थिति और उनकी प्रधानता का संकेत करती हैं और भारत के सीमा-विस्तार को पुष्ट करती हैं।

लालसागर से पूर्व और सिन्धु नदी से पश्चिम कास्पियन सागर के दक्षिण भाग के प्रदेश के पुराने लोग ओरियन्स (Oriens) शब्द का व्यवहार करते थे। वह शब्द 'आर्यवंश' शब्द का अपभ्रंश प्रतीत होता है। यह भी अनुमान है कि ब्राह्मण-विरोधी जरथुस्त्र के अनुयायी लोग विपरीतगामी होने के कारण 'वामग' कहलाये—उसी का 'वा' टूटकर 'मग' जाति प्रसिद्ध हुई और प्राचीन आर्यों के विरोधी होने के कारण उन्हें आर्यों का बाधक 'आर्य-स्पश' कहा गया। उनका देश भी 'आर्यस्पश' कहलाया। वही शब्द 'आर्यस्प' और धीरे-धीरे 'ओरियन्स' के रूप में आ गया। जो भी हो, इस प्रकार से वह ओरियन्स देश—'आर्यों का निकेतन', सिद्ध होता है और इस संज्ञा से भी पश्चिम विभाग में आर्यों का निवास स्फुट अनुमित होता है।

एरियाना शब्द, जो कि पश्चिम देशों के लिए प्रयुक्त है, वह भी आर्यनिवास-मूलक ही है। इण्डिया और वामनियाँ शब्द भी वहाँ आर्यनिवास-मूलक ही प्रतीत होते हैं।

वर्त्तमान में और निकट अतीत में प्रयुक्त कतिपय संज्ञा शब्द भी इस विस्तार-सीमा को सिद्ध करने में सहायक होते हैं।

पश्चात् प्रयुक्त होनेवाला खुरासान शब्द भी इस विषय में प्रमाण है। पश्चिमी भाग का राजा वरुण था, वसिष्ठ ऋषि उसके बड़े मित्र थे। पुराणों में कथा प्रसिद्ध है कि कान्य-

कुब्ज का राजा विश्वामित्र किसी समय वसिष्ठ के पास निवास करनेवाली गौ नन्दिनी को हरण करने के लिए प्रवृत्त हुआ। उस नन्दिनी की इच्छा विश्वामित्र के साथ जाने की नहीं थी। बलात् हरण करने पर उसको बहुत क्रोध आया और क्रोधवश उसने उस भूमि को अपने खुरों के प्रहार से खोद डाला। इस बलात्कार से गौ नन्दिनी का अपहरण वसिष्ठ ऋषि भी सहन न कर सके और उन्होंने वरुण से सहायता के लिए कहा। वरुण ने पल्हव, पारद, यवन, शक और कम्बोजों को उसकी रक्षा के लिए भेजा। इन्होंने विश्वामित्र को सेना-सहित पराजित किया और गौ नन्दिनी की रक्षा की। नन्दिनी के खुरों से खोदने के कारण उस प्रदेश के निवासियों के नाम, खुरध, खुरद तथा कुर्द हुए और इनके जनपद-संघों के नाम खुर्द-स्थान या खुरासान हुए। यह खुरासान शब्द जिसका प्रयोग अकबर आदि मुगल-बादशाहों ने किया है, पश्चिमी भारत को भारत सिद्ध करने के लिए उपयोग में लाया जा सकता है। पश्चिम के देश के लिए प्रयुक्त होनेवाला ईरान शब्द भी आर्यायण से ही निष्पन्न है और वहाँ आर्यों के निवास को बतलाता है।

यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि जब सिन्धु से पश्चिम के लालसागर तक के भारतीय प्रदेशों की ईरान, फारस, खुरासान आदि संज्ञाएँ दिखाई गई हैं, तब बहुत समय से ये नाम विशेष भूभाग या विशेष देशों के वाचक कैसे हुए। आज ईरान, खुरासान और फारस आदि शब्द लालसागर तक के प्रदेश के वाचक नहीं, अपितु संकुचित देश-विशेषों के वाचक ही हैं। इसका समाधान यह है कि जिस प्रकार इन्द्रप्रस्थ, द्वारका और लंका नाम के प्रदेश प्राचीन काल में आज की अपेक्षा बहुत विस्तृत थे, परन्तु कालक्रम से विभिन्न राजाओं के अधिकार में सीमाओं का संकोच और विस्तार होते रहने से आज इनका यह छोटा सीमित स्वरूप रह गया है। यही बात इन पश्चिमी प्रदेशों की संज्ञाओं पर भी घटित होती है। विभिन्न समयों में पश्चिमी प्रदेशों में राजनीतिक उथल-पुथल के कारण अनेक राज्य वहाँ बने और बिगड़े। समय-समय पर शासकों ने अपनी सीमाओं के निर्धारण में संकुचित प्रदेशों के लिए इन संज्ञाओं को रूढ़ कर दिया। परन्तु, प्रारम्भ में जब ये संज्ञाएँ प्रचलित हुई थीं, तब विस्तृत प्रदेश की ही वाचक थीं।

हमारे पुराण आदि में पश्चिम प्रान्त में मऊ और केकय देश बहुत प्रसिद्ध हैं। ये बहुत बड़े प्रान्त थे। वाह्लीक देश भी पश्चिम का बहुत बड़ा प्रान्त था, जिसके प्रभावशाली राजा भूरिश्रवा आदि महाभारत के प्रसिद्ध योद्धा थे। वाह्लीक के प्रान्त में ही एक शाकद्वीप नाम से प्रसिद्ध स्थान था। वहाँ के क्षत्रिय शक कहलाते थे और जो ब्राह्मण उस प्रान्त से आकर बिहार के कुछ भाग में रह गये हैं, वे आज भी 'शाकद्वीपी' नाम से ही कहे जाते हैं। आज उस देश को स्कीथिया वा स्कीदिया कहा जाता है। इस प्रकार के बहुत संज्ञा शब्द उस देश को संस्कृतज्ञ आर्यों को निवास सिद्ध कर रहे हैं। और भी इस बात के बहुत प्रमाण हैं कि भारत पहले बहुत विस्तृत प्रदेश था। राज्य-क्रान्तियों के कारण वह पश्चिम से बहुत ही संकुचित होती गया और आज तो वह अतिसंकुचित दशा में पहुँच गया। अस्तु; शास्त्रों के अनुसार जो भारतीय संस्कृति का निरूपण होगा, उसमें इस बात का ध्यान रखना होगा कि यह उस विस्तृत देश की संस्कृति है और आज भारतीय संस्कृति में जिन अन्य देशों की संस्कृति का सम्मिश्रण ऐतिहासिक विद्वान् सिद्ध करते हैं, प्राचीन शिलालेखों और नये आविष्कृत

प्रदेशों में जिन संस्कृतियों का आभास वे पाते हैं—वे देश भारतवर्ष में ही पूर्वकाल में सम्मिलित थे। इसीलिए, भारतीय संस्कृति का स्वरूप बताने में इस सीमा-निर्देश की आवश्यकता-पूर्त्ति की गई।

भारतीय संस्कृति का मूल

इस प्रकार, प्राचीन भारत का संक्षिप्त विवरण हुआ। आधुनिक भारत जो कुछ है, वह तो प्रत्यक्ष ही है; उसके विवरण की आवश्यकता नहीं। भारत के निवासी भारतीयों की संस्कृति वेदमूलक है। यद्यपि आगे चलकर भारत में ही ऐसे भी सम्प्रदाय बने, जिन्होंने वेदों को अपने आचार-विचारों का आधार नहीं माना; जैसे बौद्ध, जैनादि-सम्प्रदाय; सिक्ख-सम्प्रदाय आदि। परन्तु ये सम्प्रदाय जिन ग्रन्थों को अपने आचार-विचारों का मूल कहते हैं, उनमें भी, सूक्ष्म विवेचनापूर्ण दृष्टि से देखने पर, वैदिक आचार-विचारों का प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखाई देता है। किसी-किसी अंश में चाहे उनमें भेद दिखाई देता हो, किन्तु मौलिकता में सभी एक स्थान पर आ जाते हैं। उदाहरणार्थ, जैन तथा बौद्धों के आचार-विचारों का एक मुख्य आधार अहिंसा है, वह अहिंसा वैदिक आचार-विचारों में भी ओत-प्रोत है। समुचित युद्ध आदि के स्थल पर वे भी अहिंसा का अपवाद मानते हैं, वैदिक सिद्धान्त में युद्ध आदि के साथ-साथ यज्ञ को भी अहिंसा का अपवाद-स्थल गिन लिया गया है। तात्पर्य यह कि भारतीयों की संस्कृति मूलतः एक ही है। हाँ, आज भारत में हमारे मुस्लिम बन्धु तथा ईसाई बन्धु भी निवास करते हैं। उनकी संस्कृति वैदिक संस्कृति से नहीं मिल पाती, किन्तु यह भी स्पष्ट है कि उनकी संस्कृति भारतीय संस्कृति के नाम से व्यवहृत भी नहीं हो सकती। भारत में उनका निवास भले ही चिरकालिक है और ऐसी स्थिति में भारतीय संस्कृति की कुछ छाप उनकी संस्कृति पर भी पड़ जाना स्वाभाविक है, किन्तु मूलतः वे अपने प्राचीन स्थान अदन आदि की संस्कृति के ही अनुयायी हैं। अतः, भारतीय संस्कृति वेदमूलक है। इसमें सन्देह नहीं रह जाता।

अनेक पाश्चात्य विद्वानों और उनके अनुयायी अनेक भारतीय विद्वानों ने भी यह सिद्ध करने की चेष्टा की है और कर रहे हैं कि भारतीयों की संस्कृति कोई विशुद्ध संस्कृति नहीं, वह एक मिश्रित संस्कृति है। इस देश में सबसे पहले नीग्रो जाति के लोग आये। ये प्रायः असभ्य थे, किन्तु उनके अनन्तर औष्ट्रिक या आग्नेय जाति के लोग आये, वे कुछ सभ्य थे। उनके अनन्तर द्रविड़ और पीछे आर्य लोग आये। इन सबकी संस्कृतियों का सम्मिश्रण होता रहा और आज जो संस्कृति भारत में दिखाई देती है, वह मिश्रित संस्कृति ही है, किन्तु यह सब केवल कल्पना-मात्र है। इन बातों में दृढ प्रमाण उपलब्ध नहीं होते। ये सब ऐतिहासिकों के अपने मन्तव्य-मात्र हैं, जिनपर कुछ विद्वान् ऐसी कल्पनाएँ करते हैं। आर्यों के पूर्वज बाहर से आये, इस अनुमान का भी अनेक भारतीय विद्वानों ने सप्रमाण समुचित खण्डन कर दिया है। यह कल्पना यूरोप से उठी थी, जो केवल राजनीतिक आधार रखती थी। अँगरेज जाति अपने राजनीतिक चातुर्य में विश्वविख्यात है। वहाँ के विद्वान् भी पूर्ण राजनीति-कुशल होते हैं। उन्होंने भारतीयों का अपने देश पर अनुराग शिथिल करने के लिए यह कल्पना की थी। आर्य कहाँ से आये, इसपर अबतक भी एकमत

नहीं हुआ है। वस्तुतः, जहाँ से इनका आगमन माना जाता है, वे देश प्राचीन भारत में ही सम्मिलित थे, यह हम 'भारत-सीमा-निर्देश' में सिद्ध कर चुके हैं। कई अन्यान्य देशों की संस्कृति का भारतीय संस्कृति से जो परस्पर मेल पाया जाता है, उसका कारण तो हमारे प्राचीन इतिहास-पुराणों से ही स्पष्ट हो जाता है कि अनेक भारतीय महाराजा दिग्विजय-यात्रा करते थे, उनके साथ बहुत-सी सेना विदेशों में जाती थी, और भारत से निकाले हुए भी बहुत-से ब्राह्मण-क्षत्रिय दूसरे देशों में जाकर रहे—उनकी संस्कृति का प्रभाव उन देशों पर पड़ा, और यों भारतीय संस्कृति का अनुकरण ही अन्य देशों में होने से मेल प्रतीत होता है, भारत में अन्य संस्कृति का आना इससे सिद्ध नहीं होता। सारी जातियाँ यदि क्रम से यहाँ आती रहीं, तो क्या प्रकृति का प्यारा यह भू-खण्ड पहिले निर्जन ही था? क्या इस सर्वप्रकृतिसम्पन्न देश में कोई सृष्टि हुई ही नहीं। इस प्रकार की कल्पनाएँ तो आश्चर्य को उत्पन्न करनेवाली होती हैं। यह विषय ऐतिहासिक है और हमारा निबन्ध विज्ञान-विषयक है, इसलिए हम यहाँ इस विवेचन में नहीं जायेंगे। हमारे शास्त्र यही मानते हैं कि आर्य लोग सृष्टि के आरम्भ से इसी पवित्र भूमि पर भारतवर्ष के निवासी हैं और भारतीय संस्कृति का मूल स्रोत वेद ही है।

भारतीय संस्कृति

भारतीय एवं पाश्चात्य ऐतिहासिक विद्वानों के अन्वेषणों और विचारों ने उस तथ्य को सभ्य संसार में भली भाँति प्रकट कर दिया है कि सारे संसार की संस्कृतियों में यदि कोई संस्कृति अपने-आपको सबसे पुरानी सिद्ध कर सकी है, तो वह भारतीय संस्कृति ही है। ग्रन्थों को देखने से अनेक प्राचीन स्थानों की खुदाई में प्राप्त वस्तुओं के परीक्षण से प्राचीन भारतीयों और विदेशियों, राजाओं और सम्राटों के शिलालेखों से तथा संसार के विभिन्न प्रदेशों से प्राप्त प्राचीन सिक्कों एवं इसी प्रकार की अनेक पुरातत्त्व-सामग्री से उपर्युक्त तथ्य सामने आया है। वर्त्तमान इतिहासज्ञों को भी अब भारतीय संस्कृति की सर्व-प्राचीनता में विवाद का अवसर नहीं रह गया है। हमारे यहाँ के भारतीय ग्रन्थ तो इस संस्कृति को करोड़ों और अरबों वर्षों का सिद्ध करते हैं।

यह भी एक विचार उठता है कि यह संस्कृति शब्द प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होता। यह शब्द पाश्चात्य देशों और उसकी भाषा के हमारे संसर्ग में आने के बाद उनके अनुकरण पर तैयार किया गया नया शब्द है। अनेक विद्वानों के विचारानुसार यह शब्द अँगरेजी के ''कल्चर' शब्द के अनुवाद में प्रयुक्त होने लगा। परन्तु, इसके अर्थ का विचार करने पर ज्ञात होता है कि यह शब्द अपने-अपने देश के विचारों और व्यवहारों को प्रकट करता है। इसमें भारतीय प्राचीन ग्रन्थों में भी आचार-विचार शब्द का प्रयोग बहुधा सर्वत्र मिलता है। निष्कर्ष यह है कि भारतीय विचारों और आचरणों का समालोचन ही भारतीय संस्कृति का अध्ययन कहलायगा।

हमारे विचार और आचरण प्रारम्भ से कितने दृढ रहे हैं और इसकी संस्कृति की धारा सर्वदा से कितनी प्राणवान् रही है, इसका पता भी इसकी प्राचीनता से चल जाता है। प्राचीन होने के साथ-ही-साथ यह उस संस्कृति की दूसरी विशेषता है कि अनेक प्रबल आक्रमणों और उखाड़ फेंकनेवाले वात्या-चक्रों से संघर्ष करते हुए आज भी भारतीय संस्कृति

अपने किसी-न-किसी स्वरूप में व्यवस्थित है। संसार के इतिहास में अनेक संस्कृतियों ने जन्म लिये। उन्होंने अपने गौरवपूर्ण समय भी देखे, परन्तु वे अपने विरुद्ध आक्रमणों का सहन न कर सकीं और काल-कवलित होकर भी इतिहास के पृष्ठों में अध्ययन का विषय बन गईं। रोमन देश की संस्कृति, का किसी समय सारे विश्व पर प्रभाव था, यूनान की संस्कृति ने आज के अनेक देशों के विचारों को जन्म दिया। परन्तु, आज उन संस्कृतियों का कहीं नाम-निशान तक नहीं। इसी प्रकार के अनेक उदाहरण संसार के इतिहास में मिलेंगे। इसके विपरीत भारतीय संस्कृति, जो कि समस्त संस्कृतियों से अति प्राचीन सिद्ध हुई है, आज भी बहुत कुछ अपना स्वरूप रखे हुए है। इसका इतिहास भी बड़ा विकट है। बड़े-बड़े विकट समय के भीतर से इसे गुजरना पड़ा है। बड़े-बड़े झंझावातों ने उसे उखाड़ने की चेष्टा की है। इसके सिद्धान्तों को दम भरकर झकझोरा गया है। परन्तु, आश्चर्य है कि यह न मिट सकी। भारतीय संस्कृति विश्व के समस्त उत्थान और पतनों को साक्षी बनाकर देखती रही। इसका कारण क्या है कि यह न मिटी। अवश्य ही इसका कोई मौलिक कारण है। साथ ही, एक बात और ध्यान में रखनी चाहिए कि हमारी संस्कृति आज तो जिस रूप में है, सो तो है ही, प्राचीन समय में तो हमारे देश के विचार ही सारे संसार के मार्गप्रदर्शक माने जाते थे। उसका साक्ष्य स्वयं भगवान् मनु देते हैं। वे कहते हैं कि :

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

इस श्लोक के अर्थ पर दृष्टि विशद होती है। मनु कहते हैं कि भारतवर्ष में उत्पन्न होनेवाले अग्रजन्मा से सारे भारत के लोग अपने-अपने चरित्रों को सीखें। यहाँतक भी ठीक था कि भारतवर्ष का अग्रजन्मा भारतीय व्यवहारों और विचारों को सिखा देता, परन्तु संसार के समस्त लोगों को अपने-अपने चरित्र को वह कैसे सिखा सकता था। परन्तु उत्तर स्पष्ट है, यह आचरण और व्यवहार इतने व्यापक और विशाल थे कि संसार के किसी देश का कोई सुन्दर आचरण इससे छूट ही नहीं पाता था। तब यहाँ के आदर्श अग्रजन्मा से यदि भगवान् मनु सबको सीखने का आदेश देते हैं, तो यह आश्चर्य की कोई बड़ी बात नहीं है।

वर्त्तमान समय में जब संस्कृति की बात उठाई जाती है, तब भारतवर्ष की प्राचीन स्थिति और नवीन परिस्थिति में अन्तर पड़ जाता है। आज संसार में अनेक सभ्य कहलाने-वाले देश हैं कि जिनका प्रभाव भी खूब है। आज की नई-नई सभ्यताएँ जो विकसित हो रही हैं, भारत उनसे अपेक्षाकृत कुछ पीछे ही है। हम कह सकते हैं कि आज संस्कृतियों के संघर्ष का समय है। अनेक संस्कृतियाँ अपने को ऊँचा उठाने और दूसरी को गिराने में प्रयत्नशील हैं। जहाँ कहीं संघर्ष होता है, वहाँ संघर्ष से हानि और लाभ दोनों ही होते हैं। संस्कृतियों के इस संघर्ष से भी अनेक लाभ और साथ ही अनेक हानियाँ भी हुई हैं, जिनका दिग्दर्शन समय पर कराया जायगा। भारत में भी आज संस्कृति के विषय में नाना प्रकार के विचार सुनने में आते हैं। बहुत-से विद्वान् इस विचार के हैं, जिनका कहना है कि अब पुरानी संस्कृति की आवश्यकता नहीं। अब समय बदल गया है। अब तो सभी संस्कृतियों को मिलाकर एक नई संस्कृति को जन्म देना चाहिए। संस्कृति का अब समयानुकूल नया स्वरूप

होना चाहिए। कुछ विचारशील विद्वानों का इसके विपरीत यह कथन है कि भारत की प्राचीन संस्कृति सर्वथा सर्वदा उपादेय है, आज भी उसीकी आवश्यकता है। इतनी पुरातन संस्कृति के जो गुण हैं, वे नवीन संस्कृति में नहीं लाये जा सकते, इसलिए उनका संरक्षण और पालन स्वतन्त्र भारत की स्वतन्त्रता का वास्तविक मूल्यांकन करने के लिए नितान्त आवश्यक है।

पर, यह एक मौलिक प्रश्न खड़ा होता है कि भारतीय संस्कृति का स्वरूप क्या है? आज हम देखते हैं, कुछ लोगों को, जो भारतीय संस्कृति की रक्षा का दावा करते हुए सामने आते हैं। इसके ठीक विपरीत, दूसरों का कहना है कि ये भारतीय संस्कृति की रक्षा नहीं, उनका सर्वनाश करना चाहते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि वर्णाश्रम-धर्म-व्यवस्था ही भारतीय संस्कृति की आधार-भित्ति है, तो दूसरे वर्ण-व्यवस्था को ही आधुनिक युग में अवनति का सबसे बड़ा कारण मानते हैं। उनका कहना है कि वर्णाश्रम-व्यवस्था कोई शाश्वत या प्राकृतिक वस्तु नहीं है, जो अनिवार्यतः हर समय समाज का नियन्त्रण करे। यह तो प्राचीन समय के समाज का एक प्रयोग था, जो उस समय के समाज के लिए उपादेय सिद्ध हुआ, परन्तु आज के वातावरण में यह सर्वथा हेय है। और-और देशों की संस्कृति के स्वरूप का बहुत कुछ निर्णय वहाँ के धर्म-ग्रन्थों के आधार पर हो जाता है। आंग्ल-देश की संस्कृति बहुत कुछ बाइबिल पढ़ने पर समझ में आ जाती है। मुस्लिम-संस्कृति को भी कुरान का अध्ययन करके कोई थोड़ा-बहुत समझ ही लेगा। परन्तु, भारतीय संस्कृति समझने में इस उपाय में भी सन्देह खड़ा हो जाता है। यदि ये कहें कि वेदों में जिसका प्रतिपादन है, वही भारतीय संस्कृति है, तो बौद्ध, जैन, सिक्ख आदि वेदों को न माननेवालों का भारतीय संस्कृति में समावेश नहीं होता। कोई एक सर्वमान्य धर्म-ग्रन्थ नहीं है, जिसको आधार मान-कर भारतीय संस्कृति को इदमित्थं भाव से समझ लिया जाय।

हमारा अपना विचार यह है कि धर्म-ग्रन्थों के ऐक्य के न रहने पर भी सिद्धान्त की दृष्टि से भारतीय कहलानेवाले सभी आचारों और विचारों का संग्रह हो सकता है। यह सिद्धान्त हो सकता है—आध्यात्मिकता की सर्वमान्यता। अध्यात्मदृष्टि पर समस्त व्यवहारों की हेयता और उपादेयता का निर्धारण करना, इस बात में सभी भारतीय मतों का ऐक्य हो जाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि भारतीय संस्कृति का मूलभूत स्वरूप अध्यात्म-प्रवीणता है। यह अध्यात्मवाद क्या चीज है और कैसे उसकी उपादेयता है। वह भारतीय संस्कृति का मूल कैसे है? आज भी भारत को उसकी आवश्यकता है अथवा नहीं, इत्यादि प्रश्नों का विचार ही हमें भारतीय संस्कृति के समीप ले जायगा। भारतीय विचारों में हमेशा से पंचभूतों से तैयार होनेवाले शरीर के अतिरिक्त एक आत्मा की सत्ता मानी जाती है। वह आत्मा अजर-अमर है, शरीर तो बराबर बदलता रहता है। परन्तु, आत्मा सदा एक स्वरूप ही बना रहता है। संसार की सभी वस्तुओं की अपेक्षा वही प्रधान है। वर्त्तमान शरीर के नष्ट होने पर आत्मा दूसरा शरीर ग्रहण करता है। यदि भारतीय संस्कृति का वैशिष्ट्य पुनर्जन्मवाद है तो भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत आनेवाले बौद्ध, जैन, सिक्ख, आर्यसमाज, ब्राह्मसमाज आदि जितने सम्प्रदाय हैं, वे सभी इस पुनर्जन्मवाद को अवश्य स्वीकार करते हैं। इस प्रकार, आचार और विचार ये दो जो संस्कृति के पहलू हैं, उनमें

विचारांश में भारतीयों का ऐक्य स्थापित है। शरीर के अतिरिक्त आत्मा है। जिस प्रकार शरीर के प्रति भोजनाच्छादनादि हमारे अनेक कर्त्तव्य हैं, उसी प्रकार आत्मा के प्रति भी हमारे कुछ कर्त्तव्य हैं। इस प्रकार के अध्यात्म पर अवलम्बित व्यवहार ही आचारांश में भारतीयों की एकता को प्रतिष्ठित करते हैं। प्राचीन समय में भी भारत में अध्यात्म-दृष्टि प्रधान रही है। आत्मा को उन्नत बनानेवाले आचरणों को ही धर्म कहा जाता है। आजकल शिक्षित लोग धर्म से चौंकते हैं। बहुत-से लोग धर्म को एक हौवा समझते हैं। परन्तु, खेद है कि ये धर्म के स्वरूप पर ध्यान नहीं देते। धर्म न तो कोई हौवा है और न कोई चौंकानेवाली चीज है, न वह अवनति के मार्ग में ढकेलनेवाली कोई वस्तु है। धर्म उसी का नाम है, जो उन्नति की ओर ले जाय। धर्म का लक्षण करते हुए कणाद ने स्पष्ट कर दिया है कि—'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयसः सिद्धिः स धर्मः', अर्थात् जो क्रमशः उन्नत करता हुआ चरम उन्नति तक ले जाय, वही धर्म है। वह उन्नति न केवल संसार की ही है, परन्तु उसके साथ-साथ आत्मा की चरम उन्नति है, अर्थात् मोक्ष भी धर्म के द्वारा ही होता है। आजकल यन्त्र-युग में नये-नये यन्त्रों का आविष्कार ही उन्नति की ओर अग्रसर होना है। किन्तु, विचार कीजिए कि ये सब यन्त्रों को कौन बनाता है। मनुष्य की कल्पना-शक्ति ही इन यन्त्रों को जन्म देनेवाली है। यह कल्पना-शक्ति किस यन्त्र से प्रादुर्भूत होती है, इसका ज्ञान भारतीय संस्कृति में मुख्य माना गया था। यन्त्रों को जन्म देनेवाली कल्पना-शक्ति के उद्भावक मन, बुद्धि और सब-के-सब चैतन्यप्रद आत्मा का विचार आध्यात्मिकवाद है। भारतीय संस्कृति के नेता यही कहते हैं कि जो अपने-आपका परिष्कार वा सुधार न कर सका, वह अन्य वस्तुओं का निर्माता होने पर महत्त्वशाली नहीं कहा जा सकता। इसलिए, यहाँ की संस्कृति में आध्यात्मिकवाद की प्रधानता हो गई है।

कुछ लोग आक्षेप करते हैं कि अध्यात्मवाद के अनुयायियों ने धर्म के आगे अर्थ और काम को गिरा दिया। वे केवल धर्म-ही-धर्म को पकड़े रहे, और देश की अनेक प्रकार की उन्नति में बाधक सिद्ध हुए। परन्तु, भारतीय संस्कृति के विचारकों को यह अच्छी तरह मालूम है कि हमारे यहाँ अर्थ और काम से विमुख होने का कहीं विधान नहीं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चारों हमारे यहाँ पुरुषार्थ माने गये हैं। पुरुषार्थ का मतलब है, जो पुरुषों के द्वारा चाहने योग्य हों, अथवा मनुष्य के चार लक्ष्य हैं। 'पुरुषैरर्थ्यंते', यह व्युत्पत्ति उपर्युक्त अर्थ को सिद्ध करती है। उनमें अर्थ और काम का ही सामान रूप से समावेश है, तब अर्थ और काम की उपेक्षा का आरोप कैसे मान्नीय हो सकता है। यह बात भी नहीं है कि भारत में कभी अर्थ और काम की उन्नति हुई ही नहीं। धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, अर्थात् व्यवहार-शास्त्र और कलाशास्त्र तीनों भारत में पूर्णतया उन्नत थे। प्राचीन इतिहास इसका साक्षी है। सभी नीति के उपदेश यही सिखाते हैं कि त्रिवर्ग की उन्नति करनी चाहिए, जिससे मोक्ष की प्राप्ति सुकर हो जाय। त्रिवर्ग से तात्पर्य धर्म, अर्थ और काम तीनों से है। प्राचीन समय में भारत की सम्पत्ति सभी देशों के लिए स्पृहणीय थी। काम, अर्थात् व्यवहार तो भारत से ही और देशों ने सीखा है। सुखोपभोग की सामग्री भारत में कितनी विपुल थी, इसका पता प्राचीन काव्यों को पढ़ने से बड़ी आसानी से लग जाता है।

यह सब होते हुए भी भारतीय सभ्यता में इतनी विशेषता अवश्य है कि यहाँ धर्म को

सभी पुरुषार्थों में प्रधान स्थान दिया गया है। धर्म का आत्मा से सीधा सम्बन्ध है। उससे आत्मा बलवान् होता है। जब कभी व्यवहार में धर्म के साथ अर्थ-काम का संघर्ष उपस्थित होता है, जब कभी प्रश्न खड़ा होता है कि या तो धर्म को अपना लो या अर्थ को। ऐसे समय में हम सदा धर्म को ही अपनाते हैं, यही हमारे शास्त्रकारों का उपदेश है कि :

परित्यजेदर्थं कामौ च स्यातां धर्मवर्जितौ।

अर्थात्, धर्म से विरुद्ध अर्थ और काम को छोड़ देना चाहिए। इस विषय का सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विवेचन धर्मशास्त्रकारों ने किया है। भगवान् मनु कहते हैं कि :

अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः।

द्रव्योपार्जन और अपनी उन्नति का सम्पादन अवश्य ही मानव-मात्र का कर्त्तव्य है, परन्तु वह द्रव्योपार्जन या आत्मोन्नति ऐसी हो, जिससे किसी से द्रोह न हो। दूसरों को धक्का मारकर उपार्जन करना ठीक नहीं। प्रश्न होता है कि किसी भी अर्थोपार्जन या उन्नति में परद्रोह तो अवश्य होगा। मान लिया जाय कि किसी मनुष्य को कोई अच्छा पद मिला, तो क्या उसका यह उपार्जन विना द्रोह किये हो गया? नहीं। उसी के साथ जो दूसरे लोग उस पद के इच्छुक थे, उनको हटाने के कारण द्रोह तो हो ही गया। तब अद्रोह से उपार्जन कैसे सम्भव है। इसी सूक्ष्म बात को ध्यान में रखकर मनु भगवान् ने साथ ही कह दिया था कि 'अल्पद्रोहेण वा पुनः', अर्थात् यदि द्रोह अपहरिहार्य हो, तो वह बहुत कम रूप में लिया जाय। जैसे, पद प्राप्त होने पर जो द्रोह औरों से होता है, वह साक्षात् अपकार करने से नहीं, अपितु दूसरों के द्वारा हुआ है। इसलिए यह अल्पद्रोह है। कारण वहाँ द्रोह लक्ष्य नहीं था, अपनी उन्नति ही लक्ष्य था। इस प्रकार का द्रोह उपार्जन में लक्ष्य है। परन्तु, साक्षात् द्रोह नहीं करना चाहिए। जैसे, शिकायतों और आरोपों के द्वारा दूसरे को पदच्युत करवाकर फिर स्वयं उस स्थान को लेना। इस प्रकार का उपार्जन धर्म-विरुद्ध है। यह नहीं होना चाहिए। इस प्रकार, धार्मिक नेताओं ने सर्वदा हमें सचेत किया है कि हम कभी प्रधान को, अर्थात् धर्म को न भूलें। धर्म का ही दूसरा नाम है कर्त्तव्य। कर्त्तव्य और धर्म में भेद नहीं। कर्त्तव्य-निष्ठा ही भारतीय संस्कृति की प्रधान वस्तु है। कर्त्तव्य में आलस्य, प्रमादादि को स्थान नहीं। इस प्रकार, धर्म और उससे अविरुद्ध अर्थ और काम का आचरण करने से मोक्ष नाम का परम पुरुषार्थ अपने-आप सिद्ध हो जाता है। मोक्ष को ही यह संस्कृति परम पुरुषार्थ कहती है। वह मोक्ष क्या है? आत्मा को स्वतन्त्र बना देना ही मोक्ष है। कर्त्तव्य का आचरण करते-करते मन, बुद्धि और शरीर पवित्र हो जाते हैं। इस प्रकार के पवित्र मन और बुद्धि में आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता प्रतीत होने लगती है। वह आत्मा हमें कहीं बाहर से लेने नहीं जाना पड़ेगा, वह तो सबके पास है। परन्तु, मन और बुद्धि अपवित्र होने से उसे ग्रहण नहीं कर पाती। जब कर्त्तव्याचरण द्वारा मन, बुद्धि पवित्र हो जाती है, तब आत्मा का दर्शन होना सुगम हो जाता है। इसी को मोक्ष कहते हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि यह संसार तो प्रश्नों और समस्याओं का जंगल है। यह कैसे पहचाना जाय कि अमुक कर्त्तव्य है, और अमुक धर्म है, जहाँ कार्यों की शृंखला सामने खड़ी है। बहुत-से कार्य कर्त्तव्य-कोटि में आते हैं, बहुत-से त्याज्य हैं। सामान्य मानव-

बुद्धि यह कैसे समझे कि यह करना चाहिए, और यह छोड़ना चाहिए ? इस प्रश्न के अनेक समाधान भारतीय ग्रन्थों में मिलते हैं। अनेक ऐसी पहचान निश्चित की गई है। कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का विचार करनेवाले पाश्चात्य आधिभौतिकवादी पहले उन कार्यों को कर्त्तव्य-कोटि में रखते थे, जो सब मनुष्यों को लाभ पहुँचानेवाले हों। ऐसी परिभाषा बना लेने पर उनके सामने जब यह प्रश्न आया कि कोई कार्य ऐसा नहीं, जो सभी मनुष्यों को लाभ-ही-लाभ पहुँचाता है। किसी-न-किसी को किसी कार्य में हानि भी अवश्य होगी। चोरी को अपराध घोषित करना शायद चोरों को नागवार गुजरेगा। रोगियों की संख्या में कमी होना डॉक्टरों की रोजी छीनना होगा। भ्रातृ भाव और बन्धुत्व की वृद्धि और द्वेष का अभाव होने से वकीलों की जीविका का प्रश्न आ जायगा। शायद कोई वकील यह नहीं चाहता होगा कि मेरे मुवक्किल आपस का झगड़ा भूल जायँ। ऐसी ही स्थिति में अच्छा-से-अच्छा माना जानेवाला कार्य भी कर्त्तव्य और धर्म न हो सकेगा; क्योंकि पाश्चात्य विद्वानों की पूर्व-परिभाषा के अनुसार वह सब लोगों का हित-सम्पादन नहीं करता। इस प्रश्न के सामने आने पर पश्चिमी विद्वानों ने अपनी परिभाषा बदल दी। उन्होंने कहा कि धर्म वह है, जो अधिकांश मनुष्यों को अधिक लाभ पहुँचानेवाला हो। लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने 'गीता-रहस्य' ग्रन्थ में इस प्रकार के समस्त पाश्चात्य मतों को सामने रखकर उनकी आलोचना प्रस्तुत करके यह सिद्ध कर दिया है कि धर्म-अधर्म या कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का निर्णय भौतिक दृष्टि से कथमपि सम्भव नहीं। उनके निर्णय के लिए तो आध्यात्मिक दृष्टि को ही अपनाना होगा। भौतिक परिभाषा में उन्होंने अनेक दृष्टान्तों से दोष दिखाये हैं। मान लीजिए कि गर्मी में तृषार्त्त जनों की प्यास बुझाने के लिए किसी ने प्याऊ लगाया। लोग उसके प्याऊ पर आते हैं और सुस्वादु शीतल जल पीकर अपनी प्यास बुझाते हैं। उसके प्याऊ पर जल पीनेवालों की भीड़ देखकर सामनेवाले दूकानदार बनिये ने भी एक प्याऊ खोल दिया, जो पानी के साथ चने भी खिलाता है। बनिये का उद्देश्य लोगों को जल से तृप्त करना नहीं है, अपितु अपना व्यापार चमकाना है। ज्यादा भीड़ बढ़ने पर लोग उसकी दूकान पर बैठकर खरीदारी भी करते हैं। अब यदि पाश्चात्य दृष्टि से कर्त्तव्याकर्त्तव्य का या धर्माधर्म का विचार करें, तो बनिया ही धर्मात्मा सिद्ध होता है, जो पानी के साथ चने भी खिलाता है; क्योंकि वह अधिक लोगों का अधिक हित सम्पादन करता है। परन्तु, विवेक-दृष्टि कभी उसे धर्मात्मा नहीं कहेगी; क्योंकि उसका उद्देश्य लोगों को लाभ पहुँचाने का नहीं। भारतीय दृष्टि में वही धर्मात्मा है, जिसने पहले प्याऊ खोला; क्योंकि वह निःस्वार्थ-भावना से पिपासा-निवृत्ति के लिए जल पिलाता है। उसके कार्य में किसी प्रकार की दुरभिसन्धि नहीं।

दूसरा उदाहरण लीजिए। अमेरिका में जब सर्वप्रथम ट्रामगाड़ी चलने को थी, तब लोग बड़े उत्सुक थे। कम्पनी ने भी पूरी तैयारी कर ली थी। परन्तु, फिर भी महीनों बीत गये। सरकारी आज्ञा मिलने में देर हो रही थी। ज्यादा देर होती देख कम्पनी के डाइरेक्टर ने सरकारी ऑफिसर को तगड़ी-सी रिश्वत दे दी। फलतः, ट्राम चालू करने का आर्डर शीघ्र प्राप्त हो गया और शीघ्र ट्रामगाड़ी के चलने से जनता को आराम हो गया।

पाश्चात्य परिभाषा के अनुसार उस प्रकार रिश्वत देना धर्म होना चाहिए; क्योंकि वह अधिकांश मनुष्यों के लाभ के लिए कार्य था। परन्तु, परिणाम उसका उल्टा हुआ। वहाँ के हाईकोर्ट में उस रिश्वत लेने पर केस चला और अभियोग प्रमाणित होने पर देने और लेने-वालों को दण्ड भोगना पड़ा। इसलिए, हमारी संस्कृति के अनुसार धर्म के सम्बन्ध में ऐसी बातें नहीं चल सकतीं। आध्यात्मिक दृष्टि से ही विचार होगा। अमुक कार्य के करने में अमुक मनुष्य का उद्देश्य क्या है, और उस कार्य का परिणाम क्या है। यदि उद्देश्य और परिणाम बुरा है, तो अच्छा काम भी अधर्म ही ठहरेगा और उद्देश्य एवं परिणाम अनुचित न रहने से बुरे काम भी अच्छे हो जायेंगे। किसी भी कार्य में कर्त्ता की नीयत जाने विना धर्म का निर्णय नहीं हो सकता। इसके लिए भी आध्यात्मिकता की ओर आना होगा। यों धर्म और कर्त्तव्य के निर्णय में आध्यात्मिकता की ही कमी हुई, तब भारत की ओर ही सबकी दृष्टि केन्द्रित होती है। भारत सर्वदा से आध्यात्मिकता दृष्टि को सर्वोपरि मानता आया है। उपनिषद् की एक आख्यायिका है : याज्ञवल्क्य जब वृद्ध हुए, तब उन्हें घर छोड़ वन में एकान्तवास करते हुए ब्रह्म-चिन्तन की इच्छा हुई। उनकी दो पत्नियाँ थीं—मैत्रेयी और कात्यायनी। उन्होंने वन में जाने के पहले अपनी जो कुछ सम्पत्ति थी, उसको दोनों पत्नियों में विभक्त कर देना चाहा। उन्होंने मैत्रेयी को बुलाया और उसे समझाया कि मैं, अपनी जो कुछ सम्पत्ति है, उसको तुम दोनों में बाँट देना चाहता हूँ। मैत्रेयी तो आर्य-ललना थी। ऋषि की सम्पत्ति क्या हो सकती है। कमण्डलु, मृगचर्म, कौपीन, कुटिया, यही तो ऋषियों के आश्रम में होता था। परन्तु मैत्रेयी ने कहा भगवन्! यदि आप मुझे वह सारी पृथ्वी दे दें, जो रत्नों, सुवर्णों और समस्त धन-धान्यादि से लदी हुई हो, उसको प्राप्त करके तो मैं अमर हो जाऊँगी न? याज्ञवल्क्य ने कहा—सम्पत्ति से कोई मनुष्य अमर तो नहीं हो सकता। हाँ, जिस प्रकार धनवानों का जीवन बीतता है, सैकड़ों नौकर रखते हैं, तरह-तरह के वस्त्र पहन सकते हैं, सब प्रकार के स्वादिष्ठ भोजन प्राप्त हो सकते हैं, उस प्रकार सुख से जीवन व्यतीत हो सकता है। परन्तु, सम्पत्ति से अमरता तो नहीं मिल सकती। इसपर मैत्रेयी ने कहा—जिसको लेकर अमर नहीं हो सकती, उसे लेकर क्या करूँगी। जिसकी खोज में आप घर को छोड़कर वन में जा रहे हैं, अपने उस लाभ में आप हमें भी हिस्सेदार बनाइए। तब याज्ञवल्क्य ने उसको ज्ञानोपदेश देना प्रारम्भ किया। तात्पर्य यह कि प्राचीन काल में भारत की स्त्रियों में भी आत्मतत्त्व के सामने समस्त संसार की सम्पत्ति को भी तुच्छ समझने की भावना थी।

आध्यात्मिकता का एक स्वरूप कर्त्तव्य-निष्ठा भी है। यह कर्त्तव्य-निष्ठा ही भारत की देन है। कर्त्तव्य-निष्ठा की शिक्षा गुरुओं द्वारा आश्रमों में दी जाती थी। वचनों में शक्ति भी इसी निष्ठा से उत्पन्न होती है। कौन-सी वह शक्ति है, जो पुत्र से पिता की, शिष्य से गुरु की आज्ञा का पालन करा देती है। यह शक्ति कर्त्तव्य-निष्ठा ही है। कर्त्तव्य-निष्ठा का तात्पर्य यह है कि किसी भी कार्य को इसलिए करना कि वह कर्त्तव्य है। इसलिए नहीं कि उसके करने से अच्छा फल मिलेगा। चाहे फल हो या नहीं, पिता और गुरु की आज्ञा का पालन करना ही होगा। आजकल अँगरेजी में इसे 'ड्यूटी' शब्द से कहा जाने

लगा है। भारतीय चरित्रों में आप इस कर्त्तव्य-निष्ठा के जगह-जगह दर्शन करेंगे। भारत का एक सुन्दर सन्दर्भ है। वन में क्षत्राणी द्रौपदी ने महाराज युधिष्ठिर को छेड़ दिया कि आप जो धर्म को इतना श्रेष्ठ कहा करते है, वह बात तो व्यवहार में ठीक नहीं जँचती। आप स्वयं इतने धर्मात्मा, यज्ञ, दान, व्रत पालन करनेवाले वा नियमों से रहनेवाले वन में भटकते हैं, और दम्भ की प्रतिमूर्त्ति, निरन्तर पाप-कर्मों में लीन रहनेवाला दुर्योधन संसार-भर का ऐश्वर्य भोग रहा है। तब क्या यह समझा जाय कि यदि वनों में भटकना हो, तो धर्म से ताल्लुक रखो और यदि उन्नति करना हो, तो छल-कपट, दम्भ को अपनाओ। इसका बड़ा अच्छा उत्तर युधिष्ठिर ने दिया कि द्रौपदी! तुमको यह किसने बहका दिया कि मैं फल की इच्छा से कर्म करता हूँ। यह स्पष्ट समझो कि मैं दान, यज्ञादि कर्मफल की आकांक्षा से कभी नहीं करता। दान करना चाहिए, इसलिए दान करता हूँ। यज्ञ करना चाहिए, इसलिए यज्ञ करता हूँ :

नाहं धर्मफलाकाङ्क्षी राजपुत्रि चरामि भो।
ददामि देयमित्येव यजे यष्टव्यमित्युत॥

इस उत्तर से स्पष्ट सिद्ध होता है कि भारत के महापुरुष कर्त्तव्य-निष्ठा से प्रेरित होकर कर्म किया करते थे। भगवद्गीता में भगवान् कृष्ण ने भी कर्म की यही युक्ति अर्जुन को बताई है और इस प्रकार किया हुआ कर्म आत्मा को आबद्ध करनेवाला नहीं होता—यह स्पष्ट उपदेश किया है।

सारांश यह है कि भारतीय संस्कृति आध्यात्मिकता पर अवलम्बित है और कर्म करने में कर्त्तव्य-निष्ठा को इसमें मुख्य स्थान दिया गया है। यदि आध्यात्मिकता न रहे, तो समझ लेना होगा कि भारतीय संस्कृति का लोप हो चुका। अतः, भारतीय संस्कृति के रक्षकों को आध्यात्मिकता की ओर अवश्य ध्यान देना चाहिए। वर्त्तमान युग में जो एकमात्र पेट की चिन्ता ही संसार में सब कुछ बन गई है, वह भारतीय संस्कृति की सर्वथा विघातिनी है। मनुष्य-जीवन का लक्ष्य केवल पेट भर लेना नहीं है। आत्मिक उन्नति ही मनुष्य-जीवन का मुख्य फल है। यही प्रवृत्ति जनता में फैलाने से भारतीय संस्कृति बच सकेगी। और, यह भी स्मरण रखना चाहिए कि कर्त्तव्य-निष्ठा वर्णाश्रम-व्यवस्था के आधार पर ही स्थित हो सकती है, अन्यथा कर्त्तव्य का ज्ञान ही किस आधार पर हो सकेगा? वर्ण-व्यवस्था ही अपने-अपने वर्ण के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य निश्चित करती है। जिस वर्ण का जो धर्म है, उसमें फल का कुछ भी विचार न करते हुए प्रत्येक व्यक्ति को प्रवृत्त होना चाहिए। यही कर्त्तव्य-निष्ठा है।

भारतीय संस्कृति के मुख्य ग्रन्थ भगवद्गीता में भी कर्त्तव्य-बुद्धि को ही मुख्य माना गया है, और फल की अपेक्षा न कर कर्त्तव्य-पालन का नाम ही कर्मयोग रखा है। कर्मयोग एक बहुत उच्च कोटि की वस्तु है, जो क्या सामाजिक, क्या राजनीतिक, क्या धार्मिक सभी विषयों में अत्यन्त उपादेय सिद्ध होती है, किन्तु जब यह प्रश्न उठाया जाय कि फल की इच्छा न करें, तो किस कार्य में प्रवृत्ति करें? क्योंकि प्रवृत्ति का क्रम तो शास्त्रों में यही

निर्धारित किया गया है कि पहले फल की इच्छा होती है, तब उसके साधन-रूप से उपाय की इच्छा और उपाय की इच्छा से आत्मा में प्रयत्न होता है। प्रयत्न नाम की एक प्रेरणा उठती है और उस प्रेरणा से हाथ-पैर आदि इन्द्रियाँ प्रवृत्त होती हैं। यदि फलेच्छा ही न होगी, तो आगे का क्रम चलेगा ही कैसे ? और, प्रवृत्ति ही क्यों होगी ? तब इसका उत्तर यही हो सकता है कि जिसके लिए जो कर्म नियत है, उसमें उसे प्रवृत्त रहना चाहिए। 'नियतं कुरु कर्म त्वम्', यही भगवद्गीता का आदेश है। परन्तु, किसके लिए कौन-सा कर्म नियत है—इसका उत्तर तो वर्ण-व्यवस्था ही दे सकती है। उसमें ही भिन्न-भिन्न वर्णों के अपने-अपने कर्म नियत हैं, उनका अनुष्ठान विना फल की इच्छा के ही करते रहना चाहिए। यदि विना वर्ण-व्यवस्था माने भी कर्त्तव्य-निष्ठा का कोई समाधान करे कि जगत् के लाभ-दायक कर्म फल की इच्छा के विना ही करते रहना चाहिए अथवा आत्मा की आज्ञा जिन कर्मों के लिए मिले, वे कर्म करते रहना चाहिए तो, इन पक्षों में जो दोष आते हैं, उनका विवरण आरम्भ में ही दे दिया गया है कि सबका लाभदायक कोई भी कर्म हो नहीं सकता और किनको लाभ पहुँचाने का यत्न करें और किनकी हानि की उपेक्षा करें—इसका भी नियामक कुछ नहीं मिल सकता। आत्मा की आज्ञा भी भिन्न-भिन्न परिस्थिति में भिन्न-भिन्न प्रकार की मिलती है। एक बार अनुचित कार्य करके जब आत्मा मलिन हो जाता है, तब वहाँ से अनुचित कार्यों की ही अनुमति मिलने लगती है। इससे आत्मा की आज्ञा पर भी निर्भर रहना बन नहीं सकता। सारांश यह है कि कर्मयोग-सिद्धान्त वर्ण-व्यवस्था के आधार पर ही बन सकता है और वह कर्मयोग-सिद्धान्त व्यवहार-क्षेत्र से पार पाने का सबसे उत्तम साधन है। इसलिए, कर्त्तव्य-निष्ठा वा कर्मयोग की सिद्धि के लिए वर्णाश्रम-व्यवस्था को भारतीय संस्कृति में प्रधान स्थान दिया गया है।

वर्ण-व्यवस्था

वर्त्तमान में वर्ण-व्यवस्था पर बहुत आक्षेप होते हैं और इसी पर भारत की अवनति का बहुत-कुछ दायित्व रखा जाता है। इसे दूषित करनेवाले विद्वानों का कथन है कि वर्ण-व्यवस्था ने ही समाज में आपस में फूट डाल दी। परस्पर ऊँच-नीच भाव पैदा कर दिया, और यही सब अवनति की जड़ हुई। किन्तु, विचार करने पर यह आक्षेप निर्मूल ही सिद्ध होता है। वर्ण-व्यवस्था कभी परस्पर-विरोध वा आपस की फूट नहीं सिखाती। वेद-मन्त्रों से स्मृति-पुराणादि तक जहाँ कहीं वर्ण-व्यवस्था का वर्णन है, वहाँ सर्वत्र सब वर्णों को एक शरीर का अंग माना गया है।

> ब्राह्मणोऽस्यमुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
> ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत॥
>
> (पुरुषसूक्त)

अर्थात्, विराट् पुरुष का ब्राह्मण मुख था, अर्थात् विराट् पुरुष के मुख से ब्राह्मण उत्पन्न हुआ था। क्षत्रिय उसके बाहु थे, वैश्य कटि वा उदर थे और विराट् पुरुष के पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए थे। इसी वेद-मन्त्र का अनुवाद सब स्मृति-पुराणों में है। इसका तात्पर्य यही है कि प्रत्येक वंश के शरीर में जैसे प्रकृति के द्वारा चार भाग बनाये गये हैं—शिर, वक्षःस्थल,

उदर और पाद, वैसे ही परमात्मा का जो ब्रह्माण्ड-रूप विराट् शरीर है, उसमें भी चार भाग हैं। हमारे शरीर के प्रथम भाग शिर में ज्ञान-शक्ति है। ज्ञान की इन्द्रियाँ आँख, कान, नाक आदि शिर में ही हैं, और वर्त्तमान विज्ञान भी यही कहता है कि शिर में ही ज्ञान-तन्तु रहते हैं, उनके अभिज्वलन से ही ज्ञान पैदा हुआ करता है। विचार का कार्य अधिक करने-वालों को शिर में ही पीड़ा होती है। द्वितीय भाग वक्षःस्थल में बल की शक्ति है। बल की इन्द्रियाँ, जिनसे बल का काम होता है, हाथ इसी अंग में आते हैं। और, बल का कार्य अधिक करनेवाले को छाती में ही पीड़ा होती है। शरीर के तीसरे उदर-भाग में संग्रह और पालन की शक्ति है। बाहर से सब वस्तुओं को उदर ही लेता है और उनका विभाग करके आवश्यकता-नुसार सब अंगों में भेज देता है। उनके ही द्वारा सब अंगों का पालन होता है। अन्न-पानादि बाहर से पहले उदर में भी पहुँचाये जाते हैं और वहीं से विभक्त होकर सब अंगों का पोषण करते हैं। यहाँतक कि मस्तक में वा पैर में भी पीड़ा हो, तो ओषधि उदर में ही डाली जाती है। वहीं से वह शिर आदि में पहुँचकर पीड़ा शान्त करती है। चौथे भाग पाद में सेवा-शक्ति है। यह उक्त तीनों अंगों को अपने-अपने कार्य में सहायता देता है। देखने की इच्छा आँख को होती है। उसी को उत्तम दृश्य देखने से सुख मिलता है। मधुर गान सुनने की इच्छा कान को होती है, किन्तु दृश्य देखने वा गान सुनने के स्थानों में आँख वा कान को पैर ही पहुँचाते हैं। बल का कार्य करने के लिए और उदर-पोषण की सामग्री के लिए भी नियत स्थानों में पैर ही ले जायँगे। इन्हीं चारों शक्तियों के परस्पर सहयोग से सब काम चलता है, और सब अंगों के अपने-अपने कार्य में व्यापृत रहने पर आत्मा प्रसन्न रहता है। जैसे, हमारा यह व्यष्टि शरीर है, उसी प्रकार परमात्मा का शरीर यह सम्पूर्ण प्रपंच है। इसमें भी समष्टि-रूप से चारों शक्तियाँ भिन्न-भिन्न अवयवों में वर्त्तमान हैं, और परस्पर सहयोग से कार्य करती हैं। जहाँ प्रधान रूप से ज्ञान-शक्ति है, वे प्रपंच-रूप परमात्मा के शिरःस्थानीय ब्राह्मण हैं। जहाँ बल-शक्ति है, वे वक्षःस्थल-रूप क्षत्रिय हैं। संग्रह-शक्तिवाले उरु वा उदर-स्थानीय वैश्य हैं और सेवा-शक्तिवाले पादस्थानीय शूद्र हैं। अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार ही शरीर में प्रकृति ने उच्चावच भाव से रखा है। प्रकृति का किसी के साथ पक्षपात नहीं। ज्ञान-शक्ति का ही यह प्रभाव है कि वह सबसे ऊँचे स्थान में बैठती है। इसीलिए, प्रकृति ने शिर को सब अवयवों में ऊँचा स्थान दिया है। शिर सब अवयवों से सदा ऊँचा ही रहना चाहता है। यदि आप सब अंगों को एक सीध में लिटाना चाहें, तब भी एक तकिया लगाकर शिर को कुछ ऊँचा कर ही देना पड़ेगा। नहीं तो शरीर को चैन ही नहीं मिलेगा। यह ज्ञान-शक्ति की ही महिमा है। इसी प्रकार प्रपंच में भी ज्ञान-शक्ति के कारण ब्राह्मण वर्ण-व्यवस्था द्वारा उच्च स्थान पाते हैं। अन्यान्य शक्तियाँ भी अपने-अपने प्रभावानुसार क्रम से सन्निविष्ट होती हैं। उसी के अनुसार तत्तत् शक्ति-प्रधान वर्णों का भी स्थान नियत किया गया है। इसमें राग-द्वेष की कोई भी बात नहीं है। शरीर के अवयवों में उच्च-नीच भाव का कभी झगड़ा नहीं होता, सदा सबका सहयोग रहता है। पैर यदि मार्ग में चलते हैं, तो उन्हें मार्ग बताने को आँख प्रस्तुत रहती है। यदि पैर ठोकर खाय, तो दोष आँख पर ही

दिया जाता है। इसी प्रकार उदर में क्षुधा लगे, तो भोजन का सामान जुटाने को हाथ सदा प्रस्तुत रहते हैं और उदर में भी कभी ऐसी प्रवृत्ति नहीं होती कि जो अन्न-पान मुझे मिल गया, वह मैं ही रखूँ और अवयवों के पालन में इसे क्यों लगाऊँ? यदि कदाचित् ऐसी प्रवृत्ति हो जाय, तो उदर भी रोगाक्रान्त होकर दुःखी होगा और अन्य अंग भी दुर्बल हो जायेंगे। आत्मा भी विकल हो जायगा। अतः, इससे सब अवयवों के परस्पर सहयोग से ही शरीर का और शरीर के अधिष्ठाता आत्मा का निर्वाह होता है। शरीर के अवयवों के अनुसार वर्ण-व्यवस्था बतानेवाले शास्त्रों ने समाज को इसी प्रकार के सहयोग की आज्ञा दी है। अपनी-अपनी शक्ति लगाकर अपने-अपने कार्यों द्वारा सब वर्ण-समाज का हित करते रहें—इसीसे प्रपंच का अधिष्ठाता परमात्मा प्रसन्न रहता है। परस्पर राग-द्वेष का यहाँ कोई भी स्थान नहीं। कदाचित् यह प्रश्न हो कि जिन-जिन में उक्त प्रकार की शक्तियाँ देखी जायँ, उन्हें उन कार्यों में लगाया जाय, यह तो ठीक है, किन्तु केवल जन्मानुसार वर्ण-व्यवस्था स्थिर रखना तो विचारो उचित नहीं हो सकता। ब्राह्मण वा क्षत्रिय के घर जन्म लेने मात्र से ही कोई ब्राह्मण वा क्षत्रिय क्यों हो जाय? और अन्य वर्णों की अपेक्षा अपने को श्रेष्ठ क्यों मानने लगे। इसका उत्तर है कि कारण के गुणों के अनुसार ही कार्य में गुण होते हैं—यह भी विज्ञान-सिद्ध नियम है। काली मिट्टी से घड़ा बनाया जायगा, तो वह काला ही होगा। लाल धागों से कपड़ा बनाया जायगा, तो लाल ही होगा। मीठे आम के बीज से जो वृक्ष बना है, उसके फल मीठे ही होंगे इत्यादि प्रकृति-सिद्ध नियम सर्वत्र ही देखा जाता है। तब माता-पिता के रज-वीर्य में जैसी शक्तियाँ हैं, वे ही सन्तान में विकास पायेंगी। यदि कहीं इससे उल्टा देखा जाय, तो समझना चाहिए कि आहार-विहार रहन-सहन आदि में कुछ व्यतिक्रम वा दोष हुआ है। उसका प्रतिकार करना चाहिए। विज्ञान-सिद्ध वर्ण-व्यवस्था पर क्यों दोष दिया जाय। शिल्पियों में आज भी परीक्षा करके देखा जा सकता है कि एक बढ़ई का पुत्र जितनी जल्दी लकड़ी का काम करना सीखेगा, उतनी जल्दी दूसरी जाति का नहीं सीख सकेगा। जब यह विज्ञान-सिद्ध नियम है, तब उच्च वर्णों में इसका व्यतिक्रम कैसे हो सकता है? यदि होता है, तो अवश्य ही उसका कोई प्रबल कारण है। उस कारण को हटाने का ही यत्न करना चाहिए। विज्ञान-सिद्ध वर्ण-व्यवस्था को बिगाड़ डालना तो उल्टा मार्ग होगा। पहले शुक्र के निरूपण में कहा जा चुका है कि शुक्र ही तीन प्रकार का होता है—ब्रह्मवीर्य, क्षत्रवीर्य और विड्वीर्य। इनके कारण ही वर्ण-व्यवस्था होती है। यह वैज्ञानिक वर्ण-व्यवस्था सर्वत्र व्यापक है और सब पदार्थों में है। पशुओं में, पक्षियों में, औषधादि में सर्वत्र भारतीय शास्त्रों में वर्ण-भेद लिखा है। उसी वैज्ञानिक वर्ण-व्यवस्था के आधार पर सामाजिक रूप में भी वर्ण-व्यवस्था भारत में अनादि काल से प्रवृत्त है और उसका आधार जन्म और कर्म दोनों को माना गया है। आजकल के कई योग्य विद्वान् भी जो यह कहने का साहस कर बैठते हैं कि भारतीयों में रक्त का विचार नहीं रहा। वे किसी भी रक्त को अपने में सम्मिलित कर लेते थे, उनमें पाचन-शक्ति थी इत्यादि। यह उन विद्वानों का कथन भारत के प्राचीन शास्त्रों द्वारा अनुमोदित नहीं होता। भारतीय संस्कृति के प्रतिपादक वेद, धर्मशास्त्र आदि ने रक्त-शुद्धि का पूर्ण आग्रह किया है। यजुर्वेद संहिता में मन्त्र है कि :

ब्राह्मणमद्यविदेयं पितृमन्तं पैतृमत्यमृषिमार्षेयं सुधातुदक्षिणम्।
अस्मद्राता देवत्रागच्छत प्रदातारमाविशत ।।

(यजु०, ७।४६)

अर्थात्, वही ब्राह्मण कहलाने का अधिकारी है, जिसका पिता भी प्रशस्त है और पिता का पिता, अर्थात् पितामह भी प्रशस्त है। इससे कुल-परम्पराप्राप्त ही ब्राह्मणत्व स्पष्ट हो जाता है। और रक्त-शुद्धि का पूरा प्रमाण मिल जाता है। इसी प्रकार राज्याभिषेक के मन्त्र में भी पढ़ा जाता है कि :

इमं देवा असपत्नं सुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्येष्ठाय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय।
इममुष्यै पुत्रममुष्यै विश एष वोमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा ।।

(यजु०, १०।१८)

इसमें भी बताया गया है कि राजसिंहासन पर हम जिसका अभिषेक कर रहे हैं, वह अमुक पिता का और अमुक माता का पुत्र है। इससे भी मातृकुल और पितृकुल दोनों का प्रशस्त रूप से विख्यात होना स्पष्ट सिद्ध हो जाता है। स्मृतियों में तो रक्त-मिश्रण वा वर्णसंकरता की बहुत ही निन्दा की गई है। मनस्मृति में लिखा है कि :

यस्मिन्नेते परिध्वंसा जायन्ते वर्णदूषकाः।
राष्ट्रिकैः सह तद्राष्ट्रं क्षिप्रमेव विनश्यति ।।

अर्थात्, 'जिस समाज में वर्णों को दूषित करनेवाले वर्णसंकर अधिक पैदा हो जाते हैं, वह समाज या वह सब राष्ट्र ही उन व्यक्तियों के साथ नष्ट हो जाता है।' स्थान-स्थान पर रक्त-मिश्रण वा वर्णसंकरता की घोर निन्दा है। ऐतिहासिक विद्वान् जो यह सिद्ध करते हैं कि बहुत-सी जातियाँ भारत में आईं और वे यहाँ की जाति-व्यवस्था में ही लीन हो गईं। उनके प्रमाण यदि पुष्ट हों, तो यही माना जा सकता है कि वे आगत जातियाँ अपना-अपना पृथक् दल बनाकर भिन्न जातियों के रूप में रहीं। जैसा कि भारत के ग्रामों में जाट, गूजर, मीना, अहीर आदि बहुत-सी जातियाँ मिलती हैं। वे उन आगत जातियों के रूपान्तर हैं—यह सम्भव है, किन्तु यहाँ के वर्णों में वे आगत जातियाँ सम्मिलित हो गई हों, यह सम्भव नहीं। भारत को सदा से वर्ण-व्यवस्था का पूर्ण आग्रह रहा है और वह व्यवस्था प्राकृतिक वा विज्ञानानुमोदित है।

शरीर-संगठन की दृष्टि से वर्ण-व्यवस्था का महत्त्व दिखाया गया। अब समाज-संगठन की दृष्टि से विचार किया जायगा।

विद्या, बल, द्रव्य आदि सब शक्तियों में दुर्बल किसी समाज की संगठन द्वारा उन्नति करने को उसके नेता प्रस्तुत हों, तो सबसे पहले उनका ध्यान शिल्प की उन्नति की ओर जायगा। सब प्रकार के शिल्पों की उन्नति के विना देश या समाज उन्नत हो ही नहीं सकता। प्रथम महायुद्ध के अवसर पर देखा गया कि भारत में वस्त्रों की कमी जो हुई, सो तो हुई, किन्तु वस्त्रों को सीने के लिए सूई की भी कमी हो गई। सूई भी हमें दूसरे

देशों से लेनी पड़ती थी। भला, ऐसा समाज सभ्यता की श्रेणी में आकर उन्नति की ओर कैसे पैर बढ़ा सकता है। अतएव, उसके अनन्तर हमारे नेताओं की दृष्टि शिल्प की उन्नति की ओर गई और उनके उद्योग और ईश्वर-कृपा से आज भारत शिल्प में बहुत-कुछ उन्नत हो गया है। अस्तु; प्राचीन भारत में भी इस बात पर पूरा ध्यान दिया गया था, और वर्ण-व्यवस्था में प्रचुर संख्या में रहनेवाली शूद्र जाति के हाथ में शिल्प-बल दिया गया था।

शिल्पैर्वा विविधैर्जीवेत् द्विजातिहितमाचरन्।

(याज्ञवल्क्यस्मृति)

शूद्रों में भी भिन्न-भिन्न शिल्पों के लिए भिन्न जातियों का विभाग कर दिया गया था। किसी जाति को वस्त्र बनाने का व्यवसाय, किसी को सीने का, किसी को लकड़ी का, किसी को लोहे का, किसी जाति को सोने का, इस प्रकार से भिन्न-भिन्न जातियों में भिन्न-भिन्न शिल्प बाँट दिये गये थे, जो आज भी चले आ रहे हैं। यह शिल्प-बल शूद्र-बल है। शूद्रों के बुद्धि-विकास से शिल्पों की उन्नति यहाँ पूर्ण मात्रा में हुई। ढाके की मलमल की बराबरी आजतक भी पाश्चात्य जगत् न कर सका। प्राचीन भारत के नेता ऋषि-महर्षियों का यह भी ध्यान था कि सब प्रकार के बलों की उन्नति समाज में की जाय, किन्तु उन बलों के दुरुपयोग से समाज को क्लेश न हो, इसका भी ध्यान रखा जाय। इसलिए, उन्होंने अपनी व्यवस्था में एक बल का नियन्त्रण दूसरे बल के द्वारा किया। नियन्त्रण निग्रह और अनुग्रह दोनों से होता है। हितैषिता भी हो और साथ ही दुरुपयोग से बचाया जाय, तभी ठीक नियन्त्रण हो सकता है। इस दृष्टि से शूद्र-बल का नियन्त्रण व्यापार-बल के द्वारा किया गया। वह व्यापार-बल वैश्य-बल है। और, वर्ण-व्यवस्था में शूद्रों से ऊपर वैश्यों का स्थान है। शिल्पी को अपने शिल्प के अधिकाधिक प्रसार की इच्छा रहती है और वह प्रसार व्यापार-बल के द्वारा ही हो सकता है। एक ग्राम, नगर और देश के शिल्प को सैकड़ों-हजारों कोसों तक प्रचारित कर देना व्यापार-बल का ही काम है। इसलिए व्यापार-बल शिल्प-बल की सहायता भी करता है और आलस्यादि दुरुपयोग से उसे बचाता भी है। प्रसार की लालसा से शिल्पियों को अपने शिल्प-कार्य में आलस्य नहीं होता, और वे अपनी बनाई वस्तु का अनुचित मूल्य भी नहीं लगा सकते। इस प्रकार, समाज में दो बल सम्पन्न हुए; व्यापार-बल में लक्ष्मी (सम्पत्ति) की कृपा होती है, और लक्ष्मी से उन्मत्त होकर दीन-दुःखियों को त्रास देने आदि के रूप में बल का दुरुपयोग भी सम्भव है। इसलिए, व्यापार-बल या सम्पत्ति-बल का नियन्त्रण शासन-बल द्वारा किया गया। यह वर्ण-व्यवस्था का तीसरा क्षत्र-बल है।

वेद के अभिषेक के मन्त्रों में स्पष्ट कहा गया है कि राजा वैश्यों का ही राजा होता है—'एष वो विशो राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा', हे वैश्यो! हमारे अभिषेक द्वारा यह तुम्हारा राजा हुआ। हमारा ब्राह्मण का राजा तो सोम है। यह अभिषेक करनेवाला ब्राह्मण कहता है। यह क्षत्र-बल भी वैश्य-बल की पूर्ण सहायता भी करता है।

उन्हें चोरी, डाके आदि से बचाना क्षत्र-बल का ही काम है और वह व्यापार-बल यदि विकृत होकर उपद्रव करने लगे, तो उसका नियन्त्रण भी क्षत्र-बल के द्वारा होता है।

क्षत्र-बल वा शासन-बल भी यदि विकृत होकर रक्षा के स्थान में प्रजा को सताने लगे, तो उसका उपाय अन्य किसी संस्कृति में नहीं है। अन्य संस्कृति के अनुयायी तो इतना ही उत्तर दे देते हैं कि शासन-बल का नियन्त्रण करनेवाला कानून वा विधान है। किन्तु, यह उत्तर पर्याप्त नहीं। कानून वा विधान तो जड़ है और शासक के हाथ में है। शासक यदि उन्मत्त होकर उन्हें न माने, तो वे कानून वा विधान क्या कर सकते हैं। भारतीय संस्कृति ने ही उसका पूर्ण रूप से उत्तर दिया है। इस संस्कृति में शासन-बल वा क्षत्र-बल का नियन्त्रण ब्रह्म-बल के हाथ में रखा है। सांसारिक बल तो पूर्णरूप से राजा के हाथ में देना तो आवश्यक होगा। अन्यथा शासन ही कैसे चलेगा। सांसारिक बल से तो शासन का नियन्त्रण हो नहीं सकता। इसलिए, ब्रह्म-बल को आध्यात्मिक बल के रूप में रखा गया है। अध्यात्मशक्ति ऋषि-मुनि आदि में इतनी प्रबल होती थी कि वे अपनी उस शक्ति से लौकिक बल-सम्पन्न राजा को भी नियन्त्रित कर सकते थे। किसी भी राजा के उन्मार्गगामी होने पर ब्रह्म-बल से उसका नियन्त्रण किया गया। इसके बहुत-से दृष्टान्त भारतीय संस्कृति के इतिहास-पुराणों में प्राप्त होते हैं। अब यदि यह प्रश्न उठाया जाय कि ब्रह्म-बल के विकृत होने पर उसका नियन्त्रण करनेवाला कौन है? तो, इसका उत्तर सहज ही है कि विकृत वा उन्मार्गगामी होनेपर ब्रह्म-बल रहता ही नहीं। अध्यात्मबल तो तभी तक रहता है, जबतक वह पुरुष वैदिक मार्ग पर चलता हुआ सर्वभूतों का हितकारी और सदाचारी बना रहे। विकार आने पर वह बल ही चला जाता है। जिसके दृष्टान्त आजकल के ब्राह्मण हमलोग हैं। वैदिक परम्परा छूट जाने के कारण आज हममें वह बल ही नहीं रहा, तब उन्मार्गगामी होने पर हमारा भी नियन्त्रण शासन-बल के द्वारा ही हो जाता है। यह वर्ण-व्यवस्था का दोष नहीं, हमारा अपना दोष है। वर्ण-व्यवस्था ने तो सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि से भी ऐसी व्यवस्था कर दी थी कि सब प्रकार के बल समाज में रहें और वे विकृत होकर समाज का अपकार भी न कर सकें। एक-दूसरे से नियन्त्रित रहें। इसलिए, यह समाज-व्यवस्था, विचार करने पर, सब व्यवस्थाओं से उत्तम कही जा सकती है। कुल-क्रमागत वर्ण-व्यवस्था में नैतिक दृष्टि से यह बड़ा लाभ है कि आपत्ति का समय हो, चाहे सम्पत्ति का, शिल्प, व्यापार आदि पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। जैसा महायुद्ध के अनन्तर कई देशों के शिल्प-व्यापार नष्ट हो गये। यह दशा भारतीय संस्कृति में नहीं हो सकती, यदि वर्ण-व्यवस्था ठीक चलती रहे। शासन-बल युद्ध में संलग्न रहेगा और दूसरे बलों की अनुयायिनी दूसरी जातियाँ अपना-अपना कर्त्तव्य-पालन करती रहेंगी। हाँ, जहाँ भयानक विप्लव उपस्थित हो, वहाँ ब्राह्मणादि सब वर्गों को शस्त्र-ग्रहण करने की भी आज्ञा भारतीय शास्त्रों में है :

शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते।

अर्थात्, जहाँ धर्म वा संस्कृति का लोप होने की सम्भावना आ जाय, वहाँ ब्राह्मणादि सब वर्णों को शस्त्र-ग्रहण करना चाहिए इत्यादि।

आजकल बहुत-से सुधारक महोदय जो ब्राह्मणों पर यह दोष लगाते हैं कि उन्होंने सब शक्ति अपने हाथ में ले ली, शूद्र आदि को पंगु बनाकर रखा—यहाँ उनसे पूछना चाहिए कि शूद्रादि की लौकिक उन्नति ब्राह्मणों ने छीन ली वा पारलौकिक। पारलौकिक उन्नति छीनने का ब्राह्मणों को सामर्थ्य ही कहाँ था, वह तो ईश्वरीय देन है। उसे कौन छीन सकता है। सदाचारी मनुष्य परलोक में उन्नति करेगा, इस व्यवस्था को कौन हटा सकता है। और, लौकिक उन्नति तो शिल्प और व्यापार से होती है, उनमें शिल्प शूद्रों के हाथ में और व्यापार वैश्यों के हाथ में दिया गया। ब्राह्मणों ने अपने हाथ में लौकिक उन्नति का साधन रखा ही कहाँ? फिर, उल्टा आक्षेप क्यों? वस्तुतः, विद्या और कला—दो ही शक्ति हैं। वर्ण-व्यवस्थानुसार विद्या ब्राह्मणों के हाथ में और कला वैश्य-शूद्रों के हाथ में है। दोनों में ही बुद्धि की आवश्यकता है? और, बुद्धि के द्वारा सभी अपने-अपने कार्यों की उन्नति कर सकते हैं। इसलिए, यह कहना भी उपयुक्त नहीं होता कि 'निर्बुद्धि का नाम ही शूद्र है।' शूद्र यदि निर्बुद्धि रहें, या बुद्धिमान् होते ही ब्रह्माणादि की श्रेणी में चले जायँ, तो देश में शिल्प वा व्यापार की उन्नति कैसे होगी। अस्तु; सारांश यही है कि भारतीय संस्कृति का आधार वर्णाश्रम-व्यवस्था ही है। और, वह आध्यात्मिक, सामाजिक वा नैतिक सब दृष्टियों से निर्दोष है। जो दोष वर्त्तमान में दिखाई देते हैं, वे व्यवस्था की शिथिलता वा उसके ठीक पालन न होने से ही हैं। शास्त्र-दृष्टि से कोई भी दोष उनमें नहीं आ सकता।

आश्रम-व्यवस्था

वर्ण-व्यवस्था जहाँ सामाजिक संगठन सिखाती है, वहाँ आश्रम-व्यवस्था एक ही व्यक्ति को समय-भेद से लौकिक और पारलौकिक सब उन्नति का साधन करना सिखा देती है। केवल लौकिक उन्नति के चक्कर में पड़ हम आध्यात्मिक दृष्टि से विमुख न हो जायँ और मनुष्य-जीवन का फल ही सर्वथा न खो बैठें, इसका उपाय आश्रम-व्यवस्था कर देती है।

आश्रम-व्यवस्था में पहले ब्रह्मचर्याश्रम में विद्याध्ययन, दूसरे गृहस्थाश्रम में उस विद्या के उपयोग द्वारा अपनी वृत्ति चलाना, कीर्त्ति प्राप्त करना, वंश-वृद्धि करना आदि कार्य किये जाते हैं। यह समय प्रवृत्ति-मार्ग में लगाया गया। ५० वर्ष की अवस्था तक ये दोनों आश्रम समाप्त हो जाते हैं। ५० वर्ष के अनन्तर वानप्रस्थाश्रम का आरम्भ है। उसमें निवृत्ति-मार्ग के उपयोगी अध्यात्म-विद्या का अभ्यास, उपासना और चित्तशुद्धि के लिए व्रतोपवास आदि तप किये जाते हैं। इस प्रकार, निवृत्ति-मार्ग की योग्यता यदि प्राप्त हो जाय और संसार के लोगों से वैराग्य हो जाय, तो चतुर्थ आश्रम संन्यास में प्रवेश होता है। वहाँ सारे कार्य छोड़कर केवल ज्ञाननिष्ठा का प्रयत्न किया जाता है। इसके सिद्ध हो जाने पर मनुष्य-जन्म की सफलता पूर्ण रूप से हो जाती है। यह आदर्श भारतवर्ष में ही था कि राजा-महाराजा तक भी ५० वर्ष की अवस्था के अनन्तर अपना राज्य छोड़कर वानप्रस्था-

श्रम में चले जाते थे। निवृत्त (Retired) होने की प्रथा आजकल भी है, किन्तु आश्रम-व्यवस्था न होने से 'रिटायर्ड' पुरुष भी पुनः द्रव्य के लोभ में ही फँसकर अन्यान्य कार्य करते रहते हैं। भारतीय आदर्श यह नहीं था। यहाँ वृद्धावस्था में त्याग का अभ्यास ही मुख्य माना जाता था। इसीलिए, अर्थ और काम का साधन रहते हुए भी भारतीय संस्कृति में लोलुपता नहीं बढ़ पाई और आध्यात्मिकता नष्ट नहीं हुई। यह वर्णाश्रम-व्यवस्था संस्कारों पर निर्भर है, इसलिए आगे संस्कारों का विवेचन किया जाता है।

आर्य-संस्कृति के संस्कार

आर्य जाति में सोलह संस्कारों का महत्त्व सुप्रसिद्ध है। हम लोगों की मान्यता है कि एक बार माता के गर्भ से जन्म होता है और दूसरा जन्म होता है इन संस्कारों से। इसी आधार पर वैदिक संस्कार जिसके हुए हों, उसे द्विज, अर्थात् दो बार जन्म लेनेवाला कहा जाता है। ये संस्कार हिन्दू-जाति की एक बड़ी विशेषता के रूप में माने गये हैं। आज भी कुछ जीर्ण-शीर्ण रूप में कई एक संस्कारों का प्रचार हिन्दू-जाति में देखा जाता है। किन्तु, उनका तात्त्विक विचार बहुत कम लोगों के ध्यान में आता है। यहाँ संस्कारों के विज्ञान पर कुछ विचार प्रस्तुत किया जाता है।

संस्कार में दो प्रकार की वस्तुएँ देखने में आती हैं—एक प्राकृत और दूसरी संस्कृत। प्रकृति ने जिस रूप में जिस वस्तु को पैदा किया। वह उसी रूप में यदि बनी रहे, तो उसे प्राकृत वस्तु कहेंगे। जैसे : पर्वत, जंगल के वृक्ष, नदी आदि। किन्तु, प्रकृति के द्वारा पैदा की हुई वस्तु का अपने उपयोग में लाने के लिए जब हम सुधार कर लेते हैं, तब उस सुधरी हुई वस्तु को संस्कृत कहा जाता है। वह सुधार ही संस्कार है, जो कि तीन प्रकार से होता है : १. दोषमार्जन, २. अतिशयाधान और ३. हीनांगपूर्त्ति। प्रकृति के पैदा किये पदार्थ में यदि कोई दोष हो, अर्थात् हमारे उपयोग में लेते समय कोई बाधा उसमें आई हो, तो उसे दूर करना पहला दोषमार्जन-संस्कार है। उपयोगी बनाने के लिए उसमें कुछ विशेषता उत्पन्न कर देना अतिशयाधान-संस्कार है। फिर भी, उपयुक्तता में कोई त्रुटि हो, तो अन्य किसी पदार्थ का सम्मिश्रण कर उस त्रुटि की पूर्त्ति कर देना ही 'हीनांगपूर्त्ति' नाम का तीसरा संस्कार है। हम कह सकते हैं कि जिन-जिन पदार्थों को मनुष्य अपने उपयोग में लेता है, उन्हें संस्कार करके ही लेता है। प्राकृत पदार्थों का उपयोग बहुत ही अल्पमात्रा में किया जाता है। उदाहरण के लिए, पहले अन्न को ही ले लीजिए। प्रकृति खेतों में जिस दशा में अन्न पैदा करती है, वे उसी दशा में हमारे काम में नहीं आ सकते, हम उन्हें खाने लगें, तो हमारे दाँत ही पहले छिद-भिद जायँ और उदर की जठराग्नि भी न उसे स्वीकार करे, न पचा सके। रुचि की तो बात ही क्या, शरीर-पोषण भी उससे सम्भव नहीं। इसलिए, पहले उसका दोषमार्जन-संस्कार करना होता है। अनुपयुक्त वस्तु जो उसमें सम्मिलित है, उन्हें भूसी, तुष आदि के रूप में निकाल बाहर कर दिया जाता है। आगे उस दोषरहित अन्न में कुटाव, पिसाव और अग्निपाक आदि के द्वारा काम में लाने योग्य विशेषताएँ उत्पन्न की जाती हैं, यह अतिशयाधान हुआ। फिर भी, रुचि के लिए मधुर, लवण, शाक आदि का

सम्बन्ध भी उन अन्नों से जोड़ दिया जाता है, यह हीनांगपूर्त्ति हुई। तीनों संस्कारों से संस्कृत होकर वे अन्न हमारे शरीर को पोषण देते हैं और हमारी रुचि बढ़ाते हैं। इसी प्रकार वस्त्र को देखिए। जो वस्त्र हम पहनते हैं, उन्हें उस स्वरूप में प्रकृति पैदा नहीं करती। प्रकृति ने पैदा की है कपास, जो अपने स्वरूप में हमारे उपयोग में कभी नहीं आ सकती। अपने उत्पत्ति-स्थान से कुछ मिट्टी आदि का सम्बन्ध जो उसमें हो गया था, जिस बीज से पौधा बनकर कपास पैदा हुई, वह बीज भी इसके स्वरूप में सम्मिलित है। ये वस्तुएँ हमारे उपयोग में बाधा देनेवाली हैं। इसलिए, पहले दोषमार्जन-संस्कार द्वारा उन्हें निकाल बाहर किया जाता है। फिर, जो स्वच्छ रूई तैयार हुई, उसका सूत बनाना, कपड़ा बुनना और कोट आदि के रूप में शरीर पर धारण करने की योग्यता उसमें ला देना, यह सब 'अतिशयाधान' है। बाहरी वस्तु बटन आदि लगा देना 'हीनांगपूर्त्ति' है। इन तीनों प्रकार के संस्कारों से संस्कृत कर वस्त्रों को हम काम में लाते हैं।

सभी वस्तुओं की यही दशा है। लोहा जिस स्वरूप में खान से निकलता है, उसे देखकर कोई यह आशा भी नहीं कर सकता कि यह वस्तु हमारे बड़े काम की होगी, किन्तु बड़े-बड़े कारखानों द्वारा पहले जिसका दोषमार्जन होता है, उत्पत्ति-स्थान से प्राप्त मलिनता आदि को उसमें से निकाला जाता है, फिर लोहार द्वारा भिन्न-भिन्न रूप में गढ़वाकर वा तेजी के लिए धार दिलाकर 'अतिशयाधान', अर्थात् विशेषता उत्पन्न करते हैं, फिर भी उपयोग में लाने के लिए चाकू में बेंट और तलवार में मूठ आदि लगाकर 'हीनांगपूर्त्ति' भी जब कर ली जाती है, तब वह सुसंस्कृत लोहा हमारे सब प्रकार के काम में आता है। इन जड़ वस्तुओं के संस्कारों का प्रसार आज संसार में बहुत है और दिन-दिन बढ़ता जा रहा है। सच पूछिए, तो यही कला-कौशल है। विभिन्न जातियों और समाजों को अभिमान होता है कि हम जैसा चाहें वैसा, उत्तम-से-उत्तम वस्त्र बना देते हैं। हमारे कारखानों में लोहे की अपूर्व वस्तुएँ तैयार हो सकती हैं इत्यादि। किन्तु, प्राचीन भारतीयों को यह भी अभिमान था कि हम मनुष्य को जैसा चाहें, वैसा बना सकते हैं। इसी उद्देश्य से इनमें मनुष्यों के संस्कारों की भी योजना थी। बृहदारण्यक उपनिषद् में एक इसी विषय का प्रकरण है कि यदि कोई अपने पुत्र को मेधावी पण्डित बनाना चाहे, तो इस प्रकार का संस्कार करे। यदि वीर वा धनी बनाना चाहे, तो इस प्रकार का इत्यादि। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि मनुष्य में उपयुक्त गुण लाकर उसे समाज के लिए पूर्ण उपयोगी बना देना ही इन संस्कारों का उद्देश्य रहा है।

मनुष्य के संस्कार भी उक्त तीन प्रकरणों में बाँटे जाते हैं—दोषमार्जन, अतिशयाधान और हीनांगपूर्त्ति। जिस प्रकार अन्न, कपास, लोहा आदि अपने उत्पत्ति-स्थानों के दोष अपने साथ लाते हैं, उसी प्रकार मनुष्य भी अपनी उत्पादक सामग्री वा उत्पत्ति-स्थान के दोषों से अत्यन्त दूषित रहता है। उन दोषों को हटाना पहले आवश्यक है। उसी के लिए जन्म क्या, गर्भ में आते ही उनके संस्कारों का आरम्भ हो जाता है। स्मृतिकारों ने स्पष्ट लिखा है कि इन संस्कारों के द्वारा बीज और गर्भ के दोष दूर किये जाते हैं। 'बैजिकं गार्भिकं चैनो

द्विजानामपि मृज्यते' (मनु), 'एवमेनः शमं याति बीजगर्भसमुद्भवम्' (याज्ञवल्क्य)। संस्कारों के संकल्प में भी बोला जाता है कि 'बीजगर्भसमुद्भवैनोनिवर्हणद्वारा परमेश्वर-प्रीत्यर्थमित्यादि।' (एनस् शब्द पाप वा दोष का वाचक है।)

यों तो संस्कारों की बहुत बड़ी संख्या भी धर्मशास्त्रों में मिलती है। गौतमसूत्र के ८वें अध्याय में अड़तालीस संस्कार लिखे गये हैं। 'अष्टचत्वारिंशता संस्कारैः संस्कृतः' इत्यादि। जैसे : (१) गर्भाधान, (२) पुंसवन, (३) सीमन्तोन्नयन, (४) जातकर्म, (५) नामकरण, (६) अन्नप्राशन, (७) चौल, (८) उपनयन, (९-१२) चार वेदव्रत, (क. महानाम्नी व्रत, ख उपनिषद् व्रत, ग. महाव्रत और घ. गोदान), (१३) स्नान, (१४) विवाह, (१५—१९) पंच महायज्ञ (क. ब्रह्मयज्ञ, ख. देवयज्ञ, ग. पितृयज्ञ, घ. भूतयज्ञ, और ङ. मनुष्ययज्ञ, (२०—२६) सप्त पाकयज्ञ (क. अष्टका, ख. पार्वणश्राद्ध, ग. श्रावणी, घ. आग्रहायिणी, ङ. चैत्री और च. आश्वयुजी), (२७—३३) सप्त हविर्यज्ञ (क. अग्न्याधान, ख. अग्निहोत्र, ग. दर्शपूर्णमास, घ. चातुर्मास्य, ङ. आग्रायणेष्टि, च. निरूढ पशुबन्ध और छ. सौत्रामणि), (३४—४०) सप्त सोमयज्ञ (क. अग्निष्टोम, ख. अत्यग्निष्टोम, ग. उक्थ, घ. षोडशी, ङ. वाजपेय, च. अतिरात्र और छ. अप्तोर्याम) (४१) दया, (४२) क्षमा, (४३) अनसूया, (४४) शौच, (४५) अनायास, (४६) मंगल, (४७) अकार्पण्य रऔ (४८) अस्पृहा। सुमन्तु ने पच्चीस संस्कार लिखे हैं, किन्तु इनके अधिकतर अतिशयाधान रूप संस्कार हैं। उन्हें दैव संस्कार कहा गया है, जिसका तात्पर्य यह है कि देवता बना देने के उपयोगी इन अड़तालीस संस्कारों में वेद के सब यज्ञ आदि भी सम्मिलित हो जाते हैं, जिनके द्वारा मनुष्य में एक दैवात्मा उत्पन्न कर दिया जाता है, और वह आत्मा उसे अवश्य देवताओं में सम्मिलित कर देता है। अस्तु; यह दूर की बात है, भगवान् व्यास ने अपनी स्मृति में इस युग के उपयोगी तो सोलह संस्कार लिखे हैं, जिनका नाम गौतम सूत्र के आरम्भ में आया है, जिनकी आज भी हिन्दू-जाति में चर्चा है। वे भी सब-के-सब तो आज समाज के बहुत अल्प अंश में प्रचलित हैं, किन्तु कुछ संस्कार सभी द्विजों में चलते हैं।

धर्म-ग्रन्थों में ये संस्कार आडम्बरशून्य वैज्ञानिक विधियों के रूप में हैं। किन्तु, आज जो संस्कार प्रचलित भी हैं, उनमें बाह्याडम्बर ने अधिक स्थान ले लिया है। वैज्ञानिक विधियों पर बहुत कम ध्यान रह गया है। समय-समय कई नेताओं ने इनके सुव्यवस्थित रूप में पुनः प्रचार करने का उद्योग किया, जैसे श्रीस्वामी दयानन्दजी ने आर्य जाति में संस्कारों के पुनः प्रचार करने की बहुत-कुछ योजना की, किन्तु समय के प्रभाव से इस अंश में उन नेताओं को सफलता न मिल सकी।

इन संस्कारों की शास्त्रीय पद्धति पर ध्यान दिया जाय, तो विचार से स्पष्ट भासित होगा कि ये विधियाँ वैज्ञानिक हैं। उनमें अधिकांश का सम्बन्ध मनोविज्ञान से है। भौतिक विज्ञान के आधार पर भी बहुत-से कार्य उत्तम होते हैं। प्रत्येक अंश पर विचार करने के लिए तो एक बड़े ग्रन्थ की आवश्यकता हो जाती है। इसलिए, इस लेख में कुछ अंशों पर ही प्रकाश डाला जा सकता है। बालक को सामने बैठाकर माता-पिता वेद-मन्त्रों की सहायता से

मन में यह भाव रखें कि हम इसका दोषमार्जन या अतिशयाधान कर रहे हैं, तो उस मनोवृत्ति का प्रभाव शिशु के कोमल अन्तःकरण पर अवश्य पड़ता है। यह मनोविज्ञान की बात है, जो कि सभी संस्कारों में अनुवर्त्तमान रहती है। इसके अतिरिक्त जैसे पुंसवन और सीमन्तोन्नयन इन गर्भावस्था के संस्कारों में गर्भिणी के समक्ष वीणावादन और सुललित गायन का विधान सूत्रों में देखा जाता है। उससे भी गर्भिणी के अन्तःकरण में एक प्रकार का प्रमोद या हर्ष होना स्वाभाविक है। और, उसका प्रभाव गर्भस्थित बालक पर पड़ना मनोविज्ञान की बात है। बालक के उत्पन्न होने पर सबसे पहले जातकर्म-संस्कार में सुवर्ण का अंश, घृत और मधु उसे चटाने की विधि है। भौतिक विज्ञान द्वारा सिद्ध है कि ये तीनों ही पदार्थ शोधक हैं। ये दोष दूर कर एक प्रकार की शुद्धता या पवित्रता देते हैं। इसी कारण व्रत, देवपूजा आदि में सब जगह इनका प्रयोग विशेष रूप से आवृत्त हुआ है। जातमात्र बालक के अन्दर पहले ही इन पदार्थों को प्रविष्ट कराना, जहाँ शोधन की योजना करेगा, वहाँ उसके कोमल अवयवों को पुष्ट और सुदृढ बनाने में भी सहायता देगा। आगे नामकरण-संस्कार में किसका कैसा नाम रखा जाय, इसकी व्यवस्था होती है। शास्त्रों ने विधान किया है कि सामाजिक व्यवस्था भी वर्ण-विभाग के अनुसार, जिससे जैसा काम लेने की आगे व्यवस्था होगी, तदनुकूल ही पहले से उसका नाम रखना चाहिए। जैसा कि ब्राह्मण के नाम में मंगल या विद्या का सम्बन्ध हो। क्षत्रिय के नाम में वीरोचित प्रभाव प्रतीत होता हो और वैश्य के नाम में धन-समृद्धि की बात आती हो। जब ऐसे नामों से वह अपने जीवन में बार-बार सम्बोधित होगा, तो उन शब्दों द्वारा उन गुणों पर उसका चित्त निरन्तर आकृष्ट होता रहेगा और उसका प्रभाव बार-बार चित्तपर पड़ने से उन गुणों की समृद्धि या उज्ज्वलता उसमें होती रहेगी। यह भी मनोविज्ञान का विषय है। स्त्रियों के नाम ऐसे होने चाहिए, जिनके उच्चारण में वर्णों की कठिनता का अनुभव न हो, जिनमें क्रूरता का भाव बिलकुल न हो और अन्त में दीर्घ वर्ण आवे—जैसे सुसंगता, यशोदा आदि। यह मानी हुई बात है कि स्त्रियों में पुरुषों की अपेक्षा बहुत अधिक मृदुता होती है। उस कोमलता का आभास उनके नामों से ही मिल जाना चाहिए और परस्पर व्यवहार में उसका बार-बार स्मरण होने पर मृदुता स्थिर रहेगी।

आगे अन्नप्राशन में भी जैसा स्वभाव बनता है, उसके उपयुक्त ही अन्न आरम्भ में खिलाने का विधान है, जो स्पष्ट ही पदार्थ-विज्ञान से सम्बन्ध रखता है। आगे चूडाकरण वा मुण्डन-संस्कार का समय आता है। हमारे शरीर के सब अवयवों में एक प्रकार की शरीराग्नि निरन्तर भ्रमण करती रहती है, और वही उन अंगों का शोधन करती है, किन्तु केश और नख उस अग्नि की व्याप्ति से बाहर निकल जाते हैं। इसका स्पष्ट ही प्रमाण है कि केशों वा नखों का छेदन करने पर भी कोई व्रण नहीं होता। इसी कारण उनके दोषों का शोधन शरीराग्नि नहीं करती। उनके दोष तो तभी दूर हो सकते हैं, जब उनका छेदन कर दिया जाय वा अंग पर से उसे हटा दिया जाय। यही दोषमार्जन मुण्डन-संस्कार का लक्ष्य है। साथ ही, उसमें ऐसी वस्तुओं का लेपन मस्तक पर बताया गया है, जिससे उस कोमल मस्तक में कोई व्रण भी न होने पावे, और केशों के स्थान की पवित्रता भी हो जाय।

मन्त्रपूर्वक हवन का भी इस संस्कार से ही आरम्भ हो जाता है, जो कि बाह्य शुद्धि और भीतर की शुद्धि का भी एकमात्र उपाय है इस संस्कार में अन्य केशों को हटाकर एक शिखा रख दी जाती है। यह शिखा हिन्दू-जाति का एक विशेष चिह्न माना गया है। इसका वैज्ञानिक तत्त्व यह है कि ब्रह्म-रन्ध्र के ठीक ऊपर शिखा रखी जाती है। सूर्य का प्राण ब्रह्म-रन्ध्र के द्वारा ही हमारे भीतर आता रहता है और भीतर के प्राण उसी रन्ध्र से सूर्य की ओर जाते रहते हैं। यह आवागमन-प्रक्रिया वेद-विज्ञान के प्रकरण में स्पष्ट की जा चुकी है। हमने कर्म या उपासना के द्वारा अन्तःकरण में जो अतिशय उत्पन्न किया, वह यदि सूर्य के आकर्षण से सूर्य में चला जाय, तो हमारे पास कुछ न रहेगा और हमारा परिश्रम व्यर्थ हो जायगा। केश विद्युत्-शक्ति को रोकनेवाले हैं। यह वैज्ञानिक परीक्षण से सिद्ध है। अतएव, कर्म या उपासना के समय ग्रन्थिबद्ध शिखा ब्रह्म-रन्ध्र पर स्थापित रहने से हमारा अतिशय निकल कर बाहर न जा सकेगा तथा अतिशय द्वारा हम कृतकार्य होंगे।

अब बड़े संस्कार—यज्ञोपवीत और विवाह का अवसर आता है। यज्ञोपवीत संस्कार दोष-मार्जन भी करता है और अतिशयाधान भी। विद्या पढ़ने का आरम्भ इसी संस्कार के अनन्तर होता है, इसलिए बुद्धि को पहले से सात्त्विक विद्या के प्रवेश के लिए विकसित कर देना और स्मरण-शक्ति को बढ़ा देना वा दृढ करना आवश्यक है। वह काम इस संस्कार के द्वारा किया जाता है। इसमें सूर्य के उपस्थान, अर्थात् आराधना की प्रधानता रखी गई है। हमारे शास्त्रों का सिद्धान्त है कि बुद्धि सूर्य का ही एक अंश है। इसकी पुष्टि (विकास) सूर्य की आराधना से ही हो सकती है। अग्नि-हवन आदि तो इस संस्कार में प्रधान हैं ही, जो कि बुद्धि को विशद रूप से परिमार्जित करते हैं, किन्तु इनके अतिरिक्त पलाश का उपयोग इस संस्कार में विशेष रूप से माना गया है। पलाश का ही दण्ड हाथ में रहता है। पलाश की ही समिधाओं का हवन है। भोज्यादि पदार्थ रखने के लिए पलाश के ही पत्ते हैं, आदि-आदि। वस्तु-विज्ञान के आधार पर शास्त्रों का निश्चय है कि पलाश स्मरण-शक्ति बढ़ाने वा दढ करने में बहुत सहायता देता है। पलाश की शाखा का बार-बार सेवन करना यज्ञोपवीत के समय वा उसके अनन्तर आवश्यक माना गया है। साथ ही ब्रह्मचर्य की रक्षा के उपयोगी मूंज आदि का भी उपयोग इस संस्कार में है। ये सब पदार्थ-विज्ञान से सम्बन्ध रखनेवाली बातें हैं। जिस प्रकार यज्ञसूत्र वा यज्ञोपवीत जिस वटु को पहनाया जाता है, उसमें भी बड़ा रहस्य है। भारतीय सभ्यता के अनुसार उसको वेद का अध्ययन करना है। वेद परब्रह्म वा ईश्वर का प्रधान रूप से वर्णन करता है। ईश्वर ने सृष्टि किस प्रकार की, इसका विवरण अति संक्षेप में इसी प्रकार है कि ईश्वर ने तेज, अप् (जल) और अन्न (पृथ्वी) इन तीनों तत्त्वों को सूक्ष्म रूप में उत्पन्न किया, किन्तु ये पृथक्-पृथक् रहकर जब आगे सृष्टि बनाने में समर्थ न हो सके, तब तीनों को आपस में मिलाकर प्रत्येक को त्रिवृत्त (तीन लड़) कर दिया, और उनमें शक्ति-रूप से स्वयं प्रविष्ट हुआ। बस, इसी तत्त्व का एक नक्शा यज्ञोपवीत के रूप में बनाया जाता है। पहले तीन जगह तीन-तीन धागे रखकर उन तीनों को बाँटकर तीन-तीन का एक-एक बना लेते हैं, और उन तीनों को इकट्ठा कर उनमें ईश्वर की स्थिति का संकेत देने की एक ब्रह्मग्रन्थि लगा देते हैं—यह नक्शा सदा गले में पड़ा रहने से

निरन्तर उस वटु का ध्यान ईश्वर की सृष्टि-रचना पर जाता रहेगा और उससे वेद-विद्या के सीखने में शीघ्र कृतकार्य होगा।

विवाह-संस्कार भी अतिशयाधान-रूप है, वह स्त्री में दूसरे कुल से सम्बद्ध होने का अतिशय उत्पन्न करता और स्त्री और पुरुष दोनों को मिलाकर एकरूप बना देने के कारण वह हीनांगपूर्त्ति भी करता है, जिससे एकरूपता प्राप्त कर दोनों पति-पत्नी गृहस्थाश्रम चलाने योग्य संस्थान उत्पन्न करने और यज्ञ-यागादि सम्पादित करने के उपयोगी बन जाते हैं। पत्नी के देह, प्राण, मन आदि का दृढ सम्बन्ध पति के देह, प्राण, मन से जोड़ देना ही इस संस्कार का लक्ष्य है, जिसकी विधियाँ भी बहुत वैज्ञानिक हैं।

परस्पर योग-निर्माण में और उसको दृढ करने में जिन जल और अग्नि की शक्ति मानी जाती है, उनका उपयोग विवाह-संस्कार में पूर्ण रूप से किया जाता है। एक दूसरे से परस्पर हाथ मिलाने से परस्पर की विद्युत् का संयोग होता है, यह भी विज्ञान-सिद्ध है। अतः, वर वधू का पाणि-ग्रहण करता है और वधू का पिता उस समय उन दोनों के मिले हुए हाथों पर जल-प्रक्षेप करता है। इससे दोनों विद्युतों का संश्लेषण कर अग्नि-हवन के द्वारा उसे दृढ कर दिया जाता है। विवाह में जो मन्त्र पढ़े जाते हैं, उनका भी अर्थ यही है कि इन दोनों के मन, प्राण, बुद्धि आदि सम्मिलित होकर एक हो जायँ। यह मन की भावना भी अन्तःकरण के परस्पर संश्लेषण में बहुत बड़ा काम देती है। इसी आधार पर वैदिक मन्त्रों में माना गया है कि वधू का संश्लेष अपने गोत्र से हटकर वर के साथ जुड़ जाता है और उस दिन वह वर के गोत्र की ही बन जाती है। इन बातों से सिद्ध है कि अन्यान्य जातियों की तरह भारतीयों का विवाह केवल मनमाना सम्बन्ध नहीं, किन्तु एक वैज्ञानिक दृढ सम्बन्ध है, जो जन्मान्तर तक भी बना रहता है।

आचारों की वैज्ञानिकता

अन्यान्य देशों में धर्म और विज्ञान प्रायः परस्पर विरुद्ध माने जाते हैं। वैज्ञानिकों और धार्मिकों के परस्पर संघर्ष के उदाहरण भी उनके इतिहासों में बहुत मिलते हैं। उनके धर्म-ग्रन्थों में तो यहाँतक मिलता है कि शैतान की प्रेरणा से आदम ने ज्ञान-वृक्ष के फल खा लिये, इसलिए वह वहाँ से बहिष्कृत कर दिया गया। ऐसी कथाएँ यही सूचित करती हैं कि मनुष्य को ज्ञान-विज्ञान की ओर बढ़ने से धार्मिक ग्रन्थ सदा मना करते रहे हैं। किन्तु, भारत में ऐसा कभी नहीं हुआ। हमारे सर्वश्रेष्ठ धर्मप्रवक्ता भगवान् मनु ने स्पष्ट घोषणा की है कि जैसे-जैसे मनुष्य ज्ञान में अग्रसर होता जाता है, वैसे-ही-वैसे उसकी ज्ञान में रुचि बढ़ती जाती है, और वही दृढ धार्मिक हो सकता है। धर्मोपदेश को जो मनुष्य तर्कबल से भी समझ लेता है, वही धर्म का पूर्ण विज्ञाता होता है। यह हमारे धर्म-ग्रन्थों का डिण्डिम-घोष है। भारत के इतिहास में वैज्ञानिकों या दार्शनिकों का धार्मिकों के साथ कभी संघर्ष हुआ हो, ऐसा कहीं नहीं मिलता। दर्शन ही हमारे विज्ञान हैं, और वे ही धर्म के मूल हैं। धर्मशास्त्र-प्रवक्ताओं ने भी इसीलिए दार्शनिक विषयों को ग्रन्थों में स्थान दिया है। भगवान् मनु ने आरम्भ के प्रथमाध्याय में और उपसंहार के बारहवें अध्याय में दोनों जगह दार्शनिक विवेचन

किया है। इससे उन्होंने स्पष्ट बतला दिया कि धर्म का मूल स्तम्भ दर्शन-शास्त्र है। याज्ञवल्क्य भगवान् ने भी यति-धर्म-प्रकरण में पूर्ण दार्शनिक विवेचन किया है।

अन्यान्य देशों के साथ भारत की इस विषमता का कारण यही है कि दूसरे देशों में धार्मिक नियम कभी प्रतिष्ठाप्राप्त विवेचक विद्वान् के द्वारा संघटित हुए हैं। किन्तु, भारत के धार्मिक नियम मनुष्य-बुद्धि द्वारा प्रसूत नहीं। वे प्रकृति के शाश्वत नियमों के आधार पर संघटित हैं। अतएव, हमारे यहाँ धार्मिक नियमों को 'ईश्वरीय नियम' कहा जाता है। प्रकृति के परिचालक का नाम ही ईश्वर है, अत: प्राकृतिक नियम कहें, चाहे ईश्वरीय नियम, बात एक ही होती है। हमारे छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े जिन-जिन नियमों की आधुनिक विज्ञान ने परीक्षा की, उन्हें अपनी परीक्षा में भी उत्तीर्ण ही पाया। प्राकृतिक या वैज्ञानिक होने के कारण ही भारतीय धार्मिक नियमों में परिवर्त्तन का कोई स्थान नहीं। मनुष्य बुद्धि द्वारा संघटित नियमों का परिवर्त्तन दूसरे मनुष्य की बुद्धि कर सकती है, किन्तु ईश्वरीय प्रकृति के द्वारा संघटित नियमों का परिवर्त्तन मनुष्य के द्वारा असाध्य है। ऐसा परिवर्त्तन तो तभी कर सकता है, जब वह स्वयं ईश्वरीय बन जाय। हमारे शास्त्र तो यहाँतक कहते हैं कि ईश्वर भी अपने नियमों को बदलता नहीं। यदि बदल दे, तो उसमें अज्ञानता सिद्ध हो जाय। पहले कोई काम भूल से कर दिया जाय, तब उसका परिवर्त्तन समझ लेने पर, होता है। किन्तु, जो सदा ही सर्वज्ञ है, उससे भूल कैसे हो और परिवर्त्तन का स्थान ही कैसे प्राप्त हो? इसके एक-दो उदाहरण देना यहाँ अप्रासंगिक न होगा। हमारे यहाँ का एक सामान्य नियम है कि सन्ध्या-पूजा आदि के समय हम कुशा, ऊर्णवस्त्र और रेशमी वस्त्र को पवित्र मानते हैं। इनका ही आसन रखते हैं और शरीर पर ओढ़ने की आवश्यकता हो, तो भी ऊर्णा वा रेशम का वस्त्र ही लेते हैं। भगवद्गीता में आसन के लिए आज्ञा है—'चैलाजिन-कुशोत्तरम्।' अर्थात् कुश, मृगचर्म या ऊन का वस्त्र और रेशम का वस्त्र, ये क्रम से ऊपर रखे जाने चाहिए। साथ ही यह भी नियम है कि आवृत (आच्छादित) स्थान में बैठकर ही पूजा आदि करनी चाहिए, खुले अन्तरिक्ष में नहीं। वर्त्तमान विज्ञान की परीक्षा द्वारा सिद्ध हो गया है कि उक्त तीनों वस्तुएँ ऐसी हैं, जिनमें होकर विद्युच्छक्ति (Electricity) प्रसूत नहीं होती। इससे स्पष्ट आशय समझ में आ जाता है कि जप, पूजा आदि के द्वारा अन्तः-करण में संचित हमारी शक्ति को पृथिवी अपने आकर्षण-बल से खींच न ले, इसलिए ऐसी वस्तुएँ बीच में दे दी जाती हैं, जिनमें होकर बिजली के आकर्षण का प्रभाव ही न पड़ सके। साथ ही सूर्य-मण्डल के द्वारा आकर्षण न हो जाय, इसलिए आवृत स्थान का आग्रह किया जाता है, जहाँ कि सूर्य का आकर्षण बहुत मन्द गति से होता है। अब इन नियमों का कोई परिवर्त्तन करना चाहे, तो वह तभी हो सकता है, जब पृथ्वी या सूर्य में से आकर्षण शक्ति में भी विद्युत् की शक्ति प्रवाहित करने की योग्यता उत्पन्न कर दी जाय। ऐसा परिवर्त्तन यदि मनुष्य-शक्ति के बाहर है, तो इन नियमों का परिवर्त्तन भी मनुष्य के द्वारा कैसे किया जा सकता है? गोमय के उपलेपन की भी यही स्थिति है। उसकी भी वैज्ञानिक परीक्षा हो चुकी है।

दूसरा उदाहरण भी देखिए। पूजा आदि प्रत्येक कार्य को आरम्भ करने से पहले

हमारे यहाँ आचमन करने का नियम है। इस पर 'शतपथब्राह्मण' के आरम्भ में ही प्रश्न उठाया गया है कि 'यज्ञ-कर्म के आरम्भ में आचमन क्यों किया जाय ?' दो कारण बतलाकर वहाँ इसका उत्तर दिया है। जल का स्वभाव है कि वह मलिनता को धो देता है, और दो वस्तुओं को आपस में संयुक्त कर देता है। या यों कहिए कि एक प्रकार का चेप उत्पन्न कर देता है, इसलिए जल को पवित्र और मेध्य कहा जाता है। पवित्र शब्द का अर्थ है 'शोधन करनेवाला' और मेध्य शब्द का अर्थ है 'परस्पर योग की शक्ति पैदा करनेवाला'। यहाँ दोनों ही शक्तियों की आवश्यकता है। मनुष्य समय-समय पर झूठ बोल देता है, इसलिए उसके अन्तःकरण में मलिनता आ जाती है। मन, वाणी और कर्म का एक क्रम में रहना ही शुद्धता है। झूठ बोलने से यह क्रम बिगड़ जाता है; क्योंकि मन में कुछ और ही है, वाणी से कुछ और ही निकलता है और क्रिया कुछ और ही होती है। इन तीनों का क्रम बिगड़ना ही एक प्रकार का मैल है। इसलिए, झूठ बोलने से अन्तःकरण में मलिनता आ जाती है। इसी प्रकार, अन्यान्य बुरे विचारों से भी उन बुरे विषयों का प्रतिबिम्ब पड़कर मलिनता आती है। उस मलिनता को धो डालने की आवश्यकता है और यज्ञ, पूजा आदि के द्वारा जो नये संस्कार उत्पन्न करने हैं, वे अन्तःकरण में दृढ़ता से चिपक जायें, इसकी भी आवश्यकता है, इसलिए आचमन सब कर्मों के आरम्भ में आवश्यक माना जाता है। इसका यह अर्थ नहीं कि कोई भी बुरा काम करके हम जल पी लिया करें, तो यह पाप की मलिनता हमारी दूर हो जाय। बुद्धिपूर्वक जो काम किया जायगा, उसका संस्कार तो बुद्धि में दृढ़ता से बैठेगा। वह केवल जल से दूर नहीं हो सकता। उसके लिए तो प्रायश्चित्त-स्वरूप विस्तृत कर्म करने की आवश्यकता होती है। जैसे, वस्त्र या पात्र में अधिक मल लग जाय, तो वह केवल जल से दूर नहीं होता, उसे हटाना हो, तो मलशोधक रीठा, क्षार, साबुन आदि से रगड़ने की आवश्यकता होती है! किन्तु, अज्ञानवश बहुत बार इच्छा न रहते हुए भी हमारे मुख से झूठ बात निकल जाती है। श्रुति में स्पष्ट लिखा है कि कौन मनुष्य सदा सत्य बोलने का दावा कर सकता है। मनुष्य का ज्ञान ही परिमित है। वह कई जगह असली बात को न समझकर उल्टा समझ जाता है, तब उस असत्य को वह कैसे बचा सकता है? बस, ऐसी अनिच्छापूर्वक अज्ञात दशा में होनेवाले असत्य आदि दुष्कर्मों से जो अल्प मल आता है, वह आचमनादि द्वारा दूर कर दिया जाता है। साथ ही आचमन गंगा, विष्णु आदि के स्मरणपूर्वक मन्त्र से किया जाता है, इसलिए मन वाणी और वस्तु तीनों की शक्ति मिलकर हमारे अभीप्सित को सिद्ध करती है। केवल जल पी लेने से यह काम नहीं हो सकता। आधुनिक पाश्चात्य विज्ञान केवल वस्तु-शक्ति का दिग्दर्शन करा सकता है। जल पीने से मन की उथल-पुथल दूर होकर शान्ति प्राप्त होना अनुभवसिद्ध है, और सबसे मल के प्रधान उत्पादक क्रोध की शान्ति तो जल से तुरत होती है।

वाक् और मन की शक्ति में अभी उसका प्रवेश नहीं। इसलिए, हमारे धार्मिक नियमों का आंशिक समर्थन ही विज्ञान के द्वारा हो सका है। संस्कार आदि की प्रत्येक क्रिया हमारे यहाँ वाक्शक्ति, मनःशक्ति और वस्तुशक्ति, तीनों पर अवलम्बित है, इसलिए आधुनिक विज्ञान

धार्मिक नियमों का पूरा पता देने में अभी अपर्याप्त है। किन्तु, वस्तुशक्ति का जितना पता वह दे सकता है, उससे उतने अंश में हमारे धार्मिक नियमों का समर्थन हो जाता है। हमारा विज्ञान तो तीनों शक्तियों को मिलाकर ही चलता है। मन, प्राण और वाक् तीनों मिलकर ही आत्मा के सहचर हैं। इसलिए, तीनों की ही प्रवणता धार्मिक कार्यों में आवश्यक है। इसी गम्भीर विज्ञान के आधार पर धार्मिक नियमों का पूरा समर्थन होता है और इस विज्ञान का अभाव होने के कारण ही आजकल प्रत्येक बात में मनुष्यों को शंका होती है। शंका-निराकरण का एक ही उपाय है कि भारतीय विज्ञान का मनन हो, इसका प्रसार हो, इसकी परिभाषाएँ समझी जायँ, तब फिर शंका का कोई स्थान नहीं रह जायगा। हमारे दर्शन-शास्त्रों का विज्ञान इसी प्रकार का है, जिसमें मन, वाक् और वस्तु, तीनों की शक्तियों का सम्मिश्रण है। उस विज्ञान से धर्म का अटूट सम्बन्ध है, और उस सम्बन्ध को जानकर ही सब शंकाएँ दूर हो सकती हैं।

व्रत, उपवास आदि

इस आचमन के विधान के अनन्तर ही शतपथब्राह्मण में व्रतोवास का प्रसंग उठाया गया है। इसकी उपपत्ति वहाँ यों की गई है कि यज्ञ-रूप दर्शपौर्णमासेष्टि प्रतिपदा को होती है। किन्तु, उसके लिए तैयारी अमावास्या वा पूर्णिमा को ही आरम्भ कर दी जाती है। इसपर श्रुति ने विचार किया है कि देवता मनुष्य के मन की बात जानते हैं। जब उसने मन में इष्टि करने का संकल्प किया, तब उसका भाव जानकर देवता उसके अन्तःकरण में आ विराजते हैं। गृहस्थ का कर्त्तव्य है कि यदि कोई अतिथि अपने यहाँ आया हो, तो उसे विना भोजन कराये स्वयं भोजन न करे। देवताओं को उस दिन—अमावास्या वा पूर्णिमा को भोजन कराना, अर्थात् उनके लिए आहुति देना विधिसिद्ध नहीं। क्योंकि, होम का विधान वेद में प्रतिपदा को है। तब क्या किया जाय ? विना अथितियों को भोजन कराये कैसे भोजन किया जाय। इसका उपाय यही है कि स्वयं यजमान भी अमावास्या और पूर्णिमा को भोजन न करे, और यदि भोजन न करने से कोई त्रुटि की सम्भावना हो, तो ऐसी वस्तु खाय, जिसे देवता न खाते हों। इससे अतिथि-रूप देवताओं की अवज्ञा न होगी। अतिथि जिस वस्तु को न खाता हो, उस वस्तु को यदि हम उसके सामने खा लें, तो इससे उसकी अवज्ञा नहीं हो सकती। क्योंकि, वह स्वयं खाना चाहता ही नहीं है, तब अवज्ञा कैसी ? देवताओ को सोमप्रधान चावल आदि अन्न और घृत, दुग्ध आदि प्रिय हैं, इसलिए उन वस्तुओं को छोड़कर अरण्य में पैदा हुए श्यामाक (सामा), निवाड़, शृंगाटक (सिंघाड़ा) वा फल आदि खा लेना चाहिए। क्योंकि, फल आग्नेय होने के कारण देवताओं को प्रिय नहीं हैं।

इसी आधार पर भारतीयों में आज भी व्रत, उपवास आदि की व्यवस्था चलती है। वहाँ भी लक्ष्य यही रहता है कि जन्माष्टमी, शिवरात्रि आदि को जब हमें शिव, विष्णु आदि की पूजा रात्रि में करनी होती है, तब दिन में ही उसकी तैयारी करनी पड़ती है, और मन में संकल्प का उदय होते ही भगवान् मन में आ विराजते हैं, तब उनकी पूजा से पहले अपने-आप भोजन नहीं किया जा सकता। उपवास शब्द का अर्थ भी यही है कि हमारे 'उप',

अर्थात् समीप में ईश्वर वा देवताओं का वास हो गया है, इसलिए हमारा भोजन करना उचित नहीं। यदि पूर्ण उपवास की शक्ति न हो, तो फलाहार की जो सामग्री बताई गई है, उसका उपयोग कर लेना चाहिए। इस प्रकार, यह व्रतोपवास आज भारतीय संस्कृति के जो प्रधान अंग बने हुए हैं, उसका कारण इनकी वेदमूलकता ही है।

अन्य प्रकार के भी व्रत, उपवास आदि धर्मशास्त्रों में बताये गये हैं कि किसी प्रकार का पाप यदि अज्ञान वा प्रमाद से हो जाय, तो उसे दूर करने के लिए प्रायश्चित्त-रूप से व्रत वा उपवास करना चाहिए। (एक बार भोजन वा फलहार आदि के नियम को व्रत कहते हैं और आहारमात्र को सर्वथा छोड़ देने को उपवास कहा जाता है।) हमारे उदर की वैश्वानर अग्नि अपने लिए अन्न चाहती है, यदि उसे अन्न न मिलेगा, तो वह सोमप्रधान मन पर अपनी शक्ति लगायेगी और इस प्रकार मन में स्थित पाप आदि उसके आक्रमण से जल जायेंगे। तीसरा एक यह भी कारण होता है कि चंचलता के कारण मन पूजा आदि के कार्य में स्थिर नहीं होता। यदि भोजन के अभाव में उसमें कुछ दुर्बलता आ जायगी, तो उसे स्थिर करने में सहायता मिलेगी। मन की अन्नमयता भी वेद ने ही बताई है। इस प्रकार, व्रतोपवासादि भी वेदमूलक ही सिद्ध होते हैं। दस इन्द्रियाँ और मन इस एकादशी को वश करने का स्मरण कराने के लिए एकादशी व्रत का भी भारतीय संस्कृति में बहुत बड़ा महत्त्व है। अन्न न लेने से मन और इन्द्रियों में दुर्बलता आती है और उन्हें वश करना आसान होता है, यह कहा जा चुका है। इनकी पुष्टि के लिए ही अन्न ग्रहण न करना, अपितु यज्ञार्थ-अन्न प्रसाद-रूप से लेना यह बोधन करने को उस दिन अन्न-ग्रहण का निषेध भी विशेष रूप से किया गया है। तीर्थादि की वेदमूलकता गंगा के प्रकरण में दिखाई जा चुकी है। पवित्र जल वा पवित्र भू-भाग ही तीर्थ माने जाते हैं। आज भारतीय संस्कृति में इन व्रत, तीर्थादि की ही प्रचुरता देखी जाती है, और ये भी वेदमूलक हैं। इसलिए, सिद्ध हो जाता है कि भारतीय संस्कृति का मूल वेद ही है।

पर्व और उत्सव

इसी प्रकार, भारतीय संस्कृति के पर्वोत्सवादि भी विज्ञानमूलक हैं। प्रति अमावास्या और पूर्णिमा को पर्व माना जाता है। सूर्य और चन्द्रमा के सम्बन्ध की स्थिति इन दोनों दिनों में बदलती है। दो के मध्य में जो विभाजक भाग होता है, उसे ही पर्व कहते हैं। इन दिनों वेद में यज्ञ का भी विधान किया गया था, जिसे दर्शपौर्णमासेष्टि कहा करते हैं। आज भी इन दिनों में पूजा, दान, स्नान आदि का विशेष महत्त्व माना जाता है। भारत में वर्णानुक्रम से चार पर्व प्रधान माने जाते हैं—उपाकर्म (रक्षाबन्धन), विजयादशमी, दीपावली और होलिका।

उपाकर्म

उपाकर्म तो शुद्ध वैदिक ही है, जैसे वर्त्तमान में ग्रीष्मावकाश के अनन्तर विद्यालयों में अध्ययन-सत्र का आरम्भ होता है, उसी प्रकार पुराकाल में श्रावण-शुक्ल-पूर्णिमा वेदाध्ययन-सत्र की आरम्भ-तिथि नियत थी। उस दिन से प्रारम्भ कर साढ़े पाँच महीनों तक नित्य

वेदाध्ययन होता था और पौष की अष्टमी के अनन्तर शुक्लपक्ष में वेद और कृष्णपक्ष में वेदांग पढ़े जाते थे। इस आरम्भ के दिन चित्त और शरीर की शुद्धि के लिए विभिन्न प्रकार की अपामार्ग, दूर्वा (दूब) आदि ओषधियों से स्नान का विधान है। गोमय, भस्म आदि शुद्ध पदार्थों का भी उपयोग किया जाता है। इनसे शरीर और अन्तःकरण की शुद्धि कर वेदाध्ययन और अध्यापन में शिष्य और गुरु प्रवृत्त होते हैं। जब ओषधियाँ उत्पन्न हो जायँ और वर्षा से ग्रीष्म का आतप शान्त हो जाय, तभी इसका विधान है। रक्षाबन्धन भी इस दिन बड़े महत्त्व की वस्तु है। इससे गुरु, शिष्य, भ्राता, भगिनी आदि का सम्बन्ध दृढ किया जाता है।

नवरात्र और विजयादशमी

दूसरा उत्सव आश्विन शुक्ल की विजयादशमी है। कई एक विवेचक विद्वानों का कथन है कि यह संसार एक रणक्षेत्र है, प्रत्येक जीव को संसार में दूसरे जीवों से संघर्ष करना पड़ता है, इसलिए इसे रणक्षेत्र (मैदाने जंग) कहना युक्ति-युक्त होता है। जीव संसार में क्या आता है, मानों एक रणक्षेत्र में उतरता है। इस रणक्षेत्र में यद्यपि प्रत्येक जीव विजय चाहता है, हर एक की यह इच्छा रहती है कि मैं ही उन्नति की दौड़ में सबसे आगे रहूँ, किसी से एक अंगुल पीछे रहना कोई नहीं चाहता, सभी उत्सुक हैं कि विजय-श्री हमें ही वरमाला पहनाये, किन्तु इच्छा-मात्र रखने से विजय-श्री किसी को नहीं मिलती। विजय मिलना शक्ति पर अवलम्बित है, जिसमें जितनी शक्ति होगी, उतने ही दरजे तक वह संसार-क्षेत्र में विजयी होगा। इस सिद्धान्त को सिद्ध करने के लिए किसी युक्ति-प्रमाण की आवश्यकता नहीं, यह संसार में प्रति क्षण प्रत्यक्ष देखा जाता है। विशाल वृक्ष छोटे-छोटे पौधों की खुराक छीनकर अपना विस्तार फैलाते हैं, बड़े जल-जन्तु छोटों को निगलकर अपना स्वरूप बढ़ाते हैं, सबल पशु निर्बलों को अपने सामने खाने तक नहीं देता, शक्तिशाली उल्लू अपने से अल्पशक्ति कौओं के घोंसले तोड़-मरोड़कर फेंक देता है। कहाँतक कहें, जहाँ शक्ति है, वहाँ विजय है, यह दृश्य चारों ओर प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है। इसीलिए, हमारे शास्त्रों ने पहले नवरात्र में शक्ति की उपासना करने के अनन्तर दशमी को विजय का उत्सव मनाने की शिक्षा दी है, शक्त्युपासना और विजय का घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया है।

हमारे शास्त्र इस जगत् को दो प्रकार के भाव से देखते हैं—व्यष्टि-रूप से और समष्टि-रूप से। व्यष्टि, अर्थात् अलग-अलग और समष्टि, अर्थात् समूह, समुदाय। प्रत्येक जीव या जड अपनी पृथक्-पृथक् रहने की दशा में एक-एक व्यष्टि है, किन्तु जहाँ यह पृथक्त्व मिटकर एकरूपता भासित होती है, वह समष्टि है। व्यष्टि जीव उपासक है, और समष्टि जगन्नियन्ता परमात्मा उपास्य। कहीं व्यष्टि से समष्टि बनती है और कहीं समष्टि से व्यष्टि की रचना आरम्भ होती है। एक-एक वृक्ष मिलकर वन बन गया। यह व्यष्टि से समष्टि की उत्पत्ति कही जाती है। किन्तु, एक अग्नि की ज्वाला से विस्फुलिङ्ग (छोटे-छोटे अग्नि-कण) अलग-अलग निकल पड़े, वा एक मेघ से जल बरसकर पृथक्-पृथक् जल के स्रोत बन गये, या एक अनन्त आकाश से पृथक्-पृथक् मठाकाश, गृहाकाश, घटाकाश बन गये, यह सब समष्टि से व्यष्टि का विकास है। ईश्वर से जगत् की उत्पत्ति इस दूसरे प्रकार में आती है।

इसलिए यहाँ यों समझना होगा कि जगन्नियन्ता जगदीश्वर एक शक्तिघन है। वह अनन्त शक्तियों का भाण्डार है। उसी सर्वशक्तिमान् से अल्प मात्रा में व्यष्टि जीवों को शक्ति मिली है। अब भी जीव यदि अपनी शक्ति-मात्रा को बढ़ाना चाहे, अल्पशक्ति से महाशक्ति बनना चाहे, तो उसका एकमात्र उपाय परमात्मा की उपासना ही है। स्वत: कोई जीव शक्ति प्राप्त नहीं कर सकता, किन्तु शक्तिघन की उपासना से वह अनन्तशक्ति बन सकता है। यही आर्यों का दृढ सिद्धान्त है। यह विषय पहले कहा जा चुका है।

उपासना शब्द का अर्थ है—उप = समीप में आसना = स्थिति, अर्थात् अपने मन को किसी एकरूप में स्थिर करना या स्थिर करने का अभ्यास करना। मन की यह शक्ति है कि जिसमें मन लगाया जाता है, उसके गुण-धर्मों को वह अपने में लेता रहता है। स्थिर हो जाने पर तो फिर यह न केवल स्वयं तदाकार हो जाता है, वरन् अपने अनुयायी शरीर, इन्द्रिय आदि को भी तदाकार बना देता है। इसके लिए शास्त्रों में एक 'कीटभ्रमरन्याय' बताया जाता है। 'तिलचट्टा' नाम के एक विशेष प्रकार के कीड़ों को पकड़कर भौंरा अपने घर में ले जाता है, फिर उनके हाथ-पैर तोड़कर उसपर चारों ओर 'भों'-'भों' करता मँडराता रहता है। भयवश उस कीड़े की चित्तवृत्ति एकदम भ्रमराकार हो जाती है, और कुछ समय में वह भौंरा ही बन जाता है। ऐसी प्रसिद्धि है। अस्तु; तात्पर्य यह है कि जिसपर मन स्थिर हो, उसके धर्म को ग्रहण करना मन का स्वभाव है।' अतएव, अनन्त शक्तियों का आविर्भाव हो जाना असम्भव बात नहीं। इसी मनोविज्ञान के आधार पर भारतवर्ष के प्राचीन ऋषि, अनन्त शक्तियाँ प्राप्त करते थे। योगदर्शन में इन्हीं शक्तियों का 'विभूति' रूप से विस्तृत वर्णन मिलता है। स्मरण रहे कि 'ध्यानयोग' और 'उपासना' एक ही वस्तु है। आरम्भ में कुछ प्रकार, भेद भले ही हो, उद्देश्य दोनों का एक है। यह प्राचीन भारत की खास विद्या थी, अबतक दूसरे देशों ने इसका आभास-मात्र ही प्राप्त किया है। दूसरे देशों में अभी तक योग-विद्या का जो कुछ अंश गया है, वह खेल-तमाशों के उपयोग में आता है, किन्तु भारतीय इसे दृढ विज्ञान का रूप देकर इससे सब प्रकार की सफलता प्राप्त कर चुके थे।

शक्ति और शक्तिमान् इन दोनों में भेद नहीं होता। विना शक्तिमान् के निराधार शक्ति नहीं रह सकती, और विना शक्ति के शक्तिमान् का कोई रूप नहीं समझा जा सकता है? जिस किसी पदार्थ के सम्बन्ध में जो कुछ हम जानते हैं, वह उसकी शक्ति ही को तो जानते हैं। अमुक पदार्थ काला है, पीला है, ठोस है, तीखा है; अमुक मनुष्य बुद्धिमान् है, वीर है, साहसी है, यह सब शक्तियों का ही विकास है। सब शक्तियों को एक तरफ निकाल-कर शुद्ध पदार्थ का कोई रूप समझ में ही कभी नहीं आ सकता। ईश्वर को भी जब कभी हम समझने की कोशिश करते हैं, तब उसकी भी शक्तियों द्वारा ही करते हैं। ईश्वर जगत् का बनानेवाला है, वह जगत् का पालनकर्त्ता है, भक्तों का रक्षक है, दुष्टों का संहारक है इत्यादि रूप से ईश्वर को समझा जाता है। जगत् की रचना, पालन, रक्षा, संहार यह सब शक्तियों का ही विकास है। इसलिए, शक्ति को छोड़कर ईश्वर का रूप भी अविज्ञेय (जानने के अयोग्य) हो जाता है। वह किसी प्रकार मन में नहीं आ सकता। विना मन में आये उपासना हो नहीं

सकती। इसलिए ईश्वरोपासना शक्त्युपासना से संवलित है, इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता। इसलिए, जितने भी ईश्वरोपासक हैं, वे सर्वशक्तिमान् कहकर ही ईश्वर की उपासना करते हैं। केवल नाम में शक्ति का समन्वय रखते हैं, ऐसा ही नहीं, किन्तु रूप में भी नारायण के साथ लक्ष्मी, कृष्ण के साथ राधा, राम के साथ सीता, शिव के साथ पार्वती और गणेश के साथ ऋद्धि-सिद्धि रखकर शक्ति और शक्तिमान् के नित्य सम्बन्ध की स्पष्ट घोषणा करते हैं। अब यह उपासकों की रुचि का भेद है कि कोई शक्तिमान् को प्रधान रखकर शक्ति को उसके आश्रित मानकर उपासना करते हैं, और कोई शक्ति को ही प्रधान रूप से अपना उपास्य बना लेते हैं। लोक में भी कहावत प्रसिद्ध है कि 'राजा को क्या मानना है, राजा तो हम जैसा ही हाथ, पैर, नाक, कानवाला है, राजा की शक्ति का सम्मान है' इत्यादि। इसी प्रकार, ईश्वर के सम्बन्ध में भी बहुत-से उपासक यही निश्चय करते हैं कि जिस शक्ति के कारण परमात्मा है, वही शक्ति हमारी उपास्या है। वही शक्ति जगत् में व्यापक है, वही ईश्वर है।

यच्च किञ्चित् क्वचिद्वस्तु सदसद्वाखिलात्मिके।
तस्य सर्वस्य या शक्तिः सा त्वं किं स्तूयसे तदा।।

(अतीत, वर्त्तमान, अनागत, जो कुछ वस्तु संसार में है, उसमें सबकी जो शक्ति है, वही तू है. तू सबका आत्मा है, तेरी स्तुति कौन कर सकता है।)

वस्तुतः, ईश्वर का कोई नियत लिंग नहीं। न वह पुरुष है, न स्त्री। साथ ही वह पुरुष भी है, स्त्री भी है। अतएव, पिता कहकर उसकी उपासना करो या माता कहकर। उपासक की रुचि का भेद है, ईश्वर में कोई भेद नहीं, अतः उपासक की रुचि और अधिकार के अनुसार ही भिन्न-भिन्न नाम-रूप सनातन धर्म में माने गये हैं। अस्तु; सब जगत् की, अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड की परिचालक शक्ति ईश्वर-रूप से हमारी उपास्य है। इसकी उपासना ही हम जीवधारियों के लिए विजय देनेवाली है, इसमें कोई सन्देह नहीं। यह शक्ति काल के रूप में नित्य हमारे अनुभव में आती है। ऋतु या मौसम के रूप से यह काल-रूप ईश्वर-शक्ति जगत् में सतत परिवर्त्तन करती रहती है। इसका अनुभव प्रत्येक प्राणी को स्पष्ट रूप में है। संवत्सर काल का प्रधान रूप है। स्थूल मान से संवत्सर में ३६० दिन-रात होते हैं। इनको यदि ९, ९ के खण्डों में विभक्त किया जाय, तो सम्पूर्ण वर्ष में ४० नवरात्र होते हैं। नौ-नौ के खण्ड बनाने का अभिप्राय है कि अखण्ड संख्याओं में नौ सबसे बड़ी संख्या है, और प्रकृति वा शक्ति का इस संख्या से खास सम्बन्ध है। प्रकृति के सत्त्व, रज और तम नाम के तीन गुण हैं और ये तीनों परस्पर मिले हुए त्रिवृत होते हैं, अर्थात् जैसे तीन लड़ों की एक रस्सी बनाई जाय, उसी तरह तीन-तीन से एक-एक विशिष्ट गुण बना हुआ है। यों समझिए कि जैसे यज्ञोपवीत में तीन तार हैं, और फिर एक-एक में तीन-तीन, यों मिलाकर नौ तार होते हैं, यही प्रकृति का रूप है। प्रकृति के तीन गुण और फिर तीनों में एक-एक में तीनों सम्मिलित। अस्तु; उक्त चालीस नवरात्रों में से चार नवरात्र प्रधान हैं। उनका प्रत्येक तीन-तीन मास में चैत्र, आषाढ़, आश्विन और पौष की शुक्ल प्रतिपदा से आरम्भ होता है। इन चारों महीने से भिन्न-भिन्न

ऋतु या मौसम का आरम्भ होता है। इनमें भी दो—चैत्र और आश्विन के नवरात्र विशेष रूप से प्रधान हैं। ये दोनों ही ग्रीष्म और शीत, दो प्रधान ऋतुओं के आरम्भ की सूचना देनेवाले हैं। इस अवसर पर प्रधान शक्ति सम्पूर्ण जगत् का परिवर्त्तन करती है, इस समय उस महाशक्ति का रूप प्रत्यक्ष होता है। इसीलिए, विज्ञान की भित्ति पर प्रतिष्ठित सनातन धर्म में ये शक्त्युपासना के प्रधान अवसर माने गये हैं।

दूसरी बात यह भी है कि कृषि-प्रधान भारतवर्ष में चैत्र और आश्विन में ही महालक्ष्मी का स्वरूप प्रत्यक्ष दिखाई देता है। वर्षा की फसल आश्विन में और शीत की चैत्र में पककर तैयार हो जाती है। मानों, भारत की धन-धान्य-समृद्धि अपने पूर्ण रूप में प्रस्तुत हो जाती है। जिन दिनों भारत का समय सुख-समृद्धिमय था, आज की तरह अकाल और मँहगी की भीषणता नहीं थी, उन दिनों आश्विन और चैत्र में घर-घर महालक्ष्मी के स्वागत की उत्सुकता दिखाई देती थी। इस अवसर पर कृतज्ञ भारत जगच्छक्ति-रूप महालक्ष्मी की उपासना आवश्यक समझता है। अपना अहंकार भुलाकर, जिस परमात्मा की परम शक्ति की कृपा से यह सुख-समृद्धि प्राप्त हुई है, उसके चरणों में नत होना अपना कर्त्तव्य मानता है। इसीलिए, दोनों नवरात्र उपासना के प्रधान समय माने गये हैं। आश्विन का महीना जैसे धान्य-समृद्धि के लिए प्रसिद्ध है, वैसे रोगों के आक्रमण के लिए भी चिरकाल से प्रसिद्ध है। आयुर्वेद इसे 'यमदंष्ट्रा' कहता है। इस समय प्राकृतिक आपत्ति से बचने के लिए भी महाशक्ति की उपासना ही एक परम अवलम्ब है।

जिन दिनों भारत के वीर क्षत्रिय संसार-भर में विजय का डंका बजाते थे, उन दिनों इस आश्विन मास का और भी अधिक महत्त्व था। चातुर्मास्य में विजय-यात्रा स्थगित रहती थी, वे घर पर विश्राम करते थे। आश्विन मास आते ही, 'वर्षा विगत शरद ऋतु आई' होते ही शक्ति की उपासना करके वे फिर विजय-यात्रा का आरम्भ कर देते थे, इसलिए आश्विन मास का नवरात्र शक्ति की उपासना के लिए सबसे प्रधान है और इसके पूर्ण होते ही विजय यात्रा का दिन ('विजयादशमी') आता है।

शक्ति के भी सौम्य, क्रूर आदि नाना रूप हैं और अपने-अपने अधिकारानुसार सिद्धि भी विभिन्न प्रकार की प्रत्येक मनुष्य चाहता है। अपनी-अपनी इच्छा और अधिकार के अनुसार ही रूपों की उपासना होती है। सत्त्व, रज और तम के श्वेत, रक्त और कृष्ण (काला) रूप शास्त्रों में माने गये हैं। स्वच्छता, संघर्ष और आवरण का बोधन कराने के लिए ही इन रूपों की कल्पना है। उन्हीं गुणों के रूप में यहाँ भी महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती की उपासना होती है। गुणों के अनुकूल ही उनके हाथों में आयुध या अन्य चिह्न भी रखे जाते हैं। इनकी उपासना से अपने-अपने कार्य में सबको विजय प्राप्त होती है, यही विजयादशमी का लक्ष्य है।

दीपावली

दीपावली उन विशेष पर्व-उत्सवों में एक है (सर्वश्रेष्ठ कहने पर ही अत्युक्ति न होगी), जो भारतवासियों में मुख्य और प्राणशक्ति के संचारक कहे जाते हैं। वर्ण-क्रमानुसार

वैश्यों का यह प्रधान उत्सव है। वैश्यवर्ग के साथ मिलकर सब वर्ण-जाति के लोग इस दिन भगवती कमला की उपासना के आनन्द में मग्न हो जाते हैं। मनुष्यों की मुखकान्ति पर उनके वस्त्र, आभूषणादि पर और उनके निवास-भवनों में जिधर देखो, उधर लक्ष्मी माता अपना प्रभाव प्रकट करती हैं। सब दुःख-द्वन्द्व भुलाकर सब प्रकार की चिन्ता-बाधाओं को दूर कर इस दिन भारतवासी लक्ष्मी माता के स्वागत के लिए एकप्राण होकर रहते हैं।

तेज ही संसार में सार है, तेज ही श्री का मुख्य रूप है। तेजोहीन होने पर मनुष्य हतश्री कहा जाता है। ईश्वर ने तीन तेज हमें अपने निर्वाह के लिए दिये हैं—सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि। इनकी ही सहायता से हमारे सब कार्यों का निर्वाह होता है। सूर्य इन सबमें मुख्य तेज है, किन्तु गतिक्रम के अनुसार समीप और दूर होने से इस तेज की प्राप्ति में न्यूनाधिकता होती है। ज्योतिःशास्त्र में मेषराशिस्थित सूर्य उच्च भाव का और तुलाराशिस्थित नीच भाव का माना गया है। कार्तिक मास में सूर्य तुलाराशिस्थ होने के कारण नीच भाव का है, अर्थात् उस तेज का इस समय हम पर अत्यल्प और विकृत प्रभाव पड़ता है। अमावस्या के दिन चन्द्र-तेज का सर्वथा अभाव ही हो जाता है। इसलिए, इस समय सर्वथा तृतीय तेज अग्नि ही हमारी एकमात्र शरण है। इसी वैज्ञानिक तत्त्व के आधार पर आज भगवती लक्ष्मी माता की उपासना में अग्नि की प्रधानता रखी गई है। यथाशक्ति खूब दीपावली प्रकाशित करना विविध प्रकार के बारूद के खेलों से अग्निक्रीडा करना इस दिन शिष्ट-सम्प्रदाय में मुख्यतया प्रचलित है। ईश्वर की दया से संसार में विज्ञान का प्रचार बढ़ रहा है, अविद्या की रात्रि में विज्ञान की दीपावली फिर से चमक उठी है। प्रत्येक बात के मूल कारण की खोज होने लगी है। हानि-लाभ की सब बातें विचारी जा रही हैं। आज वैज्ञानिकों की कृपा से संसार को भी यह बात विदित हो गई है कि चातुर्मास्य में (वर्षा ऋतु में) विविध प्रकार के कीटाणु (सूक्ष्म रोगजन्तु) उत्पन्न हो जाते हैं, जल की बहुलता और सूर्य-तेज का भूमि पर अति अल्प प्राप्त होना ही इनका मुख्य कारण है। इन्हीं के कारण शरद् ऋतु में विविध प्रकार के रोग अपना प्रभाव जमाते हैं और मनुष्य-समाज अत्यन्त पीडा सहने के साथ-साथ संहार को भी बहुत अधिक प्राप्त होता है। जिन मकानों में अच्छी तरह धूप नहीं पहुँचती, वहाँ तो शीतकाल में भी उन जन्तुओं का प्रभाव रह जाता है, और उनसे हानि होना सम्भव है। ऐसे स्थानों को खूब स्वच्छ करना और अग्नि से उनमें गरमी पहुँचाना ही इस आपत्ति से बचने का उपाय हो सकता है। यही सब कार्य दीपावली के अवसर पर एक नियमबद्ध होकर साधारण ग्रामीण लोग तक भी करते हैं। अपने घरों को, घरों की सब सामग्री को और वस्त्रादि को इस समय यथाशक्ति सब स्वच्छ करते हैं, और घरों में खूब दीपावली प्रज्वलित कर और अन्यान्य प्रकार से अग्नि से गरमी पहुँचाकर वहाँ से दरिद्रा अलक्ष्मी को नष्ट करते हुए लक्ष्मी माता का आवाहन करते हैं। साथ ही नवीन धान्य, जो लक्ष्मी माता की कृपा से प्राप्त हुए हैं, को समर्पित कर अपने उपयोग में लाना आरम्भ किया जाता है। कृषिप्रधान भारत में धान्य-लक्ष्मी आज घर-घर विराजित होती हैं। ऐसे समय अपने अहंभाव का त्यागकर परमपिता जगदीश्वर की अपार सत्ता का

स्मरण करना, "भगवन् ! तेरी ही कृपा से हम इस सब समृद्धि के अधिकारी हैं, हम तुच्छ जीवों में क्या शक्ति है, काठ की पुतली की तरह आपकी शक्ति से ही हम परिचालित हैं, आपकी दी हुई यह सब वस्तु आपको ही समर्पित है। निरन्तर हमारा इसी प्रकार परिपालन कीजिए," इस परम शुद्ध भाव से उसके सम्मुख होना हमारे पूर्वजों ने पद-पद में सिखाया है। हमारे पर्व-उत्सवों में इस प्रकार के अनेकानेक दृष्ट और अदृष्ट गूढ प्रयोजन भरे पड़े हैं।

होलिका

होली हिन्दुओं का प्रसिद्ध त्यौहार है। संस्कृत में इसका नाम 'होलिका' या 'होलाका कई जगह आया है। यह शूद्रों का मुख्य त्यौहार माना जाता है। किन्तु, प्रत्येक त्यौहार में एक-एक वर्ण की प्रधानता रहते पर भी अन्य सभी वर्ण अपने भाई उस वर्ण के साथ मिलकर सब व्यवहारों को मानते हैं। इसलिए, होली भी हिन्दू-मात्र का जातीय त्यौहार है।

यह प्रसिद्धि विना आधार की नहीं है, इसमें बहुत-कुछ सत्यता है। किन्तु, इतना कहना ही पड़ेगा कि हमारे कई एक शास्त्रीय और सदाचारसिद्ध अनुष्ठानों का होली के साथ सम्बन्ध है। होली कई एक पर्व, उत्सव और श्रौत-स्मार्त्त कर्मों का समूह है। जिसमें कालक्रम से रूपान्तर होते-होते भिन्न-भिन्न कर्मों के कुछ-कुछ चिह्न-मात्र बाकी रह गये हैं। वे सभी कर्म केवल शूद्रों से ही सम्बन्ध नहीं रखते, किन्तु अनेक का मुख्य सम्बन्ध द्विजातियों से ही है। यहाँ यह देखना है, कि होली की कर्त्तव्यता में किन-किन कर्मों के सम्बन्ध का आभास मिलता है।

यह कहा गया है कि वेद का मुख्य प्रतिपाद्य कर्म यज्ञ है। उस श्रौत यज्ञ के मुख्य तीन भेद हैं—इष्टि, सोम और चयन। इनमें इष्टि अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास और चातुर्मास्य आदि भेदों से अनेक प्रकार की हैं। चातुर्मास्य उन यज्ञों का नाम है, जो चार-चार महीने के अन्तर से वर्ष में चार बार किये जाते हैं। वैसे तो ऋतु छह मानी गई हैं, किन्तु दो-दो ऋतुओं में समय प्रायः एक-सा रहता है। इसलिए, प्रधान ऋतु (मौसम) तीन ही हैं—गर्मी, वर्षा और शीत। इनकी सन्धि में एक-एक चातुर्मास्य यज्ञ (इष्टि) का विधान श्रुति में है। फाल्गुन शुक्ल-पूर्णिमा के दूसरे दिन गरमी के आरम्भ का चातुर्मास्य याग होता है। यहीं से वर्ष का आरम्भ है। इसलिए, यह प्रथम चातुर्मास्य याग है, जिसका नाम वैश्वदेव है। आषाढी पूर्णिमा के दूसरे दिन 'वरुण-प्रघास' नाम का दूसरा चातुर्मास्य होता है। कात्तिकी पूर्णिमा के दूसरे दिन 'शाकमेध' नाम का तीसरा और फाल्गुन के मध्य में समाप्तिका 'सुनासीरीय' नाम का चौथा चातुर्मास्य और करते हैं। इस प्रकार, यह फाल्गुनी पूर्णिमा चातुर्मास्य यज्ञ के आरम्भ का प्रधान समय है। कहना नहीं होगा कि इस यज्ञ का सम्बन्ध द्विजातियों से ही है।

नवीन अन्न पैदा होने पर जबतक वह यज्ञ द्वारा देवताओं को अर्पित न किया जाय, तबतक अपने काम में नहीं लिया जा सकता। यह आर्य जाति का प्राचीन धर्म-विश्वास है। हिन्दुओं का पवित्र भाव है कि कृषि से जो अन्न हमें प्राप्त होता है, वह देवताओं का दिया

हुआ है। उनके दिये हुए अन्न की भेंट पहले उन्हें ही देना आवश्यक है। भगवद्गीता में आज्ञा है कि :

तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः।

अर्थात्, 'देवताओं के दिये हुए को विना उनकी भेंट किये जो स्वयं खा लेता है, वह चोर है।' इसलिए, जब-जब नया अन्न पैदा हो, तब-तब एक इष्टि (यज्ञ) होती है, जिसका नाम श्रौत सूत्रों में 'आग्रायणेष्टि' है। यह वर्ष में तीन बार की जाती है—भदई, धान या श्यामाक आदि मुन्यन्न पैदा होने के समय भाद्रपद में; धान, मक्का, बाजरा आदि पैदा होने के समय कार्त्तिक या मार्गशीर्ष में और यव, गोधूम आदि पैदा होने के समय फाल्गुन या चैत्र में। इसका समय भी फाल्गुन की पूर्णिमा है। जिन द्विजों ने श्रौत अग्निहोत्र न लिया हो, वे निरग्नि कहलाते हैं। निरग्नि द्विजातियों के लिए भी गृह्यसूत्रों में इस नवीन अन्न पैदा होने के अवसर में एक स्मार्त्त इष्टि का विधान है, जिसे 'नवान्नेष्टि' या 'नवान्न-प्राशन' नाम से कहा गया है। किसी भी प्रकार हो, नवीन अन्न का पहले होम करना आवश्यक समझा गया है। यह कर्म भी हमारे होलिका के त्योहार में ही आजकल मिला हुआ है। और, इसका इतना ही चिह्न शेष रह गया है कि होली की ज्वाला में गेहूँ, जौ आदि की बालें सेंक ली जाती हैं। इस स्मार्त्त कर्म का सम्बन्ध भी प्रधानतः द्विजातियों से ही है।

पौराणिक आख्यान प्रसिद्ध है कि हिरण्यकशिपु दैत्य की बहन, जिसका नाम 'होलिका' था, अपने भाई की आज्ञा से प्रह्लाद को गोद में लेकर उसे जलाने के लिए अग्नि में बैठी थी। किन्तु, जगत् के एक-एक अणु में ईश्वर को देखनेवाला ईश्वरभक्त प्रह्लाद न जला और वह होलिका जल गई। इस पवित्र अलौकिक घटना की स्मृति में आज भी ईश्वर-विश्वासी आर्यावर्त्त-निवासी होलिका को जलाते हैं, और अग्नि-ज्वाला के बीच से प्रह्लाद के प्रतिनिधि एक वृक्ष को निकालकर जलाशय में ठण्डा करते हैं। उसी वृक्ष को प्रह्लाद का प्रतिनिधि मानकर पहले पूजन भी करते हैं। यह पौराणिक अनुष्ठान है और इसका भी सम्बन्ध सभी वर्णों से है।

भविष्यपुराण (उत्तरपर्व, अध्याय १३२) में एक दूसरे प्रकार का भी उपाख्यान है—माली नाम के राक्षस की पुत्री ढुण्डा या ढोढा नाम की एक राक्षसी थी। उसने बड़ी तपस्या करके शिव से वर प्राप्त किया, जिससे वह शस्त्र-अस्त्रों द्वारा अवध्य हो गई। वह उन्मत्त (असावधान) बालकों को सताने लगी, विशेषकर ऋतु की सन्धि में उसकी पीडा होती थी। उसका नाश किसी शस्त्र, अस्त्र, मन्त्र, औषधि आदि से न होता था। सत्ययुग में रघु के राज्य में जब प्रजा ने इससे बहुत त्रस्त होकर राजा के पास जाकर अपनी करुण कथा कही, तब राजा ने अपने गुरु वसिष्ठजी से उसका उपाय पूछा। उन्होंने यही उपाय बतलाया, कि फाल्गुन की पूर्णिमा के दिन जब शीत समाप्त होता है और गर्मी का प्रारम्भ होता है, सब मनुष्य, विशेषकर बालक बड़े उत्साह से काष्ठ के बने हुए खड्ग आदि शस्त्र लेकर योद्धाओं की तरह विचरें, सूखे काष्ठ और उपलों का बहुत बड़ा ढेर लगाया जाय, सायंकाल उसमें

अग्नि लगाकर राक्षस-विनाशक मन्त्रों से हवन किया जाय। उस अग्नि की सब लोग तीन प्रदक्षिणा करें और उस समय 'अड्डा', 'अड्डा' आदि ऊँची आवाज से शब्द करें, यथेच्छ भाषण करें। सायंकाल घर और आँगन में गोबर से चौका लगाना, छोटे बालकों को घर में रखना, काष्ठ की तलवार लिये हास्य-रस के गीत गाते हुए कुमारों से उनकी रक्षा कराना और कुमारों को गुड़, पक्वान्न, मिठाई आदि बाँटना चाहिए। इस रात्रि को बालकों की विशेष रक्षा करनी चाहिए। इससे इस राक्षसी की पीड़ा मिटेगी। निदान वैसा ही किया गया, उससे प्रजा में शान्ति हुई और तबसे सदा के लिए यह विधि चल पड़ी। 'अड्डा', 'अड्डा' शब्द के कारण उस राक्षसी का नाम 'अड़ाड़ा' है, शीत और उष्ण के बीच में होने के कारण 'शीतोष्ण' है और होम के कारण यह पर्व 'होलिका' नाम से प्रसिद्ध हुआ है इत्यादि।

यह सब काम आज भी होलिका के दिन होता है। काठ के खड्ग (खाँड़े), गोबर की ढाल आदि वस्तुएँ बनाई जाती हैं। अग्नि-प्रज्वालन, अग्नि-प्रदक्षिणा, यथेच्छ भाषण आदि सभी कुछ होते हैं। डफ आदि वाद्यों पर उच्चैःस्वर से हास्यप्रधान गान भी खूब प्रसिद्ध हैं। आज यथेच्छ भाषण अशिक्षा और कुशिक्षा के योग से अश्लील भाषण के रूप में परिणत हो गया है। राक्षस-विनाशक मन्त्रों से हवन तो नहीं होता, किन्तु धूप देकर गण्डे, ताबीज आदि बालकों के बाँधने का प्रचार है।

वस्तुतः, इस पौराणिक विधान का सम्बन्ध विज्ञान से प्रतीत होता है। शीतकाल का संचित कफ वसन्त की गरमी पाकर पिघलता है, उसके सब कीटाणु शरीर में फैलकर नाना रोग पैदा करते हैं। यह ऋतु कफरोग के लिए आयुर्वेद में या लोक में सुप्रसिद्ध है। विशेषकर बालकों को भिन्न-भिन्न प्रकार के रोग इस मौसम में होते हैं। घरों में शीतकाल में पूर्ण गरमी न पहुँचने के कारण कई प्रकार के कीटाणु अपना स्थान बना लेते हैं, जो कि कई प्रकार की हानि करते हैं। शरीर में उत्साह लाना, कूदना, अग्नि जलाकर उसके पास रहना, ऊँची आवाज से गाना आदि सभी काम कफ के निवर्त्तक हैं। मिष्टान्न में गुड़ की प्रधानता भी कफ की निवृत्ति के लिए ही बताई गई है। घरों को स्वच्छ करना, गोबर से लीपना, अग्नि प्रज्वलित करना, ये सब विधियाँ भी कीटाणु-विनाशक हैं। इन वैज्ञानिक अनुष्ठानों से कफरोगों की निवृत्ति में किसी को सन्देह नहीं हो सकता। हास्यरस-प्रधान गान और यथेच्छ भाषण इसी आधार पर रखा गया है। स्वभावतः ऐसे विषयों को उच्च स्वर से बोलता है। उत्साहजनित उच्च स्वर कफ हल्का कर फेफड़ों को साफ करेगा।

इस वैज्ञानिक अनुष्ठान का सम्बन्ध भी सभी वर्णों से है, और पुराणों में भी सबके लिए ही विधान है। चारों वर्णों के उपयुक्त क्रियाएँ भी इसमें स्पष्ट मिलती हैं। रक्षोघ्न मन्त्रों से हवन ब्रह्मणवर्णोचित कार्य है। शस्त्र-अस्त्र लेकर घूमना क्षत्रियजनोचित, मिठाई आदि का आयोजन वैश्यजनोचित और यथेच्छ भाषण आदि शूद्रजनोचित कार्यों का इसमें समावेश है। इन वैज्ञानिक क्रियाओं की ही इस त्योहार में प्रधानता है।

चैत्र से नये संवत्सर का प्रवेश भारत में सुप्रसिद्ध है। यद्यपि आजकल चैत्र शुक्ल-प्रतिपदा से नये वर्ष का आरम्भ माना जाता है, तथापि अनुभव यह है कि किसी देश-काल में

चैत्र कृष्ण-प्रतिपदा भी संवत्सर-आरम्भ की तिथि मानी जाती होगी। अमान्त और पूर्णिमान्त दोनों प्रकार के मास शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं, तब पूर्णिमान्त मास के अनुसार चैत्र-कृष्ण-प्रतिपदा भी संवत्सरारम्भ की तिथि होनी चाहिए। दूसरे ग्रन्थकार वसन्त ऋतु का आरम्भ चैत्र वदी प्रतिपदा से ही मानते हैं, और वसन्त ऋतु वर्ष का आरम्भ है। चैत्र वदी प्रतिपदा को वर्षारम्भ इससे भी सिद्ध हो जाता है। ब्राह्मणग्रन्थों में फाल्गुनी पूर्णिमा को संवत्सर का मुख कहा है, इससे भी चैत्र कृष्ण-प्रतिपदा का वर्षारम्भ-तिथि होना निर्विवाद है। अस्तु; फाल्गुन की पूर्णिमा को पहला वर्ष समाप्त हो गया, अर्थात् वह वर्ष मर गया। इसलिए, उसे जला देना चाहिए। इस विचार से भी अग्नि-प्रज्वालन होली के दिन होता है। संवत् जलाने की प्रसिद्धि भी कई प्रान्तों में है। संवत् जलाने की प्रथा का अनुमान इससे भी दृढ़ होता है कि पंजाब में मकर-संक्रान्ति के पूर्व दिन, जिसे 'लोढ़ी' कहते हैं, होली की भाँति ही अग्नि जलाने की प्रथा है। वहाँ मकर-संक्रान्ति से वर्षारम्भ मनाने की प्रथा रही होगी, इसीसे पूर्व दिन पूर्व (पिछले) वर्ष को जलाने की प्रथा चल पड़ी। इसका शास्त्रीय आधार तो दृष्टिगत नहीं हुआ, किन्तु सदाचारसिद्ध यह प्रथा अवश्य विदित होती है।

वसन्त ऋतु स्वभावत: उन्मादक है। शीतकाल में प्रकृति सबको बल देती है। शक्ति संचित होने पर उसका प्रेम-रूप से प्रस्फुटित होना स्वाभाविक है। हमारे शास्त्रों में वसन्त को कामदेव का मित्र इसी आधार पर कहा गया है। संस्कृत-साहित्य के कविकुलगुरु कालिदास ने वसन्त का प्राकृतिक चित्र खींचते हुए खग, मृग, वृक्ष, लता आदि का भी इस ऋतु में प्रेमपाश से आबद्ध होना चित्रित किया है। इसी प्रेमोन्माद को पूर्ण चरितार्थ करने का हिन्दू-जाति में एक दिन नियत है—चैत्र कृष्ण-प्रतिपदा। वही वसन्तारम्भ का दिन है। उस दिन बड़े, छोटे, धनी, दरिद्र, ऊँच, नीच, जाति, पाँति सब भेदभाव भुलाकर आपस में मिलें। प्रेममय मधुर भाषण करें और प्रेम-चिह्न के रूप में एक-दूसरे पर रंग छोड़ें। प्रेमोन्माद के कारण ही हँसी-मजाक और यथेच्छ भाषण को भी उस दिन स्थान दिया गया है। आजकल के सभ्य देशों के जो लोग हमारी होली की हँसी उड़ाते हैं, उनके देशों में 'एप्रिल-फूल' के नाम से क्या होता है! इसपर उनकी दृष्टि नहीं जाती। हाँ, हिन्दू-जाति की यह विशेषता है कि इनके पर्व, उत्सव आदि का भी आधार विज्ञान (साइन्स) है और ये अपने प्रेम-दर्शन में धनिक-दरिद्रों का भेद नहीं रखते। अस्तु; इस विधि में शूद्रों की प्रधानता है। द्विजाति लोग धीरता के कारण उन्माद के उतने वशीभूत नहीं होते, जितने शूद्र। इसलिए शूद्रों की इसमें प्रधानता रखकर द्विजातियों का उनके साथ प्रेम-प्रदर्शन ही इस विधान में मुख्य है।

वसन्तोत्सव और कामदेव-पूजा की भी प्रतिपदा के दिन शास्त्र में विधि है। दक्षिण देश में यह उत्सव 'मदन-महोत्सव' के नाम से ही प्रसिद्ध है। स्वच्छ वस्त्र पहनकर स्वच्छ स्थान में सबका बैठना, चन्दन, रोली, गुलाल आदि लगाना और आम्र-मंजरी का आस्वादन करना इस विधान की मुख्यता है। यह चन्दन-गुलाल ही अशिक्षा के पुट से कीचड़ उछालने तक पहुँच गया। होलिका के भस्म का वन्दन करना भी शास्त्र में विहित है। इस विधि ने भी राख-धूल उछालने की प्रथा में सहायता पहुँचाई है।

देवी-पूजा, हिण्डोले का उत्सव (दोलोत्सव) आदि तन्त्रशास्त्रोक्त कई विधान भी प्रतिपदा के दिन मिलते हैं, जो कि भिन्न-भिन्न प्रदेशों में प्रचलित भी हैं। उनका विस्तार-भय से यहाँ विवेचन नहीं किया जाता।

होली का त्योहार बहुत पुराना है। मीमांसा के भाष्यकार शबरस्वामी आदि ने सदाचार का मुख्य उदाहरण इसे ही रखा है और पूर्व के (प्राच्य) देशों में इसका विशेष प्रचार बताया है। आनन्दमूर्त्ति भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा से व्रजमण्डल तो इस त्योहार का प्रधान केन्द्र बन गया है, अतएव व्रजवासियों का इससे प्रधान सम्बन्ध हो गया है। हिन्दू-जाति को अपने इस जातीय त्योहार की यथाशक्ति रक्षा करनी चाहिए, किन्तु अशिक्षा के कारण प्रवृत्त कुरीतियों को निकालकर इसे शास्त्रानुकूल उत्तम रूप पर लाने का प्रयत्न भी अवश्य करना चाहिए, जिससे कि हम त्योहार का मुख्य उद्देश्य सिद्ध कर सकें और असभ्यता के कलंक से बचे रहें।

भक्ति और उपासना

भारतीय संस्कृति में भक्ति और उपासना की प्रधानता है। मनुष्य अपने कल्याण-साधन के लिए इन्हीं का आश्रय लेता है। कह चुके हैं कि किसी ईश्वर-रूप में अपने चित्त को स्थिर करने का नाम ही उपासना है और चित्त की स्थिरता बलपूर्वक नहीं होती, किन्तु प्रेम से ही चित्त स्थिर होता है। उस ईश्वर-प्रेम को भक्ति कहते हैं। उपासना और भक्ति में परस्पर जन्य-जनक सम्बन्ध है। उपासना में अधिकाधिक प्रवृत्ति होती है। भक्ति और उपासना से लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के लाभ हैं। ईश्वर में मन लगाकर उनकी शक्तियों का अंश अपने मन में अधिकाधिक ग्रहण करने से लौकिक लाभ भी हो सकता है, किन्तु मुख्य लाभ यही है कि ईश्वर में मन लगाकर जगत् से विरक्ति प्राप्त कर अपना जीव-भाव हटाया जाय और ईश्वर-सत्ता में ही अपने को लीन कर परमानन्द-रूप मोक्ष की प्राप्ति की जाय। भगवत्प्रेम यदि प्राप्त हो जाय, तो मनुष्य की सांसीरिक उन्नति की वासना अपने-आप हट जाती है। इसीलिए, भक्ति का विशेष महत्त्व है।

वैदिक मार्ग की उपासना पर एक यह आक्षेप किया जाता है कि वेद तो अनेकेश्वर-वादी हैं। वेदों ने भिन्न-भिन्न देवताओं को ही ईश्वर मान रखा है, और उनकी ही स्तुति उनमें विशेषतः प्राप्त होती है। एक परमात्मा का ज्ञान या उसी की उपासना तो वहाँ है ही नहीं। तदनुसार; आज भी भारतीय संस्कृति में अनेक प्रकार की उपासना प्रचलित है। कोई विष्णु को पूजता है, कोई राम और कृष्ण को और कोई शिव, गणेश या शक्ति को। तब एकेश्वरवाद कहाँ रहा। किन्तु, यह आक्षेप बिलकुल निस्सार है। वेदों में शतशः मन्त्र ऐसे हैं, जो एक ही ईश्वर का प्रतिपादन करते हैं, वहाँ स्पष्ट कहा गया है कि :

> ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्
> यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः।
> यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति
> य इत्तद्विदस्त इमे समासते॥ (ऋ० १।१६४।३९)

अर्थात्, ऋचा के प्रतिपाद्य अक्षर परमाकाश-रूप परब्रह्म, जहाँ सारे देवता निवास करते हैं, को जो नहीं जानता, वह वेद की ऋचा से क्या करेगा, अर्थात् उसका वेद पढ़ना व्यर्थ है। और, जो उसको जान जाता हैं, वह अमृत अवस्था—मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार :

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥

इस प्रकार के अनेक मन्त्रों में एक ईश्वर ही भिन्न-भिन्न देवताओं के रूप में व्यवस्थित है, यह स्पष्ट कहा गया है। उपनिषदों में तो—

स देव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्, इत्यादि।

इस प्रकार शतशः वाक्यों द्वारा सम्पूर्ण जगत् का मूल तत्त्व ही एक परब्रह्म को माना गया है, जिसका विस्तार से निरूपण हम आरम्भ में ही कर आये हैं। इसलिए, अनेकेश्वरवाद की तो क्या कथा, वेद में तो परमात्मा परब्रह्म ईश्वर के अतिरिक्त कुछ भी नहीं माना जाता। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड भी ईश्वर का ही रूप कहा जाता है। ईश्वर को सजातीय, विजातीय और स्वगत तीनों भेदों से रहित मानते हैं। वहाँ अनेकेश्वरवाद का स्वप्न भी नहीं देखा जा सकता।

बात यह है कि परब्रह्म मन और वाणी से परे है, यह आरम्भ में ही विस्तार से कहा जा चुका है। तब जहाँ मन की गति ही नहीं, उसकी उपासना किस प्रकार की जा सकती है। मन लगाने का नाम ही तो उपासना है। मन जिसे पकड़ ही नहीं सकता, उसमें लगेगा कैसे? इसलिए, कोई आधार मानकर उसपर चित्त लगाना ही उपासना की सफलता के लिए आवश्यक हो जाता है। परब्रह्म को मन नहीं पकड़ सकता, किन्तु यह सम्पूर्ण जगत् भी तो परब्रह्म से भिन्न नहीं है। इसमें तो कहीं भी मन लगाया जा सकता है और वह मन लगाना भी परब्रह्म में मन लगाना ही कहा जायगा; क्योंकि वह पदार्थ भी परब्रह्म से भिन्न नहीं है। इसी आशय से भिन्न-भिन्न देवताओं की स्तुति-प्रार्थना वेदों में की गई है कि वे भी ईश्वर के ही रूप हैं और इसी अद्वैतभाव से भारतीय संस्कृति का अनुयायी नदी, वृक्ष, प्रतिमा आदि सबके सामने ईश्वरबुद्धि होकर मस्तक झुकाता है। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी स्पष्ट कहते हैं कि :

सियाराममय सब जग जानी।
करहुँ प्रणाम जोरि जुग पानी॥

भक्तों की यही बुद्धि हो जाती है और इसी बुद्धि से अथवा इसी बुद्धि को प्राप्त करने के लिए भारतीय संस्कृति के अनुयायी नदी, पर्वत, वृक्ष आदि सबको सिर झुकाते हैं। वे उन जड़ पदार्थों को मस्तक नहीं झुकाते, वरन् उनमें विराजमान ईश्वर की सत्ता को ही सिर झुकाते हैं। और, वेद ने जो भिन्न-भिन्न देवताओं की या उलूखल, मूसल आदि तक की स्तुति की है, वह भी परब्रह्म सत्ता की ही स्तुति है, यह निरुक्त आदि में स्पष्ट कर दिया गया है।

भक्ति और उपासना की सफलता के लिए भारतीय संस्कृति में अवतारवाद और मूर्त्ति-पूजा को भी प्रधान स्थान दिया गया है। इनकी मूर्त्तियाँ अधिकारानुसार अनेक प्रकार की होती हैं। ईश्वर ने भी भारत में ऐसे तत्त्व उत्पन्न किये हैं, जो ईश्वर की ओर पूरा ध्यान दिला देते हैं। गण्डकी नदी में एक विशेष प्रकार के प्रस्तर-खण्ड निकलते हैं, जो ऊपर से श्यामवर्ण होते हैं और उनके भीतर सुवर्ण रहता है। वेदविज्ञान के निरूपण में हिरण्यगर्भ का स्वरूप हम ऐसा ही बता आये हैं कि मध्य में सूर्य का प्रकाश है, और उसको चारों ओर से परमेष्ठिमण्डल के श्यामवर्ण सोम ने घेर रखा है। इस हिरण्यगर्भ की पूरी प्रतिकृति ही शालग्राम-शिला है, जो भारत के ही एक प्रदेश में मिलती है। ईश्वर की पूरी प्रतिकृति होने के कारण उसमें ईश्वरभाव से शीघ्र मन लग सकता है और इसीलिए द्विजाति लोग प्रधान रूप से उसकी उपासना करते हैं। उसकी ही उपासना नहीं करते, उसके द्वारा परमेश्वर की भी उपासना करते हैं। परमेश्वर में ही मन लगाते हैं। शिव की उपासना भी नर्मदेश्वर में की जाती है। नर्मदा में गढ़े-गढ़ाये इस प्रकार के प्रस्तर-खण्ड मिलते हैं, जो मध्य में गोल और इधर-उधर प्रलम्बाकार होते हैं। एक सूर्य का प्रकाश जहाँतक फैलता है, वही एक ब्रह्माण्ड है, यह कहा जा चुका है। किन्तु, सूर्य का भ्रमण माननेवालों के मत से सूर्य एक जगह नहीं रहता, वह पूर्व, पश्चिम या दक्षिणोत्तर घूमता रहता है। पृथ्वी का भ्रमण माननेवालों के मत से भी पृथ्वी और सूर्य के सम्बन्ध में परिवर्त्तन होते रहने से अनेक वृत्त मिलकर प्रलम्बाकार हो जाते हैं। यही नर्मदेश्वर का स्वरूप है। इस प्रकार की उपासनाओं के अतिरिक्त भिन्न-भिन्न ईश्वर-रूपों की मूर्त्ति बनाकर उनकी उपासना भी भारतीय संस्कृति में सुप्रसिद्ध है। वैसे तो पंचभूतों के अधिष्ठाता मानकर पंचदेव-रूप में परमेश्वर की उपासना यहाँ मानी गई है, किन्तु उनमें विष्णु, शिव और शक्ति की उपासना का विशेष रूप से प्रचार है। गणेश की पूजा सब कार्यों के आरम्भ में हो जाती है; क्योंकि वे भूमितत्त्व के अधिष्ठाता और प्रतिष्ठा-प्राण के रूप हैं। उनके विना कोई कार्य प्रतिष्ठित ही नहीं हो सकता एवं सूर्य की उपासना भी सन्ध्याकाल में सभी द्विजाति कर लेते हैं। इसलिए, स्वतन्त्र रूप से इन दोनों की उपासना का प्रचार कम है। उक्त तीनों ईश्वर-रूपों की जो उपासना विशेष रूप में प्रचलित है, उनमें शक्ति की उपासना पर विजयादशमी के प्रकरण में प्रकाश डाला जा चुका है। अब आगे कृष्ण और शिव के विवरण में भी उसका प्रसंग आयगा। क्योंकि, शक्ति तो सबमें अनुस्यूत व्यापक है। वह मुख्य उपास्य है। सब रूपों के साथ रहती है, उसी के कारण सब रूप उपास्य हैं। विष्णु भगवान् की उपासना दो प्रकार की है—चतुर्भुज लक्ष्मी-सहित नारायण के रूप में और राम-कृष्ण आदि अवतारों के रूप में। इन दोनों प्रकारों पर यहाँ कुछ विवरण देना आवश्यक है। विष्णु भगवान् की मूर्त्ति का विवरण स्वयं विष्णुपुराण ने किया है,[1] जिसमें उनके आयुध आभूषण आदि पर

१. आत्मानमस्य जगतो निर्लेपमगुणात्मकं। बिभर्ति कौस्तुभमणिस्वरूपं भगवान्हरिः।
श्रीवत्ससंस्थानधरमनन्तेन समाश्रितं। प्रधानं बुद्धिरप्यास्ते गदारूपेण माधवे॥
भूतादिमिन्द्रियादिं च द्विधाऽहङ्कारमीश्वरः। बिभर्त्ति शङ्खरूपेण शार्ङ्गरूपेण च स्थितम्।
चलत्स्वरूपमत्यन्तं जवेनान्तरितानिलं। चक्रस्वरूपं च मनो धत्ते विष्णुकरे स्थितम्॥

जगत्तत्त्वों की दृष्टि का विधान करते हुए सब जगत् के आलम्बन अव्ययपुरुष के रूप में उनकी उपासना स्पष्ट की गई है। वहाँ लिखा है कि भगवान् के हृदय में जो कौस्तुभ-मणि है, वह निर्गुण, निर्लेप जीवात्माओं की प्रतिकृति है। मणि-रूप में जीवात्माओं का धारण भगवान् कर रहे हैं। उनके वक्षःस्थल पर जो श्रीवत्स-चिह्न है, जिसपर अनन्त शेषनाग का फण छाया किये रहता है, वह प्रकृति का रूप है। उनके हाथ में जो गदा है, वह बुद्धिरूपा है। गदा जिस प्रकार किसी स्थूल पदार्थ को तोड़ देती है, उसी प्रकार बुद्धि भी सबको तोड़कर भीतर प्रविष्ट होती जाती है, यही दोनों का सादृश्य है। शंख और शार्ङ्ग इन्द्रियों और भूतों को उत्पन्न करनेवाले सात्त्विक और राजस अहंकार की प्रतिकृति है। उनके हाथ में जो सुदर्शन चक्र है, वह सब जीवों के मन का रूप है। मन की तरह ही वह अत्यन्त वेगवान् और सदा चलता रहनेवाला है। इन आयुधों से यह प्रकट किया जाता है कि सबकी बुद्धि, इन्द्रिय और पंचमहाभूतों के आधार भगवान् ही हैं। उन्हीं की प्रेरणा से सब जीवों के मन, बुद्धि आदि काम करते हैं। भगवान् के गले में जो अनेक रूप की वैजयन्ती माला है, वह पंचमहाभूतों की माला समझनी चाहिए। तूणीर में जो बाण भरे हुए हैं, वे सब प्राणियों की ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों के रूप हैं। भगवान् के हाथ में जो नन्दक खड्ग है, वह प्रदीप्त ज्ञान का स्वरूप है, जो कि अविद्या-रूप कोष से आच्छादित है। इसका यही अभिप्राय है कि विद्या और अविद्या दोनों भगवान् की शक्ति हैं, जो उनके ही हाथ में रहती हैं। इस प्रकार सब आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक तत्त्वों को धारण करनेवाले भगवान् विष्णु अव्ययपुरुष हैं। यद्यपि हम अक्षर-पुरुष की कलाओं में विष्णु को बता आये हैं, तथापि अक्षर में भी अभिव्याप्त और उसका भी आलम्बन अव्ययपुरुष है। इसलिए, अक्षर द्वारा भी अव्ययपुरुष की ही उपासना की जाती है। यह विष्णु भगवान् की मूर्त्ति का विवरण हुआ। सब तत्त्वों के आश्रय-रूप में विष्णु की उपासना है। अब इनके प्रधान अवतार भगवान् कृष्ण की उपासना का विवरण प्रस्तुत किया जाता है।

अवतार का विवरण

वह परमेश्वर परमात्मा स्व-स्वरूप से अविज्ञेय है। स्वरूपलक्षण द्वारा हम उसे पहचान नहीं सकते। यह सबमें निलीन-निगूढ है। किन्तु जगत्, जो कि प्रत्यक्ष है, वह भी उससे पृथक् नहीं। वही जगत् है और वही जगत् का नियन्ता है, इसलिए जगत् में जो-जो

पञ्चरूपा तु या माला वैजयन्ती गदाभृतः। सा भूतहेतुसङ्घाता भूतमाला च वै द्विज ॥
यानीन्द्रियाण्यशेषाणि बुद्धिकर्मात्मकानि वै। शररूपाण्यशेषाणि तानि धत्ते जनार्दनः ॥
बिभर्ति यच्चासिरत्नमच्युतोऽत्यन्तनिर्मलं। विद्यामयं तु तज्ज्ञानमविद्याकोशसंस्थितम् ॥
इत्थं पुमान्प्रधानं च बुद्ध्यहङ्कारमेव च। भूतानि च हृषीकेशी मतः सर्वेन्द्रियाणि च ॥
विद्याविद्ये च मैत्रेय सर्वमेतत्समाश्रितं। अस्त्रभूषणसंस्थानस्वरूपं रूपवर्जितः।
बिभर्त्ति मायारूपोऽसौ श्रेयसे प्राणिनां हरिः। स विचारं प्रधानं च पुमांश्चैवाखिलं जगत् ॥
बिभर्त्ति पुण्डरीकाक्षस्तदेवं परमेश्वरा। या विद्या या तथाऽविद्या यत्सच्चासदव्ययम्।
तत्सर्वं सर्वभूतेशं मैत्रेय मधुसूदने.. ..। — विष्णु पु०, अंश १, अध्याय २२, श्लो० ६५-७८।

उसके रूप जगत् का नियमन करते हुए दिखाई देते हैं, उनके द्वारा ही हम परमात्मा को पहचान सकते हैं। उनके द्वारा ही उपासना कर सकते हैं, वे ही परमेश्वर के 'अवतार' हैं। दूसरे शब्दों में क्षरपुरुष में अव्ययपुरुष की जो कलाएँ परिचित होती हैं, वे ही अवतार हैं। उनके द्वारा ही अव्ययपुरुष उपास्य या ध्येय होता है। इसी कारण अवतार का वाचक श्रीमद्भागवतादि में 'आविर्भाव' शब्द भी आया है और जगद्व्यापी विराट्-रूप को ही भागवत में पहला अवतार बताया गया है—'एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्ययम्।' जगत् में परमात्मा जो आविर्भूत होता है, सो मानों, अपने स्व-स्वरूप स्वधाम से जगत् में उतरता है। अव्ययपुरुष ही क्षर रूप में उतरकर आया है, इसलिए उसे 'अवतार' कहते हैं। परमात्मा का रूप 'सत्य' है, वह तीनों कालों में, सब देशों में, सब दशाओं में अबाधित रहता है। कारण को सत्य कहते हैं। वह सबका कारण है, इसलिए परम सत्य है। वह सत्य जगत् में 'नियति' रूप से प्रकट है। प्रत्येक पदार्थ के भीतर एक नियम काम कर रहा है। जल सदा नीचे की ओर ही जाता है, अग्नि की ज्वाला सदा ऊपर को ही उठती है, वायु सदा तिरछी ही चलती है, सूर्य नियत समय पर ही उदित होता है। हरिण के दोनों सींग बराबर नाप में बढ़ते हुए समान रूप से मुड़ते हैं। बेर के वृक्ष में प्रत्येक पर्व-ग्रन्थि पर दो काँटे पैदा होते हैं, जिनमें एक मुड़ जाता है, एक खड़ा रहता है। वसन्त ऋतु आते ही आम के वृक्षों में मंजरी निकलने लगती है। इस प्रकार, सब जगत् को अपने-अपने धर्म में नियत रूप से स्थिर रखनेवाली शक्ति, जिसमें चेतना भी अनुस्यूत है, 'अन्तर्यामी नियति' वा 'सत्य' शब्द से कही जाती है। कह सकते हैं कि उस परम सत्य का नियति-रूप से, इस जगत् में अवतार है। इसी प्रकार, सत्, चित्, आनन्द परमात्मा के ये रूप शास्त्रों में वर्णित हैं, उनका जगत् में प्रतिष्ठा, ज्योति और यज्ञ के रूप में अवतार होता है। सत्ता और विधृति ये दोनों प्रतिष्ठा के रूप हैं, प्रत्येक पदार्थ अपना अस्तित्व रखता है, और अपने कार्य को अपने आधार पर धारण करता है। जैसा कि मृत्तिका घट का वा तन्तु पट का रूप धारण करता है। ये सत्ता के विश्वचर रूप हुए। चित् (ज्ञान) का विश्वचर रूप ज्योति है। इसके तीन भेद हैं—नाम रूप और कर्म। इन्हीं से सब पदार्थों का प्रकाश (ज्ञान) होता है। ये ही सब पदार्थों के भेदक हैं। आनन्द का विश्वचर रूप यज्ञ है। आनन्द का अन्न ग्रहण करना ही यज्ञ कहलाता है। इसलिए, 'अन्न' नाम से भी इस रूप का व्यवहार करते हैं। अन्न-ग्रहण से वस्तु का विकास होता है, और विकास ही आनन्द का रूप है, इस 'यज्ञ' का विवरण पहले किया जा चुका है। इन तीनों विश्वचर रूपों को भी 'प्रतिष्ठा वै सत्यम्', 'नामरूपे सत्यम्' इत्यादि श्रुतियों में 'सत्य' शब्द से कहा है:

> यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः।
> तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते॥

इस श्रुति में सर्वज्ञ परपुरुष अव्यय से इन्हीं तीन विश्वचर रूपों की उत्पत्ति कही गई है। विश्वातीत रूपों से विश्वचर रूपों की उत्पत्ति कही गई है। विश्वातीत रूपों का विश्वचर रूप से अवतार ही उत्पत्ति है। श्रुति में ब्रह्म नाम प्रतिष्ठा का और अन्न नाम यज्ञ

का है। इन तीनों सत्यों का भी सत्य परमात्मा है। इसलिए, वह 'सत्यस्य सत्यम्' कहा जाता है। श्रीमद्भागवत में भगवान् श्रीकृष्ण की गर्भस्तुति आरम्भ करते हुए देवताओं ने कहा है :

सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं
सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये।
सत्यस्य सत्यामृतसत्यनेत्रं
सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः॥

जिनके व्रत-कर्म वा संकल्प सत्य हैं (देवताओं के—अग्नि, वायु, सूर्य आदि के कर्म व्यभिचारी नहीं होते, इस विशेषण से भगवान् की सर्वदेवरूपता बताई गई है), सत्य ही जिनका पर-आश्रय आधार है (इससे पूर्वोक्त नियतिरूपता भगवान् की कही गई), जो तीनों काल में सत्य अबाधित है वा तीनों रूप से जो सत्य है (अन्तर्यामी, वेद और सूत्रात्मा—ये तीन भगवान् के सत्य-रूप हैं), जो सत्य के (पूर्वोक्त प्रतिष्ठा, नामरूप और यज्ञ के) कारण हैं, जो उक्त तीनों सत्यों में निहित-निगूढ रूप से प्रविष्ट हैं वा जो अव्ययपुरुष-रूप भगवान् परम सत्य-शुद्ध रस-रूप ब्रह्म में निहित आत्मरूप से स्थित हैं, जो सत्य के भी सत्य हैं, अर्थात् कारणों के भी कारण हैं (कार्य की अपेक्षा कारण को सत्य कहा जाता है) अथवा प्रजापति का नाम सत्य है, उसमें भी जो सत्य है, अर्थात् प्रजापति की सत्यता भी जिनपर अवलम्बित है, ऋत और सत्य दोनों जिनके नेत्र (सूत्र) हैं, जिनका केन्द्र न हो, उन्हें ऋत कहते हैं; जैसे वायु, जल आदि। जो केन्द्रबद्ध हों, वे सत्य कहलाते हैं; जैसे तेज, पृथ्वी आदि। इन दोनों प्रकार के नेताओं (रई चलाने की रस्सियाँ) में से जिन्होंने सब प्रपंच को पकड़ रखा है, (इन दोनों भावों की अभिव्यक्ति परमेष्ठिमण्डल में होती है, इससे भगवान् का परमेष्ठिरूप बताया गया) और स्वयं भी जो सत्यस्वरूप है—हम उसी भगवान् की शरण में हैं। इस श्लोक में भगवान् के सत्यरूपों का संक्षिप्त विवरण है।

उक्त (नियति, प्रतिष्ठा, नामरूप आदि) रूपों से परमात्मा का प्रथम अवतार स्वयम्भू में होता है। वही विश्व का प्रथमोत्पन्न रूप है। अतः, सत्य का प्रथम आविर्भाव यही है। आगे परमेष्ठी में, सूर्य में, चन्द्रमा में और पृथ्वी में क्रमिक अवतार है। पृथ्वी द्वारा पृथ्वी के सब प्राणियों में भी परमात्मा के विश्वचर रूपों का आंशिक अवतार होता है। अतः, स्वयम्भू भगवान् का प्रथमावतार और आगे के परमेष्ठी आदि भी अवतार कहे जाते हैं। इनमें पूर्व-पूर्व का 'प्राण' उत्तरोत्तर में अनुस्यूत होता है। इससे पूर्व-पूर्व के धर्म न्यूनाधिक मात्रा में उत्तरोत्तर में संक्रान्त हैं। स्वयम्भू के प्राण और उसके धर्म परमेष्ठी में, दोनों के सूर्य में, तीनों के चन्द्रमा में, चारों के पृथ्वी में और पाँचों के प्राणियों में संक्रान्त होते हैं। कौन-कौन मण्डल किस-किस 'प्राण' का अन्यत्र संक्रमण करता है, यह भी श्रुतियों से प्रमाणित हो जाता है। स्वयम्भू-मण्डल से भृगु, चित् और सूत्र (ऋत, सत्य); परमेष्ठि-मण्डल से भृगु, अंगिरा और अत्रि सूर्य से ज्योति, गौ और आयु; चन्द्रमा से यश; रेत और पृथ्वी से वाक्; गौ एवं द्यौ—ये प्राण निकलते रहते है, और अन्यत्र संक्रान्त होते हैं। इन

सबका विवरण इस लेख में नहीं किया जा सकता, संक्षेप में इतना ही कहना है कि प्राणिमात्र में विशेषतः मनुष्यों में जो शक्तियाँ देखी जाती हैं, वे इन्हीं भगवान् के अवतारों से प्राप्त हैं। भिन्न-भिन्न शक्ति के अधिष्ठान भिन्न-भिन्न आत्माओं का विकास भी प्राणियों में इन मण्डलों से प्राप्त प्राणों द्वारा ही होता है। जैसे, खनिज आदि में केवल वैश्वानर आत्मा; वृक्षादि में वैश्वानर और तैजस; इतर प्राणियों में वैश्वानर, तैजस, प्रज्ञान ये तीनों भूतात्मा और मनुष्यों में भूतात्मा, विज्ञानात्मा, महानात्मा, सूत्रात्मा आदि विकसित होते हैं। जिसमें जिस मण्डल के प्राण की अधिकता हो, उसमें उसी के अनुसार विशेष शक्ति पाई जाती है और उसे उसका ही अवतार कहा जाता है। इस प्रकार, सभी प्राणी एक प्रकार से भगवान् के विभूति-अवतार कहे जा सकते हैं। किन्तु, जिसमें शक्तियों का जितना अधिक विकास होता है, वह उतने ही रूप में औरों का विभूति-रूप से उपास्य हो जाता है।

जिनमें जीव-कोटि से अधिक शक्तियों का विकास हो, बुद्धि के चारों ऐश्वर रूप या उनमें से एक, दो या तीन मनुष्य-कोटि से अधिक मात्रा में जहाँ प्रकट हुए हों, जीव-साधारण आवरण से हटकर अव्ययात्मा की कलाएँ जिनमें आविर्भूत दीख पड़ें, उन्हें विशेष रूप से अवतार माना जाता है, और जहाँ पूर्ण रूप से सब शक्तियों का विकास हो, पूर्ण रूप से अव्ययात्मा की सब कलाएँ प्रकट हों, वे पूर्णावतार वा साक्षात् परमेश्वर परब्रह्मरूप से उपास्य होते हैं।

श्रीकृष्णावतार

ईश्वर और अवतार का यह रहस्य दृष्टि में रखकर अब भगवान् श्रीकृष्ण के चरित्रों की आलोचना कीजिए, तो स्फुट रूप से भासित हो जायगा कि वे 'पूर्णावतार' हैं। दुराग्रह छोड़ दिया जाय, तो विवश होकर कहना ही पड़ेगा कि 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' (श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान्—परब्रह्म परमेश्वर हैं) पहले बुद्धि के चारों ऐश्वर रूपों (धर्म, ज्ञान, ऐश्वर्य और वैराग्य) को ही देखिए, इनकी पूर्णता श्रीकृष्ण में स्पष्ट प्रतीत होगी। धर्म की स्थापना के लिए ही भगवान् श्रीकृष्ण का अवतार है, उनका प्रत्येक कार्य धर्म की कसौटी है, उनके सब चरित्र शुद्ध, सात्त्विक हैं, रज और तम का वहाँ स्पर्श भी नहीं है। अमानिता, अदम्भ आदि बुद्धि के धार्मिक गुणों को पूर्ण मात्रा में वहाँ मिला लीजिए। युधिष्ठिर महाराज के यज्ञ में आगन्तुकों के चरण-प्रक्षालन का काम उन्होंने लिया था। महाभारत में अर्जुन के सारथि बने थे। इन बातों से बढ़कर निरभिमानता क्या हो सकती है? भगवान् श्रीरामचन्द्र इसलिए धार्मिकशिरोमणि मर्यादापुरुषोत्तम कहलाते हैं कि पिता की आज्ञा से उन्होंने राज्य छोड़ दिया था। अब विचारिए, वहाँ साक्षात् पिता की साक्षात् आज्ञा थी, किन्तु कंस के मरने पर भगवान् श्रीकृष्ण से मथुरा का राज्य ग्रहण करने का सब बान्धवों ने जब अनुरोध किया, तब उन्होंने यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि हमारे पूर्व-पुरुष यदु का महाराज ययाति ने वंश-परम्परा तक के लिए राज्याधिकार छीन लिया है, इसलिए हम राजा नहीं हो सकते, यों उन्होंने बहुत पुराने पूर्वपुरुष की परोक्ष आज्ञा का सम्मान कर राज्य छोड़ा। इससे उनका धार्मिक आदर्श कितना ऊँचा सिद्ध होता है। धर्म के प्रधान अंग सत्य में वे

इतने सुदृढ थे कि शिशुपाल की माता को शिशुपाल के सौ अपराध सहन करने का वचन दे दिया था। युधिष्ठिर की यज्ञ-सभा में शिशुपाल के कटु भाषण पर तटस्थों को क्रोध आ गया। किन्तु, वे सौ की पूर्त्ति तक चुपचाप रहे। सौ पूर्ण होने पर ही उसे मारा। इसके अतिरिक्त धर्म के नाम पर जो लोग उलटे मार्ग में फँसते हैं, दो धर्मों का परस्पर विरोध दिखाई देने पर उस ग्रन्थि को सुलझाने में बड़े-बड़े विद्वानों की भी बुद्धि जो चक्कर में पड़ जाती है और भ्रान्तिवश अधर्म को धर्म मान लेती है, उन ग्रन्थियों को अपने आचरण और उपदेश दोनों से भगवान् श्रीकृष्ण ने खूब सुलझाया है। धर्म के सब अंगों को पूरा निभाया है। धर्म का स्वरूप सदा देशकालपात्र-सापेक्ष होता है। एक समय एक के लिए जो धर्म है, भिन्न अवसर में वा भिन्न अधिकारों के लिए वही अधर्म हो जाता है। इस अधिकार-भेद 'श्रेयान् स्वधर्मः' के वे पूर्णज्ञाता थे। धर्म का बलाबल वे खूब देखते थे। दुष्टों का किसी भी प्रकार दमन वे धर्मानुमोदित मानते थे। कर्णार्जुन-युद्ध में रथ का पहिया पृथ्वी में चले जाने पर धर्म की दुहाई देकर अर्जुन से शस्त्र चलाना बन्द करने का अनुरोध करते हुए कर्ण को उन्होंने यही कहकर फटकारा था कि 'जिसने अपने जीवन के आचरणों में धर्म का कभी आदर नहीं किया, उसे दूसरे से अपने लिए धर्माचरण की आशा करने का क्या अधिकार है?' कालयवन जब अनुचित रूप से बिना कारण मथुरा पर चढ़ाई करने आया, तब उसे धोखा देने में उन्होंने कुछ भी अनौचित्य नहीं समझा। अधार्मिकों के साथ भी यदि पूर्ण धर्म का पालन किया जाय, तो अधार्मिकों का हौसला बढ़ता है, और धर्म की हानि होती है। इसलिए, समाज-व्यवस्थापक को इसका पूरा ध्यान रखना चाहिए। रथचक्र लेकर भीष्म के सामने दौड़ते हुए उन्होंने जब भीष्म पर आक्षेप किया कि तुमने धार्मिक होकर भी अधर्मी दुर्योधन का साथ क्यों दिया, तब भीष्म के 'राजा परं दैवतम्' (राजा बड़ा देवता है) उसकी आज्ञा माननी ही चाहिए'—उत्तर देने पर उन्होंने स्पष्ट कहा था कि दुष्ट राजा कभी माननीय नहीं होता, तभी तो देखो, मैंने स्वयं कंस का नियन्त्रण किया। यों, सामाजिक नेता के धर्मों की उन्होंने खूब शिक्षा दी है, और धर्म के साथ नीति का क्या स्थान है, कहाँ-कहाँ नीति को प्रधानता देनी चाहिए, और कहाँ-कहाँ धर्म को, इन बातों को खूब स्पष्ट किया है। नीति का उपयोग जहाँ धर्मरक्षा में होता हो, वहाँ वे नीति को प्रधानता देते हैं। इस व्यवस्था को भूल जाने से ही भारतवर्ष विदेशियों से पदाक्रान्त हुआ है और परिणाम में इसे धर्म की दुर्दशा देखनी पड़ी है। अस्तु; कर्णपर्व में महाराज युधिष्ठिर के गाण्डीव धनुष की निन्दा करने पर सत्य-प्रतिज्ञा-निर्वाह के उद्देश्य से युधिष्ठिर पर शस्त्र चलाने के लिए उद्यत अर्जुन को ऐसे अवसर में सत्य-पालन का अनौचित्य बताते हुए उन्होंने रोका था, और बड़ों की निन्दा ही उनका हनन है, इस अनुकल्प रूप से सत्यरक्षा कराई थी। सौप्तिक पर्व में अश्वत्थामा ने जब सोये हुए द्रौपदी के पाँचों पुत्रों को मार दिया और अर्जुन ने उसके वध की प्रतिज्ञा से बिलखती द्रौपदी को सान्त्वना देकर युद्ध में जीतकर उसे पकड़ लिया—तब युधिष्ठिर और द्रौपदी कह रहे थे कि ब्रह्महत्या मत करो। इसे छोड़ दो। भीमसेन कह रहे थे कि ऐसे दुष्ट को अवश्य मार दो। अर्जुन की प्रतिज्ञा भी मारने के पक्ष में थी। उस समय भी उन्होंने 'धनहरण मारने के ही सदृश होता है, इसके मस्तक की मणि निकाल लो', यह अनुकल्प बता-

कर अर्जुन से दोनों गुरुजनों की आज्ञा का पालन कराया था और उसे ब्रह्महत्या से बचाकर अनुकल्प रूप से सत्यरक्षा कराई थी। ऐसे प्रसंग धर्म-ग्रन्थि सुलझाने के आदर्श उदाहरण हैं। भगवद्गीता के प्रारम्भ में अर्जुन के विचार स्थूल दृष्टि से बिलकुल धर्मानुकूल, प्रत्युत एक आदर्श धार्मिक के विचार प्रतीत होते हैं, किन्तु उन्होंने स्वधर्मविरुद्ध कहकर 'प्रज्ञावादांश्च भाषसे' के द्वारा उन विचारों को बिलकुल अनुचित ठहराया और उसे युद्ध में प्रवृत्त किया, जो गीता का स्वाध्याय करने पर बिलकुल ठीक मालूम होता है। बाल्यकाल में ही गोपों द्वारा इन्द्र की पूजा हटाकर उन्होंने जो गोवर्धन-पूजा प्रवृत्त की, उसमें भी वही अधिकार-भेद का रहस्य काम कर रहा है। उनका यही अभिप्राय है कि ईश्वर जब सर्वव्यापक है, तब गोवर्धन जो हमारे समीप है और जिससे हमारा सब प्रकार से पालन होता है, उसे ही ईश्वर की मूर्त्ति मानकर क्यों न पूजा जाय ? क्या वह ईश्वर की विभूति नहीं है ? 'इन्द्र की पूजा करने से इन्द्र वर्षा करेगा', इस काम्यधर्म के वे सदा से विरोधी रहे हैं, इसे उन्होंने स्थान-स्थान पर 'दुकानदारी' बताया है, और धर्म-सीमा से बहिर्भूत माना है। अपना कर्त्तव्य समझ धर्म का अनुष्ठान करना, यही श्रीकृष्ण भगवान् की शिक्षा है। अस्तु; विस्तार का प्रयोजन नहीं, सर्वांगपूर्ण, बलाबल-विवेचना-सहित, आदर्श धर्म का उनकी कृति और उपदेशों में पूर्ण निर्वाह है। इसीलिए, उस काल के धार्मिक नेता भगवान् व्यासजी बालब्रह्मचारी भीष्म वा धर्मावतार युधिष्ठिर आदि उनको साक्षात् ईश्वर मानते थे और धर्मग्रन्थि सुलझाने में उनको ही प्रमाणित करते थे। महाराज परीक्षित का जब मृत बालक-दशा में जन्म हुआ, तब उसको जिलाते समय भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी धर्मपरायणता का ही आधार रखा है, ऐसा महाभारत में भी आख्यान है। वहाँ उनकी उक्ति यही है कि यदि मैंने आजन्म कभी धर्म वा सत्य का अतिक्रम न किया हो, तो यह बालक जी उठे। इससे अपनी धर्मपरायणता का आदर्श और धर्म की अलौकिक शक्ति भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं प्रकट की है।

दूसरा बुद्धि का रूप 'ज्ञान' भी भगवान् श्रीकृष्ण में सर्वांगपूर्ण था। क्या व्यावहारिक ज्ञान, क्या राजनीतिक ज्ञान, क्या धार्मिक ज्ञान, क्या दार्शनिक ज्ञान—सबकी उनमें पूर्णता थी। 'वे सर्वज्ञाननिधि थे', इसके लिए उनका एक भगवद्गीता का उपदेश ही पर्याप्त प्रमाण है, जिसके ज्ञान की थाह आज पाँच हजार वर्ष तक भी मिल न सकी। नित्य नये-नये विचार और नये-नये विज्ञान ७०० श्लोकों के छोटे-से ग्रन्थ से प्रस्फुटित हो रहे हैं। और भी, श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध आदि में उनके कई एक उपदेश हैं, जो ज्ञान में उनकी पूर्णता के प्रबल प्रमाण हैं। इनके अतिरिक्त व्यवहार में भी उनका पूर्ण ज्ञान विकसित है।

व्यावहारिक ज्ञान कार्य-कारण-भावज्ञान का नाम है, किस उपाय से कौन-सा कार्य सिद्ध हो सकता है, यह जान लेना ही व्यावहारिक ज्ञान होता है, इसका चिह्न है सफलता। जितना व्यावहारिक ज्ञान जिसमें होगा, उतनी ही सफलता उसे मिलेगी। जीव-कोटि के बड़े-बड़े विद्वान् और महान् नेता भी खास-खास अवसरों पर धोखा खा जाते हैं और सफलता से हाथ धो बैठते हैं। इतिहासों में इसके सैकड़ों उदाहरण है। भगवान् श्रीकृष्ण का व्यावहारिक मार्ग बाल्यकाल से ही कितना कण्टकाकीर्ण था, यह उनके चरित्र के स्वाध्याय करनेवालों से

छिपा नहीं है। चारों तरफ आसुर भावपूर्ण राजाओं का दवदबा था, उन सबका दमन करना था। किन्तु, इस दशा में भी उन्हें वहाँ असफलता नहीं मिली। इतना ही नहीं, किसी दशा में चिन्तित होकर सोचना भी न पड़ा, प्रत्येक स्थान में सफलता हाथ बाँधे खड़ी रही। क्या यह विज्ञान की पूर्णता का प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है? क्या इससे भगवान् श्रीकृष्ण का पूर्ण ईश्वरत्व प्रकट नहीं होता? भारत का सम्राट् जरासन्ध और उनका मित्र कालयवन अपने अतुल सैन्य-सागर से मथुरा पर घेरा दिये पड़े हैं, उस दशा में सभी यादवों को अपने अक्षत सामान-सहित सुदूर काठियावाड़ के द्वारका-स्थान में ले जाकर बसा देना और समुद्र के मध्य में एक आदर्श नगर बना उसे भारत के सब नगरों से प्रधान कर देना, वास्तव में व्यावहारिक ज्ञान की मनुष्य-सीमातीत काष्ठा है। यादवों के एक छोटे-से राज्य का इतना दवदबा जमा देना कि सम्पूर्ण भारत के महाराजाओं को उनकी आज्ञा माननी पड़े, यह राजनीतिक ज्ञान की सीमा है। महाभारत में भी उनका राजनीतिक ज्ञान स्थान-स्थान में अपनी अलौकिक छटा दिखा रहा है। वर्त्तमान युग के राजनीतिक भी उनके राजनीतिक ज्ञान का लोहा मानते हैं। ज्ञान की सर्वांगपूर्णता में किसी विचारक को सन्देह नहीं हो सकता।

अब ऐश्वर्य लीजिए। कहा जा चुका है कि बुद्धि के विकास का नाम ऐश्वर्य है, उसके प्रतिफल आध्यात्मिक अणिमा, महिमा आदि सिद्धियाँ और बाह्य अलौकिक सम्पत्ति आदि होते हैं। जिन्होंने द्वारिका की समृद्धि का वर्णन पढ़ा है, उन्हें बाह्य अलौकिक सम्पत्ति की बात बतानी न होगी। बाल्य चरित्रों में कालियदमन, गोवर्धन-धारण आदि वा आगे के चरित्रों में विश्वरूप-प्रदर्शन, अनेक-रूप-प्रदर्शन आदि आध्यात्मिक शक्तियों की परा काष्ठा के उदाहरण भी प्रचुरता से मिलते हैं, जिन्हें आध्यात्मिक ज्ञानशून्य आजकल की जनता असम्भव कोटि में मानती है। वस्तुतः, भगवान् श्रीकृष्ण में ऐश्वर्य जन्मसिद्ध है, आध्यात्मिक शक्तियों की विभूतियों के रूप में ही उनके अलौकिक कार्य हुए हैं। कालवश भारत के दुर्दैव से योगविद्या आज नष्ट हो गई। जिसके कारण भारत आध्यात्मिक शक्तियों का जगद्गुरु था, आज उसका परिचय ही न रहा। इससे आध्यात्मिक शक्तियों के कार्यों को आज असम्भव समझा जाय, तो आश्चर्य नहीं। किन्तु किसी बात को असम्भव बता देना कोई बुद्धिमत्ता का लक्षण नहीं है। कार्य-कारण-भावपूर्वक उपपत्ति सोचना बुद्धिमत्ता का लक्षण है।

व्यवसायात्मिका बुद्धि का चौथा रूप वैराग्य है, जो कि रागद्वेष का विरोधी है। इसकी पूर्णता का चिह्न यह है कि सब काम करता हुआ भी, पूर्ण रूप से संसार में रहता हुआ भी सबमें अनासक्त रहे, किसी बन्धन में न आये, कमल-पत्र की तरह निर्लिप्त बना रहे। संसार छोड़कर अलग हो नाना अभ्यासवश जीवों में सम्भव है, किन्तु संसार में रहकर सर्वथा निर्लिप्त रहना शुद्ध ऐश्वर्य धर्म है। भगवान् श्रीकृष्ण के चरित्रों में आदि से अन्त तक वैराग्य का (राग-द्वेषशून्यता का) पूर्ण विकास है। कहाँ बाल्यकाल का गोप-गोपियों और नन्द-यशोदा के साथ वह प्रेम कि जिसमें बँधकर एक क्षण वे विना श्रीकृष्ण के न रह सकते थे और कहाँ यह आदर्श निष्ठुरता कि अक्रूर के साथ मथुरा जाने के बाद वे एक बार भी वृन्दावन वापस नहीं आये। उद्धव को भेजा, बलराम को भेजा, उन्हें सान्त्वना दी, किन्तु अपना 'बेलागपन' दिखाने को एक बार भी किसी से मिलने को स्वयं उधर मुख नहीं किया।

पहले गोपियों के साथ रासलीला करते समय ही मध्य में अन्तर्हित होकर अपनी निरपेक्षता उन्होंने दिखा दी थी। प्रकट होने पर जब गोपियों ने व्यंग्य से प्रश्न किया कि अपने साथ प्रेम करनेवालों से भी जो प्रेम नहीं करते, उनका क्या स्थान ? तब उन्होंने कहा था कि वे दो ही हो सकते हैं—'आत्मारामा, आप्तकामा, अकृतज्ञा, गुरुद्रुहः', या तो पूर्ण ज्ञानी या कृतघ्न। साथ ही, अपना स्वभाव भी उन्होंने बताया था कि 'नाहं तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून् भजाम्यमीषामनुवृत्तिसिद्धये', बस, इस स्वभाव का पूर्ण निर्वाह उन्होंने किया। यादवों के राज्य का सब काम वे चलाते थे, किन्तु बन्धन-रूप कोई अधिकार उन्होंने नहीं ले रखा था, वहाँ भी 'वेलाग' ही रहे। महाभारत-युद्ध अपनी नीति से ही चलाया, किन्तु बने रहे 'पार्थसारथि'। बहुत-से दुष्ट राजाओं को मारा, किन्तु उनके पुत्रों को ही राज्य का अधिकार दे दिया, राज्यलोलुपता कहीं भी न दिखाई। अपने कुटुम्बी यादवों को भी जब उद्धत होते देखा, उनके द्वारा जगत् में अशान्ति की सम्भावना हुई, तब उनका भी अपने सामने ही सर्वनाश करा दिया। वैराग्य का—राग-द्वेषशून्यता का ही लक्षण 'समता' है, सो उनके आचरणों में ओतप्रोत है, हर एक यही समझता था कि श्रीकृष्ण मेरे हैं, किन्तु वे थे किसी के नहीं, सबके और सबसे स्वतन्त्र। पटरानियों में भी यही दशा थी, रुक्मिणी अपने को पटरानी समझती थी। सत्यभामा अपने को अतिप्रिया मानती थीं, सब ऐसा ही समझती थीं। वह भगवान् श्रीकृष्ण की समता का निदर्शन है। नारद ने परीक्षा करते समय इसी समता पर आश्चर्य प्रकट किया था। आप सत्यभामा का हठ रखने को पारिजात-हरण करते हैं, तो जाम्बवती को पुत्र प्राप्त होने के लिए शिव की आराधना करते हैं, किसी भी प्रकार समता को नहीं जाने देते। महाभारत-युद्ध के उपस्थित होने पर दुर्योधन और अर्जुन दोनों ही सहायता माँगने आते हैं और दोनों का मनोरथ पूर्ण होता है। अर्जुन से पूर्ण सौहार्द है, किन्तु गर्व-भंजन के लिए स्थान-स्थान पर उसका भी शासन किया जाता है। वे सब समता के प्रबल प्रमाण हैं। बुद्धि के उक्त चारों सात्त्विक रूप जिसमें हों, वही भगवान् कहा जाता है :

> **ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।**
> **ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥**
> **वैराग्यं ज्ञानमैश्वर्यं धर्मश्चेत्यात्मबुद्धयः।**
> **बुद्धयः श्रीर्यशश्चैते षड् वै भगवतो भगाः॥**
> **उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामगतिं गतिम्।**
> **वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥** इत्यादि।

यश और श्री इन दो बाह्य लक्षणों को भग शब्दार्थ में और अन्तर्गत किया गया है, उन दोनों का भगवान् श्रीकृष्ण में पूर्ण मात्रा में विकास सर्वप्रसिद्ध है, इसपर कुछ अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। तृतीय श्लोक में भगवान् का जो लक्षण लिखा है—भूतों की उत्पत्ति, प्रलय, लोकलोकान्तर-गति, वहाँ से लौटना, विद्या और अविद्या—इन सबका ज्ञान, गीता में इन सब विषयों का विस्पष्ट प्रतिपादन ही बता रहा है कि भगवान् श्रीकृष्ण में यह

परिपूर्ण रूप से है । भगवद्गीता में उक्त चारों सात्त्विक बुद्धिरूपों का विशद निरूपण है। बुद्धियोग ही गीता का मुख्य प्रतिपाद्य है, उसमें वैराग्ययोग, ज्ञानयोग, ऐश्वर्ययोग और धर्मयोग—यह क्रम रखा गया है। इनको क्रम से राजर्षिविद्या, सिद्धविद्या, राजविद्या और आर्षविद्या नाम से भी कहते हैं, इनका फल क्रम से अनासक्ति (समता), अनावरण, भक्ति और बन्धन-मुक्ति द्वारा बुद्धि का अव्ययात्मा में समर्पण-रूप योग है। यह सब भगवद्गीता-विज्ञान-भाष्य में संगतिपूर्वक निरूपित हुआ। इससे भी उक्त चारों रूपों की पूर्णता गीता के वक्ता भगवान् श्रीकृष्ण में सिद्ध होती है, यों 'भग' लक्षण की पूर्णता से श्रीकृष्ण (अच्युत) भगवान् कहलाते हैं। यद्यपि योगसाधन से जीवों में भी सात्त्विकबुद्धि-लक्षण प्रकट हो सकते हैं, किन्तु किसी मात्रा में ही होते हैं, एक कोई पूर्णरूप में प्रकट हो जाय—यह भी सम्भव है, और ऐसे ब्रह्मर्षि, राजर्षि, मुनि आदि भी भगवान् कहे जाते हैं। किन्तु, सब रूपों की परिपूर्णता जीव में अंशतः भी जीवभाव रहने पर असम्भव है। सबकी पूर्णता ईश्वर में ही होती है। फिर, यह भी विलक्षणता है कि जीवों में ये लक्षण प्रयत्न-साध्य होते हैं और ईश्वर में स्वतःसिद्ध। भगवान् श्रीकृष्ण का योगसाधन-रूप प्रयत्न किसी इतिहास में नहीं लिखा और बाल्यकाल से ही व्यवसायात्मक बुद्धि के लक्षण उनमें प्रकट हैं। इससे उक्त बुद्धि-लक्षण उनमें स्वतः सिद्ध है—यही कहना पड़ेगा और उन्हें अच्युत भगवान् ईश्वर का पूर्णावतार या साक्षात् परमेश्वर ही मानना पड़ेगा।

व्यवसायात्मक बुद्धि की पूर्णता के कारण अव्ययपुरुष का आचरण अंशतः भगवान् श्रीकृष्ण में नहीं है, अव्ययपुरुष की पाँचों कलाओं का पूर्ण विकास है। अतएव, भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने-आपको भगवद्गीता में 'अव्ययपुरुष' कहा है। अव्ययपुरुष का लक्षण पहले लिखा जा चुका है कि सबमें समन्वित रहता हुआ भी, सबका आलम्बन होता हुआ भी वह सर्वथा निर्लिप्त रहता है। बिलकुल 'बेलाग' रहता है। यह लक्षण भगवान् श्रीकृष्ण में किस प्रकार समन्वित है, हम वैराग्य-निरूपण में दिखा चुके हैं। अब अव्यय की कलाओं के विकास पर भी पाठक विचार करें। आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण, वाक्—ये अव्ययपुरुष की कलाएँ पहले लिखी जा चुकी हैं। इनको क्रम से नीचे देखिए।

वाक् के विकास के लक्षण हैं भौतिक समृद्धि और वाक्-शक्ति। भौतिक समृद्धि की पूर्णता भगवान् श्रीकृष्ण में हम दिखा चुके हैं। वाक्-शक्ति से भी उन्होंने कई जगह काम लिया है। भगवद्गीता की घटना सुप्रसिद्ध ही है। युद्ध छोड़कर भागते हुए एक दृढप्रतिज्ञ हठी वीर को अपनी वाक्-शक्ति से ही उन्होंने स्वधर्म में लगाया। छोटी-सी अवस्था में वाक्-शक्ति से ही गोपों से इन्द्रपूजा छुड़वाकर गोवर्धन-पूजा करवा दी। ग्राम की भोली-भाली जनता का विश्वास—धार्मिक विश्वास को बदल देना कितना कठिन काम है। वह उन्होंने सात वर्ष की अवस्था में ही वाक्-शक्ति के प्रभाव से कर दिखाया। गोप-कन्याओं का नग्न स्नान रोकने में भी उन्होंने वाक्-शक्ति से काम लिया है, ऐसे वाक्-शक्ति-विकास के कई-एक उदाहरण हैं। दूसरी प्राण-कला के विकास के लक्षण हैं—बल शौर्य, क्रियाशीलता आदि। जिसने शिशु-अवस्था में अपनी लात से बड़े शकटों को उलट दिया, कुमारावस्था में पुराने अर्जुन-वृक्षों को एक झटके में उखाड़ फेंका। किशोरावस्था में कंस के बड़े-बड़े मल्लों को

अखाड़े में पछाड़ दिया, मत्त हाथी को मार गिराया, यौवन में नग्नजित् राजा के यहाँ सात मत्त वृषभों को एक साथ नाथ दिया, क्षत्रियत्व की पूर्णता के उस समय में—महा महावीर क्षत्रियों के भारत में विराजमान रहते—जिनके सामने लड़कर कोई न जीत सका, सब दुष्ट राजाओं पर आक्रमण कर सबका दमन जिन्होंने किया, सारे भूमण्डल का भार उतारा, अकेले इन्द्रपुरी पर चढ़ाई कर पारिजात-हरण में इन्द्र-पूजा और इन्द्र तक का मान-भंग किया, उनके बल और शौर्य के अतिमानुष विकास में सन्देह को स्थान ही कहाँ है? आपकी क्रियाशीलता भी जगद्विदित है। आज द्वारका में हैं, तो कल देहली में, परसों युद्ध में चढ़ाई हो रही है, तो अगले दिन तीर्थयात्रा। हजारों रानियों के साथ पूर्ण गार्हस्थ्य-धर्म का निर्वाह, यादव-राज्य का सब प्रबन्ध कर भूमण्डल में उसे आदर्श-प्रतिष्ठित बनाना, पाण्डवों के प्रत्येक कार्य में सहायक और सलाहकार-रूप से उपस्थित रहना, भू-भार-हरण का अपना कर्त्तव्य-पालन भी करते जाना, महाशत्रुओं से द्वारका की रक्षा भी और शत्रुओं पर आक्रमण कर उनका विध्वंस भी। यथासमय द्वारका से विदर्भ देश पहुँच रुक्मिणी का मनोरथ पूर्ण कर देना आदि भी क्रियाशीलता के अति-मानुष उदाहरण हैं। इस प्रकार, अव्ययपुरुष की दूसरी कला का विकास पूर्ण रूप में सिद्ध होता है।

तीसरा कला मन के विकास के लक्षण हैं—मनस्विता, उत्साहशीलता, मनोमोहकता (मनोहरता) आदि। शिशुपाल-जैसे वीर राजा के मित्रों और सेना-सहित उपस्थित होने का समाचार सुनकर भी अकेले कुण्डिनपुर चले जाना, भारत के सम्राट् परम शत्रु जरासन्ध से लड़ने को केवल भीम और अर्जुन को साथ ले, विना सेना के जा पहुँचना, भरी सभा में कूदकर कंस-जैसे राजा के केश पकड़ उसे गिरा देना, मणिचोरी का कलंक लगने पर सबके मना करते रहने पर भी अकेले अपार गुफा में चले जाना—ऐसी मनस्विता और हिम्मत के उदाहरण उनके चरित्रों में सैकड़ों हैं। मनोहरता तो उनकी प्रसिद्ध है, उनका नाम ही 'चितचोर' है। शत्रु भी लड़ने को सामने आकर एक बार आकृष्ट होकर चौकड़ी भूल जाते थे। विदेशीय क्रूर वीर कालयवन को भी अनुताप हुआ था कि ऐसे सुन्दर नौजवान से लड़ना पड़ेगा।

चौथी कला 'विज्ञान' के सम्बन्ध में पहले ही बहुत-कुछ लिखा जा चुका है। बुद्धि-प्रसाद-रूप 'ज्ञान' के रहते अव्ययपुरुष की इस 'ज्ञान'-कला का विकास होता है! यहाँ विज्ञान से संसार-ग्रन्थिमोचक आत्मविज्ञान ही अभिप्रेत है। उसके विकास में भगवद्गीता के उपदेश से बढ़कर किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं।

अब पाँचवीं सबसे उत्कृष्ट अव्यय की (प्रथम) कला आनन्द है, वही ब्रह्म का मुख्य स्वरूप बताया गया है—'रसो वै सः'। इसका पूर्ण विकास अन्य अवतारों में भी नहीं देखा जाता। भगवान् श्रीरामचन्द्र में अन्य सब कलाओं का विकास है, किन्तु आनन्द का सर्वांश में विकास नहीं है, उनका जीवन 'उदासीनतामय' है। उसमें शान्त्यानन्द है। किन्तु, भगवान् श्रीकृष्ण में आनन्द के सब रूपों का पूर्ण विकास है। आनन्द के दो भेद हैं—एक समृद्ध्यानन्द, दूसरा शान्त्यानन्द। जब मनुष्य को किसी इष्ट वस्तु धन-पुत्रादि की प्राप्ति होती है, तब

उसका चित्त प्रफुल्लित होता है, उस प्रफुल्लता की मनोवृत्ति-रूप आनन्द वा समृद्ध्यानन्द कहा जाता है। यह प्रफुल्लता थोड़े काल रहती है, आगे वह इष्ट वस्तु—धन पुत्रादि मौजूद रहती है, किन्तु वह चित्त-विकास, वह प्रफुल्लता नहीं रहती, अब वह समृद्ध्यानन्द शान्त्यानन्द में परिणत हो गया है। निर्धन की अपेक्षा धनवान् को, अपुत्र की अपेक्षा पुत्रवान् को अधिक आनन्द है। किन्तु, उस आनन्द का सर्वदा अनुभव नहीं होता। चित्त-विकास सदा नहीं रहता; बस, अनुभव-काल में चित्त-विकास-दशा में समृद्ध्यानन्द और अनुभव में न आनेवाला, मनोवृत्ति से गृहीत न होनेवाला आनन्द शान्त्यानन्द कहलाता है। मन में इच्छा-रूप तरंग न उत्पन्न होने की दशा में या दुःख-निवृत्ति-दशा में भी शान्त्यानन्द ही होता है। शान्त्यानन्द के ब्रह्मानन्द, योगानन्द, विद्यानन्द आदि भेद 'पंचदशी' आदि ग्रन्थों में बताये गये हैं और समृद्ध्यानन्द के मोद, प्रमोद, प्रिय आदि भेद तैत्तिरीयोपनिषद् में आनन्दमय के सिर, पक्ष आदि के रूप से कहे गये हैं। अभिनव वस्तु के दर्शन में प्रिय-रूप आनन्द है, उसके प्राप्त होने में मोद और भोग-काल में प्रमोद होता है, ऐसी भाष्यकारों की व्याख्या है। अस्तु; शान्त्यानन्द तो ईश्वर के प्रायः सभी अवतारों में रहता है; क्योंकि ईश्वर है ही आनन्द-रूप, किन्तु भोग-लक्षण समृद्ध्यानन्द का भगवान् श्रीकृष्ण में ही पूर्ण विकास है। चित्त-विकास-रूप आनन्द की पूर्ण मात्रा हमारे चरित्रनायक में ही है। अनेक ग्रन्थों में संक्षेप या विस्तार से भगवान् श्रीकृष्ण का जीवन-चरित्र लिखा गया है, किन्तु कहीं उनके जीवन में ऐसा अवसर दिखाई नहीं देता, जहाँ वे हाथ पर गाल रखकर किसी चिन्ता में निमग्न हों। जीवन-भर में कोई दिन ऐसा नहीं, जिस दिन वे शोकाक्रान्त हो आँसू बहा रहे हों! कैसा भी झंझट सामने आये, सबको खेल-तमाशों में ही उन्होंने सुलझाया। चिन्ता या शोक को कभी पास न फटकने दिया। बाल्यकाल में ही नित्य कंस के भेजे असुर मारने को आ रहे हैं, किन्तु खेल-तमाशों में ही उन्हें ठिकाने लगाया जाता है। कंस जैसा घोर-कर्मा पातकी ताक में है, किन्तु यहाँ गोवत्सों को चराने के मिष से गोपसखाओं के साथ वंशी के स्वरों में राग अलापे जा रहे हैं। गोपियों के घरों का माखन उड़ाया जा रहा है, चीर-हरण का विनोद हो रहा है, रासलीला रची जा रही है। वर्तमान सभ्यता के अभिमानी जो महाशय इन चरित्रों पर आक्षेप करते हैं, वे श्रीकृष्णावतार का रहस्य नहीं समझते। इतना अवश्य कहेंगे कि यदि ये लीलाएँ न होतीं, तो भगवान् श्रीकृष्ण पूर्णावतार या साक्षात् भगवान् न कहलाते, आनन्द की पूर्ण अभिव्यक्ति उनमें न मानी जा सकती। आगे यौवन-चरित्रों में भी दुष्टों का संहार भी हो रहा है, राज्य की उन्नति भी हो रही है। जो सुन्दरियाँ अपने में अनुरूप सुनी जाती हैं, उनके साथ विवाहों का आयोजन भी चल रहा है। सब प्रकार के झंझट भी सुलझाये जा रहे हैं और राजधानी को पूर्ण समृद्धिमय बनाकर अनेक रानियों के साथ आदर्श गार्हस्थ्य-सुख का उपभोग भी हो रहा है। परिजात-वृक्ष लाकर सत्यभामा के मान का भी अनुरोध रखा जा रहा है। भूमि को स्वर्ग-रूप भी बनाया जा रहा है। अर्जुन जैसे मित्रों के साथ सैर का आनन्द भी लूटा जा रहा है। कदाचित् कोई मनचले महाशय प्रश्न करें कि बहुत-से पुरुष मद्यपानादि में वा अनेक स्त्रियों के सहवास में—

ऐशो आराम में ही अपना जीवन बिताना, जीवन का लक्ष्य मानते हैं, क्या उन्हें भी ईश्वर का पूर्णावतार समझा जाय, तो उत्तर होगा कि हाँ, समझा जा सकता था, यदि वे अपने धर्म से विच्युत न होते, यदि सब प्रकार के ऐशो आराम में रहकर भी उनमें निर्लिप्त रहा सकते, यदि विनोदमय रहकर भी अपने कर्त्तव्य को न भूलते, यदि लौकिक और पारलौकिक उन्नति से हाथ न धोते, यदि सब कुछ भोगते हुए भी क्षणमात्र में सबको छोड़कर कभी याद न करने की शक्ति रखते, यदि ऐसे भोग के परिणाम-रूप में नाना आधि-व्याधि वा भयानक शोक, मोह आदि से ग्रस्त न होते, यदि पूर्ण समृद्ध्यानन्द भोगते हुए भी शान्त्यानन्द में निमग्न रहते, यदि उस दशा में भी अपने अनुभव के—

अपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥
न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्मणि ॥

(श्रीमद्भगवत्गीता)

—ऐसे सच्चे उद्‌गार निकालकर संसार को शान्ति-समुद्र में लहरा सकते। क्या संसार में कोई जीव ऐसा दृष्टान्त है, जिसके जीवन में दुःख का स्पर्श भी न हुआ हो ? जिसने सब प्रकार के लौकिक सुख भोगते हुए भी अपना पूर्ण कर्त्तव्य-पालन किया हो ? जो संसार में लिप्त दीखता हुआ भी आत्मविद्या का पारंगत हो ? जो जगत्-भर को अन्याय से हटाने की चुनौती देता हुआ भी भय और चिन्ता से दूर रहे ? निःसन्देह ये परमानन्द परमात्मा के लक्षण हैं, जीवकोटि के बाहर की बातें हैं।

वेदान्त के ग्रन्थों में आनन्द का चिह्न प्रेमास्पदत्व को माना है, आत्मा को आनन्द-रूप इसी युक्ति से सिद्ध किया जाता है कि वह परम प्रेमास्पद है। औरों के साथ प्रेम आत्मार्थ होने पर ही सम्भव है, आत्मा में निरुपाधिक प्रेम है। भागवत में जब ब्रह्मा ने गोप-गोवत्स-हरण किया था और भगवान् श्रीकृष्ण ने सब गोप-गोवत्स अपने रूप से प्रकट कर दिये थे, उस प्रसंग में कहा है कि गौओं को वा गोपों के पिताओं को उनमें बहुत अधिक प्रेम हुआ। परीक्षित के कारण पूछने पर शुकाचार्य ने यही कारण बताया कि आत्मा आनन्द-रूप होने से परम प्रेमास्पद है, भगवान् श्रीकृष्ण सबके आत्मा हैं, आनन्दमय हैं, अतः उनके स्वरूप से प्रकट गोवत्सादि में अत्यधिक प्रेम होना ही चाहिए। अस्तु; जिसमें अधिक प्रेम हो, वह आनन्दमय होता है, यह इस प्रसंग से सिद्ध हुआ। इस लक्षण के अनुसार परीक्षा करें, तो भी भगवान् श्रीकृष्ण की आनन्दमयता पूर्णरूप से सिद्ध होती है। जैसा प्रेम का प्रवाह उन्होंने बहाया था, वैसा किसी ने नहीं बहाया। बाल्यकाल से ही सब उनके प्रेम में बँध गये थे। व्रज के खग, मृग, वृक्ष, लता भी वंशी-ध्वनि से प्रेमोन्मत्त हो जाते थे। गोप, गोपांगनाएँ अपने कुटुम्बियों से प्रेम छोड़ उनसे प्रेम करते थे। जो आसुर भाव से दबे हुए थे,

उन्हें छोड़ श्रीकृष्ण के प्रेम का प्रवाह भूमण्डल को प्लावित कर चुका था। शत्रु भी क्षणमात्र उनके प्रेम से आकृष्ट हो जाते थे, यह हम लिख चुके हैं। उस दिन ही क्यों ? आज भी सब श्रेणी, सब धर्मों के सब जाति के मनुष्यों का जितना प्रेम भगवान् कृष्ण पर देखा जाता है, उतना किसी पर नहीं। एक गवैया यदि गान का अभ्यास करता है, तो पहले श्रीकृष्ण उसकी जबान पर आते हैं, किसी जाति का कोई ऐसा अभागा गायक न होगा, जिसने श्रीकृष्ण के पद न गाये हों। तुकबन्दीवालों तक कोई ऐसा कवि न होगा, जिसने श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में कभी अक्षर न जोड़े हों। चित्रकला पर जिसने ज़रा भी हाथ जमाया है, वह श्रीकृष्ण की मूर्त्ति एक-आध बार अवश्य बना चुका होगा। मूर्त्ति बनाने का शिल्प जाननेवाला प्राय: ऐसा नहीं मिलेगा, जिसने श्रीकृष्ण की मूर्त्ति कभी न बनाई हो। धार्मिक भक्त, विलासी रसिया, राजनीतिक रिफार्मर, न्यू जेण्टलमैन, दार्शनिक, निरपेक्ष, सबके कमरों में या मकान की दीवारों पर किसी-न-किसी रूप में वे नजर आ जायेंगे। 'ताना-री-री' करनेवाले छोटे बच्चे, कुमार, किशोर, मार्ग में अलापते हुए तानसेन को मात देने की इच्छा रखनेवाले रसिया, खेतों के किसान, गाँवों की भोली-भाली स्त्रियाँ, सबकी जिह्वा पर किसी-न-किसी रूप में उनका नाम विराजित सुन पड़ेगा। और तो क्या, होली में उन्मत्त जनता भी आपके ही यश को अपनी वाणी पर नचाती है। भक्त लोग अपना सर्वस्व समझकर, धार्मिक लोग धर्मरक्षक समझकर, विलासी विलास के आचार्य समझकर, दार्शनिक गीता के प्रवक्ता समझकर, राजनीतिक नीति के पारंगत समझकर, देशहितैषी देशोद्धारक समझकर और गोसेवक गोपाल समझकर समय-समय पर उनका स्मरण करते हैं। साम्प्रदायिक भेद रहते हुए भी वैष्णव विष्णु का पूर्णावतार मानकर, शाक्त आद्याशक्ति का अवतार कहकर और शैव शिव का अनन्य समझकर उनको भजते हैं। शिव, विष्णु और शक्ति की उपासना में चाहे मतभेद रहें, श्रीकृष्ण-मूर्त्ति की ओर सबका झुकाव है। भारत के ही नहीं, अन्यान्य देशों के लोग भी कृष्ण-प्रेम से प्रभावित हुए हैं, उनके उपदेशों और चरित्रों का रूपान्तर सब देशों में हुआ है। मुसलमानों में रसखानि, खानखाना, नवाज, ताज बेगम आदि की बात तो प्रसिद्ध ही है। वर्त्तमान युग के ईसाइयों में भी कई विद्वानों ने इस बात की चेष्टा की है कि क्राइस्ट को श्रीकृष्ण का रूपान्तर सिद्ध किया जाय। आज भी, महात्मा गान्धी के अनुयायी चित्र में गान्धीजी के हाथ में सुदर्शन देकर या गोवर्धन-पर्वत उनकी भुजा पर रख कर उन्हें श्रीकृष्ण-रूप में देखने को उत्सुक हैं। यह बात क्या है ? क्यों श्रीकृष्ण के प्रेम का प्रवाह सबको आप्लुत कर रहा है ? उत्तर स्पष्ट है कि वे आनन्द-रूप हैं, सर्वात्मा हैं, परब्रह्म हैं, इसलिए प्राकृतिक रूप से सबको विवश होकर उनसे प्रेम करना पड़ता है। आसुर भावावेश के कारण जिनके अन्तरात्मा पर आवरण है, उनकी बात तो सदा ही निराली है। अस्तु; अव्ययपुरुष की पाँचों कलाओं का विकास भगवान् श्रीकृष्ण में परिपूर्ण है, यह संक्षेप में दिखा दिया गया। ब्रह्म के अन्य विश्वचर रूप प्रतिष्ठा-ज्योति: आदि जो पहले लिखे गये हैं, उनके विकास पर पाठक स्वयं विचार सकते हैं। इस प्रकार, क्षर की आध्यात्मिक कला-रूप स्वयम्भू आदि पाँच अवतार जो पहले बतलाये गये हैं, उनके प्राण-रूप शक्तियों का आविर्भाव संक्षेप में भगवान् श्रीकृष्ण में दिखलाया गया।

पहले कहा जा चुका है कि परमेष्ठिमण्डल विष्णुप्रधान है, और भगवान् श्रीकृष्ण विष्णु के ही अवतार माने जाते हैं, अतः परमेष्ठिमण्डल के सम्बन्ध में ही मुख्यतया विचार किया जाता है।

श्रीराधा और श्रीकृष्ण

बहुतों के चित्त में यह शंका होती है कि द्विजों का गौरवर्ण होना ही प्राकृतिक है, फिर ऐसे प्रतिष्ठित कुल के विशुद्ध क्षत्रिय राम और कृष्ण कृष्णवर्ण क्यों हैं ? कदाचित् कहा जाय कि ये विष्णु के अवतार हैं। विष्णु भगवान् कृष्णवर्ण हैं, इसलिए ये भी कृष्णवर्ण हैं, तो वहाँ भी प्रश्न होगा कि सत्त्वगुण के अधिष्ठाता भगवान् विष्णु भी कृष्णवर्ण क्यों ? सत्त्व का रूप शास्त्र में श्वेत माना गया है, रज का लाल और तम का काला। तमोगुण का अधिष्ठाता कृष्णवर्ण हो सकता है, किन्तु सत्त्व का अधिष्ठाता श्वेतवर्ण होना चाहिए। आइए, पहले इसी प्रश्न पर विचार करें। कृष्णवर्ण तीन प्रकार का है—अनुपाख्य कृष्ण, अनिरुक्त कृष्ण और निरुक्त कृष्ण। सृष्टि के पहले की अवस्था को कृष्ण कहा जाता है—'आसीदिदं तमोभूतम्' (मनु०)। यह अनुपाख्य कृष्ण है। जिसका हमें कुछ ज्ञान न हो सके, उसे कृष्ण और जो हमारी समझ में आ जाय, वह शुक्ल कहलाता है। निगूढ को कृष्ण और प्रकाशित को शुक्ल कहते हैं। यह औपचारिक प्रयोग है। काला परदा पड़ने पर कुछ नहीं दीखता, इसलिए न दीखनेवाली वस्तु काली कही जाती है। प्रकाश श्वेत मालूम होता है, इसलिए प्रकाशमान वस्तु को श्वेत कहते हैं। कार्य, जबतक उत्पन्न न हो, तबतक अपने कारण में निगूढ रहता है, उसका ज्ञान हमें नहीं होता, इसलिए कार्य की अपेक्षा से कारणावस्था को कृष्ण और कार्योत्पत्ति-दशा को शुक्ल कहते हैं। सब जगत् जहाँ निगूढ है, जहाँ आज दीखनेवाले जगत् का कोई ज्ञान नहीं, उस सब जगत् की कारणावस्था—पूर्वावस्था को दृश्यमान् जगत् की अपेक्षा कृष्ण ही कहना पड़ेगा। इसलिए, सब जगत् के कारण भगवान् विष्णु वा आद्याशक्ति कृष्णवर्ण ही कहे जाते हैं। इस कृष्ण का हमें कभी अनुभव नहीं होता, यह केवल शास्त्रवेद्य है, इसलिए इसे अनुपाख्य कृष्ण कहेंगे।

दूसरा अनिरुक्त कृष्ण वह है, जिसका अनुभव तो हो, किन्तु 'इदमित्थम्' रूप से एक केन्द्र में पकड़कर निर्वचन न किया जा सके। जैसे, ऊपर आकाश में, अन्धकार में वा आँख मींच लेने पर काले रूप का अनुभव होता है, किन्तु वह सर्व रूप का अभाव कालेपन से भासित है। किसी केन्द्र में पकड़कर उस काले रूप को निरुक्त नहीं किया जा सकता। तीसरा निरुक्त कृष्ण कोयला आदि पदार्थों में है। इनमें अनुपाख्य कृष्ण का अनिरुक्त कृष्ण में और अनिरुक्त कृष्ण का निरुक्त कृष्ण में अवतार होता है। या यों कहें कि पूर्व-पूर्व कृष्ण से ही उत्तरोत्तर कृष्ण का विकास होता है। चन्द्रमा, पृथ्वी और सूर्य ये तीनों मण्डल निरुक्त कृष्ण हैं। यह वैदिक सिद्धान्त है। पृथ्वी को वेद में कृष्णा कहा जाता है, अन्धकार पृथ्वी की काली किरणों का ही समूह है—यह भी वेद में प्राप्त होता है। 'चन्द्रमा वै ब्रह्मा कृष्णः' (शतपथ, १३।२।१।७) इत्यादि श्रुतियों में चन्द्रमा को भी कृष्ण कहा है, और 'आकृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च। हिरण्ययेन सविता रथेन देवो याति भुवनानि पश्यन्'

इत्यादि मन्त्रों में सूर्य-मण्डल को भी कृष्ण कहा है, और हिरण्यमय प्रकाश-भाग को सूर्य का रथ बताया है। तात्पर्य यह कि प्रकाश मण्डल एवं योगज है, कई प्राणों के सम्बन्ध से बनता है, सूर्य-मण्डल स्वभावतः कृष्ण ही है। आज के वैज्ञानिक भी इस सिद्धान्त के अनुकूल ही जा रहे हैं। अस्तु; इन तीनों से परे जो परमेष्ठी-मण्डल है, वह अनिरुक्त कृष्ण है। रूपों का अधिदेवता सूर्य है, सूर्य-किरणों से ही सब रूप बनते हैं, अतः सूर्य-मण्डल की उत्पत्ति के पूर्व परमेष्ठी-मण्डल में कोई रूप नहीं कहा जा सकता। उसे 'आपोमय मण्डल' वा 'सोममय मण्डल' कहा जाता है। सोम, वायु और आप् तीनों एक ही द्रव्य की अवस्थाएँ माने जाते हैं, वायु घनीभूत होने पर 'आप्' अवस्था में आ जाती है, और तरल होने पर 'सोम' अवस्था में। इसी द्रव्य में अनिरुक्त कृष्ण वर्ण प्रतीत हुआ करता है। यह द्रव्य परमेष्ठी की किरणों द्वारा बहुत बड़े आकाश-प्रदेश में व्याप्त है। सूर्य यद्यपि हमारे लिए बहुत बड़ा है, किन्तु इस सोम-मण्डल की अपेक्षा उसकी स्थिति (पॉजिशन) ऐसी ही है, जैसी घोर अन्धकारमय जंगल में एक टिमटिमाते दीपक की। एक सूर्य का प्रकाश जहाँतक पहुँचता है, उसकी परिधि-कल्पना कर वहाँतक ब्रह्माण्ड समझा जाता है, परिधि से बाहर अनन्त आकाश में यह अनिरुक्त कृष्ण सोम वा आप् भरा हुआ है। वही अनिरुक्त कृष्ण काले आकाश के रूप में हमें प्रतीत हुआ करता है। वह कृष्ण है, और सूर्य-प्रकाश की प्रतिमा 'राधा' है। 'राध्' धातु का अर्थ है 'सिद्धि'। सूर्य-प्रकाश में ही सब व्यावहारिक कार्य सिद्ध होते हैं, अतः 'राधा' नाम वहाँ अन्वर्थ (सार्थक) है। कृष्ण श्यामतेज है, राधा गौर-तेज। कृष्ण के अंक (गोद) में, अर्थात् श्याम-तेजोमय मण्डल के बीच में राधा विराजित हैं। ब्रह्माण्ड की परिधि के भीतर भी वह सोम-मण्डल व्याप्त है। जैसे, व्यापक आकाश में कोई दीवार (भित्ति) बनाई जाय, तो हमें प्रतीत होता है कि यहाँ अब आकाश (अवकाश) नहीं रहा। किन्तु, यह भ्रम है, उस दीवार के आधार-रूप से आकाश वहाँ मौजूद है, उसी में दीवार है, और दीवार हटते ही फिर आकाश ही आकाश रह जाता है। इसी प्रकार, सूर्य-प्रकाश होने पर वह कृष्ण सोम-मण्डल हमें प्रतीत नहीं होता, किन्तु प्रकाश उसीके आधार पर है, वह प्रकाश में अनुस्यूत है, और प्रकाश हटते ही (सूर्यास्त होते ही) फिर वह श्याम-तेज प्रतीत होने लग जाता है। वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर विना अन्धकार के प्रकाश और विना प्रकाश के अन्धकार कहीं नहीं रहता, दोनों परस्पर अनुस्यूत हैं। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि जहाँ एक दीपक का प्रकाश हो, वहाँ दूसरा दीपक और लाया जाय, तो प्रकाश अधिक प्रतीत होता है, तीसरा दीपक और आवे, तो और भी अधिक। दीपक जितने अधिक होंगे, प्रकाश में उतनी ही स्वच्छता आती जायगी। भला यह क्यों? जब एक दीपक के प्रकाश ने अपनी व्याप्ति के प्रदेश में से अन्धकार हटा दिया, तब फिर उसी प्रदेश में दूसरे दीपक का प्रकाश क्या विशेषता पैदा कर देता है कि हमें अधिक स्वच्छता प्रतीत होती है? मानना पड़ेगा कि एक दीपक का प्रकाश रहने पर भी उसमें अनुस्यूत अन्धकार था, जिसे दूसरे दीपक ने हटाया, फिर भी जो शेष था, उसे तीसरे और चौथे ने। स्मरण रहे कि श्याम-तेज ही अन्धकार-रूप से प्रतीत हुआ करता है। यों, प्रकाश में अनुस्यूत श्याम-तेज जब सिद्ध हो गया, तब मानना होगा कि हजारों दीपों का वा सूर्य का प्रकाश

रहने पर भी आंशिक श्याम-तेज की व्याप्ति हट नहीं सकती, वह आकाश की तरह अनुस्यूत रहती ही है। दूसरा प्रमाण यह है कि जिस स्थान में अनेक दीपक हों, वहाँ भी एक दीपक के सम्मुख भाग में कोई लकड़ी आदि आवरक पदार्थ रखें, तो उसकी धीमी-सी छाया, उसके सम्मुख भाग में, प्रतीत होगी, जितने अंश में प्रकाश का आवरण होकर स्वतःसिद्ध तम दीख पड़ता है, उसे ही छाया कहते हैं। जब एक दीप के प्रकाश का आवरण होने पर भी दूसरे दीपों का प्रकाश उसी स्थान में मौजूद है, तब यह छाया की प्रतीति क्यों ? मानना होगा कि प्रकृत दीपक जिस अन्धकार के अंश को हटाता था, उसके प्रकाश का आवरण होने पर वह अंश छाया-रूप से प्रतीत होता है। इसी प्रकार, निविड अन्धकार में भी प्रकाश का कुछ भी अंश न रहे, तो अन्धकार का प्रत्यक्ष ही न हो सके। विना प्रकाश की सहायता के नेत्ररश्मि कोई कार्य नहीं कर सकती। सिद्ध हुआ कि गौर-तेज और श्याम-तेज—राधा और कृष्ण, अन्योन्य-आलिंगत रूप में ही सदा रहते हैं, कभी कृष्ण के अंक में राधा छिपी हुई है, कभी राधा के अंचल में कृष्ण दुबक गये हैं। इसीसे दोनों एकरूप माने जाते हैं। एक ही ज्योति के दो विकास हैं, और एक के विना दूसरे की उपासना निन्दित मानी गई है :

गौरतेजो विना यस्तु श्यामतेजः समर्चयेत्।
जपेद्वा ध्यायते वापि स भवेत् पातकी शिवे ॥
तस्माज्ज्योतिरभूद् द्वेधा राधामाधवरूपकम्।

(सम्मोहनतन्त्र, गोपालसहस्रनाम)

इस विष्णु-रूप परमेष्ठिमण्डल का अवतार होने के कारण भगवान् श्रीकृष्ण का श्याम रूप था, और गौरवर्णा भगवती श्रीराधा से उनका अन्योन्य तादात्म्य सम्बन्ध था, निरतिशय प्रेम था। वहाँ राधा (प्रकाश-भाग) परमेष्ठिमण्डल की अपनी नहीं, परकीया है, इसलिए यहाँ भी राधा के साथ कृष्ण का विवाह-सम्बन्ध नहीं है। परमेष्ठिमण्डल को वेद में 'गोसव' और पुराण में 'गोलोक' कहा गया है, इसका कारण है कि गौ—जिन्हें किरण कह सकते हैं, उनकी उत्पत्ति परमेष्ठिमण्डल में होती है। आगे के मण्डलों में उन गौओं का विकास है, अतएव सूर्य और पृथ्वी के प्राणों में 'गौ' नाम आया है। इन गौओं का विवरण ब्राह्मण-ग्रन्थों में बहुत हैं। ये प्राण-विशेष हैं। हमारे 'गौ' नाम से प्रसिद्ध पशु में इस प्राण की प्रधानता रहती है, अतएव यह गौ भी हमारी आराध्य है। अस्तु; गौ का उत्पादक और पालक होने से परमेष्ठी 'गोपाल' है। प्रथमतः गौ उसे प्राप्त हुई—इसलिए 'गोविन्द' है। अतएव, हमारे चरितनायक भगवान् श्रीकृष्ण भी परमेष्ठी का अवतार होने के कारण गौओं के सहचारी बने, और गोपाल वा गोविन्द कहलाये। इसी प्रकार, परमेष्ठी का इन्द्र से सख्य (साहचर्य) है, (देखें—पूर्व आधिदैविक क्षर कलाओं का विवरण, परमेष्ठी के आगे इन्द्र-मण्डल उत्पन्न होता है, और इन्द्र परमेष्ठी से ही बद्ध है), इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण का भी इन्द्रांश अर्जुन से साहचार्यपूर्ण सौहार्द रहा।

आगे चन्द्र-मण्डल भी अवतारों में (क्षर की आधिदैविक कलाओं में) आया है, उसके प्राणों का प्रतिफल भी कृष्णचरितों में बहुत-कुछ दीख पड़ता है। चन्द्रमा समुद्र (आपोमय मण्डल) में रहता है।

चन्द्रमा अप्स्वन्तरा सुपर्णो धावते दिवि।
न वो हिरण्यनेमयः पदं विन्दन्ति विद्युतो वित्तं मे अस्य रोदसी ॥
(ऋ०, १।१०५।१)

इसलिए, भगवान् श्रीकृष्ण भी समुद्र के बीच में द्वारका बसाकर रहे। चन्द्रमण्डल श्रद्धामय है, इस कारण भगवान् श्रीकृष्ण में भी श्रद्धा बहुत अधिक थी। सामान्य ब्राह्मणों के भी अपने हाथों से चरण धोना, स्वयं उनके चरण दबाना, देवयजन, शिवाराधन आदि श्रद्धा के बहुत-से निदर्शन हैं। रासलीला का भी चन्द्रमा से बहुत सम्बन्ध है। चन्द्रमा राशिचक्र में रासलीला करता रहता है। प्राचीन काल में नक्षत्रों की गणना कृत्तिका से की जाती थी, उसके अनुसार विशाखा (नक्षत्र) सब नक्षत्रों की मध्यवर्त्तिनी होने से रासेश्वरी है, उसका दूसरा नाम 'राधा' भी है। अतएव, उसके आगे के नक्षत्र को 'अनुराधा' कहते हैं। विशाखा पर जिस पूर्णिमा को चन्द्रमा रहता है: उस दिन सूर्य कृत्तिका पर रहता है। सम्मुख-स्थित सूर्य की सुषुम्णा-रश्मि से विशाखायुक्त चन्द्रमा प्रकाशित होता है, कृत्तिका का सूर्य 'वृष' राशि का है, अतएव यह राधा वृषभानुसुता कही जाती है। फिर, जब पूर्ण चन्द्रमा (पूर्णिमा का चन्द्रमा) राधा के ठीक सम्मुख भाग में कृत्तिका पर आता है, तब कार्त्तिकी पूर्णिमा रास का मुख्य दिन होता है इत्यादि'। ये सब घटनाएँ भगवान् श्रीकृष्ण की 'रासलीला' में भी समन्वित होती हैं।

इस प्रकार, भगवान् विष्णु की और उनके मुख्य अवतार श्रीकृष्ण की उपासना का रहस्य संक्षेप में बताया गया। अब आगे भगवान् शिव की उपासना का रहस्य भी संक्षेप से कहा जाता है।

शिवोपासना

शिव, विष्णु आदि के रूप में परब्रह्म की ही उपासना होती है—यह कह चुके हैं। 'शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते' और 'एको रुद्रोऽवतस्थे' इत्यादि श्रुतियों में शिव को परंतत्त्व-रूप ही कहा है, किन्तु वाणी और मन से पर होने के कारण शुद्ध रूप में परतत्त्व की उपासना नहीं होती, इसलिए पुरुष-रूप में ही उपासना की जाती है। वैदिक विज्ञान मे परतत्त्व के पुरुष-रूपों का निरूपण किया जा चुका है और उनमें सर्वप्रथम प्रधान अव्ययपुरुष माना गया है। अव्ययपुरुष की पाँच कलाएँ भी बताई जा चुकी हैं। उनके नाम हैं—आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण और वाक्। इन पाँचों कलाओं के अधिष्ठाता-रूप से भगवान् शंकर के पाँच रूप माने जाते हैं, जिनके भिन्न-भिन्न ध्यान तन्त्र-ग्रन्थों में प्रसिद्ध हैं। आनन्दमय रूप की मृत्युंजय नाम से उपासना होती है; क्योंकि 'रस' स्वयं आनन्द-रूप है—'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' (श्रुति)। और, बल, जिसका दूसरा नाम मृत्यु भी है, उस आनन्द का तिरोधान करता है। मृत्यु (बल) का जय करने से, मन से हटा देने से, आनन्द प्रकट होता है, वा यों कहिए कि आनन्द ही मृत्यु का जय करके प्रकट हुआ करता है। इसलिए, आनन्द 'मृत्युंजय' है। दूसरी कला विज्ञानमय शंकरमूर्त्ति की 'दक्षिणामूर्त्ति' नाम से उपासना प्रसिद्ध है। 'विज्ञान' बुद्धि का नाम है, उसका घन 'सूर्य-मण्डल' है। सूर्य-मण्डल से ही

विज्ञान सौर जगत् के सब प्राणियों को प्राप्त होता है। सूर्य सौर जगत् के केन्द्र में स्थित है, वृत्त (मण्डल) में केन्द्र सबसे उत्तर माना जाता है। यह वृत्त की परिभाषा है, अतः विज्ञान उत्तर से दक्षिण को आनेवाला सिद्ध हुआ। इसी कारण, विज्ञानमय मूर्त्ति दक्षिणामूर्त्ति कही जाती है। वर्णमातृका पर यह मूर्त्ति प्रतिष्ठित है। विज्ञान का आधार वर्णमातृका है। इसके स्पष्टीकरण की सम्भवतः आवश्यकता न होगी। वे दोनों (मृत्युंजय और दक्षिणा-मूर्त्ति) प्रकाशप्रधान होने के कारण श्वेत वर्ण माने जाते हैं। तीसरी मनोमय (अव्यय-पुरुष की) कला के अधिष्ठाता 'कामेश्वर' शिव हैं। मन कामप्रधान है :

> कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमः यदासीत्।
> सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीस्या कवयो मनीषा॥
>
> (ऋ०, १०।१२९।४)

इस कारण, इसका 'कामेश्वर' नाम है और मन के धर्म अनुराग का वर्ण 'रक्त' माना जाता है, इसलिए यह कामेश्वर-मूर्त्ति तन्त्रों में रक्तवर्ण मानी गई है। पंचप्रेत-पर्यंक पर शक्ति के साथ विराजमान इस कामेश्वर-मूर्त्ति की उपासना तान्त्रिकों में प्रसिद्ध है। चौथी कला प्राणमय मूर्त्ति 'पशुपति', 'नीललोहित' आदि नामों ने उपासित होती है। यह पंच-मुखी मूर्त्ति है। आत्मा-पशुपति प्राण-रूप पाश के द्वारा विकार-रूप पशुओं का नियमन करता है। अतः प्राणमय मूर्त्ति को ही 'पशुपति' कहना युक्तियुक्त है। वैदिक परिभाषा में प्राण दो प्रकार का है—एक आग्नेय, दूसरा सौम्य। अग्नि का वर्ण लोहित (सुनहरा) और सोम का नील वा कृष्ण माना गया है। 'यदग्ने रोहितं रूपम्', 'तेजसस्तद्रूपम्', 'यच्छुक्लं तदपाम्', 'यत्कृष्णं तदन्नस्य' (छान्दोग्योपनिषद्, प्रपा० ६, ख० ४)। सोम ही अन्न होता है, इस कारण यहाँ अन्न शब्द से सोम का निर्देश हुआ है, इसीलिए यह मूर्त्ति नीललोहित कुमार नाम से प्रसिद्ध है। इन दोनों रूपों के सम्मिश्रण से पाँच रूप बनते हैं, इसलिए पाँच वर्ण के पाँच मुखों का ध्यान इस मूर्त्ति का ध्यान कहा गया है :

> मुक्तापीतपयोदमौक्तिकजपावर्णैर्मुखैः पञ्चभि-
> स्त्र्यक्षैरञ्चितमीशमिन्दुमुकुटं पूर्णेन्दुकोटिप्रभम्।
> शूलं टङ्कृणपाणिवज्रदहनान्नागेन्द्रघण्टाङ्कुशान्।
> पाशं भीतिहरं दधानमगिताकल्पोज्ज्वलाङ्गं भजे॥

सोम (कृष्णवर्ण) पर जब अग्नि (लोहित) आरूढ हो, तब धूमिल रक्त होता है, और अग्नि पर सोम आरूढ हो, तो पीतरूप हो जाता है। सोम और अग्नि की मात्रा के तारतम्य से और भी मनेतिया, बैंगनी, हरित आदि रूप बनते हैं। अस्तु; यहाँ इस विषय का विस्तार करने से प्रकरण-विच्छेद का भय है।

इस पंचमुखी मूर्त्ति का एक मुख सबके ऊपर है और चार मुख चारों दिशाओं में। ऊर्ध्वमुख ईशान नाम से, पूर्वमुख तत्पुरुष नाम से, दक्षिण अघोर नाम से, उत्तर वामदेव नाम से और पश्चिम सद्योजात नाम से पूजा जाता है। पाँचवीं कला वाङ्मय मूर्त्ति भूतेश

नाम से उपास्य है। वाक्, अन्न और भूत—ये शब्द एक ही अर्थ के बोधक हैं, यही भूतेश शिव अवर मूर्त्ति माने जाते हैं। इस प्रकार, अव्यय पुरुष के रूप में भगवान् शिव की उपासना का विवरण हुआ, आगे अक्षर पुरुष के रूप में भी इसका विवरण प्रस्तुत किया जाता है।

अक्षर-रूप में शिवोपासना

एकमूर्त्तिस्त्रयो देवा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।

ब्रह्मा, विष्णु और शिव एक ही हैं। एक ही अक्षर पुरुष के तीन रूप हैं, एक ही शक्ति के तो तीन व्यापार हैं—दृष्टिमात्र का भेद है। एक ही बिन्दु पर तीनों शक्तियाँ रहती हैं, किन्तु कार्यवश कभी भिन्न-भिन्न स्थान भी ग्रहण कर लेती हैं। चेतन प्राणियों में विशेष कर शक्तियों का स्थान-भेद देखा गया है, वहाँ प्रतिष्ठा-बल मध्य में और गति-बल और आगति-बल इधर-उधर रहते हैं। जैसा मनुष्य-शरीर के अन्तर्गत हृदय-कमल में ब्रह्मा की, नाभि में विष्णु की और मस्तक में शिव की स्थिति मानी गई है। मनुष्य-शरीर पार्थिव है, पृथ्वी से जो प्राण मानव-शरीर में आता है, वह नीचे से ही आता है। इसलिए, आदान-शक्ति के अधिष्ठाता विष्णु की स्थिति नाभि में कही गई है, और उत्क्रमणे उससे विपरीत दिशा में होना सिद्ध ही है, इससे महेश्वर की स्थिति शिरोभाग में मानी जाती है। सम्पूर्ण शरीर की प्रतिष्ठा हृदय है, हृदय में ही एक प्रकार की तिलमात्र ज्योति याज्ञवल्क्य-स्मृति आदि में बताई जाती है, वहीं से सब शरीर को चेतना मिलती है, अतः वह ब्रह्मा का स्थान हुआ। सन्ध्योपासन में इन्हीं स्थानों में इन तीनों देवताओं का ध्यान होता है, किन्तु वृक्षों में यह स्थिति कुछ बदल गई है, वहाँ के लिए यों कहा जाता है :

मूलत ब्रह्मरूपाय मध्यतो विष्णुरूपिणे ।
अग्रतः शिवरूपाय अश्वत्थाय नमो नमः ।।

यहाँ अश्वत्थ को प्रधान् वृक्ष मानकर उपलक्षण-रूप से अश्वत्थ का नाम, लिया गया है, सभी वृक्षों की स्थिति इसी प्रकार है। उनकी प्रतिष्ठा (जीवन) मूल पर निर्भर है. इसलिए मूल में ब्रह्मा कहा जाता है। मूल से जो रस आता है, उसके द्वारा वृक्ष का पालन वा पोषण मध्य भाग से होता है। आया हुआ रस यज्ञ द्वारा गूदा, त्वचा आदि के रूप में मध्यभाग में ही परिणत होता है। इससे यज्ञ-रूप पालक विष्णु की स्थिति मध्य में मानी गई है और यह रस ऊपर के भाग से उत्क्रान्त होता रहता है। इसीसे वृक्ष के ऊपरी भाग से शाखा, पत्ते आदि निकलते रहते हैं। अतएव, उत्क्रान्ति का अधिपति महेश्वर वहाँ भी अग्र-भाग में ही माना गया है। यह सब इन्द्रप्राण-रूप से महेश्वर की उपासना है। अक्षरपुरुष के निरूपण में कह चुके हैं कि इन्द्र, अग्नि, और सोम तीनों अक्षरों को मिलाकर महेश्वर के नाम से इनकी उपासना होती है। और इसलिए 'वन्दे वह्निशशाङ्कसूर्यनयनम्' इत्यादि ध्यान में सूर्य, चन्द्र और अग्नि को शिव का नेत्र माना है। यह आधिदैविक रूप में शिवोपासना है।

क्षर-रूप में शिवोपासना

क्षरपुरुष की प्राण-कला ऋषि, पितृ और देव के रूप में परिणत होती है, यह कह चुके हैं। देवों में पृथ्वी, अग्नि, अन्तरिक्ष की वायु और द्युलोक का देव सूर्य है—यह भी विज्ञान-प्रसंग में निरूपित हो चुका है। अन्तरिक्ष की वायु ही रुद्र भी कही जाती है। वे रुद्र शिव के ही अवतार वा गुण माने जाते हैं, और उनके रूप में भी शिव की उपासना होती है, यह रुद्र-रूप से शिवोपासना है। रुद्र नाम यद्यपि वायु का है, किन्तु वायु दो प्रकार की है—एक, अग्नि से सम्बद्ध अग्निप्रधान, और दूसरी, सोमप्रधान। अग्निप्रधान वायु भुवः, अर्थात् हमारे इस अन्तरिक्ष में रहती है और सोमप्रधान वायु सूर्य-मण्डल के ऊपर परमेष्ठि-मण्डल के जनः तपः लोकों में रहती है। अन्तरिक्ष की वायु अग्नि-सम्बन्ध से उपद्रावक वा रोगजनक है। उसे रौद्र वायु कहते हैं, और परमेष्ठिमण्डल की सोमप्रधान वायु पूर्ण शान्ति-प्रद होने के कारण साम्ब सदाशिव कहलाती है। इसी कारण, ऐतरेय ब्राह्मण में अग्नि को ही रुद्र कहा है। 'अग्निर्वा रुद्रः तस्य द्वे तन्वौ घोरान्या च शिवान्या च', अग्निमिश्रित वायु को रुद्र मान लेने पर दोनों बातों की उपपत्ति हो जाती है। अर्थात्, रुद्र वायु-रूप भी है और अग्नि-रूप भी। ये अग्नि और वायु भौतिक अग्नि-वायु नहीं, प्राण-रूप हैं। इनमें परस्पर जन्यजनक भाव है, इसलिए ब्राह्मणों में कहीं अग्नि को वायु-जनक बताया है और कहीं अग्नि को वायु-उत्पादक। भौतिक अग्नि दोनों प्राणों के सम्मिश्रण से ही उत्पन्न होती है, इसलिए रुद्र को 'कृशानुरेता' कहा जाता है, अर्थात् कृशानु—अग्नि रुद्र का रेत वा वीर्य है। यह रुद्र-प्राण हमारी त्रिलोकी में व्याप्त है। यह शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के फल पैदा करता है, इसीलिए उक्त ब्राह्मण-श्रुति ने कहा है कि रुद्र नाम अग्नि के दोनों रूप हैं—घोर और शिव। आगे सूर्य से ऊपर के जन और तप लोकों की वायु सदा ही कल्याणकारक है। इसलिए, उसे सदाशिव कहते हैं। वह सोमप्रधान है और सोम की ही स्थूल अवस्था जल है। जल का नाम वैदिक भाषा में अम्बा' भी है। इसलिए, सोमप्रधान वायु साम्ब सदाशिव, अर्थात् अम्बा के साथ सदाशिव, इस रूप में वर्णन किया जाता है। इनमें घोर-रूप रुद्र से श्रुतियों में यह प्रार्थना की जाती है कि आप हमारी, हमारे कुटुम्ब की रक्षा कीजिए। आपके धनुष का बाण हम पर न चले। आप धनुष की प्रत्यंचा उतार दीजिए। आप मूजवान् पर्वत से भी परे पधारिए इत्यादि।[1] और, शिववायु से पधारकर कल्याण करने की प्रार्थना की जाती है।[2] रुद्र ग्यारह प्रसिद्ध हैं। आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक वा अधियज्ञ-भेद से इन ग्यारह के पृथक्-पृथक् नाम श्रुति, पुराण आदि में

---

१. 'मानस्तोके तनये मान आयुः मानो गोषु मानो अश्वेषु रिरीषः।
मानो वीरान् रुद्र भामिनोवधीर् हविष्मन्तः सदमित्वा हवामहे॥'
'विज्यं धनुः कपर्दिनो विशल्यो बाणवाम् उत।'
'परो मूजवतोतीहि।' इत्यादि

२. याते रुद्र शिवातनुघोरापापनाशिनी तयानस्तन्वा शान्तमया गिरिशन्ताभिचाकशीहि।—इत्यादि।

प्राप्त होते हैं। शतपथ, चतुर्दश काण्ड, (बृहदारण्यक उपनिषद्) अ० ५, ब्राह्मण ९ में शाकल्य और याज्ञवल्क्य के प्रश्नोत्तर में देवता-निरूपण में (दशेमे पुरुषे प्राणाः आत्मैकादशः) पुरुष के दस प्राण और ग्यारहवाँ आत्मा आध्यात्मिक रुद्र बताये गये हैं। दस प्राणों की व्याख्या अन्यत्र श्रुति में इस प्रकार है—'सप्त शीर्षण्याः प्राणाः द्वाववाञ्चौ, नाभिर्दशमी'—मस्तक में रहनेवाले सात प्राण, दो आँख, दो नाक, दो कान, और एक मुख, नीचे के दो प्राण, मल-मूत्र त्यागने के दो द्वार और दसवीं नाभि अन्तरिक्षस्थ वायु-प्राण ही हमारे शरीरों में प्राण-रूप होकर प्रविष्ट हैं और वे ही इन दसों स्थानों में कार्य करते हैं, इसलिए इन्हें रुद्र-प्राण के सम्बन्ध से 'रुद्र' कहा गया है। ग्यारहवाँ आत्मा भी यहाँ 'प्राणात्मा' ही विवक्षित है, जो कि इन दसों का अधिनायक 'मुख्य प्राण' कहलाता है। आधिभौतिक रुद्र पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा, यजमान (विद्युत्), पवमान, पावक और शुचि नाम से कहे गये हैं। इनमें आदि के आठ शिव की अष्टमूर्त्ति कहलाते हैं, जिनका निरूपण आगे किया गया है। और, आगे के तीन (पवमान, पावक और शुचि) घोर-रूप हैं। ये उपद्रावक रुद्र (वायुविशेष) हैं। इनमें शुचि सूर्य में, पवमान अन्तरिक्ष में और पावक पृथ्वी में कार्य करता हैं, किन्तु हैं तीनों अन्तरिक्ष में वायु। अष्टमूर्त्ति की उपासना है और तीनों से पृथक् रहने की प्रार्थना है। आधिदैविक एकादश रुद्र तारा-मण्डलों में रहते हैं। इनके कई नाम भिन्न-भिन्न रूप से मिलते हैं— १. अज एकपात्, २. अहिर्बुध्न्य, ३. विरूपाक्ष, ४. त्वष्टा, अयोनिज वा गर्भ, ५. रैवत, भैरव, कपर्दी वा वीरभद्र, ६. हर नकुलीश, पिंगल वा स्थाणु ७. बहुरूप, सेमानी वा गिरीश, ८. त्र्यम्बक, भुवनेश्वर, विश्वेश्वर वा सुरेश्वर, ९. सावित्र, भूतेश वा कृपाली, १०. जयन्त, वृषाक, विशम्भु वा सन्ध्य और ११. पिनाकी, मृगव्याध, लुब्धक या शर्व। इनका पुराणों में स्थान-स्थान पर विस्तृत वर्णन है। वे सब तारा-मण्डल में तारा-रूप से दिखाई देते हैं। रुद्र-प्राण इनमें अधिकता से रहता है, और इनकी रश्मियों से भूमण्डल में आया करता है, इसीसे इन्हें 'रुद्र' कहा गया है। इनमें भी 'घोर' और 'शिव' दोनों प्रकार की रुद्राग्नि है। इनके आधार पर फलाफल हिन्दू-शास्त्रों में प्रसिद्ध है—जैसे श्लेषा-नक्षत्र पर सूर्य के रहने पर जो वर्षा होती है, उसे रोगोत्पादक और मघा की वर्षा को रोगनाशक माना जाता है इत्यादि। रोम देश के पुराने तारा-मण्डल के चित्रों में सर्पधारी, कपालधारी, शूलधारी आदि भिन्न-भिन्न आकारों के इन ताराओं के चित्र दिखाई देते हैं, उन ताराओं का आकार ध्यानपूर्वक देखने पर उसी सन्निवेश का प्रतीत होता है, इसीलिए उनके वैसे आकार बनाये गये हैं। ऐसे ही शिव के भी विभिन्न रूप उपासना में प्रसिद्ध हैं। पुराणों में कई एक शिव के आख्यान इन तारों के ही सम्बन्ध के हैं, जैसा शिव ने ब्रह्मा का एक मस्तक काट दिया—इस कथा का 'लुब्धक बन्धु' तारे से सम्बन्ध है। यह कथा ब्राह्मणों में भी प्राप्त होती है, और वहाँ इसका तारापरक ही विवरण मिलता है। दक्षयज्ञ की कथा भी आधिदैविक और आधिभौतिक—दोनों भावों से पूर्ण है। वह मनुष्याकारधारी शिव का चरित्र भी है और दक्ष का सिर काटकर उसकी जगह बकरे का सिर लगाया गया—इसका यह आशय भी है कि प्राचीन काल में नक्षत्रों की गणना कृत्तिका को आरम्भ में रखकर होती थी, किन्तु उसे

अश्विनी (मेष) से आरम्भ किया गया। इसी प्रकार की कई एक कथाएँ अधिदैविक भाव की हैं। यज्ञ में ११ अग्नि होती हैं। पहले तीन अग्नि हैं—गार्हपत्य, आहवनीय, धिष्ण्य। इनमें गार्हपत्य के दो भेद हो जाते हैं। इष्टि में जो गार्हपत्य था, वह सोमयाग में पुराण गार्हपत्य कहलाता है। और, इष्टि के आहवनीय को सोमयाग में गार्हपत्य बना लेते हैं। यह नूतन गार्हपत्य कहलाता है। धिष्ण्याग्नि के ८ भेद हैं, जिनके नाम श्रुति में आग्निध्रीय, अच्छावाकीय, नेष्ट्रीय, पोष्टत्रीय, ब्राह्मणाच्छसीय, होत्रीय, प्रशास्त्रीय और मार्जालीय हैं। आहवनीय एक ही प्रकार का है। इस प्रकार ११ होते हैं। ये सब अन्तरिक्षस्थ अग्नियों की अनुकृति हैं, इसलिए ये भी एकादश रुद्र के रूप में प्रसिद्ध हैं। ये शिव-रूप ही यज्ञ में ग्राह्य हैं। घोर-रूपों का यज्ञ में प्रयोजन नहीं।

यह रुद्र-रूप शिव का कर्मकाण्ड और उपासना से सम्बन्ध संक्षेप में बताया गया।

विश्वचर ईश्वर और शिवमूर्त्ति

विश्व के उत्पादक अव्यय, अक्षर और क्षरपुरुषों के रूप में शिवोपासना संक्षेप में दिखाई गई। शिव का 'विश्व' रूप है। ईश्वर जगत् को रचकर उसमें प्रविष्ट होता है। वह प्रविष्ट होनेवाला रूप ईश्वर का 'विश्वचर' रूप कहा जाता है, यही रूप सब जगत् का नियन्ता है और व्यवहार में, न्याय-दर्शन में वा उपासना-शास्त्रों में यही नियन्ता 'ईश्वर' कहलाता है। ईश्वर के इस रूप की व्याप्ति सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में है, समष्टि ब्रह्माण्ड में और प्रत्येक व्यष्टि पदार्थ में यह व्यापक रूप से विराजमान है और ब्रह्माण्ड से बाहर भी व्याप्त रहकर ब्रह्माण्ड को अपने अन्दर उदर में रखे हुए है। बाहर रहनेवाला रूप विश्वातीत कहलाता है :

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्च ॥

यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद् यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चिद्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णपुरुषेण सर्वम् ॥
यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको यस्मिन्निदं संचविचैति सर्वम्।
तमीशानं वरदं देवमीड्यं, निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति ॥

सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः।
सर्वव्यापी स भगवांस्तस्मात् सर्वगतः शिवः॥

(श्वेताश्वतर उपनिषद्)

—इत्यादि शतशः मन्त्रों में ईश्वर के विश्वचर रूप का वर्णन मिलता है और इनमें 'शिव', 'ईशान', 'रुद्र' आदि पद भी स्पष्ट हैं।

यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ईश्वर का शरीर कहलाता है, इस शरीर का वर्णन इस प्रकार प्राप्त होता है।

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ
दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य,
पद्भ्यां पृथिवी ह्येव सर्वभूतान्तरात्मा॥
(मुण्ड०, २।१।४)

अर्थात्, अग्नि जिसका मस्तक है, चन्द्रमा-सूर्य दोनों नेत्र हैं, दिशाएँ श्रोत्र हैं, वेद वाणी है, विश्वव्यापी वायु प्राण-रूप से हृदय में है, पृथ्वी पाद-रूप है—वह सब भूतों का अन्तरात्मा है।

इसी प्रकार का संक्षिप्त वा विस्तृत वर्णन पुराणों में प्राप्त होता है। इसी वर्णन के अनुसार उपासना में शिवमूर्त्ति के ध्यान हैं। हम पहले कह चुके हैं कि अग्नि की व्याप्ति इक्कीस स्तोम (सूर्य-मण्डल) तक है। इसी अग्नि को यहाँ मस्तक बताया गया है और उसी मस्तक के अन्तर्गत सूर्य और चन्द्रमा को नेत्र माना है। यों, पृथ्वी से आरम्भ कर सूर्य-मण्डल से परे स्वयम्भू-मण्डल तक ईश्वर की व्याप्ति बताई जाती है। हमारी आराध्य शिवमूर्त्ति में भी तृतीय नेत्र-रूप से अग्नि ललाट में विराजमान है, जो अन्य दोनों नेत्रों से किंचित् ऊपर तक है। सूर्य और चन्द्रमा दोनों नेत्र हैं ही—'वन्दे सूर्यशशाङ्कवह्निनयनम्', यह त्रिनेत्र का दूसरा भाव हुआ। यहाँतक अग्नि की व्याप्ति हुई, इससे आगे सोम-मण्डल है और सोम की तीन अवस्थाएँ है—अप्, वायु और सोम, यह भी पहले कह चुके हैं। इनमें से सोम चन्द्रमा-रूप से, अप् गंगा-रूप से और वायु जटा-रूप से शंकर के मस्तक में (अग्नि आदि से ऊपर) विराजमान है। सूर्य-मण्डल से ऊपर परमेष्ठिमण्डल का सोम, मण्डल-रूप में नहीं है, इसलिए शिव के मस्तक पर भी चन्द्रमा का मण्डल नहीं, किन्तु कलामात्र है। सोम के ही तीन भाग हैं, जो तीन कला (अंश, अवयव) कहे जा सकते हैं। केवल सोम पूर्णरूप में नहीं रहता, किन्तु भागों में विभक्त होकर रहता है, इसलिए भी चन्द्र की कला का मस्तक पर विराजित होना युक्तियुक्त है। मण्डल-रूप पृथ्वी का चन्द्रमा पहले नेत्रों में आ चुका है, यह स्मरणीय है। परमेष्ठिमण्डल का 'अप्' ही गंगा के रूप में परिणत होता है, यह गंगा के विज्ञान में स्पष्ट किया गया है। वह गंगा जटा में है, अर्थात् वायु-मण्डल में व्याप्त है। शिव का नाम 'व्योमकेश' है, अर्थात् आकाश को उनकी जटा माना गया है और आकाश वायु से व्याप्त ही पाया जाता है :

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।

— इत्यादि पूर्वोक्त स्मरण कीजिए। इससे भी जटाओं का वायु-रूप होना सिद्ध है। एक-एक केश के समूह को 'जटा' कहते हैं और वायु का भी एक-एक डोरा पृथक्-पृथक् है, जिनकी समष्टि 'वायु' कहलाती है—यह जटा और वायु का सादृश्य है। पृथ्वी का अधिकतर सम्बन्ध सूर्य से ही है, आगे के सोम-मण्डल का पृथ्वी से साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता, सूर्य-चन्द्र द्वारा होता है, इससे हमारा असली ब्रह्माण्ड सूर्य तक ही है। यही यहाँ भी (शिवमूर्त्ति में भी) सूचित किया है; क्योंकि मस्तक तक ही शरीर की ख्याति है—केश मुख्यतः शरीर के

अंश नहीं कहे जाते। शरीर का भाग ही अवस्थान्तरित होकर केश-रूप में परिणत होता है। इसी प्रकार अग्नि ही अवस्थान्तरित होकर सोम-रूप में परिणत होती है, यह कह चुके हैं। यह परमेष्ठिमण्डल की वायु जटा-रूप से है और जिसे श्रुति में प्राण-रूप से हृदय में विराजमान कहा है। वह हमारे इसी अन्तरिक्ष की वायु है। पद्मपुराण में पृथ्वी का पद्म-रूप से निरूपण किया है और शंकर का ध्यान पद्मासन-स्थित रूप में है—'पद्मासीनं समन्तात् स्तुतममरगणैः', इससे पृथ्वी की पादरूपता भी ध्यान में आ जाती है। इस ब्रह्माण्ड में ईश्वर के शरीर विष और अमृत दोनों हैं। विष भी कहीं बाहर नहीं, ईश्वर-शरीर में ही है। किन्तु, ईश्वर विष को गुप्त—अन्तर्लीन रखता है और अमृत को प्रकट। ईश्वर के जो उपासक ईश्वर के शरीर-रूप से जगत् को देखते हैं, उनकी दृष्टि में अमृत ही आता है। विष विलीन ही रहता है। अतएव, शंकर की मूर्ति में विष गले के भीतर है, वह भी कालिका-रूप से मूर्त्ति की शोभा ही बढ़ा रहा है। अमृतमय चन्द्रमा स्पष्ट रूप से सिर पर विराजमान है। वैज्ञानिक समुद्र-मन्थन के द्वारा जो विष प्रकट होता है, उसे रुद्र ही धारण करते हैं। ईश्वर को शास्त्रकारों ने 'विरुद्धधर्माश्रय' माना है, जो धर्म हमें परस्पर विरुद्ध प्रतीत होते हैं, वे सब ईश्वर में अविरुद्ध होकर रहते हैं। सभी विरुद्ध धर्मों को ब्रह्माण्ड में ही तो रहना है, बाहर जायँ तो कहाँ? और, ब्रह्माण्ड ठहरा ईश्वर-शरीर, फिर वहाँ विरोध कैसा? यह भाव भी शिवमूर्त्ति में स्पष्ट है कि वहाँ अमृत भी है, विष भी; अग्नि भी है, जल भी, किसी का परस्पर-विरोध है ही नहीं। इस भाव को पार्वती की उक्ति में कविकुलगुरु कालिदास ने बड़े सुन्दर शब्दों में चित्रित किया है:

विभूषणोद्भासि भुजङ्गभोगि वा
गजाजिनालम्बि दुकूलवारि वा।
कपालि वा स्यादथवेन्दुशेखरं
न विश्वमूर्त्तेरवधार्यते वपुः॥

(कुमारसम्भव, अ० ५)

अर्थात्, वह शरीर भूषणों से भूषित भी है और सर्प-शरीरों से वेष्टित भी। गजचर्म भी ओढ़े हुए है और सुन्दर-सुन्दर बहुमूल्य वस्त्रधारी भी हो सकता है। वह शरीर कपाल-पाणि भी है और चन्द्रमुकुट भी। जो विश्वमूर्त्ति ठहरा, उस शरीर का एक रूप से निश्चय कौन कर सकता है?

भगवान् शंकर के हाथ में परशु, मृगवर और अभय बताये गये हैं:

परशुमृगवराभीतिहस्तं प्रसन्नम्।

ध्यान में हाथों के द्वारा देवमूर्त्ति के कार्य प्रकट किये जाते हैं—यह 'निदान' की परिभाषा है। यहाँ भी शंकर के (ईश्वर के) चार कर्म इन चिह्नों द्वारा बताये गये हैं। परशु (वा त्रिशूल) रूप आयुध से दुष्टों का आत्मविघातक दोषों और उपद्रवों का, पवमान, पावक, शुचि आदि घोर रुद्रों का हनन सूचित किया जाता है। काल आने पर सबका हनन भी इसीसे सूचित हो जाता है। दूसरे हाथ में मृग है। शतपथब्राह्मण, काण्ड १, अध्याय १,

ब्राह्मण ४ में कृष्णमृग को यज्ञ का स्वरूप बताया गया है। अन्यत्र शतपथ और तैत्तिरीय में यह भी आख्यान है कि अग्नि वनस्पतियों में प्रविष्ट हो गई—'वनस्पतीनाविवेश'। इस ऋचा को भी वहाँ प्रमाण-रूप में उपस्थित किया गया है। उस अग्नि को देवताओं ने ढूँढा, इससे 'मृग्यत्वान्मृगः'—ढूँढ़ने योग्य होने से वह अग्नि 'मृग' कहलाई। यह अग्नि वेद की रक्षक है। अस्तु; दोनों ही प्रकार के मृग के धारण द्वारा यज्ञ वा वेद की रक्षा—यह ईश्वर का कर्म सूचित किया गया है। वर-मुद्रा के द्वारा सबको सब कुछ देनेवाला ईश्वर (शंकर) ही है। अग्नि, वायु और इन्द्र-रूप से वही सब जगत् का पालक है—यह भाव व्यक्त किया है, और अभय के द्वारा अनिष्ट से जगत् का त्राण विवक्षित है। यम, निर्ऋति, वरुण और रुद्र—ये चार जगत् के अनिष्टकारक माने गये हैं। इनमें रुद्र समय पर हनन करता है और अन्य अनिष्टों का उपमर्दन कर रक्षा भी करता है। इसीसे रुद्र-मूर्त्ति में अभय-मुद्रा आवश्यक है। शंकर व्याघ्रचर्म को नीचे के अंग में पहनते हैं वा आसन बनाकर बिछाते भी हैं और गजचर्म को ऊपर ओढ़ते हैं, इससे भी उपद्रवों दुष्टों का दबना और सम्पत्ति देना लक्षित होता है। उनके गले में जो मुण्डमाला है, उससे यही सूचित होता है कि सब जगत् के पदार्थ ईश्वर के रूप में अन्तर्गत हैं, उनके रूप में सब पिरोये हुए हैं :

मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।

ईश्वर-सत्ता से पृथक् किये जाने पर सब पदार्थ अचेतन-मृत हैं, यही भाव 'मुण्ड'-रूप से सूचित किया है। प्रलय-काल में शिव ही शेष रहते हैं, शेष सब पदार्थ चेतनाशून्य होकर मृत मुण्ड-रूप से उनमें प्रोत रहते हैं, यह भी मुण्डमाला का भाव है।

सर्प

शिव को 'सर्पभूषण' कहा जाता है। उनकी मूर्त्ति में जगह-जगह साँप लिपटे हुए हैं। इसका स्थूल अभिप्राय कह चुके हैं कि मंगल और अमंगल सब कुछ ईश्वर-शरीर में है। दूसरा अभिप्राय यह भी है कि संहारकारक शिव के पास संहार-सामग्री भी रहनी ही चाहिए। समय पर उत्पादन और समय पर संहार—दोनो ईश्वर के ही कार्य हैं। सर्प से बढ़कर संहारक तमोगुणी कोई हो ही नहीं सकता। क्योंकि, अपने बालकों को भी खा जाना—यह व्यापार सर्प-जाति में ही देखा जाता है, अन्यत्र नहीं। तीसरा अभिप्राय किंचित् निगूढ है। चन्द्रमा, मंगल, बृहस्पति आदि ग्रह, जो सूर्य के चारों ओर घूमते हैं—वे अपने एक परिभ्रमण में जिस मार्ग पर गये थे, ठीक उसी बिन्दु पर दूसरी बार नहीं जाते। किंचित् हटकर उसी मार्ग पर चलते हैं, यों एक-एक बार के भ्रमण का एक-एक कुण्डलाकार वृत्त बनता जाता है। कुछ नियत परिभ्रमणों के बाद वे फिर अपने उस पूर्ववृत्त पर आ जाते हैं, यह नियम भिन्न-भिन्न ग्रहों का भिन्न-भिन्न रूप से है। मंगल ७९ वर्ष में फिर अपने पूर्ववृत्त पर आता है और ग्रहों का भी समय नियत है। यह भिन्न-भिन्न मण्डलों का समुदाय रस्सी की तरह लपेटा हुआ ध्यान में लाया जाय, तो वह सर्प-कुण्डली के आकार का ही होता है। अतः, वेदों में इनका व्यवहार नाग वा सर्प कहकर ही किया गया है। आधुनिक ज्योतिषशास्त्र में इन्हें कलावृक्ष कहते हैं। सूर्य को मध्य में रखकर घूमनेवालों में आठ ग्रह मुख्य हैं, अतः आठ ही सर्प

प्रधान माने गये हैं। और, भी बहुत-से तारे घूमनेवाले हैं। उनके लघुसर्प बनते हैं। ये सब ग्रह और उनके कक्षा-वृत्त (सर्प) ईश्वर के शरीर—ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत हैं, इसलिए शिव के शरीर में भूषण-रूप से सर्पों की स्थिति बताई गई है। तारा-मण्डल में भी अनेक रुद्र हैं, और उनके आकार सर्प-जैसे दिखाई देते हैं।

श्वेत मूर्त्ति

भगवान् शंकर की मूर्त्ति उज्ज्वल (श्वेत) है—'रत्नाकल्पोज्ज्वलाङ्गम्'—इसका अभिप्राय निम्नांकित है :

१. व्यापक ईश्वर चेतन, अर्थात् ज्ञान-रूप है। ज्ञान को 'प्रकाश' कहते हैं, अतः उसका वर्ण श्वेत ही होना चाहिए।

२. श्वेत वर्ण कृत्रिम नहीं, स्वाभाविक है। वस्त्र आदि पर दूसरे रंग चढ़ाने के लिए यत्न करना पड़ता है किन्तु श्वेत रंग के लिए कोई रँगरेज नहीं होता। श्वेत पर और-और रंग चढ़ते हैं, और धोकर उतार दिये जाते हैं। श्वेत पहले भी रहता है और पीछे भी। धोबी द्वारा दूसरे रंग के उतार दिये जाने पर श्वेत प्रकट हो आता है। इससे श्वेत नैसर्गिक ठहरा। बस, यही बताया है कि ईश्वर का कृत्रिम रूप नहीं है, सब रूप उसमें उत्पन्न होते हैं और लीन होते हैं, वह स्वभावतः एकरूप है वा यों कहें कि कृत्रिम रूपों से वर्जित है, नीरूप है।

३. वैज्ञानिक लोग जानते हैं कि श्वेत कोई भिन्न रूप नहीं। सब रूपों के समुदाय को ही श्वेत कहते हैं। सब रूपों को जब मिलाया जाय, तब वे यदि सब-के-सब मूर्च्छित हो जायँ, तो काला रूप बनता है और सब जाग्रत् रहें, तो श्वेत प्रतीत होता है। सूर्य की किरणों में सभी रूप हैं—यह वैज्ञानिक लोग जानते हैं। तिकोने काँच की सहायता से इसे सर्वसाधारण भी देख सकते हैं। किन्तु, सबके मिलने के कारण प्रतीत श्वेत रूप ही होता है। भिन्न-भिन्न सभी वर्णों के पत्ते एक यन्त्र में रखकर उसे जोर से घुमाया जाय, तो श्वेत ही दिखाई देगा। इससे सिद्ध है कि सब रूप हो, किन्तु उनमें भेद-भाव न हो, वही शुक्ल होता है। यही स्थिति ईश्वर की है। जगत् के सब रूप उसी में ओतप्रोत हैं, किन्तु भेद छोड़कर। भेद अविद्या-कृत है। ईश्वर में अभिन्न रूप से सबकी स्थिति है। तब उस ईश्वर को श्वेत ही कहना और देखना चाहिए। यहाँ प्रसंगागत रूप से यह भी ज्ञातव्य है कि विष्णु भगवान् का श्याम रूप भी सर्वरूपाभाव का ही बोधक है। कोई रूप न होने पर श्यामता कही जाती है और प्रतीत भी होती है। जैसे सर्वरूप-शून्य आकाश में श्यामता प्रतीत होती है। अतः, ईश्वर के अक्षरों में ये गुणों के रूप नहीं, वरन् उक्त अभिप्राय के अनुसार ही हैं।

४. सात लोकों में जो स्वयम्भू से पृथ्वी तक पाँच मण्डल बताये गये हैं, उनमें से सूर्य-मण्डल में सभी वर्ण हैं। आगे परमेष्ठिमण्डल कृष्ण है—उससे आगे स्वयम्भू-मण्डल प्रकाशमय श्वेतवर्ण है और आग्नेयमण्डल होने के कारण वह 'शिव-मण्डल' वा रुद्र-मण्डल' भी

कहलाता है। वही मण्डल सर्वव्यापक होने के कारण ईश्वर का रूप कहा जा सकता है। उसके प्रकाशमय श्वेत वर्ण होने के कारण शिवमूर्त्ति का श्वेत वर्ण युक्तियुक्त है।

विभूति

शंकर भगवान् सर्वांग में विभूति से अनुलिप्त-आच्छन्न रहते हैं। इसका भी यही कारण है। उक्त पाँचों मण्डलों के प्राण सारे पार्थिव पदार्थों में व्याप्त हैं। उनमें से सौर जगत् में सूर्य-प्राण उद्‌भूत (सबसे उत्तर प्रकाशित) रहते हैं, और आगे के अमृत-मण्डलों (परमेष्ठी और स्वयम्भू) के प्राण आच्छन्न (ढके हुए गुप्त) रहते हैं। उनका ही भाव श्वेत विभूति रूप में बताया गया है। यह भी विज्ञान-प्रकरण में कह चुके हैं कि प्रत्येक पदार्थ को अन्त तक जला देने पर अन्त में भस्म ही शेष रहता है और वह परमेष्ठिमण्डल का अंश है। उसीसे आगे सब विश्व का उत्पादन होता है, वह भाव भी विभूति में समझ लेना चाहिए। इसी से पुराणों में कई जगह ऐसा जो वर्णन आता है कि शिव अपनी विभूति से ही ब्रह्माण्ड का उत्पादन करते हैं, वह भी सुसंगत हो जाता है। इस प्रकार, शिव की मूर्त्ति का संक्षिप्त अभिप्राय बताया गया। शिव के और भी कई प्रकार के ध्यान हैं, उनमें भी अनेक रहस्य छिपे हुए हैं। हमारा यह दिग्दर्शन-मात्र है।

शिव और शक्ति

अग्नि द्युलोक वा स्वर्लोक तक (सूर्य-मण्डल तक) व्याप्त है; उसके आगे सोम-मण्डल है। अग्नि की गति उपर को और सोम की गति ऊपर से नीचे की ओर रहती है। यह भी कह चुके हैं कि विशकलन की सीमा पर पहुँच कर अग्नि ही सोम-रूप में परिणत हो जाती है और फिर ऊपर से नीचे की ओर आकर अग्नि में प्रवेश कर सोम अग्नि बन जाता है। इनमें अग्नि को 'शिव' और सोम को 'शक्ति' कहते हैं। 'सोम' शब्द उमा से ही बना है—'उमया सहितः सोमः'। शक्ति-रूप की विवक्षा कर उमा भगवती कह लीजिए, और शक्तिमान् द्रव्य वा प्राण को शक्ति का आश्रय, शक्ति के अतिरिक्त मानकर 'उमया सहितः सोमः' कह लीजिए। बात एक ही है। भेद-अभेद की विवक्षा-मात्र का भेद है। यह तत्त्व वृहज्जाबालोपनिषद्, ब्राह्मण २ में स्पष्ट है :

अग्नीषोमात्मकं विश्वमित्यग्निराचक्षते।
रौद्री घोराया तैजसी तनूः।
सोम शक्त्यमृतमयः शक्तिकरी तनूः।
अमृतं यत्प्रतिष्ठा सा तेजोविद्याकला स्वयम्॥
स्थूलसूक्ष्मेषु भूतेषु स एव रसतेजसि (सी)॥ १॥
द्विविधा तेजसो वृत्तिः सूर्यात्मा चानलात्मिका।
तथैव रसशक्तिश्च सोमात्माचान (नि) लात्मिका॥ २॥
वैद्युदादिमगं तेजो मधुरादिमयो रसः।
तेजो रसविभेदैस्तु वृत्तमेतच्चराचरम्॥ ३॥

अग्नेरमृतनिष्पत्तिरमृतेनाग्निरेधते ।
अतएव हविः क्लृप्तमग्नीषोमात्मकं जगत् ॥ ४ ॥
ऊर्ध्वशक्तिमयं (यः) सोम अधो (धः) शक्तिमयोऽनलः ।
ताभ्यां सम्पुटितस्तमाच्छश्वद्विश्वमिदं जगत् ॥ ५ ॥
अग्ने (ग्नि) रूर्ध्वं भवत्येषा (ष) यावत्सौम्यं परामृतम् ।
यावदग्न्यात्मकं सौम्यममृतं विसृजत्यधः ॥ ६ ॥
अतएव हि कालाग्निरधस्ताच्छक्तिरूर्ध्वगा ।
यावदादहनश्चोर्ध्वमधस्तात्पवनं भवेत् ॥ ७ ॥
आधारशक्त्यावधृतः कालाग्निरयमूर्ध्वगः ।
तथैव निम्नगः सोमः शिवशक्तिपदास्पदः ॥ ८ ॥
शिवश्चोर्ध्वमयः, शक्तिरूर्ध्वशक्तिमयः शिवः ।
तदित्थं शिवशक्तिभ्यां नाव्याप्तमिह किञ्चन ॥ ९ ॥

इसका तात्पर्य यह है कि इस सब जगत् के आत्मा अग्नि और सोम हैं वा इसे अग्नि-रूप भी कहते हैं। घोर तेज (अग्नि) रुद्र का शरीर है, अमृतमय शक्ति देनेवाला सोम शक्ति-रूप है। अमृत-रूप सोम सबकी प्रतिष्ठा है, विद्या और कला आदि में तेज (अग्नि) व्याप्त है। स्थूल वा सूक्ष्म सब भूतों में रस(सोम) और तेज (अग्नि)सब जगह व्याप्त है। तेज दो प्रकार का है—सूर्य और अग्नि। सोम के भी दो रूप हैं—रस (अप्) और अनिल (वायु)। तेज के विद्युत् आदि अनेक विभाग हैं और रस के मधुर आदि भेद हैं। तेज और रस से ही यह चराचर जगत् बना है। अग्नि से ही अमृत (सोम) उत्पन्न होता है और सोम से अग्नि बढ़ती है, अतएव अग्नि और सोम के परस्पर हविर्यज्ञ से सब जगत् उत्पन्न है। अग्नि ऊर्ध्वशक्तिमय होकर, अर्थात् ऊपर को जाकर सोमरूप हो जाता है। सोम अधःशक्तिमय होकर, अर्थात् नीचे आकर अग्नि बन जाता है, इन दोनों के सम्पुट में निरन्तर यह विश्व रहता है। जबतक सोम-रूप में परिणत न हो, तबतक अग्नि ऊपर ही जाती रहती है और सोम-अमृत जबतक अग्नि-रूप न बने, तबतक नीचे ही गिरता रहता है। इसलिए, कालाग्नि-रूप रुद्र नीचे हैं और शक्ति इनके ऊपर विराजमान है। दूसरी स्थिति में फिर (सोम की आहुति हो जाने पर) अग्नि ऊपर और पवन सोम नीचे हो जाता है। ऊपर जाती हुई अग्नि अपनी आधारशक्ति सोम से ही धृत है (बिना सोम के उसका जीवन नहीं) और नीचे आता हुआ सोम शिव की ही शक्ति कहलाता है, अर्थात् विना शिव के आधार के वह भी नहीं रह सकता। दोनों एक दूसरे के आधार पर हैं। शिव शक्तिमय है, शक्ति शिवमय है। शिव और शक्ति जहाँ व्याप्त न हों, ऐसा कोई स्थान नहीं।

अब इसपर और व्याख्या लिखने की आवश्यकता नहीं रही। अग्नि से सोम और सोम से अग्नि बनती है—वे दोनों एक ही तत्त्व हैं। इसलिए, शिव और शक्ति का अभेद (एकरूपता) माना जाता है। एक के विना दूसरा नहीं रहता। इसलिए, शिव और उमा मिलकर एक अंग हैं। उमा शिव की अर्द्धांगिनी हैं, सोम भोज्य है और अग्नि भोक्ता, इसलिए

अग्नि पुरुष और सोम स्त्री माना गया है। लोक-क्रम में सोम ऊपर रहता है, इससे शिव के वक्षःस्थल पर खड़ी हुई शक्ति की उपासना होती है। शिव ज्ञान-स्वरूप वा रस-स्वरूप है और शक्ति क्रिया वा बलरूपा। क्रिया वा बल ज्ञान वा रस के आधार पर खड़ा रहता है। इसलिए, भगवती को शिव के वक्षःस्थल पर खड़ी हुई मानते हैं। यह भी भाव इसमें अन्तर्निहित है। विना क्रिया के ज्ञान में स्फूर्त्ति नहीं, वह मुर्दा है। इसलिए, वहाँ शिव को 'शव' रूप माना जाता है। अथवा, यों भी कह सकते हैं कि विश्वरूप (विराट् रूप) शिव है, उसपर चित्कलारूपा (ज्ञानशक्ति-रूपा) भगवती खड़ी है। वही इसकी प्रधान शक्ति है, उसके विना विश्वरूप निश्चेष्ट है। वह 'शव' रूप है। ज्ञान और क्रिया को अर्द्धांग भी कह सकते हैं। यों, कोई भी भाव मान लिया जाय, सभी प्रमाणसिद्ध और अनुभवगम्य हैं।

शिव और विष्णु

उपासना के प्रेमियों में इस बात पर आधुनिक युग में बहुत विवाद रहता है कि शिव और विष्णु में कौन बड़ा है? कोई विष्णु को ही परमात्मा कहकर शिव को उनके उपासक मानते हुए जीव-कोटि में मानने का साहस करते हैं और कोई शिव को परतत्त्व कहकर विष्णु को उनके अनुगत सेवक वा जीवविशेष कहने तक का पाप करते हैं। कुछ सज्जन दोनों को ईश्वर के ही रूप कहते हुए भी उनमें तारतम्य रखते हैं। वैज्ञानिक प्रक्रिया में वस्तुतः इन विवादों का अवसर ही नहीं है। यहाँ न कोई छोटा है, न बड़ा। अपने-अपने कार्य में सभी प्रभु हैं। यह, उपासक की इच्छा और अधिकार के अनुसार नियत है कि वह किसी रूप को अपनी उपासना के लिए चुन ले। किन्तु, किसी को छोटा कहना या उसकी निन्दा करना अपने को विज्ञान-शून्य घोषित करना है। अस्तु; अब क्रम से देखिए—निर्विशेष, परात्पर वा अव्ययपुरुष, जो उपासना और ज्ञान का मुख्य लक्ष्य है, जो जीव का अन्तिम प्राप्य है, उनमें किसी प्रकार का भेद नहीं। उसे, 'वेवेष्टीति विष्णुः'—सर्वत्र व्यापक है, इसलिए 'विष्णु' कह लीजिए, अथवा 'शेरतेऽस्मिन् सर्वे इति शिवः'—सब कुछ उसी के पेट में है, इसलिए, 'शिव' कह लीजिए। उसका कोई नाम-रूप न होते हुए भी—'सर्वधर्मोपपत्तेश्च'. इस वेदान्त-सूत्र के अनुसार सभी गुण, कर्म और नाम उसके हो सकते हैं, अतएव विष्णुसहस्रनाम में शिव के नाम और शिवसहस्रनाम में विष्णु के नाम आते हैं। मूलरूप में भेद है ही नहीं। यों, परमशिव वा महाविष्णु एक ही वस्तु है, उपासक के अधिकार वा रुचि के अनुसार उसकी भिन्न-भिन्न नाम-रूपों से उपासना होती है। अब आगे अक्षरपुरुष में आइए—यहाँ विष्णु और महेश्वर शक्ति-भेद से पृथक्-पृथक् प्रतीत होंगे, जैसा कहा गया है कि आदान-क्रिया के अधिष्ठाता विष्णु और उत्क्रान्ति के अधिष्ठता महेश्वर हैं, किन्तु वस्तुतः विचार करने पर एक ही अक्षरपुरुष की दोनों कलाएँ हैं, इसलिए मौलिक भेद इसमें सिद्ध नहीं होता। आदान और उत्क्रान्ति दोनों एक ही गति के भेद हैं। गति यदि केन्द्राभिमुखी हो, तो 'आदान' कहलाता है और यदि केन्द्र से विपरीति दिशा में, अर्थात् पराङ्मुखी हो, तो 'उत्क्रान्ति' कहलाती है। यों, एक ही गति के दिग्भेद से दो विभेद हैं। तब, वास्तविक भेद कहाँ रहा? नाममात्र का ही तो भेद है। एक कवि ने बड़ी सुन्दरता से कहा है:

उभयोरेका प्रकृतिः प्रत्ययतो भिन्नवद्भाति ।
कलयतु कञ्चन मूढ़ो हरिहरभेदं विना शास्त्रम् ॥

व्याकरण के अनुसार हरि और हर दोनों शब्द एक ही 'हृ' धातु से बनते हैं, अतः प्रकृति (मूलधातु) दोनों में एक है, केवल प्रत्यय जुदा-जुदा है, तब इनका भेद मानना शास्त्र से अनभिज्ञों का ही काम है। दूसरा अर्थ श्लोक का यह है कि दोनों की प्रकृति एक है, अर्थात् मूलतत्त्व रूप से दोनों एक हैं, केवल प्रत्यय-प्रतीति (बाहरी दृष्टि) से भेद हो रहा है, यह भेद शास्त्रदृष्टिवालों को कभी प्रतीत नहीं होता। अतएव, उत्क्रान्ति का नेता 'इन्द्र' कहलाता है, तो आदान का उपेन्द्र (दूसरा इन्द्र)। विष्णु का दूसरा नाम उपेन्द्र भी है।

कुछ सज्जन शिव को संहारकर्त्ता कहकर उपासना के अयोग्य मानते हैं, किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से यह भी तर्क नहीं ठहरता। हम अक्षरपुरुष के निरूपण में स्पष्ट कर चुके हैं कि एक दृष्टि से जो संहार है, दूसरी अपेक्षा से वही उत्पादन वा पालन है। नाममात्र का भेद है, वास्तविक भेद इसमें भी नहीं है। इसके अतिरिक्त संहार भी तो ईश्वर का ही काम है और वह अवश्यम्भावी है। समय पर उत्पादन और पालन जैसे नियत हैं, वैसे ही संहार भी नियत है। तीनों कार्य ईश्वर के द्वारा ही होते हैं। यदि एक ही शक्ति तीनों कार्यों को करनेवाली न मानी जाय, तो बड़ा युक्तिविरोध आ पड़े। संहार करनेवाला कोई और है, तो वह पालक से जबरदस्त कहा जायगा; क्योंकि उसके पालित को वह नष्ट कर देता है। फिर, संहारक ही ईश्वर कहलायेगा, पालक नहीं। इसके अतिरिक्त जिसने सबका संहार किया, वही तो अन्त में शेष रहेगा, फिर सृष्टि के समय सृष्टि भी वही करेगा। दूसरा रूप है ही कहाँ, जो सृष्टि करे ? इन सब कुतर्कों का समाधान तभी होता है, जब एक ही ईश्वर की कार्यापेक्षा से तीनों रूप माने जायँ, उनमें भेद न माना जाय। जिस समय जिस रूप वा शक्ति की आवश्यकता होती है, उस समय वह प्रकट हो जाता है, तत्त्व एक ही है। फिर भी, कहा जाय कि तत्त्व चाहे एक हो, किन्तु संहारकारक रूप से हमें ध्यान नहीं करना चाहिए; तो यह युक्ति भी निःसार है। सब रूपों के उपासक अपने उपास्य में सभी शक्तियों का ध्यान करते हैं। विष्णु के उपासक, भी उनको उत्पादक, पालक और संहर्त्ता तीनों कहते हैं और शिव के उपासक भी ऐसा ही मानते हैं। कोई भी शक्ति न मानने से ईश्वर में न्यूनता आ जायगी। ईश्वर का काम यथाकाल सब कार्य करना है। काल में संहार अभीष्ट ही है। क्या संहार का ध्यान न करनेवालों का संहार न होगा ? फिर, महेश्वर तो केवल संहारक हैं भी नहीं, तीन अक्षर कलाओं की समष्टि को महेश्वर बताया गया है, इनमें अग्नि और सोम ही तो सब जगत् के उत्पादक हैं, इसलिए यह उत्कर्षापकर्ष की कल्पना कोरी कल्पना ही है। कुछ सज्जन शिव को तमोगुणी कहकर उपासना के अयोग्य ठहराने का साहस करते हैं, किन्तु यह भी साहसमात्र ही है। शिव ईश्वर हैं, वे तमोगुण के वश में तो हो नहीं सकते। ईश्वर और जीव में यही तो भेद है कि जीव प्रकृति के वश में है और ईश्वर प्रकृति का नियन्ता है। तब, शिव तमोगुणी हैं, इसका अभिप्राय यह होगा कि वे तमोगुण के नियन्ता हैं। तो फिर सत्त्वगुण के नियमन करने की अपेक्षा तमोगुण के नियमन करने का

कार्य कितना कठिन है और वैसा कार्य करनेवाला रूप और भी उत्कृष्ट है कि नहीं, इसका विचारशील स्वयं निर्णय करें।

वस्तुतः तमोगुण 'आवरक' कहलाता है। भूतों की उत्पत्ति तमोगुण से ही मानी जाती है और वैज्ञानिक प्रक्रिया में भूतों के उत्पादक अग्नि और सोम हैं। उन अग्नि और सोम के अधिनायक महेश्वर हैं, इसलिए उन्हें तमोगुण का अधिष्ठाता कहा गया है। इससे उपास्यता में कोई हानि नहीं। उपासक उन्हें तमोगुण के नियन्ता कहकर उपासना करते हैं। अतएव, परमवैराग्यवान् अत्यन्त शान्त विषय-निर्लिप्त रूप में उपासक उनका ध्यान करते हैं, इससे उनमें तमोगुण की वृद्धि होगी, इसकी लेशतः भी सम्भावना नहीं। तमोगुण के नियन्ता वे भी हो जायेंगे।

अब प्राकृत स्वयम्भू आदि मण्डलों पर विचार कीजिए। यहाँ भी एक दृष्टि से एक की व्याप्ति न्यून रहती है, तो दूसरी दृष्टि से दूसरे की। विष्णु यज्ञ-स्वरूप हैं, और यज्ञ द्वारा ही रुद्र आदि सब देवता उत्पन्न होते हैं—यज्ञ के आधार पर ही सब देवताओं की स्थिति है। रुद्र शिव का रूप है, इसलिए कहा जा सकता है कि शिव विष्णु के उदर में है—उनसे उत्पन्न होते हैं। किन्तु, दूसरी दृष्टि से अग्निप्रधान सूर्यमण्डल रुद्र-रूप है, उस मण्डल की व्याप्ति में, अर्थात् सौर जगत् के अन्तर्गत यज्ञमय विष्णु है। सौर जगत् में जो यज्ञ हो रहा है, उसी से हमारा जीवन है और 'यज्ञो वै विष्णुः' यज्ञ ही विष्णु का रूप है, इस दृष्टि से शिव या रुद्र के पेट में विष्णु रहे। अब आगे बढ़िए! सूर्य का उत्पादक यज्ञ परमेष्ठिमण्डल में होता है, अतएव वह मण्डल विष्णुप्रधान कहा गया है। उस मण्डल के पेट में सूर्यमण्डल आ जाता है, इससे विष्णु के पेट में शिव का अन्तर्भाव हुआ। और आगे चलें, तो परमेष्ठिमण्डल स्वयम्भू-मण्डल के अन्तर्गत रहता है, स्वयम्भू-मण्डल आग्नेय होने के कारण रुद्र का वा अग्नि के नियन्ता महेश्वर का मण्डल कहा जा सकता है, यह अभी विस्तार से निरूपित हो चुका है। स्वयम्भू-मण्डल के अन्तर्गत एक वाचस्पति तारा है, वह श्रुति में इन्द्र माना गया है और इन्द्र महेश्वर के रूप में अन्तर्गत है। उस मण्डल की व्याप्ति में परमेष्ठिमण्डल के अन्तर्भूत रहने के कारण फिर शिव के उदर में विष्णु आ गये। इसीलिए, स्पष्ट कहा गया है :

शिवस्य हृदयं विष्णुर्विष्णोस्तु हृदयं शिवः।

सब जिसके अन्तर्गत है, वह परमाकाश सर्वरूप है, उसे परमशिव कह लीजिए, वा महाविष्णु। इसलिए, इस दृष्टि से भी कोई भेद वा छोटा-बड़ापन सिद्ध नहीं होता।

मनुष्याकारधारी शिव

हमारे शास्त्रों में ईश्वर का दो भावों में वर्णन है, वैज्ञानिक रूप से और मनुष्याकार से। वे मनुष्याकार ईश्वर के सगुण रूप वा अवतार कहे जाते हैं। वैज्ञानिक निरूपण में और इन मनुष्याकारधारी ईश्वर-रूपों के चरित्रों में आश्चर्यजनक सादृश्य देखा जाता है। अतएव, आर्यशास्त्रों का विश्वास है कि उपासकों पर अनुग्रह के कारण ईश्वर मनुष्य-रूप

ग्रहण करता है। गुरुवर श्रीमधुसूदनजी ओझा विद्यावाचस्पति के देवासुरख्याति, अविख्याति और इन्द्रविजय आदि में निरूपण है कि पृथ्वी में भी एक त्रिलोकी है। कारणावत पर्वत—जिससे इरावती नदी निकलती है—के उत्तर का प्रदेश भूस्वर्ग (त्रिविष्टप) कहलाता है। उसके इन्द्रविष्टप, विष्णुविष्टप, ब्रह्मविष्टप आदि विभाग भी पुराणादि में सुप्रसिद्ध हैं। आर्य-सभ्यता के प्राधान्य-काल में इस प्रदेश में सब वैज्ञानिक देवताओं के समान ही संस्था प्रचलित थी। अस्तु; इस अप्रकृत विषय का हम यहाँ विस्तार न करेंगे। यहाँ हमारा वक्तव्य केवल इतना ही है कि एक भगवान् शंकर का मनुष्यरूप भी है। वह लक्ष्यालक्ष्य रूप है। कभी कार्य-काल में प्रकट होता है और कभी अलक्षित रहता है। इसी प्रकार के वर्णन इस रूप के पुराणों में है। इसे शिवावतार कह सकते हैं। समय-समय पर इन शंकर भगवान् की तीन स्थानों पर स्थिति बताई गई है। प्रथम, भद्रवट-स्थान में—जो कैलास से पूर्व की ओर लौहित्यगिरि के ऊपर है, ब्रह्मपुत्रा नदी उसके नीचे होकर बहती है। दूसरा स्थान कैलास पर्वत पर और तीसरा मूजवान् पर्वत पर। मूजवान् का स्थान-निर्देश हम पहले कर चुके हैं। शंकर के गणभूत आदि का निवास हिमालय और हेमकूट के दर्रों में बताया गया है। शंकर भगवान् भी पूर्ण वैराग्यरत, आत्मसंयमी हैं। काशीखण्ड में एक कथा है कि शंकर भगवान् ने अपना सारा राज्य मानसरोवर पर विष्णु भगवान् को दे दिया और स्वयं विरक्त होकर एकान्त में रहने लगे। देवताओं के कार्य के लिए—स्वामी कार्त्तिकेय की उत्पत्ति के लिए पार्वती-विवाह करने को या त्रिपुर-वध करने को ऐसे ही अन्यान्य समयों में देवताओं की प्रार्थना पर ये प्रकट होते रहे हैं। पार्वती-विवाह, त्रिपुर-वध आदि की कथाएँ इनकी बड़ी रोचक और आर्य-सभ्यता के युग में पदार्थ-विज्ञान का अद्भुत महत्त्व प्रकट करनेवाली है, किन्तु उनका विवरण शंकर भगवान् की कृपा से कभी समयान्तर में सम्भव होगा।

इस प्रकार, भारतीय संस्कृति में प्रचलित वेदमूलक उपासना का संक्षिप्त निरूपण किया गया।

भारतीय संस्कृति पर आक्षेप का समाधान

कहा जा चुका है कि भारतीय संस्कृति का मूल वेद ही है। इस संस्कृति पर बहुत पूर्व काल से कुछ आक्षेप होते रहे हैं। सर्वप्रथम बौद्ध और जैन सम्प्रदाय की ओर से यह आक्षेप हुआ कि वेद में पशु-हिंसा का विधान है और वह निर्दयतापूर्ण एवं सर्वथा अनुचित कर्म है। किसी प्राणी को सताना या मारना कभी धर्म नहीं कहा जा सकता। इसपर यह कहना है कि वेद ने पशु-हिंसा का अपनी ओर से विधान नहीं किया, प्रत्युत उत्तमगति की आकांक्षा रखनेवाले पुरुषों को रागद्वेष-रहित होने का ही सदा उपदेश दिया—'मा हिंस्यात्सर्वा भूतानि', 'किसी भी प्राणी को न मारो', यह सर्वप्रथम वेद की ही घोषणा है और उसी के आधार पर अन्य सम्प्रदायों के अहिंसा-सिद्धान्त प्रचलित हुए हैं। किन्तु, विचित्र प्रकार के विभिन्न अधिकारी होते हैं, जो सर्वथा रागद्वेष-रहित या सर्वहिंसाविनिर्मुक्त नहीं हो सकते और पृथ्वी-लोक से भी उत्कृष्ट देवलोक आदि के भोगों की आकांक्षा जिनके हृदय में प्रदीप्त है, उन्हें भी वेद निराश करना नहीं चाहता। जैसा हम पहले कह चुके हैं कि वैदिक

धर्म किसी को भी निराश नहीं करता। सभी को मार्ग पर लाने का प्रयत्न करता रहता है। इसलिए, उक्त अभिलाषावाले को देवलोक आदि की प्राप्ति का भी उपाय बता देना वहाँ आवश्यक माना गया है।

देव-निरूपण में बताया गया है कि देवताओं से ही सम्पूर्ण स्थावर-जंगमात्मक जगत् बनता है। भिन्न-भिन्न प्राणियों के शरीरों में भिन्न-भिन्न देवताओं की प्रधानता रहती है। पशुओं में रहनेवाले प्राण पाँच प्रकार के हैं, यह भी पुरुषसूक्त के प्रमाण से पहले कहा जा चुका है। जैसा कि उदय के अनन्तर अधोमुख रूप से दिखाई देनेवाले सूर्यमण्डल से जो प्राण पृथ्वी पर आता है, वह अश्व कहलाता है। जिसका वर्णन बृहदारण्यक के प्रारम्भ में ही है कि मेध्य अश्व का सिर उषा है। (सूर्योदय के पहले जो प्रकाश आता है, वह उषा कहा जाता है। वहीं से उस प्राण के आगमन का आरम्भ हो जाता है, इसलिए उसे शिर कहा गया।)

सूर्य उस अश्व का चक्षु है, (जैसे चक्षु से मनुष्य का तेज निकलता है, उसी प्रकार सूर्य से ही यह अश्वप्राण निकलता है)। वायु-मण्डल इसका श्वास-स्वरूप है। वैश्वानर अग्नि इसका मुखव्यादान (मुँह फाड़ना) है, और संवत्सर ही इस मेध्य अश्व का आत्मा है (कहा जा चुका है कि संवत्सराग्नि सूर्य से निकलकर पृथ्वी पर आनेवाली अग्नि का ही नाम है, इसलिए उसे ही इसका स्वरूप या आत्मा कहकर दोनों की एकता सिद्ध की गई)। द्यु, अर्थात् स्वर्गलोक इस अश्व का पृष्ठ है, अन्तरिक्ष उदर है, पृथ्वी इसके बैठने का स्थान है इत्यादि। इस वर्णन से सूर्य-मण्डल से आनेवाला प्राण ही अश्व है, यह स्पष्ट हो जाता है। जो पशु हमारे यहाँ अश्व नाम से कहा जाता है, उसमें इस नाम की प्रधानता होती है। इसलिए, संसार में भी अश्व को सूर्य का वाहन भी कहा करते हैं तथा इसीलिए यह अश्व अन्य पशुओं की अपेक्षा अधिक तेजस्वी है। शरीर के सार भाग वसा और मज्जा में वह प्राण विशेष रूप से प्रतिष्ठित रहता है। उस प्राण के साथ सम्बन्ध जोड़कर यदि यजमान को सूर्यलोक पहुँचाना हो, तो अश्व की वसा और मज्जा का अग्नि में हवन कर यजमान के आत्मा में उसका आवेश करा दिया जाता है। इस वैज्ञानिक प्रक्रिया से आकर्षण के नियम के अनुसार उस यजमान आत्मा की सूर्यलोक में गति निश्चित हो जाती है। इसी प्रकार, भिन्न-भिन्न देवताओं के प्राण जिन-जिन पशुओं में प्रतिष्ठित हैं, उनका ज्ञान प्राप्त कर महर्षियों ने उनके साथ सम्बन्ध जोड़कर उन लोकों में पहुँचने का उपाय कामना रखनेवाले पुरुषों को बताया है। यह यज्ञ की विज्ञानरूप प्रक्रिया है, जो पूर्वोक्त उपनिषद् के वर्णनानुसार उषा आदि पर उपासना द्वारा ध्यान जमा सकते हैं, उनको बिना पशु-हिंसा ही उन-उन लोकों की प्राप्ति हो जाती है। किन्तु, जिनके मन में उपासना का इतना बल नहीं, उनकी भी आकांक्षा-पूर्ति के लिए यह वसा के हवन की वैज्ञानिक प्रक्रिया है। सांख्य-दर्शन में सिद्धान्त निरूपित किया गया है कि उन-उन लोकों में जाकर वहाँ का आनन्द भोगते समय पशु-हिंसा-जनित पाप का फल दुःख भी उन्हें समय-समय पर अवश्य ही भोगना पड़ता है। किन्तु, जो उस देवलोक-सुख को उच्च कोटि का मानकर उसके लिए उतना अल्प दुःख भी सहन करने को प्रस्तुत हैं, उन्हें उसका उपायमात्र वेद ने बता दिया है। शास्त्रों में ऐसी प्रक्रिया के लिए एक

'कूपखनकन्याय, माना जाता है। उसका आशय है कि कुआँ खोदनेवाले मनुष्य के शरीर में मिट्टी अवश्य लगती हैं, परन्तु जल निकल आने पर वह मिट्टी भी धुल जाती है और आगे जल का बहुत लाभ भी मिल जाता है। इसी प्रकार, ऐसे काम्य कर्मों में जो हिंसा आदि दोष होते हैं, वे उस लाभ के आगे सह्य मान लिये जाते हैं। अथ च, इसी कारण ज्ञानकाण्ड के प्रतिपादक वेदों के ही उपनिषद्-भाग में इनकी निन्दा भी की गई है :

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो ह्यभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यान्ति॥

(मुण्डकोपनि०, मुण्डक १, खण्ड २)

अर्थात्, ये यज्ञ-रूप नौकाएँ दृढ नहीं है, जिनमें १६ ऋत्विक् यजमान और यजमान-पत्नी इन १८ पुरुषों द्वारा साध्य कर्म बताये गये हैं। जो इसी को कल्याणकारक मानकर इसी में निरत हो जाते हैं, वे जरा और मृत्यु से छुटकारा नहीं पा सकते। बार-बार जन्म लेकर वृद्धावस्था और मृत्यु का कष्ट उन्हें सहना ही पड़ता है। इस सारे निरूपण से यह सिद्ध है कि भारतीय आर्य-संस्कृति का पशुहिंसा का कर्म करना आदर्श नहीं है, अपितु कामनावालों के लिए यह वैज्ञानिक प्रक्रिया का उपायमात्र बताया गया है। कदाचित् शंका हो कि ऐसे अपकृष्ट उपाय को बताने से लाभ ही क्या ? तो, इसके दो लाभ शास्त्रों में निरूपित हैं। एक तो जिनकी प्रकृति मांस खाने की पड़ गई है, उनपर रोक लगाई जाती है कि केवल यज्ञ का शेषभूत मांस ही तुम खा सकते हो, यथेच्छ पशु मारकर नहीं। यदि इतना उन्हें रोक लिया, तो आगे उनकी आदत सर्वदा के लिए छुड़ा देने में भी सफलता मिल सकेगी। यह प्रक्रिया जैनधर्म में भी मानी जाती है। उनके शास्त्रों में भी अणुव्रत और महाव्रत दो प्रकार के व्रतों का निरूपण है। किसी देश में, किसी काल में या किसी प्राणि-विशेष की हिंसा छोड़ देना अहिंसा-अणुव्रत कहलाता है और सर्वथा छोड़ देना महाव्रत। यह प्रक्रिया इसीलिए मानी गई है कि किसी को एकदम बुरे कार्य से बचा देना बहुत कठिन है, इसलिए थोड़ा-थोड़ा प्रलोभन देकर शनैः-शनैः रक्षण करने से सफलता मिल जाती है। हमारे शास्त्रों में इस प्रक्रिया को परिसंख्या कहते हैं। उसका तात्पर्य शनैः-शनैः निवृत्त करने में ही रहता है। दूसरा फल यह है कि जब वे वेदोक्त प्रक्रिया के अनुसार स्वर्ग-सुख प्राप्त कर लेंगे, तब उनका वेद पर पूर्ण विश्वास हो जायगा। तब जन्मान्तर में वे वेदोक्त अहिंसा आदि पर भी पूर्ण विश्वास कर उपासना और ज्ञान के द्वारा पूर्ण कल्याण के भाजन बन सकेंगे। ऐसी हितबुद्धि से ही यज्ञादि कर्मों का उपदेश वेदों में आया है, हिंसादि दुष्कर्मों को बढ़ाने के उद्देश्य से नहीं।

जब कोई बालक हठकर कटु औषधि पीने के लिए राजी न होता हो, तब उसे पहले गुड़ आदि मधुर का प्रलोभन देकर हितबुद्धि से कटु औषध उसके पिता आदि पिला देते हैं। इसको शास्त्र में 'गुडजिह्विकान्याय' कहते हैं। इसी प्रकार, एकान्ततः हिंसा असत्य, अभक्ष्य-भक्षण आदि छोड़कर सर्वथा विरक्त भाव में जाने को जो तैयार न हों, उन्हें स्वर्गादि का प्रलोभन देकर भी धर्म में लाया जाता है। जो एकान्ततः छुड़वाने का ही आग्रह करते हैं,

उन्हें सर्वत्र सफलता नहीं मिल सकती। कुसंस्कार जिनके प्रबल हैं, वे वैराग्य-मार्ग में जाने को प्रस्तुत नहीं हो सकते। जैन आदि के बताये हुए कल्याणप्रद एकान्त वैराग्य-मार्ग में उनकी अनुयायिता का अभिमान रखनेवाले भी कितने अग्रसर होते हैं, यह प्रत्यक्ष देखने पर ही प्रतीत हो जायगा। 'तुम्हारे एक गाल पर कोई थप्पड़ मारे, तो दूसरा गाल भी उसके सामने कर दो, बदला लेने की चेष्टा न करो' इस अत्यन्त आदरणीय हजरत ईसा के भव्य उपदेश का पालन ईसाई समाज में कितना होता है, यह सबको प्रत्यक्ष है। तब ऐसे दुरूह मार्ग, जिनपर चला न जा सके, उन्हें बताकर चुप हो जाना, न चल सकनेवालों के लिए कोई सरल प्रक्रिया न बता सकना धर्माचार्यों के लिए आदर्श-रूप नहीं कहा जा सकता। इसलिए, शनैः-शनैः निवृत्त करने की प्रणाली ही वैदिक संस्कृति में उपयुक्त मानी गई है। इसका स्पष्टीकरण श्रीमद्भागवत में किया है :

लोके व्यवायामिषमद्यसेवा
नित्यास्ति जन्तोर्नहि तत्र चोदना।
व्यवस्थितिस्तेषु विवाहयज्ञ-
सुराग्रहैराशु निवृत्तिरिष्टा॥

अर्थात्, स्त्री-पुंधर्म, मांस-भक्षण वा मद्यपान आदि में तो मनुष्यों की स्वाभाविक ही प्रवृत्ति हो जाती है। इनके लिए शास्त्र को विधान करने की कोई आवश्यकता नहीं। विधि तो वहाँ मानी जाती है, जहाँ विना विधि के उस कार्य में प्रवृत्त होना सम्भव न हो। जैसे सन्ध्योपासन, अग्निहोत्र आदि की विधि शास्त्र में न होती, तो कोई भी उन कार्यों को न करता। किन्तु, उक्त मांस-मद्यसेवनादि कार्य तो ऐसे हैं, जिनमें स्वतः ही मनुष्य प्रवृत्त होते हैं। इसलिए वहाँ विधि-वाक्य की आवश्यकता नहीं। तब विवाह, यज्ञ वा सौत्रामणि यज्ञ में सुरा-ग्रहण आदि विधान क्यों मिलते हैं? उनका तात्पर्य यही है कि धीरे-धीरे इन कार्यों से मनुष्य को बचाया जाय। विवाह-विधि का आशय यही है कि एक ही स्त्री से स्त्री-पुंभाव का सम्पर्क रहे। अन्य स्त्रियों में माता, भगिनी वा पुत्री की बुद्धि की जाय। इसी प्रकार, यज्ञ में मांस-भक्षण के और सौत्रामणि यज्ञ में सुरा-ग्रहण की विधि का भी यही तात्पर्य है कि अन्य स्थानों में मांस-मद्य का व्यवहार कभी न हो। इस प्रकार, थोड़ा प्रलोभन देकर बचाने से बुरे कार्यों की प्रवृत्ति सदा हट जाती है। और, ऐसा उपदेश देनेवाला धर्म सब मनुष्यों का उपकारक सिद्ध हो जाता है। इस दृष्टि से विचार करने पर विवेचक विद्वानों को स्पष्ट विदित हो जायगा कि वैदिक मार्ग पर अवलम्बित भारतीय संस्कृति ही सबकी उपकारक हो सकती है। अन्य हठवादी धर्म थोड़े मनुष्यों का उपकार भले ही कर सकें, सर्वोपकारक नहीं हो सकते।

अधिकार-भेद

इसपर आधुनिक विद्वान् यह आक्षेप करते हैं कि वैदिक मार्ग की भारतीय संस्कृति सर्वोपकारक हो ही कैसे सकती है? उसमें तो अति संकोच है। अन्य धर्मावलम्बियों की बात तो जाने दीजिए, वैदिक धर्म माननेवालों में भी सबको वेद पढ़ाया तक नहीं जाता, न उन्हें

वैदिक यज्ञ करने दिये जाते हैं। यह सब तो केवल मुट्ठी-भर द्विजातियों के लिए 'रिजर्व' कर रखा है। तब, उस संस्कृति वा धर्म को सर्वोपकारक सिद्ध करने की चेष्टा एक उपहासास्पद बात है। इसपर हमारा कहना है कि आप कृपा कर यह विचार करें कि क्या एक ही प्रकार का मार्ग सब मनुष्यों के लिए उपकारक सिद्ध हो सकता है ? प्रत्येक मनुष्य की रुचि, शक्ति और प्रकृति में जब नितान्त भेद है—एक प्रकार का भोजन भी सबके लिए न रुचिकर है, न हितकर। घृत-भोजन से बहुतों को लाभ होता है, किन्तु मन्दाग्निवालों के लिए वह अपकारक है, इसी प्रकार एक प्रकार का वस्त्र-विन्यास वा रहन-सहन भी सबको रुचिकर नहीं हो सकता। एक प्रकार की औषधि भी सब व्यक्तियों में वा सब रोगों में लाभदायक सिद्ध नहीं हो सकती। उत्तम वैद्य वही कहलायेगा, जो रोग की, रोगी की शक्ति की और उसकी आदत की परीक्षा कर भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के लिए, भिन्न-भिन्न उचित औषधों की व्यवस्था करेगा। इसी प्रकार, वही धर्माचार्य भी सर्वोपकारी होगा, जो अधिकार के अनुसार धर्म बताता हो। एक ही लाठी से सबको हाँकनेवाला कभी सर्वोपकारक नहीं हो सकता। जिस प्रकार गरिष्ठ भोजन व्यायामी शक्तिशाली मनुष्यों के लिए हितकर है, किन्तु अल्पशक्ति मनुष्यों के लिए उल्टा हानिप्रद हो जाता है, उसी प्रकार कुछ मनुष्यों के लिए उत्तम धर्म भी दूसरों के लिए हानिकारक हो जाता है। धर्म एक प्रकार का अतिशय अन्तःकरण में उत्पन्न करता है, किन्तु व्यायाम की दी हुई शक्ति को जो नहीं सह सकते, उनके लिए जैसे व्यायाम अहितकर हो जाता है, वैसे ही जिनका अन्तःकरण धर्म के दिये हुए प्रबल संस्कार को धारण करने में असमर्थ होता है, उनको वह धर्म हानिकर ही होगा। वेद के गम्भीर विज्ञान को समझने की शक्ति जिनमें नहीं, उसके समझने के उपयुक्त संस्कार जिनके नहीं हुए, उनको वेद पढ़ाना व्यक्ति और समाज दोनों के लिए हानिकारक है। इसीका फल आज प्रत्यक्ष है कि अनधिकारी व्यक्ति वेद देखकर उससे विपरीत बातें हो निकाला करते हैं। इसलिए हितबुद्धि से ही वैदिक संस्कृति में अनधिकारियों को वेद का गम्भीर विज्ञान पढ़ने-पढ़ाने का निषेध किया है। किन्तु, उन्हें ज्ञान से सर्वथा वंचित नहीं रखा। वेद के ही विषयों को रोचक और सरल भाषा में पुराणादि में निबद्ध कर उनकी शिक्षा का मार्ग प्रशस्त कर दिया है। उस, शिक्षा को वे सरलता से ग्रहण भी कर सकते हैं और उससे उनका उपकार ही हो सकता है। इसी प्रकार, उनके लिए ऐसे कर्म वैदिक संस्कृति में निर्धारित हैं, जिनका दिया हुआ अतिशय वा संस्कार वे सहन कर सकते हैं। इस प्रकार, सब व्यक्तियों का उपकार ही अधिकारानुसार वैदिक संस्कृति में इष्ट है।

इसपर बहुत-से सज्जन कह उठेंगे कि क्या सब स्त्री-शूद्रादि वा अन्यधर्मावलम्बी बेसमझ वा निर्बुद्धि ही हैं कि वे वैदिक विज्ञान समझ ही न सकेंगे वा सभी अधार्मिक हैं कि उनके अन्तःकरण अधर्माचरण से इतने दुर्बल हो गये हैं कि वेदोक्त कर्मों के संस्कार का धारण वे कर ही नहीं सकते। इसका उत्तर है कि किसी को बेसमझ वा अधार्मिक कहने का साहस हम कदापि नहीं कर सकते। किन्तु, समझ-समझ में बहुत बड़ा भेद है। लौकिक व्यवहार में बहुत चतुर मनुष्य शास्त्रीय ज्ञान में बहुत दुर्बल देखा जाता है और शास्त्रीय ज्ञान में जिसे नई-नई बातें सूझती हैं, वह लोक-व्यवहार में बिलकुल अपटु देखा जाता है। कलापटुता

की बुद्धि दूसरी है और विद्याग्रहण की बुद्धि दूसरे प्रकार की होती है। वैदिक संस्कृति में बुद्धि की परीक्षा सत्त्वादि गुणों के आधार पर मानी गई है। वैदिक विज्ञान का अधिकतर सम्बन्ध पारलौकिक उन्नति से है और उसमें उसी व्यक्ति को श्रद्धा हो सकती है, जिसकी बुद्धि में सत्त्वगुण की अधिकता रहे। वैदिक प्रक्रिया के आचार्य विद्वान् इन गुणों की परीक्षा जानते हैं। सत्त्वादि गुणों की उन्नति और ह्रास जन्मसिद्ध भी है, कार्यसिद्ध भी है और संसर्गसिद्ध भी। सात्त्विक माता-पिताओं की सन्तान में सत्त्वगुण का आना स्वभावसिद्ध है, यह जन्मकृत अधिकता वा न्यूनता होगी। जन्म से उत्कृष्ट वा अपकृष्ट होने पर भी अपने कर्म से परिवर्त्तित हो सकता है—उत्कृष्ट अपकृष्ट बन सकता है और अपकृष्ट उत्कृष्ट। इसी प्रकार उत्तम सत्त्वगुणी पुरुष तमोगुणी व्यक्तियों से अधिक सम्पर्क रखे, तो उसमें तमोगुण का प्रभाव बढ़कर सत्त्वगुण को न्यून करेगा या दबा देगा। पारलौकिक विज्ञान वा सूक्ष्म जगत् के विज्ञान में सात्त्विक बुद्धि ही काम दे सकती है। रजोगुण वा तमोगुणवाली बुद्धि वैसे विज्ञान में सफल नहीं हो सकती, चाहे वह कितनी ही प्रखर हो जाय। तात्पर्य यह है कि रजोगुण-तमोगुण-मिश्रित बुद्धि में भी प्रखरता आती है। वे बहुत बड़े समझदार हो सकते हैं, किन्तु सूक्ष्म जगत् के विज्ञान में विना सत्त्वगुण की प्रचुरता के सफलता नहीं पा सकते। इसलिए, ऐसे पुरुषों को वैदिक ज्ञान देना निरर्थक समझ, उनके समय को हानिमात्र समझकर हितबुद्धि से ही उसका निषेध किया है। इस प्रकार की बुद्धि की परीक्षा पूर्वाचार्य जानते हैं। इसकी एक कथा छान्दोग्य उपनिषद् में मिलती है। जवाला नाम की एक स्त्री का पुत्र—जावाल था। उसका अपना नाम सत्यपाल था। वह उपनयन-संस्कार के बाद वेदाध्ययन के लिए गुरु के पास गया। गुरु ने पूछा कि तुम्हारा गोत्र क्या है? इससे उनका अभिप्राय यही था कि कुल-परम्परागत जन्मसिद्ध सत्त्वगुण इसमें हो, तो इसे वेदज्ञान दिया जाय। किन्तु, जावाल ने कहा कि मैं तो अपना गोत्र नहीं जानता। माता से पूछा था—उसने भी यही कहा कि मैं भी गोत्र नहीं जानती। इसलिए, तू गुरु के सामने अपने-आपको सत्यकाम जावाल कहकर उपस्थित कर दे। यह उत्तर सुनते ही गुरु उसपर प्रसन्न हो गये और उन्होंने कहा कि ऐसी बात कहने से तेरी माता के आचार पर सन्देह हो सकता है, फिर भी तूने छिपाया नहीं और सत्य ही कह दिया। इतना सत्य-भाषण उत्कट सत्त्वगुणवाला ही कर सकता है। इससे मुझे निश्चय हो गया कि तू अवश्य ही ब्राह्मण है। मैं वेद पढ़ाऊँगा। इस आख्यायिका से सिद्ध हो जाता है कि सत्त्वादि गुणों के द्वारा अधिकार की परीक्षा कर आचार्य विद्वान् शिष्यों को पढ़ाते थे। वही परम्परा आज भी चल रही है। समय और परिस्थिति के प्रभाव से आज इस प्रक्रिया में कुछ दोष आ गये हैं। परन्तु दोष आ जाने से परम्परा की प्रक्रिया को ही बिगाड़ देना बुद्धिमत्ता नहीं कहला सकती। दोषों से बचाकर उक्त प्रक्रिया की रक्षा करनी चाहिए। इसीसे वैदिक विज्ञान सुरक्षित रह सकता है और फलप्रद हो सकता है। वर्ण-व्यवस्था के प्रकरण में हम कह चुके हैं कि शूद्रों के हाथ में कला-ज्ञान का भार दिया गया है। उसका सम्बन्ध लौकिक चतुरता से है। गम्भीर विद्या वा सात्त्विक बुद्धि का सामंजस्य कला-ज्ञान के साथ नहीं होता, इसलिए सामाजिक व्यवस्था के अनुसार वे कलाओं की उन्नति में लगाये गये, पारलौकिक उन्नति के सरल साधन उनके लिए निर्णीत हुए और विद्या-

ज्ञान की परम्परा रखनेवाले पुरुषों को सत्त्व-प्रधान विद्यामार्ग में लगाया गया। यह सामाजिक व्यवस्था लोकहित की दृष्टि से ही है। द्वेष वा अहित का इसमें कोई लेश भी नहीं। सन्तानोत्पादन और सन्तान के पालन-पोषण में आवश्यक रूप से लगनेवाली स्त्रियाँ भी इस गम्भीर विज्ञान के मार्ग में उपयुक्त न समझी गईं। गम्भीर विज्ञान का प्रभाव सन्तानोत्पादन-शक्ति पर बुरा पड़ता है, यह वैज्ञानिकों ने भी माना है। इसके अतिरिक्त, यज्ञ में पति के साथ उनका समावेश आवश्यक है, फिर वैदिक विज्ञान के चक्र में पड़कर अपने लौकिक कार्यों में अपटु रहने की आवश्यकता क्या? यज्ञ का फल—अतिशय तो स्त्री और पुरुष दोनों में समान रूप में उत्पन्न होता है, यह वैदिक विज्ञान का सिद्धान्त है। तब विना अध्ययन के, परिश्रम के ही फल उन्हें मिल गया, तो यह उनका हित हुआ वा अहित?

किस व्यक्ति में किस प्रकार का अतिशय धारण करने की योग्यता है, इसकी परीक्षा तो अतिपरोक्ष विषय होने के कारण ऋषि लोग ही जानते थे। उनके राजसूय यज्ञ में ब्राह्मण का भी अधिकार न होना घोषित किया है; क्योंकि उसका अतिशय ब्राह्मण के अन्तःकरण में समाविष्ट नहीं हो सकता। इसी प्रकार वाजपेय में क्षत्रिय का अनधिकार माना है, इससे ब्राह्मण-क्षत्रियों ने अपने हाथ में सब अधिकार लेकर औरों को वंचित किया, इस कल्पना को स्थान ही नहीं मिल सकता। यह तो मनोविज्ञान द्वारा अन्तःकरण की परीक्षा कर हितबुद्धि से ही विधान किये गये हैं। इष्टापूर्ति, उपासना आदि के द्वारा पूर्ण कल्याण साधन करने का मनुष्यमात्र को अधिकार है—यह वैदिक संस्कृति की घोषणा है, इसलिए यह संस्कृति सर्वोपकारक है। किसी को यहाँ वंचित नहीं किया जाता।

सत्त्वादि गुणों में परस्पर सम्मिश्रण द्वारा सत्त्वगुण की हानि न हो, इस बुद्धि से ही सात्त्विकों और तामसों का सब प्रकार का पारस्परिक सम्बन्ध भी इस संस्कृति में वर्जित ठहराया गया है। इसमें द्वेषबुद्धि का कोई लेश नहीं है। तमोगुण के सम्पर्क से सत्त्वगुण की हानि हो जाती है। तमोगुणी को इससे कोई लाभ नहीं होगा। जैसा, एक संक्रामक रोगी के सम्पर्क से स्वस्थ पुरुष रोगी हो सकता है, किन्तु उस रोगी को इस स्वस्थ पुरुष के सम्पर्क से कोई लाभ पहुँचाना कोई डॉक्टर नहीं मानता। इसी प्रकार तमोगुणी के सम्पर्क से सात्त्विक पुरुष की हानिमात्र है. तमोगुणी का कोई लाभ उसमें नहीं। इसीलिए, वेद में, भगवद्गीता में वा स्मृतियों में इनकी उपासना के स्थान, शयन, भोजनादि व्यवहार और रहन-सहन पृथक्-पृथक् ही माने गये हैं। संयम-रक्षा ही इसका उद्देश्य है। यों, विचार करने पर वेदों के आधार पर स्थित रहनेवाली भारतीय संस्कृति में अत्याचार वा रागद्वेष का कोई सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता है। आपात-दृष्टि से ऐसे आक्षेप उठते हैं, जिनका विचार-दृष्टि से समाधान हो सकता है।

उपसंहार

यह वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति का संक्षिप्त निरूपण उपस्थित किया गया है। पहले ही कह चुका हूँ कि यह विषय अत्यन्त गम्भीर है और इस विषय पर प्राचीन काल में ऋषि, मुनि, आचार्य और विद्वानों ने सैकड़ों ग्रन्थों की रचना की है तथा वर्त्तमान में भी बहुत बड़े-बड़े ग्रन्थ इस विषय पर बन सकते हैं; क्योंकि ज्ञान का अन्त नहीं—'अनन्ता वै

वेदाः', ऐसा श्रुति ने बार-बार उद्घोष किया है। मेरे समान अल्पज्ञ पुरुष उसका अन्त प्राप्त करने की अभिलाषा स्वप्न में भी नहीं कर सकता। मैंने तो, जैसे अनन्त जल में से अपने काम के लिए एक लोटा भर लिया जाता है, उसी प्रकार का कुछ भाग निदर्शन-रूप में विज्ञ पाठकों के समक्ष रखा है।

इस पुस्तक में जो कुछ गम्भीर वा रुचिकर अंश आया है, वह गुरु-कृपा का प्रसाद है और जो मेरे भ्रम या प्रमाद से त्रुटियां रह गई हैं, उनके लिए सांजलिबद्ध क्षमा-प्रार्थी हूँ और करुणाशील पाठक महानुभाव अवश्य क्षमा कर देंगे, ऐसी आशा करता हूँ। जगन्नियन्ता जगदीश्वर सबको सुबुद्धि दे, जिससे इस वैदिक विज्ञान का पुनः यथावत् प्रसार हो और भारतीय संस्कृति सुरक्षित रहे, यही बार-बार प्रार्थना है।

शब्दानुक्रमणी

ई

उ

ऊ

ऋ

ढ

त

थ

द

ध

न

प

य

ह

भारती पुस्तकालय
पु०सं०
2605